# दिल्ली सल्तनत

एल.पी. शर्मा

# दिल्ली सल्तनत

# THE DELHI SULTANATE

**[700–1526 A.D.]**

**एल. पी. शर्मा, एम.ए.**
वरिष्ठ प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
शिवाजी कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय), नई दिल्ली

**लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा-3**

*By the Same Author :*

1. प्राचीन भारत
2. आधुनिक भारत
3. मध्यकालीन भारत
4. आधुनिक भारतीय संस्कृति
5. मुगलकालीन भारत
6. इंगलैण्ड का इतिहास
7. भारत का इतिहास (प्रारम्भ से 1526 A.D.)
8. भारत का इतिहास (1526–1967 A.D.)
9. Simple History of Ancient India (Upto 1200 A.D.)
10. Simple History of Medieval India (1000–1707 A.D.)
11. Simple History of Modern India (1707–1947 A.D.)
12. Simple History of India (Earliest Times to 1526 A.D.)
13. Simple History of India (1526–1947 A.D.)
14. Simple Evolution of Indian Culture

प्रथम संस्करण : 1973
सप्तम् संस्करण : 1998
पुनः मुद्रित : 2001

मूल्य : पिच्चासी रुपये मात्र



मुद्रक : नवरंग ऑफसेट प्रिन्टर्स, आगरा

# सप्तम् संस्करण के प्रति

पुस्तक का सप्तम् संस्करण प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्ष है। इस संस्करण में मैंने मुद्रण-सम्बन्धी त्रुटियों को दूर करने के अलावा नवीन उपलब्ध सामग्री के आधार पर स्थान-स्थान पर आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन और वृद्धि की है। मुख्यतया इस संस्करण में मैंने दिल्ली सल्तनत के शासन-काल में हुए सांस्कृतिक परिवर्तनों के पक्ष पर बल देने का प्रयत्न किया है। इस कारण, मैं समझता हूँ कि अपने इस वर्तमान स्वरूप में यह पुस्तक सभी श्रेणियों के विद्यार्थियों एवं पाठकों के लिए अधिक लाभदायक सिद्ध होगी। तब भी जो विद्यार्थी और पाठक पुस्तक में रह गयी कमियों की ओर मेरा ध्यान दिलायेंगे, मैं उनका आभारी हूँगा।

—एल. पी. शर्मा

# प्रथम संस्करण के प्रति

प्रस्तुत पुस्तक का मूल उद्देश्य बी.ए., बी.ए. (ऑनर्स) और आधार के रूप में एम.ए. के विद्यार्थियों के लिए एक उपयोगी पाठ्य-पुस्तक प्रदान करना है। एक अन्य कारण व्यक्तिगत है। इतिहास का विद्यार्थी होने के नाते मैंने अनुभव किया है कि भारतीय मध्य-युग के इतिहास में मुगल-काल का इतिहास, मुगल शासकों के व्यक्तित्व और चरित्र तथा मुगल-काल की प्रगति और समृद्धि साधारणतया दिल्ली सल्तनत-काल के इतिहास तथा सुल्तानों के चरित्र और व्यक्तित्व की तुलना में अधिक आकर्षक एवं प्रभावपूर्ण प्रतीत होती है। भ्रमवश ऐसा भी आभास हो जाता है कि बाबर द्वारा इब्राहीम लोदी की पराजय ने एक युग को समाप्त कर दिया और सुल्तानों की तुलना में अधिक यशस्वी बादशाहों का युग आरम्भ हो गया। परन्तु ऐसा नहीं है। वास्तव में, जो ऐतिहासिक क्रम दिल्ली सल्तनत-काल में आरम्भ हुआ वह मुगल-काल में विकसित हुआ। इसी प्रकार, निस्सन्देह, मुगल-काल स्थिरता, यश, ऐश्वर्य और योग्य शासकों का काल रहा परन्तु इससे दिल्ली सल्तनत-काल तथा उस काल की विशेषताओं और उसके सुल्तानों का महत्व कम नहीं हो जाता। यह समझकर मुझे दिल्ली सल्तनस-काल की विशेषताओं तथा सुल्तानों के व्यक्तित्व और चरित्र को विस्तृत रूप से अध्ययन करने का चाव हुआ जिसका परिणाम यह पुस्तक है।

दिल्ली सल्तनत का काल कई दृष्टिकोणों से अत्यधिक आकर्षक है। यह हिन्दू और मुसलमानों के राजनीतिक संघर्ष का काल है। महमूद गजनवी के समय से आरम्भ होकर बहमनी राज्य के खण्डों से बने हुए मुसलमान राज्यों के विजयनगर राज्य से तथा इब्राहीम लोदी से राणा संग्रामसिंह से हुए संघर्ष के समय तक यह युग हिन्दू और मुसलमानों में भारत की राजसत्ता के लिए हुए कट्टर संघर्ष का काल है। संघर्ष स्वयं ही आकर्षक होता है। फिर, यह संघर्ष तो अत्यन्त रुचिकर एवं महत्वपूर्ण था। इस संघर्ष में धार्मिक कट्टरता और उत्साह (चाहे इसे छिपाने का कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाय) आवश्यक रूप से सम्मिलित था। इसी से सम्बन्धित एक अन्य प्रश्न यह भी था—क्या हिन्दू समाज, धर्म, सभ्यता और उसके राजनीतिक नेता (शासक वर्ग) अपने अस्तित्व की सुरक्षा करने में समर्थ रह गये थे अथवा अपने दुर्गुणों के कारण इस अधिकार को खो चुके थे? मुसलमानों की सफलता ने इस प्रश्न का ठीक उत्तर दिया। इस कारण जय-पराजय का यह इतिहास बहुत आकर्षक है। इसके अतिरिक्त, इस काल में भारतीय इतिहास को भारत की सीमाओं के उत्तर-पश्चिम में होने वाली राजनीतिक उथल-पुथल ने गम्भीरता से प्रभावित किया। अरब, तुर्क, मंगोल और मुगलों का भारत पर आक्रमण किसी न किसी प्रकार इस राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक उथल-पुथल का परिणाम था जो हमें यह सबक देता है कि प्रत्येक राज्य, जाति अथवा सभ्यता को अपने पड़ोस के राज्यों में होने वाली राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक हलचलों के प्रति सदैव जागरूक रहना चाहिए। दिल्ली के सुल्तानों में से कई सुल्तानों का चरित्र और व्यक्तित्व भी अध्ययन करने के

रोचक विषय हैं और सम्भवतया उनके बारे में जितना अधिक पढ़ा जायेगा, वे उतने ही अधिक आकर्षक लगेंगे। दिल्ली सल्तनत के इतिहास को जानने की सामग्री हमें अधिकांशतया समकालीन मुसलमान विद्वानों और इतिहासकारों की रचनाओं से उपलब्ध होती है। परन्तु जब इस युग के हिन्दू समकालीन स्रोतों का अध्ययन भी अधिक विस्तृत रूप से किया जायेगा तब इस काल का इतिहास और भी अधिक रोचक हो जायेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

मैं किसी नवीन खोज का दावा नहीं कर सकता। विभिन्न सम्मानित इतिहासकारों के ज्ञान, खोजों, लेखों और पुस्तकों से मैंने लाभ प्राप्त किया है। परन्तु मैंने यह प्रयत्न अवश्य किया है कि इतिहास का जो भी नूतनतम ज्ञान उपलब्ध है, वह इस पुस्तक में सम्मिलित हो जाय। मैं उन सभी इतिहासकारों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ जिनकी पुस्तकों और लेखों का उपयोग मैंने इस पुस्तक की रचना के लिए किया है।

मैं अपने प्रकाशक, श्री प्रकाशनारायण अग्रवाल, के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। अपने मित्र, श्री महेन्द्र जैन, का भी मैं अनुगृहीत हूँ जो मेरी पुस्तकों के प्रकाशन में हृदय से रुचि लेते रहे हैं। साथ ही, अपने मित्र श्री डी. सी. शर्मा के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ जो मेरी हस्तलिपि को पढ़कर समय-समय पर मुझे लाभदायक सलाह देते रहे हैं।

पुस्तक में त्रुटियाँ सम्भवतः हो सकती हैं। जो मेरे साथी और गुरुजन मेरी कमियों के विषय में मुझे सूचित करने की कृपा करेंगे उनका मैं आभारी हूँगा।

— एल. पी. शर्मा

# विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ



चतुर्थ खण्ड

## मंगोल-आक्रमण और दिल्ली के सुल्तानों की उत्तर-पश्चिम सीमा-नीति



पंचम खण्ड

## दिल्ली सल्तनत की शासन-व्यवस्था



षष्ठम खण्ड

## सल्तनत-युग की सभ्यता तथा संस्कृति



परिशिष्ट

## प्रथम खण्ड

# भारत में तुर्की राज्य की स्थापना

पश्चिमी और मध्य एशिया
मंगोलिया
तुर्किस्तान
समरकंद
मारकंद
खीवा
गजनी
काबुल
हेरात
कंधार
ईरान
लाहौर
दिल्ली
चीन
मदीना
मक्का
अरब
अरब सागर
भारत
बंगाल की खाड़ी
हिन्द महासागर

# 1

# मुख्य साहित्यिक स्रोत-ग्रन्थ और उनका महत्व

## (अ) कुछ महत्वपूर्ण स्रोत-ग्रन्थ

**1. तहकीक-ए-हिन्द**—यह पुस्तक अलबरुनी ने अरबी भाषा में लिखी। मूल अरबी पुस्तक का अनुवाद अँग्रेजी में 1888 ई. में एडवर्ड साची ने किया। अँग्रेजी से हिन्दी में इसका अनुवाद रजनीकान्त शर्मा ने किया और आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, इलाहाबाद से उसे प्रकाशित कराया।

973 ई. में खीवा में अलबरुनी का जन्म हुआ था। उसने अच्छी शिक्षा प्राप्त की और विद्वानों में स्थान प्राप्त किया। 1017 ई. में महमूद गजनवी ने खीवा को विजय किया और अलबरुनी को युद्धबन्दी के रूप में प्राप्त किया। परन्तु महमूद ने उसकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर उसे राज्य-दरबार में प्रतिष्ठित स्थान प्रदान किया। महमूद गजनवी के आक्रमणों के अवसर पर अलबरुनी उसके साथ भारत आया। उसने यहाँ आकर संस्कृत भाषा, भारतीय दर्शन और ज्योतिष का गम्भीर अध्ययन किया। उसने भारत के सम्बन्ध में अपनी विविध पुस्तकों में लिखा जिनमें प्रमुख स्थान तहकीक-ए-हिन्द का है। महमूद गजनवी के आक्रमणों के अवसर पर उत्तरी भारत की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक स्थिति के बारे में जानने में यह ग्रन्थ बहुत सहायता प्रदान करता है क्योंकि इसमें इन सभी का उल्लेख किया गया है। यह एक बड़ा ग्रन्थ है जिसमें अस्सी अध्याय हैं और इसमें मुख्यतया भारत के ज्ञान, दर्शन, ग्रन्थ तथा जीवन के सभी पहलुओं पर विचार किया गया है। अलबरुनी को महमूद के पुत्र मसूद से भी राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। 1048 ई. में उसकी मृत्यु हुई। अलबरुनी को अपने समय के महान् विद्वानों में स्थान प्रदान किया गया है।

अलबरुनी ने भारत की प्राकृतिक परिस्थितियों अर्थात् नदियों, पहाड़, मैदान, जलवायु आदि के विषय में लिखा। उसने भारतीयों की भाषाओं, रीति-रिवाजों, सामाजिक परम्पराओं, धार्मिक दर्शन और मान्यताओं जैसे कर्म-सिद्धान्त, जीव के आवागमन का सिद्धान्त, मोक्ष, मूर्ति-पूजा आदि के बारे में लिखा। उसने भारतीयों के धार्मिक ग्रन्थों जैसे श्रीमदभगवदगीता, वेद, उपनिषद, पातंजलि का योगशास्त्र आदि का उल्लेख भी अपनी पुस्तक में किया। उसने भारतीयों के खान-पान, वेश-भूषा, उत्सव, त्योहार, आमोद-प्रमोद आदि के विषय में भी लिखा। इस प्रकार अपने इस ग्रन्थ में अलबरुनी ने भारतीयों के जीवन, दर्शन, विचार आदि सभी के बारे में लिखा।

अलबरुनी ने केवल उत्तरी भारत के राजाओं और कुछ राज्यों का ही उल्लेख किया है। दक्षिणी भारत के राज्यों के बारे में उसने कुछ नहीं लिखा है। उसने गुजरात, मालवा, कन्नौज, पाटलिपुत्र और मुंगेर के राज्यों का वर्णन किया है। उसने लिखा कि भारतीय राज्यों में एकता का अभाव है और उन्होंने मिलकर कभी भी विदेशी आक्रमणकारी का मुकाबला नहीं किया। समाज के सम्बन्ध में उसने लिखा कि भारतीयों की जाति-प्रथा बहुत कट्टरता पर आधारित है और उनमें छुआ-छूत की भावना प्रमुख है। उसने लिखा कि यदि एक व्यक्ति को किसी भी कारण समाज या अपनी जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है तो उसे पुनः अपने समाज और जाति में स्थान प्राप्त नहीं होता। उसने यह भी लिखा कि भारतीय अपनी जाति, अपने धर्म, अपने समाज और अपने ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उसने भारतीयों की कुछ सामाजिक कुरीतियों के बारे में भी लिखा। उसने सती-प्रथा का प्रचलन यहाँ के समाज में बताया। अलबरुनी ने भारतीय मन्दिरों, मूर्तियों और बौद्ध-विहारों का वर्णन किया। उसने लिखा कि भारतीय ईश्वर में अटूट विश्वास करते हैं और अधिकांशतया मूर्तिपूजक हैं। उसने बताया कि भारत में वैष्णव-सम्प्रदाय अधिक लोकप्रिय है और अधिकांश भारतीय विष्णु अथवा नारायण की उपासना करते हैं। उसने भारत को एक धन-सम्पन्न देश बताया तथा यहाँ की मुद्रा तथा नाप-तौल के साधनों का वर्णन किया। उसने लिखा कि भारत में विदेशी व्यापार की तुलना में आन्तरिक व्यापार बहुत बड़ी मात्रा में होता है। उसके अनुसार, "राजा को कर लगाने का अधिकार है और राजा किसानों से उपज का छठवाँ भाग लेता है जो उसकी आय का मुख्य साधन है।"

इस प्रकार अलबरुनी द्वारा रचित **तहकीक-ए-हिन्द** तत्कालीन भारत के जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालता है, और इस कारण ऐतिहासिक स्रोत-ग्रन्थों में उसका एक महत्वपूर्ण स्थान है।

**2. ताज-उल-मासिर**—ताज-उल-मासिर के रचयिता हसन निजामी का पूरा नाम रुद्रउद्दीन मुहम्मद हसन निजामी था। उसका जन्म खुरासान में निशापुर नामक स्थान पर हुआ था। मंगोलों के आक्रमण के अवसर पर उसे अपना जन्म-स्थान छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा और अन्त में, उसने भारत में आकर शरण ली। वह शिक्षित और विद्वान था जिसके कारण उसे दिल्ली में राज्य-सेवा में स्थान प्राप्त हो गया।

**ताज-उल-मासिर** फारसी में लिखा गया ग्रन्थ है। अंग्रेजी में इसका अनुवाद इलियट और डाउसन ने अपनी पुस्तक **'भारत के इतिहासकारों द्वारा लिखित भारत का इतिहास'** के द्वितीय भाग में किया। हसन निजामी ने इस ग्रन्थ की रचना 1205 ई. में आरम्भ की। इसमें उसने भारत में हुई 1191-1217 ई. तक की घटनाओं का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ में हमें मुख्यतया कुतुबुद्दीन ऐबक के समय की घटनाओं का वर्णन प्राप्त होता है परन्तु कुछ प्रकाश मोहम्मद गोरी और इल्तुतमिश के समय की घटनाओं पर भी डाला गया है। हसन निजामी ने मूलतया अपने समय में हुए युद्धों और उनसे सम्बन्धित नीतियों का ही विवरण दिया है, यद्यपि उसने कुछ प्रकाश शासन और भारतीयों की सामाजिक स्थिति पर भी डाला है। हसन निजामी की भाषा अलंकारों से ओत-प्रोत है और ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन करने के साथ-साथ उसने अन्य बातें भी अपने वर्णन में सम्मिलित

कर दी हैं जिसके कारण पुस्तक को समझने में कठिनाई होती है। हसन निजामी के अनुसार 'दिरहम' और 'दीनार' नामक सिक्कों को कुतुबुद्दीन ऐबक ने चलाया। परन्तु किसी अन्य स्रोत से यह प्रमाणित नहीं होता। इस कारण आधुनिक इतिहासकारों का यह मत है कि कुतुबुद्दीन ऐबक ने कोई सिक्का नहीं चलाया था। हसन निजामी ने कुछ नगरों, मेलों और मनोरंजन के साधनों का वर्णन भी अपने ग्रन्थ में किया है।

ताज-उल-मासिर एक छोटा ग्रन्थ है। उसने भारतीय राजनीति, समाज, धर्म और संस्कृति पर अधिक प्रकाश नहीं डाला है। परन्तु तब भी उसका महत्व है। 12वीं सदी के अन्त की और 13वीं सदी के आरम्भ की राजनीतिक और युद्धों की घटनाओं को जानने के लिए यह एक उपयोगी स्रोत-ग्रन्थ है क्योंकि हसन निजामी ने अधिकांशतः उन्हीं घटनाओं का इसमें वर्णन किया है जिन्हें उसने स्वयं देखा था अथवा जिनसे वह स्वयं परिचित था।

3. तबकात-ए-नासिरी—फारसी में लिखे गये इस ग्रन्थ का लेखक मिनहाजुद्दीन सिराज था। इलियट और डाउसन ने अपनी पुस्तक 'भारत के इतिहासकारों द्वारा लिखित भारत का इतिहास' के द्वितीय भाग में अँग्रेजी में इसका अनुवाद किया है। मिनहाजुद्दीन सिराज के पिता सिराजुद्दीन महमूद ने मोहम्मद गोरी की राज्य-सेवा में स्थान प्राप्त किया था। मिनहाजुद्दीन का जन्म 1193 ई. में हुआ। उसने अच्छी शिक्षा प्राप्त की और विद्वानों में स्थान प्राप्त किया। 1227 ई. में वह सिन्ध पहुँचा और मदरसा-ए-फिरोज का अध्यापक नियुक्त किया गया। 1228 ई. में वह सुल्तान इल्तुतमिश की सेवा में चला गया। उसके पश्चात् वह निरन्तर राजकीय सेवा में रहा। केवल एक वर्ष इमामुद्दीन रेहान की वजारत के समय में वह राजकीय सेवा से पृथक् रखा गया अन्यथा सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद के शासन-काल तक वह राज्य की सेवा में कोई न कोई स्थान प्राप्त करता रहा।

तबकात-ए-नासिरी एक विस्तृत ग्रन्थ है। इसमें न केवल तथाकथित गुलाम-वंश (ममलुक-सुल्तान) के शासकों के समय के भारतीय इतिहास की घटनाओं का वर्णन है अपितु इस्लाम के आरम्भ, विभिन्न खलीफा, ईरानी बादशाहों, प्रारम्भिक तुर्कों, गजनवी और गोर-वंशों, इस्लामी राज्यों पर हुए मंगोल-आक्रमणों आदि का भी विशद वर्णन किया गया है। इस कारण यह ग्रन्थ न केवल भारत के इतिहास को जानने में ही सहायता प्रदान करता है अपितु अरब, ईरान, मध्य एशिया, गजनी और गोर के इतिहास को जानने में भी सहायता प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त, मिनहाजुद्दीन की लेखन-शैली सरल, स्पष्ट और प्रभावपूर्ण है। मिनहाजुद्दीन ने विद्वता प्राप्त की थी जिसके कारण उसने ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन मात्र नहीं किया अपितु उन्हें क्रमबद्ध किया और उनका उचित विश्लेषण भी किया, जिसके कारण तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं के कारणों और परिणामों पर भी प्रकाश पड़ता है। उसकी सभी घटनाओं को आधुनिक इतिहासकार स्वीकार नहीं करते। उसने सुल्ताना रजिया के पतन के सम्बन्ध में लिखा था कि 'उसके सभी गुण किस काम के क्योंकि वह स्त्री थी।' इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उसने रजिया के पतन का मुख्य कारण उसका स्त्री होना बताया जिसे आधुनिक इतिहासकार स्वीकार नहीं करते। ऐसा ही उसके अन्य निष्कर्षों के सम्बन्ध में मतभेद है। परन्तु सभी आधुनिक इतिहासकार इस विषय में सहमत हैं कि उसका ऐतिहासिक घटनाओं

का वर्णन बहुत विस्तृत, स्पष्ट और सत्य के बहुत निकट था। यह भी स्वीकार किया जाता है कि यद्यपि मिनहाजुद्दीन एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति था और मुख्यतया उसने काजी के पद पर कार्य किया परन्तु उसने अपने लेखन में धार्मिक कट्टरता को दूर रखा। इसी कारण जियाउद्दीन बरनी और उसके बाद के भी अन्य विद्वानों ने तबकात-ए-नासिरी को एक प्रमाणित ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया। मिनहाजुद्दीन सिराज ने ऐतिहासिक घटनाओं, सुल्तानों और अमीरों के चरित्र और प्रेम-प्रसंग, महल के षड्यन्त्र, विभिन्न नगरों का विवरण आदि सभी को अपने ग्रन्थ में स्थान प्रदान किया जिसके कारण उसका वर्णन बहुत रोचक भी स्वीकार किया गया है। इस कारण तबकात-ए-नासिरी को समकालीन स्रोत-ग्रन्थों में बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

**4. अमीर खुसरो की रचनाएँ**—अबुलहसन यामीन-उद्दीन खुसरो का जन्म उत्तर प्रदेश के पटियाला गाँव में 1253 ई. में हुआ। उसने सुल्तान बलबन के समय को देखा और उसके पश्चात् के सुल्तानों—कैकुबाद, जलालुद्दीन खलजी, अलाउद्दीन खलजी, कुतुबुद्दीन मुबारकशाह खलजी और गियासुद्दीन तुगलक का संरक्षण प्राप्त किया। वह अपने समय का एक महान् विद्वान और कवि स्वीकार किया गया है। उसकी साहित्यिक गतिविधियाँ बचपन से ही आरम्भ हो गयी थीं और 1325 ई. में अपनी मृत्यु तक उसने अपने को लेखन में तल्लीन रखा। खुसरो एक इतिहासकार न था अपितु मूलतया एक कवि था। उसकी रचनाएँ भी अधिकांशतया पद्य में ही लिखी गयीं। यद्यपि उनमें से कुछ गद्य में भी हैं। उसने ऐतिहासिक ग्रन्थ के लेखन में कोई रुचि नहीं ली। परन्तु तब भी उसकी रचनाओं से मुख्यतया उसके ऐतिहासिक मसनवीस और दीवानों से तत्कालीन इतिहास पर प्रचुर मात्रा में प्रकाश पड़ता है। खुसरो क्रमशः छः दिल्ली सुल्तानों और तत्कालीन सैनिक तथा प्रशासकीय कुलीन सरदारों के निकट सम्पर्क में रहा। वह अपने समय के महान् सूफी सन्त निजामउद्दीन औलिया के भी घनिष्ठ सम्पर्क में आया और उनका शिष्य भी बना। इस कारण, उसे तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक स्थिति और धार्मिक मनोवृत्ति को समझने का एक लम्बा समय प्राप्त हुआ था। इसके अतिरिक्त, वह एक विद्वान और योग्य शासक भी था। अपने लेखन में वह सत्य के भी बहुत निकट रहा। इन सभी कारणों से उसकी रचनाओं से इतिहासकारों ने बहुत लाभ प्राप्त किया है। उनसे उस समय की ऐतिहासिक घटनाओं, सामाजिक स्थिति, धार्मिक विचारधारा, आदि सभी के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है जो इतिहासकारों के द्वारा विश्वसनीय भी माना गया है। डॉ. मेहदी हुसैन ने उसके सम्बन्ध में लिखा है, "अमीर खुसरो एक जन्मजात कवि के साथ-साथ एक सैनिक, योद्धा और यात्री था। उसने भारत के दूरस्थ प्रदेशों का भ्रमण किया था। वह सेनाओं के साथ दक्षिण में देवगिरि, पूर्व में लखनौती और पश्चिम में मुल्तान तक गया था।" इससे स्पष्ट होता है कि खुसरो का व्यक्तिगत अनुभव और ज्ञान बहुत विस्तृत रहा था। इसी सन्दर्भ में डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है, "खुसरो की रुचि और कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत थे। उसे बरनी के समान अच्छा इतिहासकार तो नहीं माना जा सकता परन्तु साधारणतया उसने ईमानदारी और सत्यता से लिखा।" इस कारण, आधुनिक इतिहासकार खुसरो की रचनाओं को ऐतिहासिक सामग्री के रूप में प्रयोग में लाते रहे हैं।

खुसरो की रचनाओं में से कुछेक को अधिक महत्वपूर्ण माना गया है जो निम्न-लिखित हैं :

(i) **किरान-उस-सादेन**—इसकी रचना पद्य में की गयी है। इसमें बंगाल के तत्कालीन सूबेदार बुगराखाँ और उसके पुत्र और दिल्ली के सुल्तान कैकुबाद की पारस्परिक भेंट का वर्णन किया गया है। इसमें भारत और मुख्यतया दिल्ली के वैभव को बहुत अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

(ii) **मिफ्ताह-उल-फुतूह**—यह भी पद्य की रचना है। इसमें मलिक छज्जू के विद्रोह का दमन और जलालउद्दीन खलजी के अन्य सैनिक अभियानों का वर्णन किया गया है।

(iii) **नूह सिपेहर**—इसकी रचना भी पद्य में की गयी है। इसमें उसने मुख्य-तया सुल्तान मुबारक शाह खलजी के समय के सैनिक अभियानों का वर्णन किया है। परन्तु इसके साथ-साथ उसके समय के भवनों के निर्माण और भारत के कई स्थलों की जलवायु, प्रकृति, पशु-पक्षी आदि का भी सुन्दर वर्णन किया है।

(iv) **आशिक**—यह भी पद्य की रचना है जिसमें मूलतया गुजरात के राजा कर्ण की पुत्री देवलदेवी और अलाउद्दीन खलजी के पुत्र खिज्रखाँ के प्रेम का वर्णन किया गया है। परन्तु साथ ही साथ इसमें अलाउद्दीन के समय में की गयी गुजरात की विजय, स्वयं खुसरो का मंगोलों द्वारा कैद किया जाना और वहाँ से भाग निकलने में सफल होना, भारत के विभिन्न स्थलों और उनकी निवासी स्त्रियों के सौन्दर्य का वर्णन तथा खिज्रखाँ के पतन का भी वर्णन किया गया है। इसमें विवाह की रस्मों, खेल-तमाशे, बरात का जुलूस, नाच-गाना, नगर की सजावट आदि का भी वर्णन है जिससे हमें तत्कालीन समय के उच्च वर्ग की सामाजिक स्थिति का ज्ञान होता है।

(v) **तुगलकनामा**—इसकी रचना भी पद्य में की गयी थी। इसमें खुसरो खाँ और गियासुद्दीन तुगलक की एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध की तैयारियाँ, युद्ध और गियासुद्दीन तुगलक द्वारा दिल्ली सिंहासन को प्राप्त करने की घटनाओं का वर्णन है।

(vi) **खजाइन-उल-फुतूह अथवा तारीख-ए-अलाई**—इसकी रचना गद्य में की गयी है। इसमें अलाउद्दीन के प्रथम सोलह वर्षों की घटनाओं का वर्णन किया गया है। परन्तु इसमें दोष यह है कि इसमें अलाउद्दीन के समय के मंगोल-आक्रमणों और अलाउद्दीन की आन्तरिक नीतियों जैसे अमीरों का दमन, बाजार-व्यवस्था, शराबबन्दी आदि का वर्णन नहीं किया गया है। इसमें युद्धों का विस्तृत वर्णन किया गया है मुख्य-तया मलिक काफूर के दक्षिणी भारत में किये गये अभियानों का। इस वर्णन से यह भी प्रतीत होता है कि खुसरो स्वयं भी दक्षिणी भारत अवश्य गया था।

खुसरो की ये रचनाएँ पूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ स्वीकार नहीं की गयी हैं। परन्तु उनकी रचना तिथियों के क्रमनुसार की गयी थी और खुसरो ने तिथि-क्रम का ध्यान भी पूर्णतया रखा। इसके अतिरिक्त खुसरो ने साधारणतया सत्यता का भी ध्यान रखा। इस कारण, इसकी रचनाएँ रोचक हैं और उनसे उपयोगी ऐतिहासिक सामग्री भी प्राप्त होती है। मलिक काफूर के दक्षिण-अभियानों का वर्णन जियाउद्दीन बरनी ने नहीं किया। खुसरो की रचनाओं से उनके बारे में पता लगता है। इस प्रकार, खुसरो की रचनाएँ भी ऐतिहासिक सामग्री में स्थान रखती हैं।

**5. जियाउद्दीन बरनी की रचनाएँ, मुख्यतया तारीख-ए-फीरोजशाही**—जियाउद्दीन बरनी का जन्म 1285 ई. में हुआ। उसका परिवार सम्पन्न और शिक्षित था। उसके पिता ने सुल्तान बलबन की सेवा की और किलोखड़ी में एक महल बनवाया। उसका नाम मुईद्दुलमुल्क सैयद जलालुद्दीन था। सुल्तान जलालुद्दीन खलजी के समय में मुईदुलमुल्क सुल्तान के पुत्र अर्कली खाँ का नायब था। सुल्तान अलाउद्दीन खलजी ने मुईदुलमुल्क को बरन की जागीर प्रदान की। बरनी का चाचा अलाउल-मुल्क अलाउद्दीन का बहुत विश्वासपात्र सलाहकार और मित्र रहा। वह कड़ा का नायब और, बाद में, दिल्ली का कोतवाल बना। इस कारण बरनी का परिवार सम्पन्न और प्रतिष्ठित परिवार था। उसे उच्च शिक्षा प्राप्त हुई और वह राज्य के बड़े-बड़े पदाधिकारियों के सम्पर्क में आया। सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक ने बरनी को दरबार में सम्मानित पद दिया और मुहम्मद तुगलक के भी वह बहुत निकट रहा। केवल सुल्तान फीरोजशाह तुगलक के समय में उसे राज्य सम्मान से वंचित कर दिया गया जिसके कारण उसके जीवन का अन्तिम समय निर्धनता और कष्ट में व्यतीत हुआ।

बरनी विद्वान सिद्ध हुआ। उसके विषय में कहा गया है कि उसने कई पुस्तकों की रचना की थी। उसे 1. सलाते कबीर, 2. इनायत नाम-ए-इलाही, 3. मआसीरे सादात, 4. हसरतनामा, 5. तारीखे बर्रामदायान, 6. सनाय-मुहम्मदी अथवा सहीफे मुहम्मद, 7. फतवा-ए-जहांदारी और 8. तारीख-ए-फीरोजशाही का रचयिता माना जाता है। इसमें से कुछ पुस्तकें जैसे सताले कबीर, इनायत नाम-ए-इलाही और मआसीरे सादात उपलब्ध नहीं हैं और हसरतनामा का कुछ भाग ही उपलब्ध है। फतवा-ए-जहांदारी मूलतया राज्य-सिद्धान्तों की पुस्तक है। इस कारण, इनमें ऐतिहासिक ग्रन्थ की दृष्टि से तारीख-ए-फीरोजशाही ही सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ स्वीकार किया गया है। बरनी ने इस ग्रन्थ की रचना 1358 ई. के लगभग की। उसने इस ग्रन्थ को वहाँ से आरम्भ किया जहाँ 'तबकात-ए-नासिरी' समाप्त होता है। इस प्रकार यह ग्रन्थ सुल्तान बलबन के सिंहासन पर बैठने के समय से आरम्भ किया गया है और उसे फीरोजशाह तुगलक के प्रारम्भिक छः वर्षों तक पूरा किया गया है। इस प्रकार यह बलबन, खलजी-वंश और तुगलक-वंश के इतिहास को जानने का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। अँग्रेजी में इस ग्रन्थ का अनुवाद इलियट और डाउसन ने अपने ग्रन्थ 'भारत का इतिहास भारत के इतिहासकारों के द्वारा' के तीसरे भाग (Vol. III) में किया है। बरनी ने अपने समय की राजनीतिक घटनाओं के अतिरिक्त तत्कालीन समाज, शासन, आर्थिक स्थिति, न्याय आदि के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ इस ग्रन्थ में लिखा है। इस कारण, इस ग्रन्थ को मध्यकालीन भारत के इतिहास को जानने के लिए बहुत महत्वपूर्ण स्वीकार किया गया है।

बरनी ने बहुत कुछ सत्य लिखा है जैसा कि वह दावा करता था। परन्तु वह यह भी स्वीकार करता है कि सुल्तानों के विरोध में लिखने का साहस उसमें नहीं है। इसी कारण विद्वान इलियट ने उसे न्याययुक्त लेखक स्वीकार नहीं किया है। उसने लिखा है कि 'बरनी ने अपने समय की कई महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन ही नहीं किया अथवा उनके बारे में बहुत संक्षिप्त में लिखा जिससे उसका संरक्षक सुल्तान असन्तुष्ट न हो।' इस प्रकार फरिश्ता ने भी यह लिखा है कि उसने सत्य को छुपाने का प्रयत्न किया है।' आधुनिक इतिहासकारों ने बरनी पर यह भी दोष

लगाया है कि उसका वर्णन क्रमानुसार नहीं है और उसमें घटनाओं की तारीखों का अभाव है। इसके अतिरिक्त, बरनी का यह भी एक अन्य दोष रहा कि वह धर्मान्ध था जिसके कारण उसने हिन्दुओं के बारे में दोषपूर्ण लिखा। उसने अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था का वर्णन करते हुए लिखा कि 'चोर-बाजारी हिन्दू और काफिर करते हैं।' उसने मुहम्मद तुगलक द्वारा चलायी गयी सांकेतिक-मुद्रा के बारे में वर्णन करते हुए लिखा कि 'प्रत्येक हिन्दू का घर टकसाल बन गया था।' इस कारण **तारीख-ए-फीरोजशाही** निष्पक्ष ऐतिहासिक ग्रन्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु बरनी राज-दरबार के निकट रहा था; अमीरों, विद्वानों, समकालीन सन्तों आदि से उसका निकट सम्पर्क रहा था तथा उसने समाज और शासन के विभिन्न पहलुओं का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है। इस कारण, **तारीख-ए-फीरोजशाही** को एक लम्बे समय के तत्कालीन समाज, शासन और ऐतिहासिक घटनाओं को जानने का एक मुख्य स्रोत-ग्रन्थ स्वीकार किया गया है।

**6. शम्स-ए-सिराज अफीफ तथा उसके द्वारा रचित तारीख-ए-फीरोजशाही**—शम्स-ए-सिराज अफीफ ने कई पुस्तकें लिखी थीं। परन्तु उसके द्वारा रचित 1. मनकबे अलाई, 2. मनकबे सुल्तान गियासुद्दीन फीरोज, 3. मनकबे मुहम्मद, और 4. जिक्रे खराबे उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। इसके द्वारा लिखित एकमात्र उपलब्ध पुस्तक का वही नाम है जो जियाउद्दीन बरनी ने अपनी ऐतिहासिक पुस्तक का रखा था, अर्थात् **तरीख-ए-फीरोजशाही**। अफीफ का जन्म 1342 ई. में हुआ था। उसका पिता सुल्तान फीरोजशाह की सेवा में था और अफीफ भी सुल्तान का कृपापात्र रहा। उसने अपनी इस पुस्तक की रचना तैमूर के आक्रमण के पश्चात्, सम्भवतया, 15वीं सदी के प्रथम दशक में की थी।

शम्स-ए-सिराज अफीफ की इस पुस्तक में सुल्तान फीरोजशाह तुगलक के शासन की सभी घटनाओं का आरम्भ से अन्त तक विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें सुल्तान फीरोज के जन्म, सिंहासन-आरोहण, उसके समय का मंगोल-आक्रमण, सुल्तान का लखनौती (बंगाल) पर आक्रमण, उसके गुलामों का वर्णन, उसकी सेना का वर्णन, उसके धार्मिक कार्य, उसके अमीर, उसकी दान और रोजगार-व्यवस्था, उसके सार्वजनिक-निर्माण-कार्य, अस्पतालों का निर्माण, उसके द्वारा बनवायी गयी इमारतें, आदि सभी का वर्णन किया गया है। अफीफ ने सुल्तान के समय के नागरिक और सामाजिक जीवन का भी विस्तृत वर्णन किया है। इस प्रकार, सुल्तान फीरोजशाह के शासन-काल के समय की घटनाओं और सांस्कृतिक जीवन को जानने के लिए यह एक अति उपयोगी ग्रन्थ है। परन्तु फिर भी उसके पश्चात् के समकालीन इतिहासकारों ने इसका प्रयोग कम किया है। यद्यपि अफीफ ने अपने इस ग्रन्थ की रचना सुल्तान फीरोज के निर्देशन पर नहीं की थी परन्तु तब भी उसने सुल्तान को एक आदर्श मुसलमान सुल्तान के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

**7. सीरत-ए-फीरोजशाही**—सुल्तान फीरोज का समकालीन एक अन्य ग्रन्थ **सीरत-ए-फीरोजशाही** है। परन्तु इस ग्रन्थ के लेखक का नाम ज्ञात नहीं है। यह फीरोजशाह के शासन-काल में 1370 ई. के लगभग और सम्भवतया, उसी के निर्देशन पर लिखा गया था। इसमें भी सुल्तान फीरोज के शासन-काल की घटनाओं का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है और सुल्तान के कार्यों की अत्यधिक प्रशंसा की गयी है।

8. **फतूहात-ए-फीरोजशाही**—यह स्वयं सुल्तान फीरोजशाह द्वारा रचित 32 पन्नों की एक छोटी पुस्तक है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'फीरोज की विजयें' परन्तु इसमें फीरोजशाह की साम्राज्य-विस्तार की नीति का वर्णन नहीं है अपितु उसके उन कार्यों का वर्णन है जो उसने इस्लाम-धर्म के विस्तार के लिए अपनाये थे। इस कारण, इसमें मूलतया यह लिखा गया है कि सुल्तान ने केवल इस्लाम द्वारा स्वीकृत करों को ही लिया, हिन्दुओं और मुख्यतया ब्राह्मणों से भी जजिया लिया, इस्लाम द्वारा वर्जित कार्यों को करने से अपनी प्रजा को रोका, विभिन्न लोकहितकारी कार्य किये, मुहम्मद तुगलक द्वारा पीड़ित किये गये व्यक्तियों के दुखों को दूर किया, हिन्दू-मन्दिरों और मूर्तियों को नष्ट किया, बड़ी संख्या में हिन्दुओं को इस्लाम धर्म स्वीकार कराने में सफलता पायी आदि। इस प्रकार इस पुस्तक को लिखने में फीरोजशाह का मुख्य आशय था कि वह यह भी सिद्ध कर सके कि वह एक आदर्श मुसलमान सुल्तान था। परन्तु ऐसा करते हुए उसने यह भी सिद्ध कर दिया कि वह एक धर्मान्ध सुल्तान था जिसने अपनी बहुसंख्यक हिन्दू-प्रजा के प्रति न्यायपूर्ण व्यवहार नहीं किया।

9. **फुतूह-उस-सलातीन**—फुतूह-उस-सलातीन का लेखक ख्वाजा अब्दुला मलिक इसामी था। इसामी मुहम्मद तुगलक का समकालीन था। उसका परिवार दिल्ली में रहता था। जब 1227 ई. में मुहम्मद तुगलक ने अपनी राजधानी परिवर्तित की और दिल्ली के अमीरों और नागरिकों को दिल्ली से दौलताबाद (देवगिरि) जाने के आदेश दिये तब उसे भी अपने दादा के साथ दिल्ली छोड़नी पड़ी। उसके 90 वर्षीय दादा की मृत्यु मार्ग में ही हो गयी और उसे तथा उसके परिवार के अन्य सदस्यों को मार्ग में बहुत कठिनाई उठानी पड़ी। इस कारण वह सुल्तान मुहम्मद तुगलक से असन्तुष्ट हो गया। इसामी उसके पश्चात् दौलताबाद ही रहा। जब वहाँ स्वतन्त्र बहमनी-राज्य की नींव पड़ी तो उसे उसके संस्थापक, सुल्तान अलाउद्दीन हसन बहमनशाह का संरक्षण प्राप्त हो गया और उसी के संरक्षण में उसने अपने इस ग्रन्थ की रचना की। 1350 ई. में उसने इस ग्रन्थ की रचना पूर्ण की।

इसामी तुगलक-वंश के इतिहास के सम्बन्ध में लिखने वाले विद्वानों में से एकमात्र ऐसा विद्वान था जो उस वंश के किसी भी सुल्तान के संरक्षण में नहीं था। इस कारण उसे न किसी सुल्तान का भय था और न किसी से कुछ पाने की लालसा। इस कारण उसका विवरण सत्य के अधिक निकट है। निःसन्देह, इसामी सुल्तान मुहम्मद तुगलक से असन्तुष्ट था और उसकी उसने बुराई भी की है परन्तु अन्य सुल्तानों के विषय में यह गलत बात नहीं मानी जा सकती। इसके अतिरिक्त, वह दक्षिणी भारत के विद्रोहों और वहाँ की घटनाओं के निकट सम्पर्क में था। उनके सम्बन्ध में तो उसके कथन को विश्वसनीय माना ही जा सकता है। परन्तु इसामी का यह ग्रन्थ एक विस्तृत ग्रन्थ है। इस कारण, फुतूह-उस-सलातीन में जो कुछ उसने लिखा है वह अपनी आँखों से देखा हुआ मात्र नहीं लिखा है अपितु उसने उसे लिखने में अन्य विद्वानों द्वारा लिखे गये विभिन्न ग्रन्थों की भी सहायता ली है, यह निश्चय है।

फुतूह-उस-सलातीन में गजनी के यमीनी-वंश (जिस वंश का महमूद गजनवी था) के उत्थान से लेकर मुहम्मद तुगलक के शासन-काल तक का वर्णन किया गया

है। इसकी रचना पद्य में की गयी है जो उसे अधिक रोचक बनाती है। डॉ. के. एस. लाल के अनुसार, "इस ग्रन्थ में न तो ऐतिहासिक अशुद्धियाँ हैं और न काव्य की सुन्दरता की कमी।" इसके अतिरिक्त इसमें शब्दों का आडम्बर नहीं है। इसामी ने इसमें अलाउद्दीन के 1296 ई. के दक्षिण अभियान का वर्णन विस्तृत रूप से किया है। उसने मुहम्मद तुगलक के समय के दक्षिण-भारत के विद्रोहों को भी विस्तृत रूप से लिखा है। उसने मुहम्मद तुगलक की अनेक स्थलों पर बुराई की है और उसके कार्यों को इस्लाम धर्म के विरुद्ध भी बताया है। इसामी ने अपने इस ग्रन्थ में जियाउद्दीन बरनी का विवरण कहीं नहीं दिया है परन्तु अनेक स्थलों पर उसका वर्णन बरनी के वर्णन का समर्थन और उसकी पूर्ति करता है। फुतूह-उस-सलातीन को एक उपयोगी और प्रामाणिक ग्रन्थ स्वीकार किया गया। इतिहासकार फरिश्ता और बदायूँनी ने अपने ग्रन्थों की रचना में इसकी सहायता ली। आधुनिक इतिहासकार भी इसको एक उपयोगी स्रोत-ग्रन्थ स्वीकार करते हैं।

**10. मुहम्मद तुगलक की आत्मकथा**—ब्रिटिश अजायबघर में प्राप्त तबकात-ए-नासिरी की एक प्रतिलिपि में चार पन्ने की एक हस्तलिपि संलग्न है। प्रो. हबीब ने इन पन्नों की ओर, सर्वप्रथम, ध्यान दिलाया और कहा कि ये मुहम्मद तुगलक की आत्मकथा का अंश हैं। प्रो. आगा मेहदी हुसैन ने इन पन्नों का अनुवाद किया, उसे सुल्तान मुहम्मद तुगलक की आत्मकथा का अंश स्वीकार किया और उन्हें मुहम्मद तुगलक की विचारधारा तथा उसके चरित्र को समझने की महत्वपूर्ण सामग्री माना परन्तु उनके पश्चात् कई विद्वानों ने उनके मत के विरोध में विचार प्रकट किया है। डॉ. के. ए. निजामी ने विस्तृत रूप से उन पन्नों का अध्ययन और विवेचन किया और निर्णय दिया कि इन्हें मुहम्मद तुगलक की आत्मकथा के अंश मानना भूल है क्योंकि इनमें झूठ के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता। प्रो. हबीब अब प्रो. निजामी के निर्णय से सहमत हैं। एक अन्य विद्वान, प्रो. कुरेशी ने यह विचार व्यक्त किया है कि ये पन्ने सुल्तान मुहम्मद तुगलक के उस प्रार्थना-पत्र के अंश हैं जो उसने फारसी में लिखवाकर खलीफा को अपनी सुल्तान की पदवी की स्वीकृति के लिए भेजा था। प्रो. एस. ए. ए. रिजवी ने भी इस विचार से सहमति प्रकट की है। इस प्रकार, इन पन्नों के विषय में विवाद है।

**11. रेहला (यात्रा-विवरण)**—रेहला का रचयिता अबू अब्दुल्ला मुहम्मद उर्फ इब्न बतूता था। वह अफ्रीका का निवासी था। 1304 ई. में तंजीयर में उसका जन्म हुआ। 1325 ई. में उसने अपनी यात्रा आरम्भ की और अफ्रीका तथा पश्चिमी एशिया के विभिन्न देशों का भ्रमण करते हुए 1333 ई. में उसने सिन्ध में प्रवेश किया। भारत में प्रायः वह चौदह वर्ष रहा जिसमें से आठ वर्ष उसने दिल्ली में व्यतीत किये। मुहम्मद तुगलक ने 1334 ई. में उसे दिल्ली में काजी का पद प्रदान किया जिस पद पर उसने आठ वर्ष कार्य किया। उसके पश्चात् सुल्तान उससे असन्तुष्ट हो गया और उसे उसके पद से हटा दिया। बाद में प्रसन्न हो जाने पर सुल्तान ने 1341 ई. में उसे अपना राजदूत बनाकर चीन भेजा। परन्तु वह 1346 ई. से पहले भारत को न छोड़ सका। चीन जाते हुए मार्ग में उसका जहाज नष्ट हो गया। परन्तु वह वापस भारत पहुँच सका। उसके पश्चात् वह मोरक्को वापस चला गया। अपने जीवन के अन्तिम पच्चीस वर्ष उसने मोरक्को के सुल्तान की सेवा में व्यतीत किये और उसी के आदेश पर उसने अपना यात्रा-विवरण लिखवाया जो बाद में रेहला के नाम से प्रकाशित हुआ।

इब्न बतूता के रेहला से हमें तत्कालीन भारत की राजनीति, मुहम्मद तुगलक के व्यक्तित्व और चरित्र, सैनिक व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति, व्यापारिक मार्ग, नगरों, वनस्पति, फसलों, पशुओं आदि—सभी का ज्ञान प्राप्त होता है। उसने डाक-व्यवस्था, सड़कों, गुप्तचर-व्यवस्था, गियासुद्दीन तुगलक की मृत्यु की परिस्थितियाँ, मुहम्मद तुगलक द्वारा राजधानी-परिवर्तन और उसके परिणाम, सुल्तान द्वारा रक्तपात, उसकी दान और उदारता के उदाहरण, दिल्ली-शहर, त्यौहार और उत्सव, भारत के जादूगर, दौलताबाद का बाजार, बंगाल की जलवायु, भारतीयों का भोजन, आदि सभी के बारे में लिखा। उसके वर्णन से हमें सभी प्रकार की जानकारी प्राप्त होती है जो तत्कालीन राजनीति, सुल्तान, उसके दरबार के अमीरों का जीवन, नगर-जीवन, शासन, समाज, अर्थ-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, आदि सभी को जानने में हमारी सहायता करती है। इब्न बतूता का वर्णन बहुत विस्तृत और रोचक भी है।

इब्न बतूता विद्वान और धर्म तथा कानून का ज्ञाता था। इस कारण, उसका विवरण ज्ञानवर्धक है। इब्न बतूता ने अपना विवरण भारत में नहीं लिखवाया। उसे न किसी सुल्तान का भय था और न किसी से कोई लालच। इस कारण उसके विवरण में सत्य की अपेक्षा की गयी है। इब्न बतूता ने जो भी लिखा अपनी व्यक्तिगत जानकारी के आधार पर लिखा, और जहाँ जो बात उसे अन्य स्रोत से प्राप्त हुई उसने उस स्रोत का उल्लेख किया। इस कारण भी उसका विवरण सत्य के निकट माना गया है। इस कारण, रेहला तत्कालीन स्रोत-ग्रन्थों में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है मुख्यतया मुहम्मद तुगलक के शासन-काल की जानकारी के सम्बन्ध में।

**12. मलफूजात-ए-तीमूरी**—यह तिमूर लंग की आत्मकथा है। इसे तिमूर ने तुर्की भाषा में लिखवाया था। आबू तालिब हुसैनी ने, सर्वप्रथम, इसका फारसी में अनुवाद किया और उसे बादशाह शाहजहाँ को भेंटस्वरूप प्रदान किया। इसमें अमीर तिमूर के विचारों और कार्यों का वर्णन किया गया है। तिमूर के आक्रमण ने तुगलक-वंश के राज्य को नष्ट करने में भी सहायता दी। इस कारण यह तुगलक-वंश के अन्तिम शासकों के इतिहास को जानने में भी सहायता करता है। इस ग्रन्थ को प्रमाणित और सत्य के बहुत निकट स्वीकार किया गया है।

**13. जफरनामा**—यह अमीर तिमूर की जीवनी है और मलफूजात-ए-तीमूरी का ही एक दूसरा स्वरूप है। तिमूर की मृत्यु के तीस वर्ष पश्चात् उसके पोते के संरक्षण में सराजउद्दीन अली याजदी ने इस ग्रन्थ की रचना की।

**14. तारीख-ए-मुबारकशाही**—इसकी रचना याहया बिन अहमद ने की। वह सैय्यद-वंश के दूसरे शासक मुबारकशाह (1421-34 ई.) का समकालीन था और सुल्तान का कृपापात्र था। परन्तु इस ग्रन्थ की रचना उसने सुल्तान मुबारकशाह की मृत्यु के पश्चात् की। यह ग्रन्थ सैय्यद-वंश के इतिहास को जानने का एकमात्र साधन है। परन्तु इसका आरम्भ मुइज्जुद्दीन मोहम्मद गोरी के सिंहासन पर बैठने के समय से किया गया है। मोहम्मद गोरी के समय से लेकर सैय्यद-वंश के तीसरे शासक सुल्तान मोहम्मद के सिंहासन पर बैठने तक के इतिहास का इसमें वर्णन किया गया है। स्वयं याहया-बिन-अहमद ने यह लिखा है कि उसने सुल्तान फीरोजशाह तुगलक तक के इतिहास को लिखने में अन्य विद्वानों की रचनाओं से सहायता ली और उसके पश्चात् उसने जो स्वयं देखा उसका वर्णन किया। इस प्रकार, याहया-बिन-

अहमद ने बाद के तुगलक शासकों और आरम्भ के सैय्यद-शासकों के इतिहास को अपने व्यक्तिगत ज्ञान और अनुभव के आधार पर लिखा है।

तारीख-ए-मुबारकशाही एक श्रेष्ठ ग्रन्थ माना गया है। 1400 से 1434 ई. तक के उसके ऐतिहासिक वर्णनों को सत्य के बहुत निकट और प्रामाणिक स्वीकार किया गया है क्योंकि वह उस समय की घटनाओं से स्वयं परिचित था। इतिहासकार डाउसन ने याहया-बिन-अहमद को 'एक सतर्क और ईमानदार लेखक' स्वीकार किया। तारीख-ए-मुबारकशाही में 1360 से 1434 ई. तक की घटनाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस प्रकार, जियाउद्दीन बरनी जहाँ अपने इतिहास को समाप्त करता है वहाँ से याहया-बिन-अहमद आरम्भ करता है। इसके अतिरिक्त, जिन घटनाओं को शम्स-ए-सिराज अफीफ विस्तार से नहीं दे सका उनकी पूर्ति तारीख-ए-मुबारकशाही से हो जाती है। इस कारण, यह ग्रन्थ ऐतिहासिक सामग्री को जानने के लिए एक उपयोगी ग्रन्थ है। सैय्यद-वंश के इतिहास को लिखने में बाद के इतिहासकारों, जैसे निजामउद्दीन, अहमद बदायूंनी और फरिश्ता ने इस ग्रन्थ की सहायता ली।

**15. शेख रिजकुल्ला द्वारा रचित वाकियात-ए-मुश्ताकी और तारीख-ए-मुश्ताकी**—शेख रिजकुल्ला (1492-1582 ई.) ने अपनी मृत्यु से नौ वर्ष पूर्व इनकी रचना की। उसकी ये दोनों रचनाएँ ब्रिटिश अजायबघर में सुरक्षित हैं। इन्हें पूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन इनमें नहीं है। परन्तु तब भी इन्हें मूल्यवान सामग्री माना जाता है। इनमें भारत के अफ़गान शासन का वर्णन किया गया है। इस कारण इनसे न केवल लोदी-वंश के इतिहास को जानने की सामग्री प्राप्त होती है अपितु शेरशाह सूरी और उसके पुत्र इस्लामशाह के शासन के सम्बन्ध में भी ज्ञान प्राप्त होता है। इनमें सिकन्दर लोदी, शेरशाह सूरी और इस्लामशाह सूर के व्यक्तिगत जीवन, उनके दरबार के रीति-रिवाज, उनके शासन, सार्वजनिक हित के कार्य, कृषकों की सुरक्षा और नागरिकों के हित के लिए किये गये कार्यों आदि का विवरण प्राप्त होता है। उसके इन विवरणों से इन सुल्तानों के चरित्र और व्यक्तित्व को समझने में भी सहायता मिली है।

**16. तारीख-ए-सलातीन-ए-अफगान या तारीख-ए-शाही**—अहमद यादगार ने 1601 ई. में इस ग्रन्थ को पूरा किया। यह बहलोल लोदी के समय से आरम्भ किया गया है और हेमू की मृत्यु पर समाप्त होता है। इसमें कुछ सामग्री बाबर, हुमायूँ और अकबर के सम्बन्ध में भी प्राप्त होती है। परन्तु, मुख्यतया, यह दिल्ली के अफगान शासकों का इतिहास है। इस कारण लोदी और सूर-वंश के शासकों के सम्बन्ध में इसमें विस्तार से लिखा गया है।

**17. मखजान-ए-अफगाना**—नियामतउल्ला ने 1612 ई. में इस ग्रन्थ की रचना की। इसमें केवल लोदी-वंश के शासकों का विस्तृत वर्णन दिया गया है। परन्तु इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसमें अफगानों का भी वंश-वृक्ष दिया गया है।

**18. तारीख-ए-दाउदी**—अब्दुल्ला ने जहाँगीर (1605-27 ई.) के काल में इस ग्रन्थ की रचना की। बहलोल लोदी के समय से यह ग्रन्थ आरम्भ किया गया है और 1575 ई. में बंगाल के अफगान-शासक दाऊद की मृत्यु पर इसे समाप्त किया गया है। इस प्रकार, यह ग्रन्थ भी मुख्यतया भारत के अफगान-शासकों के सम्बन्ध में ज्ञान उपलब्ध कराता है।

## (ब) विभिन्न राजवंशों के इतिहास को जानने के मुख्य स्रोत-ग्रन्थ

दिल्ली-सुल्तानों के इतिहास को जानने में हमें इस युग के पश्चात् के इतिहासकारों, मुख्यतया निजामउद्दीन, फरिश्ता और बदायूँनी के विवरण से भी बहुत सहायता मिलती है। परन्तु लोदी-वंश के अतिरिक्त अन्य सभी राजवंशों के इतिहास को जानने के लिए समकालीन ग्रन्थ भी उपलब्ध है जिनमें से मुख्य निम्न हैं—

**1. गुलाम-वंश**

(i) हसन निजामी का **ताज-उल-मासिर,**
(ii) मिनहाजुद्दीन सिराज का **तबकात-ए-नासिरी,** और
(iii) जियाउद्दीन बरनी का **तारीख-ए-फीरोजशाही।**

**2. खजली-वंश**

(i) जियाउद्दीन बरनी की रचनाएँ,
(ii) अमीर खुसरो की रचनाएँ,
(iii) ख्वाजा अब्दुल्ला मलिक इसामी का **फुतूह-उस-सलातीन,** और
(iv) इब्न बतूता का **रेहला।**

**3. तुगलक-वंश**

(i) अमीर खुसरो की रचनाएँ,
(ii) जियाउद्दीन बरनी का **तारीख-ए-फीरोजशाही,**
(iii) ख्वाजा अब्दुल्ला मलिक इसामी का **फुतूह-उस-सलातीन,**
(iv) इब्न बतूता का **रेहला,**
(v) बदरुद्दीन चच्च की कविताएँ—बदरुद्दीन ताशकन्द का निवासी था। वह भारत आया और कुछ समय तक सुल्तान मुहम्मद तुगलक के दरबार में रहा। उसने फारसी में कुछ कविताएँ लिखीं जिनसे कुछ तत्कालीन महत्वपूर्ण घटनाओं की तारीखों को जानने में सहायता प्राप्त होती है,
(vi) तथाकथित मुहम्मद तुगलक की आत्मकथा के चार पन्ने,
(vii) शम्स-ए-सिराज अफीफ का **तारीख-ए-फीरोजशाही,**
(viii) **सीरत-ए-फीरोजशाही** (लेखक का नाम अज्ञात है),
(ix) सुल्तान फीरोजशाह का **फतूहात-ए-फीरोजशाही,**
(x) याहया बिन अहमद का **तारीख-ए-मुबारकशाही,**
(xi) अमीर तिमूर की आत्मकथा, **मलफूजात-ए-तीमूरी,**
(xii) सराजउद्दीन-अली-याजदी का **जफरनामा।**

**4. सैय्यद-वंश**

(i) याहया-बिन-अहमद का **तारीख-ए-मुबारकशाही।**

**5. लोदी-वंश**

(i) शेख रिजकुल्ला के **वाकियात-ए-मुश्ताकी** और **तारीख-ए-मुश्ताकी,**

(ii) अहमद यादगार का तारीख-ए-शाही या तारीख-ए-फलातीत अफगाना,
(iii) नियामत उल्ला का मखजात-ए-अफगाना,
(iv) अब्दुल्ला का तारीख-ए-दाउदी ।

**6. अन्य**

प्रान्तीय राजवंशों के इतिहास को जानने के लिए भी विभिन्न ग्रन्थ उपलब्ध हैं जैसे सिन्ध के इतिहास के लिए मीर मुहम्मद मासूम द्वारा रचित **तारीख-ए-सिन्ध**, कश्मीर के इतिहास के लिए मिरजा हैदर का **तारीख-ए-रशीदी** और हैदर मलिक का **तारीख-ए-कश्मीर**, बंगाल के लिए गुलाम हुसैन सलीम का **रियाज-उल-सलातीन**, गुजरात के लिए मीर अबू तुराब वली का **तारीख-ए-गुजरात**, दक्षिण के अहमदनगर राज्य के लिए सैय्यद अली तबातबा का **बुरहान-ए-मासिर** आदि । इनके अतिरिक्त, इस समय इन राजवंशों के इतिहास को जानने के विभिन्न ग्रन्थ संस्कृत भाषा में भी उपलब्ध हैं । कुछ विदेशी यात्रियों के विवरण भी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री माने गये हैं । कालीकट के राजा के यहाँ नियुक्त हुए पर्शिया के राजदूत अब्दुर रज्जाक और इटली के एक यात्री निकोलो कोन्टी के विजयनगर राज्य के वर्णन को इनमें महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है । इन दोनों नें विजयनगर-राज्य की यात्रा की थी और वहाँ के राजा, शासन-प्रनन्ध, सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति आदि के वारे में स्वयं देखकर लिखा था । इस कारण, इनके वर्णनों को बहुत रोचक और विश्वसनीय माना गया है ।

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'तहकीक-ए-हिन्द' के ऐतिहासिक महत्व को स्पष्ट कीजिए ।
2. गुलाम-वंश के शासकों के इतिहास को जानने में 'तबकात-ए-नासिरी' से हमें क्या सहायता प्राप्त होती है ?
3. अमीर खुसरो की रचनाओं से हमें दिल्ली-सुल्तानों में से किनके इतिहास को जानने में सहायता मिलती है और क्या ?
4. जियाउद्दीन बरनी द्वारा रचित 'तारीख-ए-फीरोजशाही' के ऐतिहासिक महत्व को स्पष्ट कीजिए ।
5. शम्स-ए-सिराज अफीफ द्वारा रचित 'तारीख-ए-फीरोजशाही' के द्वारा हमें सुल्तान फीरोजशाह तुगलक के शासन-काल के इतिहास को जानने में क्या सुविधा प्राप्त होती है ?
6. सुल्तान फीरोजशाह तुगलक द्वारा रचित 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' से हमें क्या ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है ?
7. ख्वाजा अब्दुल्ला मलिक द्वारा रचित 'फुतूह-उस-सलातीन' से हमें क्या ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है ?
8. इब्न बतूता द्वारा रचित 'रेहला' की ऐतिहासिक स्रोत-ग्रन्थ के रूप में समीक्षा कीजिए।
9. 'तारीख-ए-मुबारकशाही' के ऐतिहासिक महत्व को स्पष्ट कीजिए ।
10. 'तारीख-ए-सलातीन-ए-अफगाना' का ऐतिहासिक स्रोत-ग्रन्थ के रूप में क्या महत्व है ?

# 2

# भारत पर अरबों का आक्रमण

## [ 1 ]

## इस्लाम धर्म का उत्थान

विश्व इतिहास में इस्लाम धर्म का उत्थान एक महत्वपूर्ण घटना है। अरब के रेगिस्तान में इसकी उत्पत्ति हुई तथा अरबों, ईरानियों और तुर्कों ने इसके प्रसार में प्रमुख भाग लिया। पैगम्बर मुहम्मद (570-632 ई.) ने प्रचार और तलवार के आधार पर इसका विस्तार किया जिससे आरम्भ से ही इसका स्वरूप एक सैनिक-धर्म की भाँति हो गया। 100 वर्ष से भी कम समय में इसका और इसके समर्थकों के साम्राज्य का विस्तार पश्चिम में एटलांटिक समुद्र से पूर्व में सिन्धु नदी तक और उत्तर में कैस्पियन सागर से दक्षिण में नील नदी की घाटी तक हो गया जिसमें स्पेन, पुर्तगाल, फ्रान्स का दक्षिणी-भाग, उत्तरी अफ्रीका, सम्पूर्ण मिस्र, अरब, सीरिया, मेसोपोटामिया, आर्मीनिया, पर्शिया, सम्पूर्ण मध्य-एशिया, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, सिन्ध आदि सम्मिलित थे। तलवार की शक्ति पर आधारित इस्लाम की शक्ति का इतने थोड़े समय में प्रसार और उसकी विजय इतिहास की महत्वपूर्ण घटना थी। विभिन्न छोटी-छोटी शक्तियाँ और धार्मिक सम्प्रदाय ही नहीं अपितु बड़ी-बड़ी शक्तियाँ और प्राचीन धर्म भी इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति के आगे झुकते चले गये। यूरोप के ईसाई राज्यों ने इस्लाम की शक्ति को रोकने के लिए विभिन्न प्रयत्न किये और यदि 716 ई. में कुस्तुनतुनिया के निकट थियोडोसस तृतीय ने तथा 732 ई. में टुअर्स के युद्ध में चार्ल्स (Charles the Hammer) ने इस्लाम की सेनाओं को परास्त करने में सफलता न पायी होती तो सम्भवतया सम्पूर्ण यूरोप इस्लामी सत्ता और धर्म को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाता। उसके पश्चात् भी यूरोप इसके भय से मुक्त न हो सका। ओटोमान-तुर्कों ने एक बार फिर इस्लाम की शक्ति को यूरोप में फैलाया। रोमन-साम्राज्य, कुस्तुनतुनिया, बाल्कान-प्रदेश और सम्पूर्ण पूर्वी यूरोप इस्लाम की शक्ति के आगे झुक गया और ईसाई-राज्यों के संयुक्त प्रयत्न तथा विभिन्न धर्म-युद्ध (Crusades) भी इस्लाम के तूफान के सम्मुख असफल रहे। इसी इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबला भारत को भी करना पड़ा। प्रायः तीन सौ वर्ष तक भारत ने अपनी उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर इसे रोककर रखा परन्तु अन्त में वह परास्त हुआ और इस्लाम ने भारत में प्रवेश किया।

**पैगम्बर मुहम्मद**

570 ई. में इस्लाम धर्म के संस्थापक हजरत मुहम्मद का जन्म मक्का (अरब) में हुआ। बचपन में ही उनके माता-पिता की मृत्यु हो गयी। इस कारण उनका

लालन-पालन उनके चाचा अबू तालिब ने किया। मुहम्मद आरम्भ से ही अल्लाह के भक्त थे। चालीस वर्ष की आयु में उन्हें यह आत्मज्ञान हुआ कि वह अल्लाह के पैगम्बर हैं और उन्होंने अपने को नबी (पैगम्बर) और रसूल (ईश्वर का दूत) घोषित कर दिया। उस समय अधिकांशतः अरब-निवासी मूर्ति-पूजक थे। वह अल्लाह को मानते थे परन्तु अल्लाह की पूजा नहीं करते थे, बल्कि प्रायः 300 अन्य देवी-देवताओं की पूजा करते थे जिनकी मूर्तियाँ अथवा चिह्न काबा में रखे गये थे। उनमें से अल्लाह की बेटियों के रूप में लाट, मानत और उजा की पूजा प्रमुख थी और केवल हाबल की एक मूर्ति पूर्ण थी। उस समय तक अरबों का न तो कोई धार्मिक ग्रन्थ था और न कोई धार्मिक दर्शन। उनका मुख्य तीर्थ-स्थान मक्का का काबा था जो एक ऐसा घेरा-बन्द स्थान था जिसकी छत न थी और जिसमें अरबों के देवी-देवताओं की मूर्तियाँ अथवा उनके प्रतीक रखे गये थे। उसकी स्थापना अब्राहम और इस्माइल ने की थी। बाद में भी उसमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया। हज की धार्मिक क्रियाएँ भी काबा में नहीं की जातीं, बल्कि उसके इर्द-गिर्द की उस भूमि में की जाती हैं जिसे हम हातिम पुकारते हैं। अरब उस समय विभिन्न फिरकों में बँटा हुआ था जिनमें आपस में युद्ध होते रहते थे। हजरत मुहम्मद ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया, विभिन्न देवी-देवताओं को मानने से इन्कार किया और एक अल्लाह में विश्वास करने का प्रचार किया। मक्का के निवासी उनके विचारों से असन्तुष्ट हो गये। उस समय यासरिब, जो बाद में मदीना (पैगम्बर का शहर) कहलाया, औस तथा खजराज नाम के दो अरब-फिरकों के झगड़े का केन्द्र-स्थान बना हुआ था। उन दोनों फिरकों ने पैगम्बर मुहम्मद को मदीना आने का निमन्त्रण दिया जिससे वह उन दोनों के झगड़ों का न्यायपूर्ण निर्णय कर सकें। उस समय तक मुहम्मद को विभिन्न अरब-फिरकों की आर्थिक स्थिति और उनके पारस्परिक झगड़ों का बहुत अधिक अच्छा ज्ञान हो गया था और वह अरब में प्रचलित यहूदी तथा ईसाई धार्मिक विचारों के बारे में भी बहुत अच्छी जानकारी रखते थे। वह 622 ई. में मक्का को छोड़कर मदीना चले गये। वहाँ उनके धार्मिक विचारों का स्वागत हुआ। मुहम्मद किसी भी अरब-फिरके के नेता होने का दावा नहीं करते थे। इस कारण उसके पास कोई राजनीतिक शक्ति न थी। परन्तु उन्होंने जिस मुसलमान-सम्प्रदाय (मिल्लत) की स्थापना की, वह धीरे-धीरे सभी फिरकों से श्रेष्ठ और शक्तिशाली बन गया। मुहम्मद ने ही कुरान (इस्लाम का धार्मिक ग्रन्थ) की रचना की। धीरे-धीरे उन्होंने सम्पूर्ण अरब को धार्मिक और राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँध दिया। उन्होंने उसके लिए युद्ध भी किये। स्वयं मुहम्मद ने कोई स्थायी सेना नहीं रखी थी। उसके कोई स्थायी शरीर रक्षक न थे, न कोई खजाना था और न कोई स्थायी दफ्तर। उनके सभी कार्य स्वयंसेवकों द्वारा अथवा विभिन्न अवसरों पर उनके द्वारा नियुक्त किये गये उनके प्रतिनिधियों के द्वारा किये जाते थे। मुहम्मद अपने समर्थकों की सलाह को सुनते थे और उनको अपनी आलोचना तक करने का अधिकार देते थे। परन्तु प्रत्येक विषय में अन्तिम निर्णय उन्हीं का होता था। इस प्रकार इस्लाम का प्रचार करने के साथ-साथ मुहम्मद ने परिस्थितियोंवश एक राजनीतिक व्यवस्था और एक राज्य की स्थापना भी की और वह स्वयं उसके प्रधान बन गये, यद्यपि वह सर्वदा पैगम्बर ही कहलाये और उन्होंने कभी भी किसी अन्य पद अथवा स्थिति को स्वीकार नहीं किया। 632 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

**उमय्यद-खलीफा**

पैगम्बर मुहम्मद ने अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया था। इस कारण मदीना में हुई एक जन-साधारण-सभा में अबू-बक्र को उनका उत्तराधिकारी चुना गया। पैगम्बर मुहम्मद के उत्तराधिकारी खलीफा (Khalifa or Caliph) कहलाये। इस कारण अबू-बक्र पहला खलीफा हुआ। उसका वंश उमय्यद था। इस कारण पहले के खलीफा उमय्यद-खलीफा कहलाये। 633 ई. से 750 ई. तक के समय में उमय्यद-वंश के 18 खलीफा हुए[1] जिनमें से प्रथम चार खलीफा पवित्र-खलीफा माने गये और बाद के 14 खलीफा धार्मिक प्रधान के साथ-साथ शासक भी माने गये। यद्यपि पहले खलीफा अबू-बक्र के समय में ही पैगम्बर मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् होने वाले विभिन्न विद्रोहों को दबाने की आवश्यकता के कारण खलीफा एक धर्म का ही नहीं अपितु एक राज्य का प्रधान और मदीना उस राज्य की राजधानी बन गया था। उसकी मृत्यु बीमारी से हुई और उसने उमर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। दूसरा खलीफा उमर हुआ जो एक आदर्श खलीफा माना गया और जिसके समय में महान् विजयें की गयीं। सीरिया, मिस्र, ईरान, आदि को उसके समय में विजय किया गया। उमर ने अमीरुल-मुमीनिन (Commander of the Faithful) की उपाधि ग्रहण की। उसके समय में इस्लाम के अतिरिक्त अन्य सभी धर्मों के मानने वालों को अरब से बाहर बसाया गया और अरब को पूर्णतया अरबों और इस्लाम का प्रदेश बना दिया गया। नवम्बर 644 ई. में प्रार्थना करते हुए उमर की हत्या एक ईरानी गुलाम ने कर दी। परन्तु मरने से पहले वह पैगम्बर के छह साथियों में से एक को अपना उत्तराधिकारी चुने जाने की सलाह दे गया। उनमें से उसमान को नवीन खलीफा चुना गया। उसमान योग्य खलीफा सिद्ध नहीं हुआ। 17 जून, 656 ई. को जबकि वह कुरान पढ़ रहा था, उसका कत्ल कर दिया गया। चौथा खलीफा अली चुना गया जिसका सम्पूर्ण जीवन युद्धों में व्यतीत हुआ। अली ने मदीना के स्थान पर कूफा को अपनी राजधानी बनाया। 25 जनवरी, 661 ई. को अली को कत्ल कर दिया गया। उसके पश्चात् उसके सबसे बड़े लड़के हसन को खलीफा चुना गया परन्तु उसने मुअव्विया के पक्ष में अपना पद छोड़ दिया। इस कारण पाँचवाँ खलीफा मुअव्विया हुआ। मुअव्विया ने खलीफा के पद को पैतृक रूप दिया और अपने पुत्र याजिद को अपना उत्तराधिकारी चुना। उसके समय से खलीफा का

---

1 (1) अबू-बक्र (633-634 ई.), (2) उमर प्रथम (634-644 ई.), (3) उस्मान (644-656 ई.), (4) अली (656-661 ई.), (5) मुअव्विया (661-680 ई.), (6) याजिद (680-683 ई.), (7) मुअव्विया द्वितीय (683-684 ई.), (8) मारवान (684-685 ई.), (9) अब्दुल मलिक (685-705 ई.), (10) वालिद प्रथम (705-715 ई.), (11) सुलेमान (715-717 ई.), (12) उमर द्वितीय (717-720 ई.), (13) याजिद द्वितीय (720-724 ई.), (14) हिशाम (724-743 ई.), (15) वालिद द्वितीय (743-744 ई.), (16) याजिद तृतीय (744 ई.), (17) इब्राहीम (744 ई.), और (18) वान द्वितीय (744-750 ई.)।

—*A Comprehensive History of India,* **Vol. V, Edited by Mohd. Habib and Khaliq Ahmad Nizami (Published under the auspices of the Indian History Congress).**

पद धार्मिक होने के साथ-साथ पूर्णतया राजनीतिक भी बन गया क्योंकि उसके पश्चात् अधिकांश खलीफा या तो वंशानुगत आधार पर खलीफा बने अथवा चुने गये। याजिद करीब 3½ वर्ष तक खलीफा रहा। उसका लड़का खलीफा मुआव्विया द्वितीय केवल 2 या 3 महीने खलीफा रहा। आठवें खलीफा मारवान का शासन-काल भी थोड़े समय का रहा परन्तु नवें खलीफा अब्दुल मलिक ने अपने 20 वर्ष के शासन-काल में सम्पूर्ण मुस्लिम साम्राज्य को अपनी अधीनता में लाने में सफलता पायी। उसके पुत्र खलीफा वालिद प्रथम का शासन उससे भी अधिक यशस्वी सिद्ध हुआ। अभी तक के खलीफाओं में खलीफा उमर प्रथम का समय सबसे अधिक यश और विस्तार का रहा था। खलीफा वालिद का समय उससे भी अधिक श्रेष्ठ रहा। उसके समय में इस्लाम की शक्ति सबसे अधिक विस्तृत और संगठित हो गयी। प्रो. मुहम्मद हबीब ने लिखा है कि "कुछ भागों जैसे कि स्पेन के खो जाने और कुछ भागों जैसे इण्डोनेशिया के पा लेने को छोड़कर आज भी मुस्लिम अनुयायियों की सीमाएँ वहीं हैं जहाँ मुस्लिम-खिलाफत की सीमाओं को 715 ई. में वालिद-बिन-अब्दुल-मलिक ने छोड़ा था।"[1] खलीफा वालिद के समय में ईरान (पर्शिया) की विजय के पश्चात् इस्लाम की सीमाएँ चीन तक, सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका में, दक्षिणी स्पेन तक और भारत में सिन्ध में फैल गयीं। उसके पश्चात् के खलीफाओं ने अपने साम्राज्य की सुरक्षा करने में सफलता पायी यद्यपि उसमें से कोई भी बहुत यशस्वी नहीं हुआ। सभी खलीफाओं का यह विश्वास रहा था कि बिना किसी जाति, देश, भाषा अथवा संस्कृति के अन्तर के सभी मुसलमानों का केवल एक ही राज्य होना चाहिए। जब तक उसकी शक्ति रही, वह अपने इस उद्देश्य में सफल रहे। परन्तु उमय्यद-खलीफाओं का शासन अरब कुलीनों का शासन था। इससे ईरानी असन्तुष्ट थे, वे अरब असन्तुष्ट थे जिनसे उमय्यदों ने राजनीतिक सत्ता छीन ली थी तथा पैगम्बर मुहम्मद अथवा कुरेश-वंश के वे व्यक्ति भी असन्तुष्ट थे जो खलीफा के पद पर अपना स्वाभाविक अधिकार समझते थे। इस कारण उमय्यद-खलीफाओं को निरन्तर आन्तरिक विद्रोहों का मुकाबला करना पड़ा था। 747 ई. में अब्बासियों ने विद्रोह किया। 25 जनवरी, 750 को उमय्यद-वंश के अन्तिम खलीफा मारवान द्वितीय की 'जब' के युद्ध में पराजय हुई और उसे पकड़ कर कत्ल कर दिया गया। उमय्यद-वंश के प्रायः सभी प्रभावशाली व्यक्ति मार दिये गये। उनमें से केवल एक अब्दुर रहमान जान बचाकर स्पेन भाग सका जहाँ उसने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। एच. जी. वेल्स के अनुसार, "उमय्यद-वंश के सभी पुरुषों को कत्ल करके उनकी लाशों पर चमड़े का कालीन बिछाया गया और उस पर बैठकर अब्बास तथा उसके सलाहकारों ने भोजन किया। इसके अतिरिक्त उमय्यद-वंश के खलीफाओं की कब्रों को खोदकर और उनकी हड्डियों को निकालकर तथा जलाकर हवा में बिखेर दिया गया।"

**अब्बासी-खलीफा**

अब्बासियों का पहला खलीफा अबुल अब्बास था। उसने उमय्यद-वंश के

---

1 "Ignoring some losses like Spain and some gains like Indonesia, the boundaries of the Muslim populations today arc where Walid Bin Abdul Malik left the frontiers of the Muslim Caliphate in A.D. 715." —Prof. Mohammad Habib.

सभी व्यक्तियों को कत्ल करा दिया। उसने कहा था कि "मैं महान् बदला लेने वाला हूँ और मेरा नाम अस सफाह अथवा रक्त बहाने वाला है।"[1] इस्लाम इतिहास में अब्बास-वंश के शासकों ने सबसे अधिक समय तक शासन किया। उनके 500 वर्ष के लम्बे शासन-काल में 37 शासक या खलीफा हुए यद्यपि उनमें से प्रथम आठ खलीफा[2] ही महत्वपूर्ण माने गये। अब्बास-खलीफाओं ने कुफा अर्थात् दमिश्क के स्थान पर बगदाद को अपनी राजधानी बनाया। इनमें से खलीफा अबू जफर मन्सूर और खलीफा हारुन-अल-रशीद के नाम काफी विख्यात हुए। परन्तु अब्बासी-खलीफा शासन और राज्य-विस्तार दोनों ही दृष्टि से उमय्यद-खलीफाओं की समता में न आ सके। आरम्भ से ही अब्बासी-खलीफा सम्पूर्ण मुस्लिम संसार को अपने अधिकार में रखने में असमर्थ रहे। बाद में धीरे-धीरे विभिन्न स्थानों पर स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना होती चली गयी और अन्त में खलीफाओं के पास बगदाद और उसके आस-पास की भूमि के अतिरिक्त कुछ और बाकी न रहा। इतिहासकार गिबिन ने लिखा है कि "अब्बासियों के आठवें खलीफा मुहासिम की मृत्यु के साथ उसके वंश और राष्ट्र का गौरव समाप्त हो गया।"[3] बाद के दुर्बल खलीफा पहले अपने तुर्की-रक्षकों (842-945 ई. के समय में), उसके पश्चात् बुवाईहीदों (945-1031 ई. के समय में) और उसके बाद सल्जूक तुर्कों अथवा ख्वारिज्म के सुल्तानों (1031-1218 ई. के समय में) के प्रभाव में रहे। उसके पश्चात् प्रायः 40 वर्षों तक वे शान्ति से रह सके परन्तु अन्त में 1258 ई. में मंगोल बादशाह हलाकू खाँ ने उन्हें समाप्त कर दिया। अब्बासी-खलीफाओं के समय में शासन से अरबों का एकाधिपत्य समाप्त हो गया, इस्लाम के धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष साहित्य का निर्माण हुआ, ग्रीक, ईसाई तथा संस्कृत साहित्य की पुस्तकों का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ और ईरानी संस्कृति ने इस्लाम को प्रभावित किया। अब्बासी-खलीफाओं के पश्चात् भी विभिन्न स्थानों पर खलीफाओं की परम्परा चलती रही, नाममात्र के लिए खलीफाओं का सम्मान भी रहा और मुख्य बात यह रही कि क्योंकि राजतन्त्र के बारे में कुरान चुप है, इस कारण खलीफा ही विभिन्न शासकों और सुल्तानों को कानूनी शासक अथवा सुल्तान स्वीकार करने के अधिकार का उपभोग करते रहे। अन्त में, प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने खलीफा के पद को समाप्त कर दिया और आधुनिक टर्की की सरकार ने उसे पुनः जीवित करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। अब इस्लामी संसार में खलीफा कहलाने वाला कोई व्यक्ति नहीं है।

---

1 "I am the Great Revenger and my name is As-Saffah, the Shedder of blood." —Khalifa Abul Abbas.

2 (1) अबुल अब्बास सफाह (749-754 ई.), (2) अबू जफर मन्सूर (754-775 ई.), (3) महदी (775-785 ई.), (4) हादी (785-786 ई.), (5) हारुन रशीद (786-809 ई.), (6) अमीन (809-813 ई.), (7) मामुन (813-833 ई.), (8) मुहासिम (833-842 ई.)। —*A Comprehensive History of India*, Vol. V.

3 "With Muhasim, the eight of the Abbasids, the glory of the family and nation expired." —Gibbon.

[ 2 ]

# अरबों का सिन्ध पर आक्रमण

### आक्रमण के समय भारत की स्थिति

शक्तिशाली गुप्त-साम्राज्य के नष्ट हो जाने के पश्चात् सम्राट हर्ष ने एक बार फिर भारत में एक विस्तृत और दृढ़ साम्राज्य को स्थापित करने का प्रयत्न किया। हर्ष अपने उद्देश्य में आंशिक रूप से सफल रहा। वह दक्षिणी भारत तो क्या सम्पूर्ण उत्तरी भारत को भी अपने शासन के अधीन न कर सका। तब भी हर्ष के समय में उत्तरी भारत में एक शक्तिशाली दृढ़ साम्राज्य था जो शक्ति और सम्पन्नता की दृष्टि से किसी भी विदेशी आक्रमण का मुकाबला करने में समर्थ था। परन्तु हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत की एकता खण्डित हो गयी, विभिन्न स्थानों पर स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हो गयी और विभिन्न नवीन राजवंशों की उत्पत्ति हुई। ऐसा नहीं था कि वे सभी राज्य छोटे-छोटे और दुर्बल थे, बल्कि इनमें से विभिन्न राज्य शक्ति और विस्तार की दृष्टि से काफी विशाल थे परन्तु उनकी दुर्बलता का मुख्य कारण उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा थी। विदेशी परिस्थितियों से पूर्णतया अनभिज्ञ और विदेशी आक्रमणों के प्रति उदासीन वे सभी राज्य यश और साम्राज्य-विस्तार के लिए आपस में युद्ध करते रहते थे। भारत की राजनीतिक दुर्बलता का यही मुख्य कारण था।

उस समय अफगानिस्तान में हिन्दू राज्य थे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस प्रदेश को सेल्यूकस निकेटर से जीता था। उस समय से वह एक हिन्दू राज्य रहा। वहाँ बौद्ध और हिन्दू धर्म प्रचलित थे और वह राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से भारत का एक अंग था। बाद में वह काबुल और जाबुल नाम के दो राज्यों में विभक्त हो गया। मुसलमान उनको इन्हीं नामों से पुकारते थे। काबुल का राज्य उत्तर-पूर्व में कश्मीर और पश्चिम में ईरान की सीमाओं से मिला हुआ था। काबुल, जलालाबाद, गांधार प्रदेश, पेशावर, बन्नू, गोमती नदी के दोनों तट आदि इसमें सम्मिलित थे। जाबुल का राज्य काबुल के दक्षिण और बलूचिस्तान के उत्तर के बीच के भाग में स्थित था। सीस्तान इसमें सम्मिलित था। प्रायः 9वीं सदी के अन्तिम वर्षों तक वे राज्य हिन्दू राज्य रहे। भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर होने के कारण उन्हें अरबों के आक्रमणों का मुकाबला करना पड़ा। कश्मीर का शासक चन्द्रपीड़ था। उसके पश्चात् उसका भाई मुक्तपीड़ ललितादित्य (715-755 ई.) शासक हुआ जिसने कन्नौज के शासक यशोवर्मन को परास्त किया और मार्तण्ड नामक स्थान पर एक विशाल सूर्य-मन्दिर का निर्माण कराया। कन्नौज में प्रतिहार-वंश का शासक यशोवर्मन था। इसका राज्य पूर्वी पंजाब से लेकर बंगाल तक और हिमालय से लेकर नर्मदा नदी तक फैला हुआ था। बंगाल में उस समय तक पाल-वंश का राज्य था। दक्षिणी भारत में वाकाटक, पल्लव, पाण्डय, चोल और चेर-वंश के शासक राज्य करते थे। सिन्ध जहाँ अरबों ने उस समय प्रवेश किया, एक विस्तृत राज्य था। उसकी सीमाएँ उत्तर में कश्मीर राज्य से, पूर्व में कन्नौज राज्य से और दक्षिण में समुद्र से मिलती थीं। पश्चिम में मकरान (वर्तमान बलूचिस्तान) उसकी सीमाओं के अन्तर्गत था। उस समय वहाँ का शासक दाहिर था जो ब्राह्मण था। उसके पिता चच ने अपने राजा को मारकर कुछ समय पहले ही सिन्ध को प्राप्त किया था। चच के पश्चात् उसका भाई चन्द्र गद्दी पर बैठा था। इस कारण दाहिर को अपने चचेरे भाई और चन्द्र के पुत्र

दुराज से गद्दी के लिए संघर्ष करना पड़ा था। दाहिर का शासन निम्न-वर्ग और मुख्यतया वहाँ की लड़ाकू जाट-जाति के प्रति असहिष्णुता का था। इस कारण आन्तरिक संघर्ष और असन्तोष से व्याप्त सिन्ध का राज्य दुर्बल हो गया था। इस प्रकार अरबों के आक्रमण के समय भारत राजनीतिक दृष्टि से विभक्त था परन्तु सिन्ध के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान पर दुर्बल न था। विभिन्न शासकों के पारस्परिक संघर्ष और उनकी महत्वाकांक्षाएँ उनकी दुर्बलता का कारण अवश्य था परन्तु साधारण विदेशी आक्रमण उनकी शक्ति को समाप्त करने की क्षमता नहीं रखते थे।

सामाजिक दृष्टि से भारत उस समय भी विभिन्न जातियों में बँटा हुआ था जिनमें आपस में खान-पान और विवाह-सम्बन्ध नहीं थे। परन्तु तब भी जाति-व्यवस्था बहुत जटिल नहीं हुई थी। जाति-परिवर्तन, विदेशियों को हिन्दू समाज में स्थान प्राप्त होना और अन्तर्जातीय विवाह उस समय तक सम्भव थे। स्त्रियों का समाज में सम्मान था। वह शिक्षा प्राप्त करती थीं, उनमें पर्दा-प्रथा न थी, वे सामाजिक और प्रशासकीय कार्यों में भाग लेती थीं, और उनके लिए स्वयंवर (स्वयं अपना पति चुनने) की प्रथा प्रचलित थी। परन्तु स्त्रियों की स्थिति पुरुषों के समान न थी। पुरुष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह कर सकते थे जबकि स्त्रियाँ ऐसा नहीं कर सकती थीं। शासक-वर्ग में सती की प्रथा लोकप्रिय होती जा रही थी। व्यक्तियों के आचार अच्छे थे, उनका भोजन अधिकांशतः प्याज, लहसन, माँस और शराब से मुक्त था और वे सात्विक जीवन पर बल देते थे। शिक्षा में धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त विज्ञान, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र आदि का प्रमुख स्थान था। नालन्दा, वल्लभी, काशी और दक्षिण के भी अनेक स्थान शिक्षा के केन्द्र-स्थल थे। देश में हिन्दू और बौद्ध धर्म की प्रधानता थी।

आर्थिक दृष्टि से भारत सम्पन्न था। यद्यपि अमीरों और गरीबों की स्थिति में बहुत अन्तर था परन्तु तब भी जन-साधारण खुशहाल था। कृषि, व्यापार और उद्योग की दृष्टि से भारत सम्पन्न था।

इस प्रकार, अरबों के सिन्ध पर आक्रमण के अवसर पर भारत राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से दुर्बल नहीं माना जा सकता था। परन्तु भारत में विभिन्न राज्यों की पारस्परिक शत्रुता, सैनिक क्षमता को बढ़ाने के प्रति उदासीनता और जन-साधारण में देश-भक्ति का अभाव ऐसी दुर्बलताएँ थीं जो उस समय में प्रकट होने लगी थीं और उन्होंने उनके भविष्य से इतिहास को गम्भीरता से प्रभावित किया।

**आक्रमण के कारण**

भारतीयों का अरबों से सम्पर्क उनके द्वारा सिन्ध पर आक्रमण किये जाने के समय से प्रारम्भ नहीं हुआ था। उससे पहले अरब-निवासी भारत के दक्षिण-पश्चिमी तट के प्रदेशों में व्यापार करने के लिए आया करते थे। इस्लाम को स्वीकार करने के पश्चात् भी अरब-निवासी भारत में व्यापार करते रहे परन्तु खलीफाओं की धर्म और साम्राज्य-विजय की लालसा ने अरब और भारत के सम्बन्ध व्यापारिक मात्र न रहने दिये। अरबों ने अपनी विजय-लालसा के कारण खलीफा उमर के समय में 636 ई. में बम्बई के निकट थाना नामक स्थान पर आक्रमण किया। परन्तु वह आक्रमण विफल रहा। उसके पश्चात् अरब जल और थल दोनों मार्गों से भारत पर आक्रमण करते रहे परन्तु बाद के आक्रमणों का मुख्य उद्देश्य सिन्ध के सीमावर्ती क्षेत्रों को

जीतने तक सीमित रहा। मकान (आधुनिक बलूचिस्तान) को जीतने से अरबों के कई प्रयत्न असफल हुए परन्तु अन्त में 8वीं सदी के आरम्भ में अरबों ने मकरान को जीतने में सफलता पायी। मकरान की विजय ने अरबों के लिए सिन्ध-विजय का मार्ग प्रशस्त किया।

अरबों के सिन्ध पर आक्रमण करने के मुख्य उद्देश्य धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक थे। तलवार की शक्ति के आधार पर इस्लाम का प्रचार करना सभी खलीफाओं की नीति का उद्देश्य रहा था। सिन्ध पर आक्रमण भी इसी उद्देश्य से किया गया। भारत में साम्राज्य और धर्म-विस्तार की लालसा खलीफाओं की विस्तृत योजना का एक भाग थी। इसके अतिरिक्त भारत से व्यापार करने वाले अरब भारत की आर्थिक सम्पन्नता से अवगत थे। इस कारण धन की लालसा भी इनके आक्रमण का एक लक्ष्य रहा था, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। सिन्ध के समुद्री डाकुओं द्वारा कुछ अरब जहाजों को लूटा जाना तो सिन्ध पर आक्रमण करने का एक बहाना मात्र माना जा सकता है। इस घटना के बारे में विभिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। सर वूल्जे हेग ने लिखा है कि लंका के राजा ने खलीफा के पूर्वी प्रान्तों के सूबेदार हज्जाज के पास उन अनाथ कन्याओं को भेजा था जिनके पिताओं की मृत्यु लंका में हो गयी थी, परन्तु मार्ग में सिन्ध के समुद्र-तट के निकट समुद्री लुटेरों ने उन जहाजों को लूट लिया जिनमें वे कन्याएँ यात्रा कर रही थीं। एक अन्य लेखक के अनुसार समुद्री लुटेरों ने उन दासियों और उपहार की वस्तुओं को लूटा था जो खलीफा के लिए ले जाये जा रहे थे। एक अन्य लेखक के अनुसार लंका के राजा ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया था (यद्यपि यह तथ्य ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतया गलत है) और उसके द्वारा खलीफा को भेजे गये उपहारों को लुटेरों ने लूट लिया। यह घटना जिस प्रकार भी हुई हो परन्तु यह माना जा सकता है कि यह घटना अरबों के सिन्ध पर आक्रमण करने का एक बहाना मात्र थी। निःसन्देह, इस घटना से ईराक का सूबेदार हज्जाज बहुत असन्तुष्ट हुआ और उसने सिन्ध के राजा दाहिर से हर्जाना माँगा। दाहिर ने समुद्री लुटेरों के कार्य का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न लिया और हर्जाना देने से इन्कार कर दिया। हज्जाज इससे बहुत क्रोधित हुआ और उसने खलीफा वाहिद से सिन्ध पर आक्रमण करने की आज्ञा प्राप्त कर ली।

### मुहम्मद बिन कासिम का आक्रमण और विजय

हज्जाज ने एक सेना उबैदुल्ला के नेतृत्व में सिन्ध पर आक्रमण करने के लिए भेजी परन्तु उबैदुल्ला की पराजय हुई और वह मारा गया। बुदैल के नेतृत्व में भेजी गयी एक अन्य सेना का भी यही हाल हुआ। तब 711 ई. में हज्जाज ने एक शक्तिशाली सेना 17 वर्षीय मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में सिन्ध पर आक्रमण करने के लिए भेजी। 6,000 सीरियन घुड़सवार, इतने ही ऊँट और 3,000 सामान ढोने वाले ऊँटों की सेना को लेकर मकरान के मार्ग से अरबों ने सिन्ध पर आक्रमण किया। इतनी श्रेष्ठ सेना और इतना श्रेष्ठ सेनापति इससे पहले सिन्ध पर आक्रमण के लिए नहीं भेजा गया था। एक अन्य सेना और पत्थर फेंकने वाला तोपखाना देबल के बन्दरगाह पर पहुँचकर मुहम्मद बिन कासिम के साथ हो गया। देबल की सुरक्षा और सहायता के लिए दाहिर ने कोई सेना न भेजी जबकि उसकी राजधानी आरोर उससे केवल 150 मील दूर थी। 4,000 राजपूतों ने देबल के किले की रक्षा मृत्युपर्यन्त की परन्तु अरब विजयी हुए। 17 वर्ष से ऊपर की आयु के सभी पुरुष इस्लाम स्वीकार न करने के कारण

कत्ल कर दिये गये और उनके बच्चों तथा स्त्रियों को गुलाम बना लिया गया। तीन दिन तक नगर में कत्लेआम और लूटमार होती रही। 75 सुन्दरतम स्त्रियां तथा लूट के माल का पाँचवाँ हिस्सा हज्जाज के पास भेज दिया गया और बाकी सभी को सेना ने आपस में बाँट लिया।

देबल से मुहम्मद निरुन के किले की ओर बढ़ा। दाहिर ने अपने लड़के जयसिंह को निरुन को वहाँ के एक पुजारी के आधिपत्य में छोड़कर ब्राह्मणाबाद आने का आदेश दिया। निरुन ने बिना युद्ध के आत्मसमर्पण कर दिया। वहाँ से मुहम्मद सेहवान की ओर बढ़ा जहाँ दाहिर का चचेरा भाई बाझरा शासन करता था। एक सप्ताह के घेरे के पश्चात् बाझरा निकल भागा और सेहवान के नागरिकों ने आत्म-समर्पण कर दिया। उसके पश्चात् मुहम्मद ने सीसम के जाटों को परास्त किया। बाझरा वहाँ मारा गया और जाटों ने अरबों का साथ देना स्वीकार कर लिया। वहाँ से मुहम्मद पुनः निरुन की ओर वापस लौटा और कई माह तक सिन्ध नदी की मुख्य धारा मेहरान को पार करने के लिए रुका रहा। वहाँ उसकी सेना में बीमारी फैल गयी। इस कारण हज्जाज के द्वारा भेजी गयी दवाइयों और सैनिक-सहायता के पहुँच जाने के पश्चात् उसने नदी को पार किया।

दाहिर ने उस समय तक मुहम्मद के कार्य में कोई बाधा नहीं डाली थी और उसने एक बड़े युद्ध पर ही अपने और सिन्ध के भाग्य को छोड़ दिया था। जब मुहम्मद इतनी सफलता पा चुका था तब वह ब्राह्मणावाद के किले से निकलकर रावर की ओर बढ़ा। वहाँ कई दिनों तक अरबों और हिन्दुओं की सेनाएँ एक-दूसरे के सामने पड़ी रहीं। अन्त में, 20 जून, 712 ई. को युद्ध हुआ। दाहिर की सेना में सम्भवतया 50,000 सैनिक और अनेक हाथी थे। दाहिर ने बड़ी बहादुरी से मुकाबला किया। आग के भय से हाथी के भागने पर भी वह हाथी को पुनः युद्ध-स्थल में लाया और उसके पश्चात् उसने घोड़े पर सवार होकर युद्ध किया, परन्तु अन्त में वह मारा गया। हिन्दू सेना का कुछ हिस्सा भागकर आरोर चला गया और कुछ हिस्सा जयसिंह के साथ भागकर ब्राह्मणाबाद चला गया। रावर के किले की रक्षा दाहिर की पत्नी ने की परन्तु अन्त में रानीबाई और उसकी सहयोगी स्त्रियों ने किले को दुश्मन के हाथ में जाते देखकर जौहर कर लिया जिसमें हजारों स्त्रियों ने आग में जलकर अपने सतीत्व की रक्षा की। जयसिंह के नेतृत्व में ब्राह्मणाबाद के सैनिकों ने भी वीरता से अरबों के आक्रमण का मुकाबला किया परन्तु अन्त में उनकी भी पराजय हुई। जयसिंह वहाँ से भागकर चित्तूर चला गया और किले पर अरबों का अधिकार हो गया। वहाँ पर मुहम्मद को दाहिर की सम्पूर्ण सम्पत्ति, उसकी एक अन्य पत्नी लाड़ी और उसकी दो कुमारी-पुत्रियाँ सूर्यदेवी और परमालदेवी प्राप्त हुईं। रानी लाडी से मुहम्मद ने स्वयं विवाह कर लिया और सूर्यदेवी तथा परमालदेवी को खलीफा की सेवा के लिए भेज दिया। उसके पश्चात् मुहम्मद ने सिन्ध की राजधानी अरोर (आलोर) पर भी अधिकार कर लिया जिसकी रक्षा दाहिर का एक अन्य पुत्र कर रहा था। इस प्रकार अरबों की सिन्ध की विजय पूर्ण हो गयी।

713 ई. के आरम्भ में मुहम्मद बिन कासिम मुल्तान की ओर बढ़ा। मार्ग में उसे कई कठिन युद्ध करने पड़े परन्तु अन्त में वह सफलता से मुल्तान पहुँच गया। एक देशद्रोही ने अरबों को उस जल-धारा को बता दिया जिससे किले में पानी जाता था। अरबों ने उस पानी को रोक दिया और मुल्तान के किले ने आत्मसमर्पण कर

दिया। अरबों को वहाँ इतना सोना प्राप्त हुआ कि उन्होंने मुल्तान का नाम 'सोने का नगर' रख दिया। मुल्तान की विजय भारत में अरबों की अन्तिम विजय थी।

सिन्ध का विजेता मुहम्मद बिन कासिम अधिक समय तक जीवित न रह सका। उस योग्य और साहसी सेनापति का दुर्भाग्यपूर्ण अन्त हुआ। 'चचनामा' में और उसका अनुसरण करते हुए मीर मासूम ने भी लिखा है कि दाहिर की पुत्रियाँ सूर्यदेवी और परमालदेवी ने खलीफा के पास पहुँचकर यह शिकायत की कि मुहम्मद बिन कासिम ने तीन दिन तक उनको अपने हरम (जनानखाने) में रखकर और उनके सतीत्व को भंग करके उन्हें खलीफा की सेवा में भेजा है। खलीफा, जो उनकी सुन्दरता पर मुग्ध हो गया था, बहुत क्रोधित हुआ और उसने आदेश दिये कि मुहम्मद को बैल की कच्ची खाल में बन्द करके उसके पास भेजा जाये। मुहम्मद ने उस आदेश का पालन किया और स्वयं को बैल की खाल में बन्द कर लिया जिससे उसका जीवन समाप्त हो गया। जब उसकी लाश खलीफा के सामने प्रस्तुत की गयी तो राजकुमारियों ने यह स्वीकार कर लिया कि मुहम्मद का कोई दोष न था और उन्होंने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए उस पर यह आरोप लगाया था। खलीफा ने उन दोनों राजकुमारियों को घोड़े की पूँछ से बँधवाकर घोड़ों को उस समय तक दौड़ाया जब तक कि उन दोनों की मृत्यु नहीं हो गयी। इस प्रकार, एक कथन के अनुसार मुहम्मद बिन कासिम की मृत्यु के लिए दाहिर की पुत्रियाँ जिम्मेदार थीं। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस कहानी को सत्य नहीं मानते। मुहम्मद बिन कासिम की मृत्यु का वास्तविक कारण राजनीतिक था। 715 ई. में खलीफा वालिद के पश्चात् उसका भाई सुलेमान खलीफा बना। वह हज्जाज से असन्तुष्ट था। परन्तु उस समय तक हज्जाज की मृत्यु हो चुकी थी। इस कारण हज्जाज के सम्बन्धी और समर्थक उसके असन्तोष का शिकार बने। मुहम्मद हज्जाज का चचेरा भाई और दामाद था। इस कारण याजिद को सिन्ध का नवीन सूबेदार बनाया गया और मुहम्मद को कैद करके मैसोपोटामिया भेज दिया गया जहाँ उसके शत्रुओं ने उसे अनेक शारीरिक यातनाएँ देकर समाप्त कर दिया।

### सफलता के कारण

विभिन्न कारणों से मुहम्मद बिन कासिम को सिन्ध और मुल्तान में सफलता मिली। सिन्ध जनसंख्या, आर्थिक सम्पन्नता और सैनिक दृष्टि से भारत का एक शक्तिशाली राज्य न था। उसकी जनसंख्या कम ही न थी बल्कि ऊँच-नीच की भावना से आपस में विभाजित थी। मुख्यतया जाटों और मेदों जैसी लड़ाकू जातियों के प्रति ब्राह्मण शासक-वर्ग के व्यवहार ने तीव्र असन्तोष उत्पन्न करके समाज की एकता को नष्ट कर दिया था। सिन्ध की भूमि सम्पन्नता प्रदान करने के अनुकूल न थी। निःसन्देह, सिन्ध प्रदेश निर्धन न था और विदेशी व्यापार से वह लाभ प्राप्त करने की स्थिति में था परन्तु उसका कृषि, व्यापार और उद्योग ऐसी स्थिति में न थे जो उसे एक सम्पन्न प्रदेश बनाते। आर्थिक सम्पन्नता के अभाव में सिन्ध सैनिक दृष्टि से कभी भी शक्तिशाली न बन सका। दाहिर का राजवंश और स्वयं दाहिर न तो सुदृढ़ शासन स्थापित कर सका था और न वह लोकप्रिय बन सका था। उसके प्रान्तीय सूबेदार प्रायः अर्द्ध-स्वतन्त्र थे और उसकी प्रजा उसके प्रति वफादार न थी। इस कारण वह अरबों के विरुद्ध संगठित शक्ति का प्रयोग न कर सका। बौद्ध-मतावलम्बियों और व्यापारियों ने भी उससे असहयोग किया। सिन्ध भारत के एक कोने में स्थित था। इस

कारण भारत के अन्य शासक सिन्ध के प्रति उदासीन रहे। अरबों का सैन्य-बल दाहिर के सैन्य-बल से अधिक श्रेष्ठ था। अरबों की सेना की शक्ति, उनके घोड़े तथा अस्त्र-शस्त्र सिन्ध के सैनिकों से अधिक श्रेष्ठ थे। अरबों में धार्मिक जोश था जबकि सिन्ध के हिन्दुओं को प्रेरणा देने वाली ऐसी कोई भावना न थी। हिन्दू अपनी धार्मिक उदारता के कारण धर्म के आधार पर राष्ट्रीयता का निर्माण नहीं कर सके। वह यह भी न समझ सके कि अरबों का आक्रमण उनके धर्म, सम्मान, समाज और संस्कृति पर होने वाले एक गम्भीर आक्रमण की पहली कड़ी है जिसका परिणाम भविष्य में बहुत बुरा होगा। इस कारण अरबों से उनके संघर्ष का दृष्टिकोण एक सीमित राजनीति रहा और वे धर्म अथवा देश-प्रेम के आधार पर पूर्ण उत्साह से उस आक्रमण के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए तत्पर न हुए। दाहिर की सैनिक भूलें भी सिन्ध की पराजय का कारण बनीं। अरबों द्वारा मकरान को जीतने के पश्चात् दाहिर को सचेत हो जाना चाहिए था। जो शक्ति निरन्तर उसके राज्य की सीमाओं पर आक्रमण कर रही थी और उसके प्रवेश द्वार को जीतने में सफल हो गयी थी, उसका मुकाबला करने के लिए उसे जबर्दस्त तैयारी करनी चाहिए थी। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया बल्कि अब मुहम्मद बिन कासिम देबल, निरुन, सीसम आदि सिन्ध के निचले भागों को जीत रहा था तब उसने कुछ न किया। राबर के युद्ध से पहले जबकि मुहम्मद की सेना में बीमारी फैली हुई थी और वह सैनिक सहायता की प्रतीक्षा कर रहा था, तब भी दाहिर ने उस पर आक्रमण न किया। दाहिर की भूल यही नहीं थी कि उसने एक ही युद्ध के निर्णय पर अपना और सिन्ध का भाग्य छोड़ दिया था बल्कि यह भी थी कि वह अपने ही प्रदेश में आक्रमणकारी की शक्ति को विभिन्न स्थानों पर न बिखेर सका और उसकी दुर्बल परिस्थितियों में उस पर आक्रमण न कर सका। दाहिर बहादुर और साहसी था परन्तु एक सैनिक की भाँति अपने जीवन को युद्ध में झोंक देना उसकी भूल थी। नेतृत्व, दूरदर्शिता और उचित अवसर के प्रयोग की दृष्टि में दाहिर असफल रहा और सिन्ध की पराजय का कारण बना। देश-प्रेम के अभाव में विभिन्न अवसरों पर विभिन्न हिन्दुओं ने अपने राजा और देश के साथ गद्दारी की। देवल में एक देशद्रोही ने भारतीयों के मनोबल को कम करने का तरीका अरबों को बताया, निरुन को उसके पुजारी ने बिना युद्ध किये अरबों को दे दिया, सीसम के युद्ध के पश्चात् जाट अरबो के साथ मिल गये और मुल्तान के किले को पानी देने वाली जल-धारा का पता एक देशद्रोही ने अरबों को दिया। मुहम्मद बिन कासिम का उत्साह, सैनिक-नेतृत्व और उसकी योग्यता भी अरबों की सफलता का कारण थी। यह कहना भूल है कि भारतीय सैनिक बहादुर न थे और उन्होंने अरबों से युद्ध करने में कायरता दिखायी थी। अरबों की सफलता उनके जोश, शक्ति, योग्य नेतृत्व और एक निश्चित लक्ष्य के प्रति आस्था का परिणाम थी जबकि भारतीयों में इन गुणों का अभाव था।

### मुहम्मद बिन कासिम के पश्चात्

खलीफा सुलेमान ने मुहम्मद को हटाकर याजिद को सिन्ध का सूबेदार बनाया। परन्तु सिन्ध पहुँचने के 18 दिन पश्चात् याजिद की मृत्यु हो गयी। उसके स्थान पर हबीब सूबेदार बनाया गया। हबीब ने शान्ति और समझौते की नीति का पालन किया जिसके कारण दाहिर के लड़के जयसिंह ने ब्राह्मणाबाद को अपने स्वामित्व में कर लिया। हबीब ने अन्य हिन्दू-सूबेदारों को भी अपने-अपने स्थानों को पुनः हस्तगत कर लेने दिया। परन्तु 717 ई. में खलीफा उमर द्वितीय के समय में इस उदारता की

नीति को छोड़ दिया गया और हिन्दुओं को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। स्वयं जयसिंह ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया। खलीफा हिशाम के समय में इस नीति को और आगे बढ़ाया गया और सूबेदार जूनियाद ने सभी स्थानों पर प्रत्यक्ष अरब शासन को स्थापित किया यहाँ तक कि जयसिंह भी अपने देश को छोड़ने के लिए बाध्य हुआ। जूनियाद और उसके उत्तराधिकारी सूबेदारों ने सिन्ध के बाहर भी आक्रमण किये परन्तु उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। 750 ई. में उमय्यद-खलीफा को अब्बासी-खलीफा ने हटा दिया और उसने मूसा को सूबेदार बनाकर सिन्ध भेजा जिसने उमय्यद-खलीफा के सूबेदार मन्सूर से युद्ध करके सिन्ध को उससे छीन लिया। अरबों के इस पारस्परिक संघर्ष से सिन्ध में उनकी शक्ति दुर्बल हुई होगी, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। सूबेदार बशहर ने तो बाद में खलीफा के आधिपत्य से भी मुक्त होने का प्रयत्न किया यद्यपि वह सफल न हो सका। परन्तु जैसे-जैसे खलीफाओं की शक्ति और सम्मान कम होते गये, वैसे-वैसे सिन्ध पर उसका आधिपत्य ढीला होता गया और सिन्ध में अरबों की शक्ति दुर्बल पड़ती गयी। 871 ई. तक सिन्ध में खलीफाओं की सत्ता प्रायः समाप्त हो गयी। अन्त में, सिन्ध में अरबों के दो स्वतन्त्र राज्य बन गये। इनमें से एक सिन्ध के ऊपरी भाग में मुल्तान को सम्मिलित करते हुए आरोर तक फैला हुआ था और दूसरा निचले सिन्ध में मन्सूरी को सम्मिलित करते हुए समुद्र-तट तक फैला हुआ था। महमूद गजनवी के आक्रमणों के समय सिन्ध की राजनीतिक स्थिति यही थी। इससे स्पष्ट है कि अरब सिन्ध पर तो अपने अधिकार को सुरक्षित रख सके परन्तु भारत के अन्य प्रदेश में प्रवेश पाने में असफल रहे।

**अरबों की शासन-व्यवस्था**

सिन्ध में अरबों का शासन एक फौजी जागीर की भाँति रहा। अरबों में शासन की रचनात्मक बुद्धि का अभाव था और वे शासन में किसी ठोस व्यवस्था का निर्माण न कर सके। सिन्ध को विभिन्न भागों में बाँट कर सैनिक अधिकारी नियुक्त किये गये थे जो शक्ति के आधार पर शासन करते थे, न्याय करते थे और कर वसूल करते थे। परन्तु अरबों की संख्या बहुत कम थी। इस कारण उन्होने भारतीय शासन-अधिकारियों से सहायता ली और स्थानीय शासन में हस्तक्षेप नहीं किया। हिन्दुओं से जजिया, किसानों से लगान, जो पैदावार का $\frac{2}{5}$ से $\frac{1}{4}$ तक था, बगीचा-कर तथा मछली, शराब, मोती आदि पर व्यापारिक कर लिये जाते थे। साधारणतया अरबों का शासन एक विजेता-जाति के शासन की भाँति रहा। अरब उच्च सैनिक और शासन अधिकारी रहे तथा उनकी भारतीय प्रजा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने का साधन बनी।

केवल एक दृष्टि से अरबों का शासन महत्वपूर्ण रहा। इस्लाम के अनुसार अन्य सभी धर्मों के व्यक्ति दो श्रेणियों में बाँटे गये थे। एक वे जो ईश्वरीय ज्ञान के हिस्सेदार माने जाते थे जैसे यहूदी और ईसाई। इनको जिम्मी पुकारा गया था और वे जजिया (धार्मिक कर) देकर इस्लामी-राज्य में रहते हुए अपने धर्म का पालन कर सकते थे। दूसरे व्यक्ति वे थे जो मूर्तिपूजक थे और काफिर कहलाते थे। ऐसे व्यक्तियों को इस्लामी राज्य में रहने का अधिकार न था। उन्हें मृत्यु अथवा इस्लाम में से एक को चुनना पड़ता था। इस कारण जो हिन्दू मूर्तिपूजक थे, वे इस्लामी राज्य में रहने के अधिकारी न थे। मुहम्मद बिन कासिम ने देबल की विजय के पश्चात् हिन्दुओं से इसी आधार पर व्यवहार किया। परन्तु बाद में बहुसंख्यक हिन्दुओं को कत्ल करने में अपने को असमर्थ पाकर उसे अपने विचारों में परिवर्तन करना पड़ा। प्रायः सभी हिन्दू

मूर्तिपूजक थे और उन सभी को मुसलमान बनाना अथवा उनको कत्ल करना सम्भव न था। इस कारण मुहम्मद बिन कासिम ने हिन्दुओं को भी काफिर के स्थान पर जिम्मी मान लिया और इसकी स्वीकृति हज्जाम से ले ली। इस आधार पर हिन्दुओं को जजिया देकर इस्लामी राज्य में रहने और अपने धर्म का पालन करने की स्वीकृति मिल गयी। बाद के तुर्क-आक्रमणकारियों को इससे सुविधा हो गयी और उन्होंने भी हिन्दुओं को जिम्मी स्वीकार कर लिया। इसी कारण सर विलियम म्योर ने कहा है कि "सिन्ध-विजय ने इस्लामी नीतियों में एक नवीन युग का आरम्भ किया।"[1] अरबों की धार्मिक नीति के बारे में एक बात यह भी कही जा सकती है कि वह बाद में आने वाले तुर्क-आक्रमणकारियों की तुलना में अवश्य ही सहिष्णु थी। यह अन्य बात है कि उनकी इस सीमित सहिष्णुता का आधार उनकी धार्मिक उदारता न थी बल्कि अपनी सीमित शक्ति के कारण परिस्थितियों से समझौता करने की आवश्यकता थी। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि अरबों का धार्मिक जोश प्रायः एक सदी से इस्लाम को मानते रहने के कारण कुछ स्थिरता प्राप्त कर गया था, जबकि तुर्क इस्लाम धर्म के नवीन अनुयायी थे और भारत पर आक्रमण करने के अवसर पर उनका धार्मिक जोश नूतनता के उत्साह से ओत-प्रोत था।

**भारत में अरबों की असफलता के कारण**

भारत में अरबों के सिन्ध और मुल्तान के आगे बढ़ने के प्रयत्न असफल रहे। कच्छ पर अरबों का आक्रमण विफल रहा। लाट पुलकेशिन द्वितीय द्वारा एक अरब सेना परास्त की गयी और गुर्जर नागभट्ट ने भी अरबों की सेना को परास्त किया, ऐसे प्रमाण प्राप्त होते हैं। सर वूल्जे हेग के मतानुसार राजपूताना और अवन्ती के राजवंशों ने अरबों को पूर्व की ओर बढ़ने से रोक दिया था। राष्ट्रकूट-वंश से अरबों के सम्बन्ध मित्रता के रहे। इससे स्पष्ट है कि अरबों का भारत का राज्य सिन्ध और मुल्तान तक ही सीमित रहा और वहाँ पर भी उनकी स्थिति बहुत अधिक दृढ़ न हो सकी। अरब भारत में अपना स्थायी राज्य स्थापित न कर सके। अरबों की असफलता के विभिन्न कारण थे। इतिहासकार एलफिन्स्टन ने इसके निम्नलिखित तीन कारण बताये :

1. अरबों का सुमेर-राजपूतों द्वारा बाहर निकाला जाना,
2. हिन्दुओं की अपने धर्म और उनके अनुकूल आचरण में पूर्ण आस्था, और
3. हिन्दू राजाओं की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा जिसके कारण राज-वंशों में निरन्तर परिवर्तन होना और उनमें से प्रत्येक का अरबों के विरुद्ध होना।

इतिहासकार लेनपूल ने अरबों की असफलता के निम्नलिखित अन्य कारण भी बताये :

4. पूर्व और उत्तर में शक्तिशाली राजपूत-राज्यों का होना,
5. खलीफाओं का भारत-विजय के लिए पर्याप्त सेना का न भेजना,
6. अरबों द्वारा सिन्ध की विजय को भी पूर्ण और संगठित न करना, और

---

1 "The conquest of Sindh began a new age in the policy of Islam."
—Sir William Muir.

7. खलीफाओं का सिन्ध के निर्धन होने के कारण उसमें आवश्यक रुचि न लेना।

इनके अतिरिक्त अरबों की असफलता के कारणों पर कुछ इतिहासकारों ने भी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार—

8. 750 ई. में अब्बासी-खलीफा ने उमय्यद-खलीफा को नष्ट कर दिया जिससे खलीफा की शक्ति और प्रतिष्ठा में कमी हुई और सिन्ध के अरब अधिकारियों में झगड़े हुए। इससे उनकी शक्ति दुर्बल हुई।

9. खलीफा हारुन-अल-रसीद के समय से अरबों में विलासिता आ गयी थी। एच. जी. वैल्स ने अपनी पुस्तक *'The Khalifa's Lost Heritage'* में लिखा है कि "इस्लाम अपने मौलिक और जीवनप्रद तत्वों से अलग हो गया" और "कुरान की धार्मिक कट्टरता तथा सादगी का स्थान चिन्तनयुक्त दर्शन तथा उच्चकोटि के रहन-सहन ने ले लिया।" बढ़ती हुई सम्पत्ति और विलासिता ने न केवल खलीफाओं के नैतिक पतन में योग दिया बल्कि सम्पूर्ण अरब जाति को भोग-विलासी बना दिया जिससे उनका जोश, सैनिक-प्रतिभा आदि नष्ट हो गये। बाद के खलीफा न शक्तिशाली रहे और न सम्मानित। वह अपने अधीन सेवकों के हाथों खिलौना बन गये। उनकी शक्ति का स्रोत भी अरब जाति न रही बल्कि उसका स्थान पहले तुर्कों ने और बाद में अन्य जातियों ने ले लिया। ऐसे खलीफा और ऐसी अरब जाति भारत जैसे दूरस्थ विशाल शक्तिशाली प्रदेश में राज्य स्थापित करने में सफल नहीं हो सकती थी।

10. खलीफा की दुर्बलता से लाभ उठाकर 871 ई. में सिन्ध प्रायः स्वतन्त्र हो गया, अरबों की एकता नष्ट हो गयी और सिन्ध, मुल्तान एवं मंसूरा के दो अरब-राज्यों में विभाजित हो गया। ऐसी स्थिति में उनकी सफलता का प्रश्न न था।

11. एक तरफ खलीफाओं की दुर्बलता और दूसरी तरफ नस्लवाद तथा राष्ट्रीयता की भावना के प्रादुर्भाव के कारण इस्लाम की एकता छिन्न-भिन्न हो गयी जिससे भारत में उसकी आक्रमणकारी शक्ति समाप्त हो गयी।

12. सिन्ध का भारत के एक कोने में होना तथा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न न होना भी अरबों की असफलता के लिए उत्तरदायी था। सिन्ध को आधार बनाकर भारत की विजय करना किसी भी विदेशी शक्ति के लिए सम्भव नहीं था।

13. सिन्ध के निकट शक्तिशाली राजपूत-राज्यों का होना, हिन्दुओं की धार्मिक कट्टरता, पुरोहित-वर्ग का उन पर प्रभाव तथा आक्रमणकारी विदेशी शत्रु का मुकाबला शौर्य और शक्ति से करने की उनकी क्षमता भी, निःसन्देह अरबों की सफलता के मार्ग में ऐसी बाधाएँ थीं जिन्हें अरब दूर न कर सके।

उपर्युक्त कारणों से भारत में अरबों की असफलता अस्वाभाविक न थी, बल्कि आश्चर्य तो इस बात का है कि अरब 300 वर्ष तक सिन्ध में अपना राज्य स्थापित

रख सके। कन्नौज का प्रतिहार-राज्य और उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिमी पंजाब का हिन्दूशाही-राज्य अरबों की तुलना में बहुत शक्तिशाली थे और वे सरलता से अरबों को सिन्ध से बाहर निकाल सकते थे। यह भी कहना भूल होगी कि हिन्दुओं में अपने धर्म और देवताओं की मूर्तियों की रक्षा करने का जोश न था। परन्तु तब भी हिन्दुओं ने अरबों को देश से निकाल कर अपनी सीमाओं की सुरक्षा की व्यवस्था नहीं की, यह आश्चर्य की बात है। सम्भवतया, इसका मुख्य कारण हिन्दुओं की विदेशी राजनीति और भारत की सीमाओं पर होने वाली उथल-पुथल से अनभिज्ञता एवं उदासीनता थी जिसके हिन्दुओं को भयंकर परिणाम भुगतने पड़े।

**अरब-आक्रमण का प्रभाव**

राजपूताना के इतिहास के सुविख्यात लेखक टॉड ने अरबों के आक्रमण के प्रभाव को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताया। उन्होंने यहाँ तक लिखा कि "अरबों के आक्रमण से समस्त उत्तरी भारत दहल गया था।" परन्तु उनके विचारों को कोई भी आधुनिक इतिहासकार स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं है। राजनीतिक क्षेत्र में अरबों के आक्रमण का प्रभाव बहुत सीमित और साधारण था। सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि "भारत के इतिहास में वह एक साधारण दुर्घटना थी और उसने इस विशाल प्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्र के एक छोटे प्रदेश मात्र को प्रभावित किया।"[1] लेन-पूल ने लिखा है कि "यह इस्लाम के इतिहास की महत्वपूर्ण घटना थी।"[2] अरबों की सिन्ध की विजय से भारत का कोई महत्वपूर्ण भाग मुसलमानों के हाथ में नहीं गया, अरबों ने भारत की राजनीतिक और सैनिक शक्ति को नहीं तोड़ा, क्योंकि भारत के किसी भी शक्तिशाली राज्य से उनका युद्ध नहीं हुआ तथा सिन्ध की विजय ने मुसलमानों के लिए भारत-विजय का मार्ग नहीं खोला। इस प्रकार भारत की राजनीति पर अरब-आक्रमण का कोई विशेष और स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। अरबों ने पहली बार भारत में इस्लामी राज्य की स्थापना की, एक बड़ी संख्या में भारत के एक प्रदेश में हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बनाया और अरब तथा इस्लामी संसार से भारत का निकट का परिचय कराया गया, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु अरब-आक्रमण का प्रभाव यहीं तक सीमित रहा। इस कारण उसका कोई गम्भीर राजनीतिक प्रभाव भारत पर नहीं पड़ा।

सांस्कृतिक दृष्टि से अरबों ने भारतीयों को प्रभावित नहीं किया, बल्कि इसके विपरीत अरब भारतीय संस्कृति और सभ्यता से प्रभावित हुए। भारत की कला, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र, साहित्य आदि से अरब प्रभावित हुए और उन्होंने उनका सदुपयोग किया। उन्होंने अपनी मस्जिदों और इमारतों को बनवाने में हिन्दुओं से सहयोग लिया। सर जॉन मार्शल ने लिखा है कि "अरबों में निर्माणत्मक प्रतिभा बिलकुल नहीं थी। यदि वे अपने पूजागृहों को उतना ही आकर्षक बनाना चाहते थे जितना उनके प्रतिद्वन्द्वी धर्मों के अनुयायियों के थे तो उनके लिए विजित देशों के शिल्पियों और कलाकारों से काम लेना अनिवार्य था। उसी प्रकार हैवेल ने लिखा है कि "जिस

1 "It was a mere episode in the history of India and affected only a small portion of the fringe of that country."
—Sir Wolseley Haig.

2 "It was simply an episode in the history of Islam."
—Lane-Poole.

समय इस्लाम सीखने योग्य यौवनावस्था में था, उस समय उसे यूनान ने नहीं बल्कि भारत ने सिखाया, उसके दर्शन और आध्यात्मिक धार्मिक आदर्शों का निर्माण किया तथा उसके साहित्य और स्थापत्य-कला की विशिष्ट शैलियों को प्रेरणा दी।" स्थापत्य-कला के अतिरिक्त हिन्दू और बौद्ध दर्शन ने अरबों की विचारधारा को गम्भीरता से प्रभावित किया। खलीफा अल-मन्सूर के समय में संस्कृत के 'ब्रह्म-सिद्धान्त' और 'खण्ड-खाद्यक' नामक ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद किया गया। तप और संन्यास की विचारधारा को अरबों ने भारत से प्राप्त किया। तबरी ने लिखा है कि खलीफा हारुन-अल-रशीद की बीमारी को एक भारतीय वैद्य ने ठीक किया था। इससे स्पष्ट है कि अरबों ने भारतीय चिकित्सा-शास्त्र के ज्ञान से लाभ उठाया था। अरबों ने अंकों का ज्ञान भी भारतीयों से प्राप्त किया। इस प्रकार, यद्यपि अरब सिन्ध में विजेता की दृष्टि से आये परन्तु तब भी सभ्यता की दृष्टि से वे भारत को कुछ भी न दे सके बल्कि उन्होंने भारत से बहुत कुछ प्राप्त किया। यही नहीं, बल्कि डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव का तो यहाँ तक कहना है कि "अरबों ने भारतीय ज्ञान को यूरोप में पहुँचाया, विशेषकर दर्शन, ज्योतिष और अंकों को। आठवीं और नवीं शताब्दी से यूरोप में जो ज्ञान की ज्योति फैली उसका मुख्य कारण अरबों का भारत से सम्पर्क था।" इस प्रकार यह कहना उचित है कि यद्यपि अरबों के भारत पर किये गये आक्रमण का राजनीतिक प्रभाव नगण्य था परन्तु संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से वह अरबों के लिए ही नहीं बल्कि संसार के अन्य देशों के लिए भी लाभदायक सिद्ध हुआ।

[ 3 ]

## अरबों और तुर्कों का हिन्दू अफगानिस्तान पर आक्रमण और विजय

उस समय भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर स्थित अफगानिस्तान में हिन्दू-राज्य थे। इस कारण जिस प्रकार सिन्ध को अरबों की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबला करना पड़ा उसी प्रकार अफगानिस्तान के हिन्दू-राज्यों को भी अरबों से युद्ध करने पड़े। उस समय अफगानिस्तान में दो हिन्दू-राज्य थे। उनमें से एक काबुल और दूसरा जाबुल अथवा जाबुलिस्तान का राज्य कहलाता था। 643 ई. में अरबों ने ईरान को जीत लिया जिसके कारण उनकी सीमाएँ अफगानिस्तान के इन हिन्दू-राज्यों से टकराने लगीं। उसके पश्चात् प्रायः 200 वर्षों तक अरब इन हिन्दू-राज्यों पर आक्रमण करते रहे, परन्तु उन्हें केवल आंशिक सफलता प्राप्त हो सकी। सबसे पहले अरबों ने सीस्तान को जीता, परन्तु उसके पश्चात् प्रायः 50 वर्षों तक उनकी प्रगति रुकी रही। उसके पश्चात् इराक के सूबेदार हज्जाज के समय में जिस प्रकार सिन्ध को जीतने का प्रयत्न किया गया, उसी प्रकार काबुल और जाबुल के राज्य को भी जीतने का प्रयत्न किया गया परन्तु हज्जाज के समय में इन राज्यों को न जीता जा सका। 750 ई. में जब अब्बासी खलीफा हुए तब भी इन राज्यों को जीतने का प्रयत्न चलता रहा, मुख्यतया खलीफा अल-मन्सूर के समय में। परन्तु अरबों के ये सभी प्रयत्न इन हिन्दू-राज्यों की शक्ति को दुर्बल तो कर सके, परन्तु उन्हें समाप्त न कर सके, यहाँ तक कि सम्पूर्ण सीस्तान पर भी अरबों का आधिपत्य स्थायी न रह सका। इससे यह स्पष्ट होता है कि अफगानिस्तान के इन हिन्दू-राज्यों ने निरन्तर 200 वर्षों तक इस्लाम की उस बढ़ती हुई शक्ति को भारत के द्वार पर रोक कर रखा जिसने स्पेन से लेकर ईरान तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। यद्यपि

अरबों से इन राज्यों के संघर्ष का 200 वर्ष का इतिहास भारतीय इतिहास में अभी तक अपना उचित स्थान प्राप्त नहीं कर सका है, परन्तु जो कुछ भी उसके बारे में ज्ञात है उससे अनुमान किया जा सकता है कि उस समय के उन हिन्दू-राज्यों की दृढ़ता और शक्ति कितनी रही होगी जिससे उन्होंने अरबों को भारत में सीधे प्रवेश करने का मार्ग नहीं दिया।

870 ई. तक यहाँ के शासक हिन्दू रहे परन्तु उसके पश्चात् वे नवोदित तुर्क-शक्ति के आगे झुक गये। तुर्क याकूब-इब्न-लायथ ने अपने जीवन का आरम्भ एक लुटेरे के रूप में किया, परन्तु उसने ईरान और उसके आस-पास के प्रदेश में एक दृढ़ राज्य स्थापित करने में सफलता पायी। वही याकूब इन राज्यों को भी समाप्त करने के लिए उत्तरदायी हुआ। उसने युद्ध-कौशल और छल-कपट से इन दोनों राज्यों को अफगानिस्तान से उखाड़ फेंका और 870 ई. में अफगानिस्तान में इस्लामी सत्ता को स्थापित कर दिया। इस प्रकार प्रायः 225 वर्ष के निरन्तर संघर्ष के पश्चात् हिन्दू भारत के प्रवेश-द्वार अफगानिस्तान को छोड़ने के लिए बाध्य हुए। भारत में प्रवेश करने वाले बाद के तुर्क-आक्रमणकारियों को इससे सुविधा हुई।

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अरबों के आक्रमण के समय भारत की स्थिति का वर्णन कीजिए।
2. अरबों द्वारा सिन्ध पर आक्रमण किये जाने के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।

# 3

## 11वीं और 12वीं सदी के तुर्की आक्रमण

इस्लाम के अनुयायियों में से भारत में सर्वप्रथम प्रवेश करने वाले अरब थे। अरबों ने सिन्ध पर अधिकार करने में सफलता पायी, परन्तु वे भारत में एक स्थायी राज्य स्थापित करने में असफल रहे। इस्लाम के प्रथम अनुयायी अरबों का धार्मिक उत्साह और शक्ति 200 वर्षों से कम समय में निष्प्राण हो गयी और खलीफाओं की विलासिता तथा दुर्बलताओं ने इस्लाम के नेतृत्व को अरबों के हाथों से खो दिया। पहले ईरानियों ने उस नेतृत्व को अपने हाथों में लिया और उन्होंने इस्लाम की सत्ता को प्रतिष्ठित बनाया। उनके पश्चात् इस्लाम का नेतृत्व तुर्कों के हाथों में गया जिन्होंने उसका विस्तार किया। भारत में इस्लामी राज्य को स्थापित करने का श्रेय तुर्कों को प्राप्त हुआ। तुर्क अरब और ईरानी दोनों से भिन्न थे। उनमें न तो अरबों जैसी समझदारी थी और न ईरानियों जैसी सुसभ्यता। उनकी बुद्धि और व्यवहार का मुख्य आधार उनकी तलवार की शक्ति थी। वे अत्यन्त भौतिकवादी और पूर्ण व्यावहारिक व्यक्ति थे। मंगोलों से उनके दूर के सम्बन्ध थे और उन्हीं की भांति वे समय-समय पर सभी मानवीय भावनाओं को एक तरफ करके अत्यधिक क्रूर हो जाते थे। वे इस्लाम के नवीन अनुयायी थे। इस कारण वे अरबों और ईरानियों की तुलना में अधिक धर्मान्ध थे। उनके हाथों में इस्लाम एक गौरवपूर्ण आक्रमणकारी हथियार के समान था जिसका उन्होंने सफलता से प्रयोग किया। तुर्कों की नस्ल की श्रेष्ठता के विश्वास ने उस हथियार को और अधिक तीक्ष्ण बना दिया। इस प्रकार नस्ल की श्रेष्ठता के विचार, इस्लाम के प्रसार के उत्साह और तलवार की शक्ति को लेकर तुर्कों ने सम्मान और राज्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उसमें सफलता पायी। यही नहीं बल्कि बाद में तुर्कों ने संसार की प्रगतिशील जातियों में स्थान प्राप्त किया। तुर्क मंगोलों की भांति बर्बर न रहे। एक सदी से भी कम समय में वे क्रूर और खानाबदोश घुड़सवारों से बदलकर एक ऐसी सुसंगठित और सुसभ्य जाति के व्यक्ति बन गये जिसने इस्लामी सभ्यता के श्रेष्ठ गुणों की रक्षा करने में उस समय में भी सफलता पायी जबकि मंगोल सम्पूर्ण एशिया में उन्हें नष्ट करने में लगे हुए थे। 8वीं सदी में तुर्कों ने मध्य-एशिया से हटना प्रारम्भ किया और एक के बाद एक सल्जूक, गुज्ज, खिताई, इल्बारी, कर्लूग आदि विभिन्न तुर्क-जातियाँ इस्लामी प्रदेशों में प्रवेश करती चली गयीं जहाँ उन्होंने अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये। नवीन आने वाली जातियों का दबाव और उनकी स्वयं की महत्वाकांक्षाएँ निरन्तर उन्हें आगे बढ़ने के लिए बाध्य करती रहीं और धीरे-धीरे ईरान, इराक, अफगानिस्तान तथा अन्त में भारत में भी उन्होंने प्रवेश किया और अपने राज्य को स्थापित

किया। 10वीं सदी से तुर्क काबुल के हिन्दूशाही-राज्य के सम्पर्क में आये और गजनवी-वंश की स्थापना के 50 वर्ष पश्चात् उन्होंने भारत में प्रवेश पा लिया। भारत भूमि में अन्दर तक प्रवेश पाने का प्रथम श्रेय गजनवी-वंश के सुल्तान महमूद को गया यद्यपि भारत में राज्य स्थापित करने का श्रेय शंसबनी-वंश के मोहम्मद गोरी को प्राप्त हुआ।

[ 1 ]

## महमूद गजनवी

यमीनी-वंश जिसे अधिकांशतया गजनवी-वंश के नाम से पुकारा गया है, ईरान के शासकों की एक शाखा थी। अरब आक्रमणों के अवसर पर इस वंश के व्यक्ति तुर्किस्तान भाग गये जहाँ वे तुर्कों के साथ इतने घुल-मिल गये कि उनके वंशज तुर्क ही कहलाये। अलप्तगीन ने इस वंश का एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और 963 ई. में अमीर आबू बक्र लाविक से जाबुलिस्तान तथा उसकी राजधानी गजनी को छीन लिया। उस समय से गजनी उस वंश के राज्य की राजधानी बन गया। उस समय भारत के उत्तर-पश्चिम में हिन्दूशाही राज्य था जिसका विस्तार हिन्दूकुश पर्वत-माला तक था और जिसने एक बार फिर काबुल को तुर्कों से छीन लिया था। इस कारण गजनी और हिन्दूशाही राज्य की सीमाएँ एक-दूसरे से टकराने लगी थीं। अलप्तगीन के समय से इन राज्यों में छुट-पुट युद्ध आरम्भ हो गये। अलप्तगीन की मृत्यु 963 ई. में हुई। उसके पुत्र इस-हक ने केवल तीन वर्ष शासन किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके सेनापति बलक्तगीन ने गद्दी पर अधिकार कर लिया। 972 ई. में बलक्तगीन की मृत्यु के पश्चात् अलप्तगीन के एक गुलाम पीराई ने गद्दी पर अधिकार कर लिया। पीराई अयोग्य था। उसके समय में हिन्दूशाही राजा जयपाल ने अपने पुत्र के नेतृत्व में एक सेना गजनी पर आक्रमण करने के लिए भेजी क्योंकि वह अपनी सीमा पर एक शक्तिशाली इस्लामी राज्य की स्थापना होने देना नहीं चाहता था। सुबुक्तगीन ने हिन्दुओं की उस सेना पर अचानक आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया। इससे उसके सम्मान में वृद्धि हुई। अन्त में, 977 ई. में पीराई को हटाकर सुबुक्तगीन ने गद्दी पर अपना अधिकार कर लिया।

सुबुक्तगीन अलप्तगीन का गुलाम रहा था परन्तु बाद में वह उसका दामाद भी बना। वह साहसी और योग्य था। धीरे-धीरे उसने बस्त, दवार, कुसदार, बामियान, तुर्किस्तान और गोर को जीत लिया। उसने हिन्दूशाही-राज्य की सीमा पर आक्रमण करने प्रारम्भ किये और निकट के कई किलों और नगरों को जीत किया। इतिहासकार उतबी ने सुबुक्तगीन के इन आक्रमणों को जिहाद (धर्म की रक्षा के लिए युद्ध) बताया है परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन पड़ोसी-राज्यों के संघर्ष का कारण राजनीतिक ही रहा होगा। इस कारण सुबुक्तगीन के समय से गजनी और हिन्दूशाही राज्य का वह लम्बा संघर्ष आरम्भ हुआ जो सुल्तान महमूद के समय तक चलता रहा और जिसका अन्तिम परिणाम हिन्दूशाही-राज्य का नष्ट होना हुआ। 986-87 ई. में हिन्दूशाही राजा जयपाल ने गजनी पर आक्रमण किया। गजनी और लमगान के निकट दोनों सेनाओं का मुकाबला हुआ। कई दिन तक युद्ध चलता रहा। बाद में दुर्भाग्य से एक भीषण तूफान के कारण जयपाल की सेना छिन्न-भिन्न हो गयी और जयपाल को सन्धि करके वापस

लौटना पड़ा। परन्तु लाहौर पहुँचकर उसने सन्धि की शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया। इस कारण सुबुक्तगीन ने उसकी सीमाओं पर आक्रमण किया और लमगान तक अपना अधिकार कर लिया। जयपाल ने सुबुक्तगीन को परास्त करने के लिए एक बड़ी सेना एकत्रित की जिसकी संख्या प्राय: एक लाख हो गयी। फरिश्ता ने लिखा है कि दिल्ली, अजमेर, कालिंजर तथा आस-पास के अनेक राजाओं ने अपनी सैनिक टुकड़ियाँ जयपाल की सहायता के लिए भेजीं। लमगान के निकट सुबुक्तगीन और जयपाल की सेनाओं का मुकाबला हुआ। सुबुक्तगीन के योग्य नेतृत्व के कारण जयपाल की पराजय हुई और उसके पश्चात् सुबुक्तगीन ने लमगान और पेशावर के बीच की सभी भूमि पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार तुर्कों ने सुबुक्तगीन के समय में ही हिन्दूशाही-राज्य की शक्ति और सीमाओं को कम करने में सफलता पायी। जयपाल की निरन्तर पराजय हुई। परन्तु इस संघर्ष से दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम, जयपाल असावधान शासक न था। वह अपनी सीमा में उठ खड़े होने वाले तूफान से परिचित हो गया था और उसे समाप्त करने के लिए उसने आक्रमण-कारी नीति को अपनाया था जिसका अभाव हमें बाद के हिन्दू राजाओं में दिखायी देता है। दूसरे, फरिश्ता के कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि भारत के हिन्दू राजा इस्लाम के बढ़ते हुए खतरे से सर्वथा उदासीन न थे जैसा साधारणतया उन पर आरोप लगाया जाता है। हिन्दू राजाओं ने जयपाल की सहायता के लिए अफगानिस्तान के दूरस्थ, ठण्डे और पहाड़ी भाग में भी अपने सैनिकों को भेजा था। 997 ई. में सुबुक्तगीन की मृत्यु हो गयी। मरने से पहले उसने अपने छोटे पुत्र इस्लाम को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। उसके बड़े पुत्र महमूद ने उसे मानने से इन्कार कर दिया। सात माह के पश्चात् इस्माइल को परास्त करके महमूद ने 998 ई. में अपने पिता के राज्य पर अधिकार कर लिया। यही वह महमूद गजनवी था जिसने भारत पर निरन्तर आक्रमण किये और मुसलमानों की भारत-विजय के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

1 नवम्बर, 971 ई. को महमूद गजनवी का जन्म हुआ था। उसने पर्याप्त शिक्षा प्राप्त की थी और उसने अपने पिता के समय में अनेक युद्धों में भाग लिया था। 998 ई. में 27 वर्ष की आयु में वह अपने पिता के राज्य का मालिक बना। इतिहासकारों ने मुस्लिम इतिहास में महमूद को सर्वप्रथम सुल्तान माना है यद्यपि उसके सिक्कों पर सिर्फ 'अमीर महमूद' अंकित किया गया था। परन्तु महमूद अपनी विजयों के कारण सुल्तान के पद के योग्य था। आरम्भ में महमूद ने अपनी शक्ति को हिरात, बल्ख तथा बस्त में दृढ़ किया और खुरासान को विजय किया। बगदाद के खलीफा अल-कादिर बिल्लाह ने 999 ई. में इन प्रदेशों पर उसके अधिकार को स्वीकार कर लिया और उसे 'यमीन-उद-दौला' तथा 'आमीन-उल-मिल्लाह' की उपाधियाँ दीं। यह कहा जाता है कि उसी अवसर पर उसने भारत पर प्रत्येक वर्ष आक्रमण करने की शपथ ली।

**महमूद गजनवी के आक्रमण के कारण**

इतिहासकारों ने महमूद के भारत-आक्रमणों के बारे में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। उनसे पता लगता है कि महमूद के भारत पर आक्रमण करने के निम्नलिखित उद्देश्य थे :

1. महमूद भारत में इस्लाम धर्म की प्रतिष्ठा को स्थापित करना चाहता

था। परन्तु प्रो. हबीब ने महमूद को पूर्णतया सांसारिक व्यक्ति बताया है। उनका कहना है कि "वह धर्मान्ध न था। वह मुस्लिम उलेमा-वर्ग की आज्ञाओं को मानने को तैयार न था और उसके बर्बरतापूर्ण कार्यों ने इस्लाम का प्रचार नहीं किया बल्कि इस्लाम को संसार की दृष्टि में गिराया।" इतिहासकार जाफर ने लिखा है कि "महमूद का उद्देश्य भारत में इस्लाम का प्रचार नहीं बल्कि धन लूटना था। उसने हिन्दू-मन्दिरों पर इसलिए आक्रमण किये क्योंकि वहाँ धन संचित था।" प्रो. नाजिम ने लिखा है कि "यदि उसने हिन्दू राजाओं को तंग किया तो उसने ईरान और ट्रान्स-ऑक्सनिया के मुस्लिम शासकों को भी नहीं छोड़ा। जो लूटमार उसने गंगा के मैदान में की वैसी ही उसने ऑक्सस नदी के किनारे पर भी की।" इसी प्रकार मि. हैवेल का कथन है कि "वह बगदाद को भी वैसी ही निर्दयता से लूट लेता जैसी निर्दयता से उसने सोमनाथ को लूटा था यदि उसे वहाँ से उतना धन मिलने की आशा होती।" इस प्रकार इन विभिन्न इतिहासकारों का यह मत है कि महमूद के भारत-आक्रमण का उद्देश्य धार्मिक न होकर धन था। परन्तु महमूद के दरबारी इतिहासकार उतबी ने उसके आक्रमणों को जिहाद माना था जिनका मूल उद्देश्य इस्लाम का प्रसार और बुत-परस्ती (मूर्ति-पूजा) को समाप्त करना था। अपनी पुस्तक तारीख-ए-यमीनी में वह लिखता है, "सुल्तान (महमूद) ने पहले सिजीस्तान पर आक्रमण करने की इच्छा की परन्तु बाद में उसने पहले हिन्द के विरुद्ध धर्म-युद्ध करना पसन्द किया।"[1] तुर्कों के नवीन धार्मिक जोश और उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए इसे अस्वाभाविक भी नहीं माना जा सकता। महमूद ने भारत में मन्दिरों को लूटा ही नहीं बल्कि मूर्तियों और मन्दिरों को बरबाद भी किया था। इस कारण यह माना जाता है कि महमूद का एक उद्देश्य धर्म का प्रचार और इस्लाम की प्रतिष्ठा को स्थापित करना था।

2. महमूद का उद्देश्य भारत की सम्पत्ति को लूटना था, इससे कोई भी इतिहासकार इन्कार नहीं करता। महमूद धन का लालची था और उसे गजनी के ऐश्वर्य तथा राज्य-विस्तार के लिए धन की आवश्यकता थी। उसके प्रारम्भिक आक्रमणों की सफलता और धन की लूट-मार ने उसे और अधिक लालची बना दिया। प्रत्येक अवसर पर जो धन-राशि उसे भारत से प्राप्त हुई उसने उसे भारत की सम्पन्नता से परिचित करा दिया और अपने प्रत्येक आक्रमण को उसने अधिक से अधिक धन प्राप्त करने का साधन बना लिया।

3. पड़ोस के हिन्दू-राज्य को नष्ट करना महमूद का राजनीतिक उद्देश्य था। गजनी और हिन्दूशाही-राज्य के झगड़े अलप्तगीन के समय से चल रहे थे और तीन बार हिन्दूशाही-राज्य गजनी के राज्य पर आक्रमण कर चुका था। अपने इस शत्रु को समाप्त करना महमूद के लिए आवश्यक था। इस कारण महमूद ने स्वयं आक्रमण-कारी नीति को अपनाया। हिन्दूशाही राज्य को समाप्त करने के पश्चात् उसका साहस बढ़ गया और उसने भारत में दूर-दूर तक आक्रमण किये।

4. यश की लालसा भी महमूद के आक्रमणों का कारण थी। महमूद महत्वाकांक्षी था और सभी महान् शासकों की भाँति वह भी राज्य-विस्तार और यश का भूखा था। उसने पश्चिम की ओर अपने राज्य का विस्तार किया था। पूर्व की ओर

1 "Sultan Mahmud at first desired in his heart to go to Sijistan, but subsequently preferred to engage previously in a holy war against Hind." —Utbi.

हिन्दूशाही-राज्य को समाप्त करना और निरन्तर युद्धों में विजय प्राप्त करके यश प्राप्त करना भी उसका उद्देश्य था।

5. महमूद का एक उद्देश्य भारत से हाथियों को ही प्राप्त करना था जिसका उपयोग वह अपने मध्य-एशिया के शत्रु राज्यों के विरुद्ध कर सकता था।

**महमूद के आक्रमणों के समय भारत की स्थिति**

राजनीतिक दृष्टि से भारत विभिन्न राज्यों में बँटा हुआ था। इनमें से कुछ राज्य शक्तिशाली भी थे। परन्तु उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा उनकी मुख्य दुर्बलता थी जिसके कारण वे विदेशी शत्रु के मुकाबले मिलकर कार्य न कर सके। मुल्तान और सिन्धु में दो मुसलमानी राज्य थे। ब्राह्मण-हिन्दूशाही-राज्य चिनाब नदी से हिन्दू-कुश पर्वत-माला तक फैला हुआ था। जयपाल उसका साहसी, बहादुर और दूरदर्शी शासक था। पड़ौस के गजनी राज्य को समाप्त करने के लिए उसने आक्रमणकारी नीति का पालन किया था यद्यपि वह उसमें सफल नहीं हुआ। महमूद के आक्रमणों का पहला और मजबूत मुकाबला इसी राजवंश ने किया। उस समय कश्मीर में भी ब्राह्मण-वंश का राज्य था और उसकी रानी दिद्दा थी। हिन्दूशाही-राज्य से उसके पारिवारिक सम्बन्ध थे। कन्नौज में प्रतिहार-वंश का राज्य था। वत्सराज और नागभट्ट के समय में यह राज्य पर्याप्त शक्तिशाली था परन्तु दक्षिण के राष्ट्रकूट-शासकों तथा उत्तर के पड़ोसी राज्यों से उसका निरन्तर संघर्ष रहा जिससे 11वीं सदी के आरम्भ तक यह राज्य दुर्बल हो गया। उसके सामन्त बुन्देलखण्ड के चन्देल, मालवा के परमार और गुजरात के चौलुक्य उसके आधिपत्य से मुक्त हो गये। इस वंश का अन्तिम राजा राज्यपाल था जिसके समय में इस राज्य पर महमूद का आक्रमण हुआ। बंगाल में पाल-वंश का राज्य था। इस वंश का महमूद का समकालीन शासक महीपाल था। उस समय उसकी शक्ति बहुत दुर्बल थी। उसका राज्य छोटा हो गया था और राजेन्द्र चोल के आक्रमण ने बंगाल को क्षत-विक्षत स्थिति में छोड़ दिया था। दूर होने के कारण वह महमूद के आक्रमण से बच गया। गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड में भी स्वतन्त्र राज्य थे। दक्षिणी भारत में परवर्ती चालुक्य और चोल-वंश के शक्तिशाली राज्य थे। इनमें से प्रत्येक राजवंश शक्तिशाली था परन्तु वे आपस में संघर्ष कर रहे थे और उत्तरी भारत की राजनीति में विशेष रुचि नहीं रखते थे। जिस समय महमूद उत्तरी भारत को अपने पैरों तले रोंद रहा था उस समय भी वे अपने संघर्षों में लगे रहे। भारत के ये सभी राज्य प्रायः राजपूत-वंशों के राज्य थे। राजपूतों को प्राणों का मोह न था और न उनमें साहस और शौर्य की कमी थी परन्तु उनमें दूरदर्शिता और परिस्थितियों को समझने तथा उनके अनुकूल उठ खड़े होने का सर्वथा अभाव रहा, जिसके कारण वे सभी बार-बार महमूद से पिटते रहे और अपने धर्म और देश की रक्षा करने में असमर्थ रहे।

तत्कालीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की एक मुख्य विशेषता जागीरदारी अथवा सामन्तवादी-व्यवस्था (Feudalism) थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक शासक अपने बड़े-बड़े सरदारों अथवा सामन्तों को जागीर के रूप में विस्तृत भूमि प्रदान कर दिया करता था। वह सामन्त अपनी जागीर के अन्तर्गत प्रायः पूर्ण स्वतन्त्र शासक की भाँति कार्य करता था। उसका यह उत्तरदायित्व अवश्य था कि वह अपनी जागीर में शासक की आज्ञाओं को लागू करता, समय-समय पर शासक के दरबार में उपस्थित होता, उसे भेंट देता, उसे निश्चित वार्षिक कर देता और आवश्यकता होने

पर उसे सैनिक सहायता देता परन्तु अपने आन्तरिक शासन में, सैनिक-संगठन में, अर्थ-व्यवस्था में, और शासक की अनुमति से पड़ौसी-राज्यों की भूमि को जीतकर अपनी जागीर की सीमाओं में वृद्धि करने का अधिकार उसे प्राप्त होता था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत शासन में एकरूपता सम्भव न थी, समान अर्थ-व्यवस्था सम्भव न थी, समान सैन्य-संगठन सम्भव न था, और एक व्यक्ति अथवा शासक की अधीनता में सेना का नेतृत्व सम्भव न था क्योंकि इन सभी कार्यों की पूर्ति प्रत्येक सामन्त या जागीरदार स्वतन्त्र रूप से किया करता था। उससे शासन, अर्थ-व्यवस्था और सैनिक-शक्ति सभी पर कुप्रभाव पड़ता था। ऐसी व्यवस्था में राज्य की आर्थिक और सैनिक-शक्ति एक केन्द्रीय शासक के हाथों में केन्द्रित न होकर विभिन्न सामन्तों के हाथों में बँटी होती थी जो दोनों ही दृष्टि से दुर्बलता का कारण थी। इसके अतिरिक्त, विभिन्न सामन्त दरबार में शक्ति और सम्मान प्राप्त करने के लिए पारस्परिक प्रतिस्पर्धा करते थे जिसके कारण उनके पारस्परिक सम्बन्ध अधिकांशतया शत्रुता के ही रहते थे। शासक के दुर्बल होने पर शक्तिशाली सामन्त राजसिंहासन को प्राप्त करने के लिए भी लालायित होते थे, जो राजवंशों के परिवर्तन का एक मुख्य कारण था। इसका एक मुख्य कुप्रभाव राज्य की अर्थ-व्यवस्था और जनता की आर्थिक स्थिति पर पड़ता था। इस व्यवस्था में राज्य की आय एक स्थान पर एकत्रित नहीं हो पाती थी जिससे शासक राज्य की सम्पूर्ण आय का प्रयोग राज्य हित, प्रजा की भलाई अथवा सैनिक-शक्ति की वृद्धि के लिए नहीं कर सकता था। इस व्यवस्था में प्रजा पर अत्यधिक आर्थिक दबाव पड़ जाता था। वस्तुतः इस व्यवस्था में बड़े सामन्त अधिकांशतया शासक के निकट दरबार में रहते थे और अपनी जागीर को अपने अधीन सामन्तों में बाँट दिया करते थे। वे अधीन सामन्त अपनी जागीर को पुनः अपने अधीन सामन्तों को दे दिया करते थे। इस क्रम से सामन्तों और अधीन सामन्तों की कई श्रेणियाँ हो जाती थीं और इनमें से प्रत्येक सामन्त या अधीन सामन्त निश्चित वार्षिक धन-राशि अपने-अपने अधीन सामन्तों से लिया करता था। इन सभी को अधिक से अधिक धन की लालसा भी रहती थी। वह धन अन्त में मुख्यतया किसानों से ही प्राप्त होता था जो प्रजा का बहुसंख्यक वर्ग था। इससे इस व्यवस्था में प्रजा के बहुसंख्यक वर्ग की आर्थिक स्थिति अधिकांशतया न्यूनतम जीवन स्तर पर रहती थी। इस प्रकार, यह जागीरदारी व्यवस्था राज्य के शासन, अर्थ-व्यवस्था, सैनिक-शक्ति, और प्रजा की आर्थिक स्थिति आदि सभी पर कुप्रभाव डालती थी।

सामाजिक दृष्टि से भारत दुर्बल था। जाति-उपजातियों का विभाजन, स्त्रियों की गिरती हुई स्थिति और अनैतिक आचार-विचार इस बात के प्रमाण थे। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों के अतिरिक्त समाज का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा था जिसे 'अंत्यज' पुकारते थे। उन्हें समाज के किसी भी वर्ण में स्थान प्राप्त न था। चमार, जुलाहे, मछली पकड़ने वाले, टोकरी बुनने वाले, शिकारी आदि इस वर्ग में सम्मिलित थे। इससे भी निम्न स्तर हादी, होम, चाण्डाल, बधाटू आदि वर्गों का था जो सफाई और स्वच्छता के कार्यों में लगे हुए थे परन्तु जिन्हें नगरों और गाँवों से बाहर रहना पड़ता था। वैश्यों तथा शूद्रों को वेद और धार्मिक शास्त्रों को पढ़ने का अधिकार न था। यदि इनमें से कोई ऐसा करता था तो अलबरुनी के कथन के अनुसार उनकी जबान काट ली जाती थी। समाज से पृथक् वर्गों की स्थिति का अनुमान तो इसी से लगाया जा सकता है कि उनकी स्थिति तो वैश्यों और शूद्रों से भी निम्न थी। जाति-प्रथा के कारण भारत का समाज ऊँच-नीच की भावना

से ही विषाक्त नहीं बना हुआ था बल्कि ऐसे विभिन्न वर्गों में बँटा हुआ था जिसमें एक-दूसरे के प्रति घृणा की ही भावना पनप सकती थी। जाति-बन्धन उस समय तक कठोर भी हो गये थे। जाति-परिवर्तन और अन्तर्जातीय खान-पान तथा विवाह-सम्बन्ध सम्भव नहीं थे। स्त्रियों की स्थिति निरन्तर गिरती जा रही थी और उनका स्थान पुरुष की भोग्यामात्र बनता जा रहा था। उच्च वर्गों में बहु-विवाह, बाल-विवाह और सती-प्रथा प्रचलित हो चली थी और विधवाओं के विवाह सम्भव न थे।

धार्मिक दृष्टि से भी गिरावट स्पष्ट थी। हिन्दू और बौद्ध दोनों ही धर्मों में अनाचार फैलता जा रहा था। धर्म की मूल भावना लुप्त होती जा रही थी और उसका स्थान कर्मकाण्ड ने ले लिया था। वाममार्गी सम्प्रदाय लोकप्रिय होते जा रहे थे, मुख्यतया बंगाल और कश्मीर में। सुरापान, मांस का प्रयोग और व्यभिचार उन वाममार्गी अनुयायियों की धार्मिक क्रियाओं में सम्मिलित थे। उनका प्रभाव समाज के अन्य वर्गों पर भी आ रहा था। बौद्ध-विहार, मठ और हिन्दू-मन्दिर अनाचार और भोग विलास के अड्डे बन गये थे। मन्दिरों में देवदासियों (अविवाहित लड़कियाँ जो देवता की पूजा के लिए रखी जाती थीं) की प्रथा भ्रष्टाचार का एक मुख्य कारण बन गयी थी। ऐसी ही स्थिति बौद्ध-विहारों और मठों की थी। शिक्षा-संस्थाएँ भी इस भ्रष्टाचार से मुक्त न रही थीं। विक्रमशिला के महान् विद्यालय में एक विद्यार्थी के पास शराब की बोतल पायी गयी जिसके बारे में उसने बताया कि वह उसे एक भिक्षुणी ने दी थी। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि उस विद्यार्थी ने अनाचार या दण्ड पाने के योग्य कोई कार्य किया था अथवा नहीं, इस प्रश्न को लेकर विद्यालय के अधिकारियों में मतभेद हो गया था। धार्मिक और शिक्षा-संस्थाओं में अनैतिकता का प्रवेश समाज की अनैतिकता का कारण और परिणाम दोनों ही था। सम्भवतया जन-साधारण इस अनैतिकता से दूर था, परन्तु शासक और शिक्षित वर्ग पर अनैतिकता का प्रभाव देश की दुर्बलता के लिए पर्याप्त था। धर्म जो सत्कर्म, त्याग, देश-प्रेम और मनोबल की वृद्धि में सहायक हो सकता था; उस समय अनाचार, भोग-विलास और आलस्य का कारण बना हुआ था।

समाज और धर्म की यह स्थिति भारत की सांस्कृतिक विलासिता का भी कारण थी। कला और साहित्य दोनों ही उस समय की दशा के अनुकूल बन गये थे। स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला, चित्रकला आदि सभी में हमें लालित्य और भोग-विलास की प्रवृत्ति का आभास होता है। साहित्य में 'कुटनी-मतम' और 'समय-मत्रक' (वेश्या की आत्मकथा) उस समय के साहित्य की प्रतीक मात्र थी। खजुराहो, पुरी आदि के मन्दिर और मूर्तियाँ उस समय की कला की रुचि का प्रतीक थीं।

सैनिक दृष्टि से भारत ने अपने शस्त्रों और युद्ध-शैली में सुधार करने का कोई प्रयत्न नहीं किया था। भारतीय उस समय भी हाथियों पर निर्भर करते थे, तलवार, कटार और भाला उनके मुख्य हथियार थे तथा उनकी युद्ध-शैली रक्षात्मक अधिक और आक्रमणकारी कम थी। उत्तर-पश्चिम सीमा पर भारतीयों ने न तो किले बनवाये थे और न किसी अन्य रक्षा-पंक्ति का निर्माण किया था जबकि उस दिशा से आक्रमण का भय स्पष्ट था। इस प्रकार सैनिक दृष्टि से भारत दुर्बल हो गया था।

इस प्रकार राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और सैनिक दृष्टि से भारत दुर्बल था। उसकी इस दुर्बलता का एक मुख्य कारण यह था कि भारत ने विदेशों से कुछ सीखने का प्रयत्न नहीं किया। भारतीयों ने विदेशों के मुख्यतया अपने

सीमावर्ती देशों के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और सैनिक परिवर्तनों को ओर ध्यान नहीं दिया। इस कारण उसमें अज्ञानता और दम्भ दोनों भावनाओं की उत्पत्ति हुई और वे अपनी उन्नति के प्रति असावधान हो गये। इस सम्बन्ध में महमूद गजनवी के साथ भारत में आने वाले विद्वान अलबरुनी का विवरण भी हमारी आँखें खोलने वाला है। अलबरुनी ने हिन्दू-दर्शन, धर्म और संस्कृत भाषा का अध्ययन किया था। वह यहाँ के दर्शन और अन्य बहुत-सी बातों से प्रभावित भी हुआ था। परन्तु उसने लिखा था कि "हिन्दुओं का यह विचार है कि हमारा जैसा देश, राष्ट्र, धर्म, राजा और विज्ञान संसार में कहीं नहीं है।"[1] उसने लिखा था कि "हिन्दू यह नहीं चाहते कि जो वस्तु एक बार अपवित्र हो जाये, उसे शुद्ध करके पुनः अपना बना लिया जाय।"[2] इस प्रकार अलबरुनी ने हिन्दुओं को संकीर्ण विचारों का बताया यद्यपि उसने यह भी लिखा कि हिन्दुओं के पूर्वज इतने संकीर्ण विचारों के न थे। इस प्रकार भारतीयों ने अपनी प्रगति के मार्ग को स्वयं ही बन्द कर लिया था।

परन्तु भारत आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था। विस्तृत उपजाऊ भू-प्रदेश और खनिज पदार्थ उसकी सम्पन्नता के लिए उत्तरदायी थे। विदेशी व्यापार भी अच्छा था परन्तु आर्थिक सम्पन्नता के साथ-साथ भारत में आर्थिक असमानता भी थी। देश की सम्पत्ति कुछ विशेष वर्गों के हाथों में संचित हो गयी थी। राज्य-परिवार और व्यापारी वर्ग के अतिरिक्त मन्दिर भी धन के खजाने थे। विदेशी आक्रमणकारी के लिए कुछ विशेष स्थानों पर संचित यह धन लालच का कारण था और भारत की दुर्बलता उसके लिए एक प्रेरणा। भारत की सम्पत्ति एक दुर्बल व्यक्ति के हाथों की सम्पत्ति के समान थी जिसको हथियाने के लिए कोई भी शक्तिशाली व्यक्ति उत्साहित हो सकता था। महमूद गजनवी ने ऐसा ही किया।

**महमूद के आक्रमण**

भारत की उपर्युक्त परिस्थितियों में महमूद ने भारत पर आक्रमण किये। वे आक्रमण 11वीं सदी से प्रारम्भ हुए। सर हेनरी इलियट ने बताया है कि महमूद ने भारत पर 17 आक्रमण किये। यद्यपि सभी आक्रमणों के बारे में सर्वस्वीकृत प्रमाण प्राप्त नहीं होते तब भी सभी इतिहासकार यह अवश्य मानते हैं कि महमूद ने भारत पर कम से कम 12 आक्रमण अवश्य किये थे। महमूद के आक्रमण 1000 ई. में आरम्भ हुए और पहले उसने सीमा के कुछ किलों को जीता। उसने दूसरा आक्रमण 1001 ई. में किया। इस बार हिन्दूशाही-राजा जयपाल ने पेशावर के निकट उसका मुकाबला किया। युद्ध में महमूद की विजय हुई और जयपाल, उसके पुत्र, नाती तथा अन्य अनेक सम्बन्धी बन्दी बना लिये गये। महमूद जयपाल की राजधानी वैहन्द के निकट तक गया और बहुत लूटमार की। राजा जयपाल के गले की हीरों की जो माला उसने छीनी उसी की कीमत प्रायः दो लाख दिरहम थी। जयपाल और उसके सम्बन्धियों को महमूद ने 25 हाथी और 2,50,000 दीनार लेकर मुक्त कर

---

1 "The Hindus believed that there is no country like theirs, no nation like theirs, no king like theirs, no religion like theirs, no science like theirs." —Al Beruni.

2 "The Hindus did not desire that a thing which has once been polluted should be purified and thus recovered." —Al Beruni.

दिया। इस प्रकार बहुत अधिक धन लेकर महमूद भारत से वापस गया। जयपाल ने अपनी निरन्तर पराजय से इतना अधिक अपमानित अनुभव किया कि उसने स्वयं को चिता में जला दिया। उसके पश्चात् उसका पुत्र आनन्दपाल गद्दी पर बैठा।

1004 ई. में महमूद ने मुल्तान पर आक्रमण करने का निश्चय किया। मुल्तान के शिया-सम्प्रदायी करमाथीयों के शासक अब्दुल फतह दाऊद से भी महमूद उतनी ही घृणा करता था जितनी कि हिन्दुओं से। मार्ग में जयपाल के पुत्र आनन्दपाल ने भेरा के निकट उसका मुकाबला किया परन्तु उसकी पराजय हुई और महमूद ने 1006 ई. में मुल्तान को जीत लिया। दाऊद ने महमूद को 20,000 दिरहम प्रति वर्ष देने का वायदा किया। अपनी उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर तुर्की आक्रमणकारियों की सूचना पाकर महमूद को मुल्तान और बाकी जीते हुए भारतीय क्षेत्रों को नौशाशाह (यह जयपाल का नाती सुखपाल था जिसे महमूद ने इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया था) को देकर वापस चला गया। परन्तु उसके जाने के बाद नौशाशाह और दाऊद ने विद्रोह कर दिया। 1008 ई. में महमूद लौटकर आया और उसने नौशाशाह और दाऊद को कैद करके मुल्तान को अपने राज्य में मिला लिया।

मुल्तान के महमूद के हाथों में चले जाने से हिन्दूशाही-राजा आनन्दपाल को अपने राज्य पर दो तरफ से आक्रमण का भय हो गया। इस कारण उसने एक विशाल सेना एकत्रित की और पड़ोसी राज्यों से भी जो सहायता मिल सकी उसे प्राप्त किया। उसके पश्चात् वह अपनी सेना को लेकर पेशावर की ओर बढ़ा। वैहन्द के निकट 1009 ई. में महमूद ने उसका मुकाबला किया। युद्ध में आनन्दपाल की पराजय हुई। उसका हाथी भाग खड़ा हुआ और उसके साथ-साथ उसकी सेना भी भाग खड़ी हुई। महमूद ने नगरकोट तक आक्रमण किया और उसे जीत लिया। आनन्दपाल की यह पराजय उसके राज्य और भारत के लिए दुर्भाग्यपूर्ण थी। हिन्दूशाही-राज्य और उसकी शक्ति काफी सीमित हो गयी और वह महमूद के आक्रमणकारी युद्ध करने की स्थिति में न रहा। आनन्दपाल ने नन्दन को अपनी राजधानी बनाकर अपनी शक्ति को दृढ़ करने का प्रयत्न किया, परन्तु वह अधिक सफल न हो सका। सिन्ध से नगरकोट तक का सम्पूर्ण भारत महमूद की अधीनता में चला गया और सिन्ध तथा पश्चिमी पंजाब में मुसलमानों के पैर जम गये। आनन्दपाल ने महमूद से एक सन्धि कर ली और उसके पश्चात्, उसने अपने जीवनपर्यन्त महमूद से अच्छे सम्बन्ध रखे। उसके पश्चात् उसका पुत्र त्रिलोचनपाल 1012 ई. में गद्दी पर बैठा। उसके समय में महमूद ने नन्दन को भी अपने अधिकार में कर लिया। त्रिलोचनपाल ने भागकर कश्मीर के राजा से सहायता ली, परन्तु महमूद ने उन दोनों की संयुक्त सेना को परास्त कर दिया। कश्मीर की सीमाओं पर महमूद ने लूटमार अवश्य की, परन्तु उसने कश्मीर में प्रवेश नहीं किया। त्रिलोचनपाल ने शिवालक की पहाड़ियों में अपनी स्थिति को दृढ़ किया और बुन्देलखण्ड के शासक विद्याधर से मित्रता की। परन्तु 1019 ई. में एक बार फिर महमूद ने उसे परास्त किया। 1021-22 ई. में किसी व्यक्ति ने त्रिलोचनपाल की हत्या कर दी और जिस समय उसका पुत्र भीमपाल राजा बना उस समय उसका राज्य एक राजा का राज्य नहीं बल्कि एक सामन्त की जागीर मात्र था। 1026 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। अन्ततोगत्वा हिन्दूशाही-राज्य समाप्त हो गया और सम्पूर्ण पंजाब पर महमूद का अधिकार हो

गया। इस प्रकार ब्राह्मणवंशीय हिन्दूशाही-राज्य एक लम्बे और कठोर संघर्ष के बाद समाप्त हुआ। उस समय में वही एक ऐसा हिन्दू-राज्य था जिसके शासकों ने दूरदर्शिता का परिचय दिया और अपनी तथा भारत की सुरक्षा के लिए आक्रमणकारी नीति को अपनाया, हिन्दुओं का संयुक्त मोर्चा बनाया और मुल्तान के मुसलमानों को भी नवीन विदेशी आक्रमणकारी के विरुद्ध अपने साथ रखने में सफलता पायी। उसके पतन से हिन्दुओं की विदेशियों के विरुद्ध संयुक्त होकर मुकाबला करने की योजना नष्ट हो गयी। उत्तर-पश्चिम के प्रवेश-द्वार पर मुसलमानों का अधिकार हो गया और महमूद को भारत में प्रवेश करने तथा अपनी धन-पिपासा को सन्तुष्ट करने का अवसर मिल गया।

हिन्दूशाही-राज्य को दुर्बल करने से महमूद को भारत में आगे बढ़ने का अवसर मिल गया था। जो धन उसे पंजाब की लूटमार से प्राप्त हुआ था उसने उसकी धन-लिप्सा को काफी बढ़ा दिया था। नगरकोट की लूट में ही उसने जो धन, वस्त्र और बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त की थीं वह उसकी आशा से कहीं अधिक थीं। इसके अतिरिक्त महमूद को जयपाल जैसा शत्रु भी अन्य स्थानों पर प्राप्त नहीं हुआ। इस कारण बारम्बार भारत पर आक्रमण करने की उसकी योजना सफल हो सकी। ऐसा प्रतीत होता है कि पेशावर के युद्ध के पश्चात् सम्पूर्ण उत्तरी भारत अपंग हो गया था। महमूद एक के बाद एक नगर और मन्दिर को लूटता और नष्ट करता गया, भय से भारतीय अपने धन, धर्म, मन्दिरों और नगरों को मुसलमानों को समर्पण करते चले गये और जिसने थोड़ा बहुत विरोध किया भी वह सफल न हुआ। महमूद वर्षों तक भयंकर तूफान की भाँति उत्तरी भारत को रौंदता रहा और हिन्दू-राज्य तिनकों की भाँति उसके सामने बिखर गये। प्रत्येक देवता की मूर्ति का भंजन, प्रत्येक स्थान की लूट-मार, लाखों स्त्रियों को अपमान और लाखों पुरुषों का कत्ल या उनका इस्लाम में परिवर्तन भी हिन्दू-भारत को महमूद का मुकाबला करने का आत्मबल और शक्ति प्रदान न कर सका।

1009 ई. में ही आनन्दपाल की पराजय के पश्चात् महमूद ने अलवर-राज्य में स्थित नारायनपुर नामक स्थान को जीता और लूटा। 1014 ई. में उसने थानेश्वर को लूटा। मार्ग में डेरा के शासक राजा राम ने उससे युद्ध किया परन्तु उसकी पराजय हुई। सभी मन्दिरों और मूर्तियों को तोड़कर और नगर को लूटकर महमूद वापस चला गया। वह प्रसिद्ध चक्र-स्वामी की मूर्ति को अपने साथ ले गया जिसे उसने गजनी के सार्वजनिक चौक में फिंकवा दिया। विश्वास किया जाता है कि दिल्ली के राजा ने पड़ौसी हिन्दू-राजाओं से सहायता लेकर महमूद को रोकने का प्रयत्न किया था। परन्तु वह असफल हुआ था और थानेश्वर की रक्षा के लिए कोई हिन्दू-सेना नहीं पहुँची थी। 1018 ई. में महमूद कन्नौज राज्य पर आक्रमण करने के लिए आया। शाही-वंश का शासक त्रिलोचनपाल पूर्वी पंजाब से भाग खड़ा हुआ और मार्ग के सभी छोटे-छोटे राज्य उसे आत्मसमर्पण करते चले गये। मथुरा के निकट महाबन में यदु-वंश के शासक कुलचन्द ने उसका मुकाबला किया परन्तु परास्त हुआ। आगे बढ़कर महमूद ने मथुरा पर आक्रमण किया जो दिल्ली के राज्य में था। मथुरा की रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया था और महमूद ने वहाँ इच्छानुसार लूट-मार की। मथुरा हिन्दुओं का महान् तीर्थस्थान था और वहाँ हजारों मन्दिर थे। उतबी ने लिखा है कि "महमूद ने एक ऐसा नगर देखा जो

योजना तथा निर्माण कला की दृष्टि से आश्चर्यजनक था। उसके चारों ओर पत्थर के बने हुए हज़ार दुर्ग थे जिनका प्रयोग मन्दिरों की भाँति किया जाता था। उसके मध्य में एक सबसे ऊँचा मन्दिर था जिसके सौन्दर्य और सजावट का वर्णन करने में न किसी लेखक की लेखनी समर्थ है और न किसी चित्रकार की तूलिका।" उतबी के कथन के अनुसार मन्दिरों में सोने और चाँदी की हीरे-जवाहरातों से जड़ी हुई हज़ारों मूर्तियाँ थीं। उनमें से कुछ सोने की मूर्तियाँ पाँच-पाँच हाथ ऊँची थीं, जिनमें से एक में 50,000 दीनार के मूल्य की लाल मणियाँ जड़ी हुई थीं और एक अन्य मूर्ति में एक ऐसा नीलम जड़ा हुआ था जिसका मूल्य 400 मिसकाल था। विभिन्न मूर्तियों के नीचे अतुल धन-राशि गढ़ी हुई थी जिसे महमूद ने प्राप्त किया। महमूद ने मथुरा का कोना-कोना लूट लिया, मन्दिरों को तोड़ दिया, भूमि को खोद-खोद कर धन निकाला, सभी मूर्तियों को तोड़कर धन की तरह से अपने साथ ले गया, नगर को बरबाद कर दिया और अनेक स्त्री-पुरुषों को कत्ल कर दिया या गुलाम बना लिया। मथुरा के निकट के उतने ही भव्य स्थान वृन्दावन का भी यही हाल हुआ और महमूद को लूट में अपार धन मिला। वहाँ से महमूद कन्नौज गया जहाँ गुर्जर-प्रतिहार-वंश के अन्तिम शासक राज्यपाल का शासन था। राज्यपाल बिना युद्ध के भाग गया और कन्नौज को महमूद ने लूट लिया। उसके पश्चात् महमूद ने कानपुर के निकट मन्झावान नामक स्थान पर आक्रमण किया जो ब्राह्मणों के किले के नाम से विख्यात था। 24 दिन तक महमूद किले को न जीत सका परन्तु उसके पश्चात् किले के स्त्री और बच्चे जल मरे और पुरुष युद्ध में मारे गये। उसके बाद असी के शासक चन्द्रपाल और सिरसावा (सहारनपुर के निकट) के शासक चाँदराय ने उसका मुकाबला नहीं किया। मार्ग में अन्य स्थानों पर भी महमूद का कोई मुकाबला नहीं हुआ और विभिन्न स्थानों की लूट-मार करता हुआ महमूद गजनी वापस पहुँच गया।

महमूद के वापस जाने के पश्चात् बुन्देलखण्ड के शासक विद्याधर (गण्ड) ने कुछ हिन्दू-राजाओं का एक मित्र-संघ बनाया जिसका मुख्य उद्देश्य कन्नौज के शासक राज्यपाल को सजा देना था। उसकी दृष्टि में राज्यपाल ने मथुरा और वृन्दावन जैसे तीर्थ-स्थानों को लूटने वाले महमूद से बिना युद्ध किये हुए भागकर बड़ा अपराध किया था। इन राजाओं ने राज्यपाल पर आक्रमण करके उसे मार दिया। महमूद ने विद्याधर को दण्ड देने का फैसला किया और 1019 ई. में वह पुनः भारत आया। हिन्दूशाही-राजा त्रिलोचनपाल ने इस बार यमुना नदी के निकट उसका मुकाबला किया। त्रिलोचनपाल साहसी था और इस अवसर पर चन्देलों का साथ दे रहा था। परन्तु महमूद ने उसे परास्त कर दिया और वह भाग खड़ा हुआ। वहाँ से महमूद बरी की ओर बढ़ा जिसे प्रतिहारों ने कन्नौज की लूट के पश्चात् अपनी राजधानी बना लिया था। राज्यपाल का पुत्र त्रिलोचनपाल (प्रतिहार-वंशीय) वहाँ का शासक था। वह भय के कारण भाग खड़ा हुआ और महमूद ने बरी को धूल में मिला दिया। उसके पश्चात् महमूद अपने मुख्य शत्रु विद्याधर को परास्त करने के लिए बुन्देलखण्ड की सीमा पर पहुँच गया (1020-21 ई.)। विद्याधर एक बड़ी सेना के साथ उसका मुकाबला करने के लिए वहाँ तैयार था। विद्याधर की विशाल सेना को देखकर महमूद को घबराहट हो गयी परन्तु शाम के एक झुट-पुट में हिन्दुओं की सेना के एक भाग की पराजय हुई। सम्भवतया किसी अन्य कारण से अथवा इस झुटपुट के

युद्ध की पराजय से विद्याधर साहस खो बैठा और रात को चुपके से भाग निकला। प्रातः काल शत्रु की सेना को सामने न पाकर महमूद को बड़ा आश्चर्य हुआ। विद्याधर का साहस खो बैठना उसके राज्य के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ। महमूद ने उसके सम्पूर्ण राज्य में लूट-मार की और बहुत सम्पत्ति लेकर वापस लौट गया। परन्तु उस समय तक विद्याधर की शक्ति तोड़ी नहीं गयी थी। 1021-22 ई. में महमूद पुनः वापस आया। मार्ग में ग्वालियर के राजा कीर्तिराज को सन्धि के लिए बाध्य करता हुआ महमूद कालिंजर के किले के सम्मुख पहुँच गया। किले का घेरा बहुत समय तक पड़ा रहा परन्तु उसे जीता न जा सका। विद्याधर ने सिन्ध की बातचीत की और महमूद ने उसे स्वीकार कर लिया। महमूद ने विद्याधर को 15 किले भी इनाम के रूप मे दिये। उसके पश्चात् महमूद वापस चला गया।

1024 ई. में महमूद एक विशाल सेना लेकर सोमनाथ पर आक्रमण के लिए चला। काठियावाड़ (गुजरात) में समुद्र-तट पर बना हुआ शिव का मन्दिर उत्तरी भारत में सबसे अधिक सम्मानित मन्दिर था। लाखों व्यक्तियों की प्रतिदिन की भेंट के अतिरिक्त 10,000 गाँवों की स्थायी आय उसे प्राप्त होती थी। वह एक परकोटे से घिरा हुआ था। आकार और सौन्दर्य की दृष्टि से मन्दिर अद्वितीय था और वहाँ अत्यधिक धन संचित था। हजारों प्रकार के हीरे-जवाहरातों से शिव-लिंग का छत्र बना हुआ था, स्वयं शिवलिंग बीच अधर में बिना किसी सहारे के लटका हुआ था, 200 मन की सोने की जंजीर से उसका एक घण्टा बजाया जाता था, 350 स्त्री और पुरुष शिव-लिंग के सम्मुख सर्वदा नाचने के लिए रखे गये थे, लिंग के भूगर्भ स्थल में अगाध सम्पत्ति एकत्र थी और एक हजार पुजारी देवता की पूजा में संलग्न रहते थे। सोमनाथ का शिव-मन्दिर अद्वितीय था परन्तु उनके पुजारियों का दम्भ आश्चर्यजनक था। उनका कहना था कि महमूद ने उत्तरी भारत के देव-मन्दिरों को इस कारण नष्ट किया था कि भगवान सोमनाथ उन सभी से असन्तुष्ट थे। झूठें दम्भ में उन्होंने यहाँ तक कहा था कि महमूद भगवान सोमनाथ को हानि पहुँचाने की शक्ति नहीं रखता। पुजारियों का यह दम्भ और मन्दिर की अतुल सम्पत्ति महमूद के आक्रमण का कारण बनी। मुल्तान के मार्ग से महमूद ने काठियावाड़ में प्रवेश किया और मार्ग की साधारण बाधाओं को हटाता हुआ वह 1025 ई. में काठियावाड़ की राजधानी अन्हिलवाड़ पहुँच गया। राजा भीमदेव प्रथम भाग खड़ा हुआ और महमूद ने बिना किसी विरोध के राजधानी को लूटा। उसके पश्चात् महमूद सोमनाथ के मन्दिर के निकट पहुँचा। मन्दिर में हजारों हिन्दू-भक्त एकत्र हो गये थे और वे पूर्ण विश्वास के साथ युद्ध के लिए तत्पर थे। महमूद का पहले दिन का आक्रमण सफल न हुआ परन्तु दूसरे दिन वह मन्दिर की प्राचीर को पार कर गया। युद्ध में 50,000 से भी अधिक व्यक्ति मारे गये। महमूद ने मन्दिर को पूर्णतया नष्ट कर दिया। उसने छत्र में लगे हुए चकमक पत्थर को हटा दिया जिसके कारण शिव-लिंग बीच में लटका हुआ था और वह भूमि पर गिर पड़ा। महमूद ने उसे तोड़ दिया। प्रत्येक प्रकार से मन्दिर को खोद-खोद कर लूटा गया। अतुल सम्पत्ति लेकर महमूद सिन्ध के रेगिस्तान से वापस लौटा। मार्ग में, उसके भारतीय मार्ग-दर्शक ने उसे मार्ग से भटकाकर बहुत हानि पहुँचायी परन्तु अन्त में, महमूद मुल्तान होता हुआ अपने लूटे हुए खजाने के साथ सुरक्षित गजनी पहुँच गया। सोमनाथ के शिव-लिंग के टूटे हुए टुकड़ों को गजनी की जामी-मस्जिद की सीढ़ियों में लगा दिया गया।

जिस समय महमूद सोमनाथ को लूटकर वापस जा रहा था रास्ते में सिन्ध के जाटों ने उसे तंग किया था। जाटों को दण्ड देने के लिए 1027 ई. में महमूद अन्तिम वार भारत आया। जाटों को उसने कठोरता से समाप्त किया। उनकी सम्पत्ति लूट ली गयी और उनकी स्त्रियों एवं बच्चों को दास बना लिया गया। वह महमूद का अन्तिम आक्रमण था।

इस प्रकार महमूद ने भारत पर विभिन्न आक्रमण किये। उनकी संख्या ठीक प्रकार निश्चित नहीं है परन्तु उपर्युक्त महत्वपूर्ण आक्रमण ही उनकी सफलता भारत की दुर्बलता और उसके परिणामों पर प्रकाश डालने के लिए काफी हैं। महमूद ने न केवल भारत की सदियों से संचित सम्पत्ति को ही लूटने में सफलता प्राप्त की वरन् पंजाब, सिन्ध, मुल्तान और अफगानिस्तान के प्रदेशों में गजनवी-वंश के राज्य को स्थापित किया। 1030 ई. में महमूद की मृत्यु हो गयी।

### महमूद का चरित्र और मूल्यांकन

महमूद एक साहसी सैनिक और सफल सेनापति था। उसका स्थान संसार के उन सफलतम सेनापतियों में है जिन्हें जन्मजात सेनापति पुकारा जाता है। उसमें नेतृत्व करने और अपने साधनों तथा परिस्थितियो से पूर्ण लाभ उठाने की योग्यता थी। उसमें मानवीय गुणों को परखने की बुद्धि थी और वह प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार कार्य देता था तथा प्रत्येक से अपनी इच्छानुसार कार्य लेता था। उसकी सेना में अरब, तुर्क और अफगान ही नहीं बल्कि हिन्दू सैनिक भी थे। परन्तु विभिन्न नस्लों से मिल-जुलकर बनी हुई उसकी सेना उसके नेतृत्व में एक शक्तिशाली तथा विजयी सेना बन गयी थी। अपनी योग्यता के अनुकूल महमूद महत्वाकांक्षी भी था। वह सर्वदा सम्मान और साम्राज्य की लालसा करता रहा। अपने इन गुणों के कारण वह सफल भी हुआ। अपने पिता से उसे गजनी और खुरासान का एक छोटा-सा राज्य प्राप्त हुआ था। अपनी योग्यता से उसने उसे इराक और कैस्पियन समुद्र से लेकर गंगा-तट तक फैला दिया। उसका साम्राज्य बगदाद के खलीफा से बड़ा और शक्तिशाली था। जब खलीफा ने महमूद को समरकन्द देने से इन्कार किया था तब महमूद ने उस पर आक्रमण करने की धमकी दी थी। इस प्रकार महमूद एक शक्तिशाली और विशाल साम्राज्य का निर्माता था। यह कहना भूल है कि महमूद ने दुर्बल भारतीय शासकों को परास्त करने में ही सफलता पायी थी। महमूद ने अपने मध्य-एशिया और इराक के शत्रुओं के विरुद्ध भी इसी प्रकार सफलता प्राप्त की थी। एक साहसी सैनिक, महान् सेनापति और साम्राज्य-निर्माण की दृष्टि से महमूद का स्थान श्रेष्ठ है।

महमूद शिक्षित और सुसभ्य था तथा वह विद्वानों एवं कलाकारों का सम्मान करता था। उसने अपने समय के महान् विद्वानों को गजनी में एकत्रित किया था। गणित, दर्शन, ज्योतिष और संस्कृत का उच्चकोटि का विद्वान अलबरुनी, इतिहासकार उतबी, दर्शनशास्त्र का विद्वान फराबी, 'तारीख-ए-सुबुक्तगीन' का लेखक बैहाकी जिसे इतिहासकार लेनपूल ने 'पूर्वीय पेप्स' की उपाधि दी, फारस का कवि उजारी, खुरासानी विद्वान तुसी, महान् शिक्षक और विद्वान उन्सुरी, विद्वान अस्जदी और फरुंखी तथा 'शाहनामा' का रचयिता विद्वान फिरदौसी आदि उसके दरबार में थे। वे सभी योग्य थे और महमूद के संरक्षण ने उनको अधिक योग्य बनाने में सहायता दी थी। महमूद ने गजनी में एक विश्वविद्यालय, एक बड़ा पुस्तकालय और एक बड़ा

अजायबघर स्थापित किया था। वह कलाकारों को भी संरक्षण देता था। उसने देश-विदेश के कलाकारों को बुलाकर गजनी में भव्य इमारतों का निर्माण कराया। अनेक महलों, मस्जिदों, मकबरों आदि से उसने गजनी को सुशोभित किया। गजनी की विख्यात जामा-मस्जिद का निर्माण भी उसी ने कराया था। उसके समय में गजनी इस्लामी संसार की शोभा, वैभव और योग्यता का एक महान् केन्द्र-स्थान बन गया था।

महमूद एक न्यायप्रिय शासक था। अपने भतीजे के द्वारा एक अन्य व्यक्ति की पत्नी से सम्बन्ध रखने के कारण उसने स्वयं अपने भतीजे को कत्ल किया। एक अन्य अवसर पर उसने शाहजादा मसूद को एक व्यापारी का कर्जा न चुकाने के कारण काजी की अदालत में जाने और व्यापारी का कर्जा चुकाने के लिए बाध्य किया। ऐसी ही अनेक कहानियाँ महमूद की न्यायप्रियता के बारे में प्रचलित हैं। महमूद ने अपने सूबेदारों को अपने नियन्त्रण में रखने, अपने राज्य में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने, व्यापार और कृषि की सुरक्षा करने तथा अपनी प्रजा के जीवन और सम्मान की सुरक्षा करने में सफलता पायी थी।

महमूद धार्मिक दृष्टि से कट्टर था। वह सुन्नी था और हिन्दुओं के प्रति ही नहीं अपितु शियाओं के प्रति भी अनुदार था तथा उनको दण्ड देने के लिए तत्पर रहता था। बाद के समय के अथवा आधुनिक इतिहासकार, जैसे प्रो. मुहम्मद हबीब चाहे किसी प्रकार भी उसकी धार्मिक कट्टरता को ढकने का प्रयत्न करें, परन्तु यह मानना पड़ता है कि विधर्मियों के प्रति उसका व्यवहार कठोरता का और हिन्दुओं के प्रति नृशंसता का था। महमूद के विषय में तत्कालीन विचारधारा को मानना अधिक उपयुक्त है। हिन्दुओं के प्रति उसके व्यवहार की आलोचना अलबरुनी ने की थी। तत्कालीन समय में मुसलमान उसे इस्लाम धर्म का महान् प्रचारक मानते थे। उसे गाजी (विधर्मियों को कत्ल करने वाला) और मूर्तिभंजक तथा बुतशिकन पुकारा गया था। खलीफा ने सोमनाथ के आक्रमण की सफलता पर उसे और उसके पुत्रों को सम्मान-पत्र और वस्त्र भेजे थे तथा तत्कालीन मुस्लिम संसार ने उसे विधर्मियों को नष्ट करके दूरस्थ देशों में इस्लाम की प्रतिष्ठा और शक्ति को स्थापित करने वाला माना था। इस कारण तत्कालीन विचारधारा के आधार पर महमूद को धर्मान्ध माना जा सकता है। तर्क के आधार पर भी महमूद का हिन्दुओं और हिन्दू-मन्दिरों के प्रति नृशंस व्यवहार केवल धन की लालसा के आधार पर ही हो, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

महमूद धन का लालची था यद्यपि उसके साथ-साथ वह मुक्त-हृदय से धन व्यय भी करता था। भारत पर उसके आक्रमणों का प्रमुख उद्देश्य धन की लालसा था। अपनी मृत्यु के अवसर पर वह यह सोचकर बहुत दुखी हुआ था कि उसे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को छोड़कर जाना पड़ेगा। प्रख्यात विद्वान फिरदौसी को उसने प्रत्येक छन्द की रचना के लिए एक सोने की दीनार देने का वायदा किया था। परन्तु जब उसने 1,000 छन्द के 'शाहनामा' को उसके सामने प्रस्तुत किया तब उसने सोने के स्थान पर चाँदी की दीनारें देने की इच्छा प्रकट की जिन्हें लेने से फिरदौसी ने इन्कार कर दिया। यद्यपि इसका मुख्य कारण महमूद के कृपामात्र अयाज का फिरदौसी के विरुद्ध षड्यन्त्र करना था और महमूद ने बाद में फिरदौसी के पास स्वर्ण की दीनारें भेज दीं (यद्यपि उस समय तक फिरदौसी की मृत्यु हो चुकी थी),

परन्तु तब भी उपर्युक्त घटनाएँ महमूद की लालची प्रकृति का आभास अवश्य देती हैं। प्रो. ब्राउन ने लिखा है कि "वह किसी भी उपाय से धन-प्राप्ति के लिए प्रयत्न-शील रहता था। इसके अतिरिक्त उसके चरित्र में कुछ निन्दनीय न था।"

परन्तु महमूद की सबसे बड़ी दुर्बलता एक कुशल शासन-प्रबन्धक न होना था। इस कारण महमूद अपने राज्य को स्थायित्व प्रदान न कर सका। उसका विशाल साम्राज्य उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के हाथों में जाते ही नष्ट होने लगा। महमूद उस साम्राज्य का निर्माता था और उसका व्यक्तित्व ही उसे सुरक्षित रख सका। यह स्पष्ट करता हैं कि महमूद अपने शासन को स्थायी सिद्धान्तों पर स्थापित न कर सका था। लेनपूल ने लिखा है कि "महमूद महान् सैनिक था और उसमें अपार साहस तथा अथक शारीरिक एवं मानसिक शक्ति थी, परन्तु वह रचनात्मक और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ न था। हमें ऐसे किन्हीं नियमों, संस्थाओं अथवा शासन-प्रणालियों का पता नहीं है जिसकी नींव उसने डाली हो।" एलफिन्सटन ने भी, जिन्होंने महमूद के अन्य गुणों की प्रशंसा की है, लिखा है कि "उसके भारतीय कार्य भी, जिनके लिए उसने अपनी अन्य योजनाएँ त्याग दी थीं, किसी प्रकार के संगठन अथवा व्यवस्था की भावना का परिचय नहीं देते।"

इसके वावजूद भी महमूद मुस्लिम इतिहास का एक महान् शासक था। मुस्लिम इतिहास में सुल्तान कहलाने योग्य वह प्रथम शासक था। मध्य-एशिया के महान् शासकों में उसका स्थान है और प्रो. हबीब के शब्दों में, "अपने समकालीन व्यक्तियों में वह चरित्र-वल से नहीं बल्कि योग्यता के कारण ही इतना उच्च पद प्राप्त कर सका था।"[1] उसकी विजयें उसके साम्राज्य की शान्ति और समृद्धि, उसकी सांस्कृतिक प्रगति और उसके प्रयत्नों के द्वारा इस्लाम की प्रतिष्ठा का विस्तार उसे महान् शासकों में स्थान प्रदान करते हैं। महमूद के समय में गजनी इस्लामी संसार की शक्ति, वैभव, शिक्षा, विद्वत्ता, सौन्दर्य और ललित-कलाओं की प्रगति का केन्द्र-स्थान वन गया था और सभी कुछ अकेले महमूद की अद्वितीय सफलताओं के कारण था।

परन्तु भारतीय इतिहास में महमूद का स्थान एक धर्मान्ध और बर्बर विदेशी लुटेरे के समान है। महमूद गजनी का सुल्तान था, भारत का नहीं। पंजाब, सिन्ध और मुल्तान जो उसके राज्य में सम्मिलित किये गये थे, उसकी पूर्वी सीमाओं की सुरक्षा और भारत पर निरन्तर आक्रमण करने का आधार-मात्र थे। इस कारण मह-मूद ने इन प्रदेशों के शासन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। भारत पर अपने निर-न्तर आक्रमणों में महमूद ने प्रत्येक स्थान और प्रत्येक व्यक्ति से धन लूटा, प्रत्येक मन्दिर को नष्ट किया, प्रत्येक मूर्ति को खण्डित किया, लाखों व्यक्तियो को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया अथवा उन्हें कत्ल कर दिया, लाखों को गुलाम बनाया, स्त्रियों के सतीत्व को नष्ट करने का कारण बना, हजारों सुन्दरतम स्त्रियों को गजनी ले गया, श्रेष्ठतम कलाकृतियों को नष्ट किया और हजारों नगरों तथा गाँवों को जलाकर राख कर दिया। महमूद ने हिन्दुओं के धन, सम्मान, संस्कृति आदि सभी

---

1 "Mahmud's pre-eminence among his contemporaries was due to his ability and not to his character."

—Prof. A. B. M. Habibullah.

को लूटा। एक भयंकर तूफान की भाँति महमूद जहाँ भी गया वहाँ विनाश करता हुआ चला गया। जो कुछ वह अपने साथ ले जा सकता था, वह ले गया और जिसको वह नष्ट कर सकता था, उसको उसने नष्ट कर दिया। इस कारण भारत के निवासियों के लिए महमूद एक धर्मान्ध और बर्बर विदेशी लुटेरे के अतिरिक्त हो भी क्या सकता था?

भारत पर महमूद के आक्रमण एक भीषण झंझावात के समान थे और कभी-कभी यह कहा जाता है कि उसने भारत में विनाश तो किया परन्तु स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ा। भारतीय थोड़े समय के पश्चात् उन दुर्घटनाओं को भूल गये और उन्होंने फिर अपने नगरों, मन्दिरों और वैभव का निर्माण कर लिया। निस्सन्देह, भारतीयों ने महमूद के आक्रमणों को भुला दिया जिसका दुष्परिणाम भी उन्हें भुगतना पड़ा। परन्तु यह कहना भूल है कि महमूद के आक्रमणों का भारत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। महमूद ने पंजाब, सिन्ध और मुल्तान को अपने राज्य में सम्मिलित करके अन्य मुस्लिम आक्रमणकारियों के लिए भारत का मार्ग खोल दिया। मोहम्मद गोरी ने गजनी के भारतीय क्षेत्रों को अपने अधिकार में करने के आशय से ही भारत पर आक्रमण आरम्भ किये। महमूद ने भारत की सम्पत्ति को लूटकर और उसकी सैनिक शक्ति को नष्ट करके भारत को आर्थिक और सैनिक दृष्टि से दुर्बल बना दिया। निरन्तर पराजय के कारण हिन्दुओं के मुसलमानों के विरुद्ध युद्ध करने के मनोबल में भी कमी आ गयी। महमूद किसी भी हिन्दू राजा से परास्त नहीं हुआ। इससे हिन्दुओं में मुस्लिम आक्रमणकारियों की शक्ति के प्रति भय उत्पन्न हुआ जिसका प्रभाव पर्याप्त समय तक रहा। उन सभी ने भारत की भविष्य की राजनीति को प्रभावित किया। मुस्लिम आक्रमणकारियों की दृष्टि से महमूद की सबसे बड़ी देन हिन्दूशाही-राज्य का विनाश था, जिसके कारण मुसलमानों के लिए भारत-विजय सरल हो गयी। डॉ. डी. सी. गांगुली ने लिखा है कि "पंजाब और अफगानिस्तान के गजनी राज्य में सम्मिलित किये जाने के कारण इस्लाम द्वारा भारत की विजय सरल हो गयी। अब प्रश्न होने अथवा न होने का नहीं था, बल्कि सिर्फ यह था कि कब वह शक्तिशाली बाढ़ सम्पूर्ण भारत को धराशायी कर देगी।"[1]

**महमूद के उत्तराधिकारी**

महमूद की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों—मसूद और महमूद—में गद्दी के लिए युद्ध हुआ। इसमें मसूद की विजय हुई। 1030 ई. से 1040 ई. तक मसूद ने शासन किया। मसूद यद्यपि योग्य शासक था और वह भारत में अपने राज्य की ओर भी ध्यान दे सका परन्तु अन्त में सल्जूक तुर्कों ने उसे परास्त कर दिया। उसके सरदारों ने विद्रोह करके उसे उसके अन्धे भाई महमूद को सौंप दिया जिसने उसका वध करा दिया। परन्तु बहुत शीघ्र ही मसूद के पुत्र मादूद ने महमूद और उसके पुत्र को गद्दी से हटाकर उनका वध कर दिया और स्वयं सुल्तान बन गया। उसके समय से गजनी की शक्ति क्षीण होने लगी। आन्तरिक संघर्ष और एक के बाद एक अयोग्य शासक गजनी-वंश

1 "The inclusion of the Punjab and Afghanistan in the kingdom of Ghazni made the Islamic conquest of India a comparatively easy process. It was no longer a question of whether, but when that mighty flood would overwhelm the country as a whole."
—Dr. D. C. Ganguly

की दुर्बलता के कारण बने। इसके अतिरिक्त मध्य-एशिया में दो नवीन शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ—ख्वारिज्म-वंश और गोर-वंश। सल्जूक-तुर्कों ने गजनी-वंश की शक्ति को तोड़ दिया। उसका लाभ ख्वारिज्म-वंश ने पश्चिम में और गोर-वंश ने पूर्व में उठाया। अन्त में, गोर-वंश ने महमूद के दुर्बल उत्तराधिकारियों से गजनी को छीन लिया और उसे बरबाद कर दिया। गजनी-वंश के शासक को पंजाब में शरण लेनी पड़ी। इस वंश का अन्तिम शासक मलिक खुसरव हुआ जिससे मोहम्मद गोरी ने पंजाब को भी छीन लिया। गजनी-वंश के शासक न केवल मध्य-एशिया में ही असफल रहे बल्कि वह भारत में भी अपनी शक्ति को दृढ़ न रख सके। उनकी दुर्बलताओं का लाभ उठाकर राजपूत-राज्यों ने कुछ प्रदेशों को मुसलमानों से छीनने में सफलता पायी और उनके अन्तिम शासक मलिक खुसरव की मृत्यु मोहम्मद गोरी की कैद में 1192 ई. में हुई।

[ 2 ]

## शिहाबुद्दीन उर्फ मुईजुद्दीन मोहम्मद गोरी

महमूद गजनवी ने भारत को आर्थिक और सैनिक दृष्टि से दुर्बल बनाया तथा उसकी उत्तर-पश्चिम सीमा पर मुस्लिम शासन को स्थापित किया। परन्तु उसने भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना नहीं की। इस कार्य की पूर्ति गोर-वंश के शासक मोहम्मद गोरी ने की। गोरी का पहाड़ी क्षेत्र गजनी और हिरात के बीच में स्थित था। कुछ इतिहासकारों ने गोर-वंश को अफगान बताया है परन्तु अब इसे स्वीकार नहीं किया जाता। यह तुर्कों का शंसबानी-वंश था जो पूर्वी ईरान से आकर गोर-प्रदेश में बस गया था। महमूद गजनवी की मृत्यु के पश्चात् मध्य-एशिया की बदलती हुई परिस्थितियों ने गोर-वंश के उत्थान में सहयोग दिया। 11वीं सदी में सल्जूक-तुर्कों का प्रभाव मध्य-एशिया में बढ़ा। महमूद गजनवी की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने ऑक्सस नदी को पार करके गजनी-वंश से मर्व और निशापुर को छीन लिया। मध्य-एशिया के छोटे-छोटे राज्य उसके सामने बिखरते चले गये और उन्होंने बहुत शीघ्र ही सम्पूर्ण खुरासान और उत्तरी ईरान पर अधिकार कर लिया। 1054 ई. में उन्होंने बगदाद पर आक्रमण किया और मरणासन्न खिलाफत को पुनर्जीवित किया। सल्जूक तुर्कों ने अफगानिस्तान से लेकर मेडीटरेनियन समुद्र तक एक शक्तिशाली इस्लामी सत्ता को स्थापित करने में सफलता पायी जिसके कारण इस्लाम पहले बाईजन्टाइन साम्राज्य और बाद में ईसाई धर्म युद्धों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने में समर्थ हो सका। मध्य-एशिया के इतिहास में यह उनका महत्वपूर्ण योगदान था। परन्तु उन्होंने गजनवी-वंश के पतन में भी महत्वपूर्ण भाग लिया। गोर-वंश महमूद गजनवी की अधीनता में था परन्तु जब सल्जूक तुर्कों ने गजनवी-वंश की शक्ति को नष्ट कर दिया तब उन्होंने अपनी शक्ति का विस्तार करना आरम्भ किया।

उसी अवसर पर जबकि गोर-वंश अपने उत्थान का प्रयत्न कर रहा था, गजनवी-वंश के अधीन एक अन्य वंश ने भी अपनी शक्ति के विस्तार का प्रयत्न किया। वह वंश ख्वारिज्म-वंश था। ख्वारिज्म (आधुनिक खीवा) पश्चिम में कैस्पियन समुद्र और पूर्व में बुखारा तथा ऑक्सस नदी के बीच में स्थित था। यह पहले गजनी के अधीन था परन्तु बाद में सल्जूक तुर्कों के अधीन हो गया। 11वीं सदी के अन्तिम भाग में सल्जूक सुल्तान मलिक शाह ने अपने सेवक अनुश्तगीन को ख्वारिज्म का सूबेदार बनाया। इसी अनुश्तगीन अथवा उसके लड़के अत्सिज ने उस ख्वारिज्म-वंश

की नींव डाली जिसने प्रायः एक सदी तक मध्य-एशिया के इतिहास में महत्वपूर्ण भाग लिया।

इस प्रकार सल्जूक तुर्कों ने गजनी-साम्राज्य को खण्डित करके गोरी-वंश और ख्वारिज्म-वंश को पनपने का अवसर दिया। परन्तु 12वीं सदी में सल्जूक-तुर्कों की शक्ति पर करा-खिता जाति ने जो पूर्वी मंगोलों की एक जाति थी, गम्भीर आक्रमण किया। पूर्व की ओर से तातारों के दबाव के कारण खिता-जाति ने पश्चिम की ओर बढ़ना आरम्भ किया और उनके नेता गोरखाँ ने 1141 ई. में सुल्तान सन्जर को बुरी तरह परास्त करके सल्जूक-तुर्कों की शक्ति को महान् क्षति पहुँचाई। इससे ख्वारिज्म-वंश को सल्जूक-तुर्कों के भू-प्रदेशों पर और गोर-वंश को गजनवी-वंश के भू-प्रदेशों पर अधिकार करने का अवसर मिला। इससे ईरान के सल्जूक-तुर्क-राज्य के स्थान पर ख्वारिज्म-राज्य की और गजनी के गजनवी-राज्य के स्थान पर गोर-राज्य की स्थापना हुई। गोर-वंश ने गजनी को जीतने के पश्चात् भारत में मुस्लिम राज्य की नींव डाली और खिताई-तुर्कों के चीन वापस चले जाने के पश्चात् ख्वारिज्म-वंश ने अन्त में खुरासान और गजनी को भी गोर-वंश से छीनकर (अलाउद्दीन ख्वारिज्म शाह के समय में : 1199-1220 ई.) ईरान से लेकर अफगानिस्तान तक फैले हुए एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की।

मध्य-एशिया की उक्त परिस्थितियों में गोर-वंश का उत्थान हुआ। दस हजार फीट से भी अधिक ऊँचाई पर स्थित यह गोर-प्रदेश मुख्यतया कृषि प्रधान था परन्तु यहाँ के निवासियों की ख्याति अच्छे घोड़े पालने और अच्छे शस्त्र तैयार करने के कारण थी। इस प्रकार मध्य-युग के युद्धों की दो प्रमुख आवश्यकताएँ घोड़ा और इस्पात (लोहा)—गोर में उपलब्ध ही न थीं बल्कि वह उनके लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। इस्लाम को स्वीकार करने से पहले यहाँ के निवासी बौद्ध थे। उमय्यद और अब्बासी खलीफाओं के समय से गोर को विजय करने के प्रयत्न किये गये थे परन्तु गोर की भौगोलिक परिस्थितियाँ उसे पूर्णतः नष्ट हो जाने से बचाती रहीं। महमूद गजनवी पहला सुल्तान था जिसने गोर को पूर्णतया विजय किया और उसे इस्लाम धर्म में परिवर्तित किया। इससे पहले वहाँ के निवासी महायान-बौद्ध-मतावलम्बी थे। महमूद ने शंसबानी-वंश के शासक को ही गोर का शासक बनाये रखने की नीति अपनायी। गजनी के महमूद के परवर्ती शासक भी इसी नीति का पालन करते रहे और गोर के शंसबानी-शासकों से अपने स्वामित्व को स्वीकार कराने मात्र से सन्तुष्ट रहे। बाद में जब गजनी का राज्य दुर्बल हो गया और सल्जूक-तुर्कों का प्रभाव बढ़ा तब गोर-शासकों ने सल्जूक-तुर्कों के स्वामित्व को स्वीकार कर लिया। परन्तु 12वीं सदी के आरम्भ से गोर-शासक महत्वाकांक्षी होने लगे और वे गजनी-वंश के शासकों से प्रतिस्पर्धा करने लगे। गोर के शासक इजउद्दीन हुसैन (1110-1146 ई.) की मृत्यु के पश्चात् इस प्रतिस्पर्धा ने गोर और गजनवी-वंश के शाही परिवारों के संघर्ष का रूप ग्रहण कर लिया। इजउद्दीन के पुत्र सैफुद्दीन सूरी ने अपने भाइयों (ये सात भाई थे) में गोर की सीमाओं को बाँट दिया। उन्हीं में से एक कुतुबुद्दीन हसन इस बँटवारे से असन्तुष्ट होकर गजनी के शासक बहरामशाह के यहाँ चला गया। कुतुबुद्दीन के चरित्र पर सन्देह करके बहरामशाह ने उसे कैद में डाल दिया और बाद में जहर देकर मरवा दिया। अपने भाई के कत्ल का बदला लेने के लिए सैफुद्दीन सूरी ने गजनी पर आक्रमण किया और उसे जीतकर बहरामशाह को वहाँ से निकाल दिया। कुछ समय

पश्चात् जनता का समर्थन प्राप्त करके बहरामशाह अचानक गजनी में जा धमका। उसने गजनी को जीत लिया, सैफुद्दीन को उसका मुँह काला करके एक गधे पर बैठाकर घुमाया और बाद में उसे मार दिया। अपने भाई की मृत्यु का बदला लेने के लिए बहाबुद्दीन गजनी की ओर चला परन्तु मार्ग में उसकी मृत्यु हो गयी। अब सबसे छोटे भाई अलाउद्दीन हुसैन ने गजनी पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। बहरामशाह भागकर भारत चला गया। अलाउद्दीन ने महमूद गजनवी की कब्र के अतिरिक्त गजनवी-वंश के सभी शासकों की कब्रें खुदवाकर उनकी हड्डियों को हवा में फैला दिया, गजनी में भीषण कत्लेआम किया और अन्त में नगर को जलाकर राख कर दिया जिसके कारण वह 'जहाँ-सोज' (World-burner) के नाम से विख्यात हुआ। अलाउद्दीन ने सल्जूक-तुर्कों के आधिपत्य से भी मुक्त होने का प्रयत्न किया यद्यपि वह सफल न हुआ। परन्तु सल्जूक-तुर्कों की गिज-तुर्कों द्वारा पराजय हो जाने के पश्चात् उसे राज्य-विस्तार का अवसर मिला। अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सैफुद्दीन गद्दी पर बैठा परन्तु बहुत शीघ्र उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् उसका चचेरा भाई गियासुद्दीन (1163-1202 ई.) शासक बना। अपनी महत्वाकांक्षा के कारण उसने पश्चिम की ओर बढ़ने का प्रयत्न किया। परन्तु ख्वारिज्म-वंश के शासक ने उसको पराजित किया और उसे उधर बढ़ने से रोक दिया। गियासुद्दीन ने अपने भाई शिहाबुद्दीन को गजनी जीतने के लिए भेजा। उस समय गजनी गिज-तुर्कों के हाथ में था। 1173-74 ई. में शिहाबुद्दीन ने उसे जीत लिया। गियासुद्दीन ने गजनी का राज्य शिहाबुद्दीन को ही सौंप दिया। यही वह शिहाबुद्दीन उर्फ मुईजुद्दीन मोहम्मद गोरी था जिसने 12वीं सदी में भारत पर आक्रमण आरम्भ किये। मोहम्मद गोरी ने भारत में एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया परन्तु उसने सर्वदा अपने बड़े भाई गियासुद्दीन का सम्मान किया और एक स्वतन्त्र शासक की हैसियत रखते हुए भी अपने को उसके अधीन माना।

### मोहम्मद गोरी के आक्रमण के कारण

गजनी का शासक बनने के पश्चात् मोहम्मद गोरी ने भारत-विजय की योजना बनायी। भारत पर उसके आक्रमणों के निम्नलिखित उद्देश्य थे :

1. मोहम्मद गोरी महत्वाकांक्षी था। भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करना उसका प्रमुख लक्ष्य था। उस युग के सभी शासक शक्ति और सम्मान की लालसा से राज्य-विस्तार करना चाहते थे। वही उनको श्रेष्ठता और महानता प्रदान करता था। गोरी का भी एक लक्ष्य वह था।

2. गजनवी और गोर-वंश में वंशानुगत शत्रुता चली आ रही थी। उस समय तक पंजाब में गजनवी-वंश का राज्य था। पंजाब के उस राज्य को अपनी अधीनता में लेना उसका एक अन्य लक्ष्य था। गजनी को जीतकर गोरी पंजाब पर अपना स्वाभाविक अधिकार मानता था। पंजाब को जीतने से उसके वंश का एक शत्रु नष्ट होता था और पूर्व की ओर से उसके राज्य की सुरक्षा सम्भव होती थी। इस कारण पंजाब को जीतकर गजनवी-वंश को नष्ट करने से गोरी को व्यक्तिगत मानसिक सन्तोष और राजनीतिक लाभ था।

3. पश्चिम की ओर गोर-वंश के राज्य के विस्तार को ख्वारिज्म-शासकों ने रोक दिया था। इसके अतिरिक्त उस तरफ राज्य-विस्तार का मुख्य उत्तरदायित्व

उसके बड़े भाई गियासुद्दीन का था। इस कारण यदि मोहम्मद गोरी को अपनी राज्य-विस्तार की अभिलाषा की पूर्ति करनी थी तो वह पूर्व की ओर भारत में ही सम्भव हो सकती थी।

4. गोरी को धर्म-विस्तार और धन की लालसा भी रही होगी। उस युग की परिस्थितियों में यह स्वाभाविक था। परन्तु यह कारण मोहम्मद गोरी के भारत-आक्रमण के लिए मुख्य नहीं थे।

**गोरी के आक्रमणों के समय भारत की स्थिति**

1027 ई. में महमूद गजनवी ने भारत पर अन्तिम आक्रमण किया था और मोहम्मद गोरी ने अपना प्रथम आक्रमण 1175 ई. में किया। इस प्रकार इन दो महत्वपूर्ण आक्रमणकारियों के समय में प्रायः 148 वर्ष का अन्तर हो गया था। परन्तु तब भी भारतीयों ने महमूद के आक्रमणों से कुछ भी सीखने का प्रयत्न नहीं किया था। इस कारण विभिन्न राज-वंशों में परिवर्तन हो जाने के अतिरिक्त भारत में अन्य कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। राजनीतिक दृष्टि से भारत अब भी विभक्त था। निस्सन्देह कुछ राजपूत-वंश बहुत सम्मानित और शक्तिशाली थे परन्तु उनमें राज्य-विस्तार की प्रतिस्पर्धा और वंशानुगत झगड़ों के कारण युद्ध होते रहते थे जिसके कारण न तो वे अपनी शक्ति का सदुपयोग अपने और अपने राज्य के हित के लिए कर सके और न वे एक होकर विदेशी शत्रु का मुकाबला कर सके। उस समय भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर सिन्ध, मुल्तान और पंजाब के मुसलमानी राज्य थे। सिन्ध में सुम्र जाति के शिया शासक राज्य करते थे, मुल्तान में करमाथी जाति के शिया शासक थे और पंजाब में गजनवी-वंश के शासकों का राज्य था। सिन्ध और मुल्तान के राज्य छोटे थे और पंजाब में गजनवी-वंश के शासकों का राज्य था। सिन्ध और मुल्तान के राज्य छोटे थे और पंजाब का गजनवी-राज्य दुर्बल था। गिज-तुर्कों से पराजित होकर गजनवी-वंश का अन्तिम शासक खुसरवशाह गजनी को छोड़कर भारत भाग आया था और उसने लाहौर को अपनी राजधानी बना लिया था। गजनवी-वंश के शासकों में अब सम्मान और शक्ति नहीं रह गयी थी। वे पड़ोस के राजपूत-राज्यों पर छुट-पुट आक्रमण करते थे परन्तु राज्य-विस्तार में असमर्थ थे बल्कि इसके विपरीत चौहान-राजपूतों ने उनसे कुछ स्थानों को छीनने में सफलता पायी थी। भारत के अन्य सभी भागों में राजपूत शासक थे। गुजरात और काठियावाड़ में चालुक्य-वंश का राज्य था जिनकी राजधानी अन्हिलवाड़ (पाटन) थी। जयसिंह सिद्धराज (1102-1143 ई.) के समय में गुजरात का राज्य शक्तिशाली बन गया था और उसने मालवा तथा चित्तौड़ के शासकों को पराजित किया था। बाद में अजमेर के चौहानों से संघर्ष करने के कारण उस वंश की शक्ति और गौरव कम हो गया। उस अवसर पर वहाँ का शासक मूलराज द्वितीय था। दिल्ली और अजमेर का शासक चौहानवंशी पृथ्वीराज तृतीय उर्फ 'रायपिथौरा' था। उत्तरी भारत के राजपूत-शासकों में वह सर्वाधिक साहसी और महत्वाकांक्षी था। उसके पिता पृथ्वीराज द्वितीय ने अपने राज्य को काफी शक्तिशाली बनाया था। 'रायपिथौरा' ने उसमें और अधिक वृद्धि करने का प्रयत्न किया। परन्तु अपनी महत्वाकांक्षाओं के कारण उसे पड़ोसी राजपूत-राजाओं से संघर्ष करना पड़ा और प्रायः सभी से उसकी शत्रुता हो गयी। गुजरात के चालुक्य-वंश को उसने पराजित और अपमानित किया, बुन्देलखण्ड के चन्देल शासक परमर्दिदेव

(राजा परमालदेव) को परास्त करके उससे महोबा छीन लिया और कन्नौज के गहड़वार शासक जयचन्द की पुत्री संयोक्ता से बलपूर्वक विवाह करके उससे घोर शत्रुता मोल ले ली। पृथ्वीराज तृतीय अपने युग का एक महान् साहसी योद्धा और सफल सेनानायक था, परन्तु उसमें दूरदर्शिता और राजनीतिज्ञता का अभाव था। इस कारण अपने मुसलमान शत्रु के विरुद्ध वह अपने किसी भी पड़ोसी-राज्य से सहायता प्राप्त नहीं कर सका। कन्नौज के गहड़वार-वंश का राज्य उत्तरी-भारत में सबसे अधिक विस्तृत था। गोविन्दचन्द्र और विजयचन्द्र के समय में उसकी शक्ति में बहुत वृद्धि हुई थी। गोरी के आक्रमण के अवसर पर वहाँ का शासक जयचन्द था। बुन्देलखण्ड में चन्देल-वंश और कलचुरी में चेदि-वंश का राज्य था। बंगाल में पाल और सेन-वंश के राज्य थे। शक्तिशाली पाल शासकों का पतन हो चुका था और उस समय उनके अधिकार में सिर्फ उत्तरी बंगाल का कुछ भाग था। उनके राज्य के अधिकांश भाग पर सेन-वंश ने अधिकार कर लिया था जिसमें बिहार और बंगाल का अधिकांश प्रदेश सम्मिलित था। उस समय दक्षिणी भारत उत्तरी भारत की राजनीति से सर्वथा उदासीन था।

सामाजिक दृष्टि से भारत की स्थिति में केवल एक नवीनता थी। भारत के अन्दर के भागों में मुसलमान शान्तिपूर्ण तरीके से प्रवेश कर गये थे और विभिन्न स्थानों पर बस गये थे। मुसलमानों की वह छोटी-छोटी बस्तियाँ भारत में छोटे-छोटे जलस्रोतों के समान थीं जिनमें से कई भारत में तुर्की राज्य की स्थापना से पहले ही इस्लाम धर्म की शिक्षा के केन्द्र बन चुकी थीं। बदायूँ ऐसा ही एक स्थान था। इसके अतिरिक्त भारत की सामाजिक स्थिति प्रायः वही थी जो महमूद गजनवी के आक्रमणों के समय में थी। धार्मिक, नैतिक, शिक्षात्मक और सैनिक दृष्टि से भारत की स्थिति में इन 148 वर्षों में कोई परिवर्तन नहीं आया था। हिन्दुओं ने अपनी शक्ति और उन्नति के मूल स्रोतों को सुखा डाला था और महमूद गजनवी के आक्रमण भी उनमें चेतना लाने में असमर्थ रहे थे।

**मोहम्मद गोरी के आक्रमण और भारत-विजय**

1175 ई. में गोरी ने सर्वप्रथम मुल्तान पर आक्रमण किया। उस समय तक खैबर और बोलन के दर्रे न तो सुरक्षित समझे जाते थे और न उनसे व्यापारिक अथवा सैनिक अभियान का लाभ उठाया जाता था। सबसे प्रचलित मार्ग गोमल के दर्रे से होकर डेरा इस्माइल खाँ होते हुए उत्तरी सिन्ध में पहुँचने का था। गोरी से पहले के आक्रमण इसी मार्ग से हुए थे। गोरी ने भी इसी मार्ग को चुना और मुल्तान पर आक्रमण किया। उसने उसे सरलता से जीत लिया। उसके पश्चात् उसने उच्च और निचले सिन्ध को जीत लिया। 1178 ई. में गोरी ने गुजरात पर आक्रमण किया परन्तु मूलराज द्वितीय ने अपनी योग्य और साहसी विधवा माँ नायिकादेवी के नेतृत्व में आबू पहाड़ के निकट गोरी का मुकाबला किया और उसे परास्त कर दिया। यह भारत में गोरी की पहली पराजय थी। इसके पश्चात् गोरी ने अपने आक्रमण का मार्ग बदल दिया। अब उसने पंजाब की तरफ से बढ़ना आरम्भ किया। पंजाब में गजनवी-वंश के निकम्मे शासक मलिक खुसरव ने उसका विरोध किया, परन्तु परास्त हो गया। 1179 ई. में गोरी ने पेशावर को जीत लिया। दो वर्ष बाद उसने लाहौर पर आक्रमण किया और खुसरव ने बहुत बहुमूल्य भेंट तथा अपने एक पुत्र को

बन्धक के रूप में देकर अपनी रक्षा की। 1185 ई. में गोरी ने स्यालकोट को जीता और वापस चला गया। खुसरव ने पहाड़ी खोक्खर जाति की सहायता लेकर स्यालकोट जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। 1186 ई. में गोरी ने पुनः लाहौर पर आक्रमण किया। उसने छल से खुसरव को मिलने के लिए बुलाया और विश्वासघात करके उसे कैद कर लिया। उसके पश्चात् सम्पूर्ण पंजाब पर गोरी का अधिकार हो गया और गजनी का राजवंश समाप्त हो गया। 1192 ई. में गजनवी-वंश के अन्तिम शासक खुसरव को कत्ल कर दिया गया।

पंजाब को जीतने के पश्चात् मोहम्मद गोरी के राज्य की सीमाएँ दिल्ली और अजमेर के शासक पृथ्वीराज तृतीय के राज्य की सीमाओं से मिलने लगीं। 1198 ई. में गोरी ने सीमा के किले भटिण्डा पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। गोरी जब वापस जाने की तैयारी कर रहा था तब उसे पृथ्वीराज (रायपिथौरा) के आगे बढ़ने का समाचार मिला। गोरी उसका मुकाबला करने के लिए आगे बढ़ा। पृथ्वीराज एक बड़ी सेना को लेकर भटिण्डा को जीतने के लिए आगे बढ़ रहा था। 1191 ई. में भटिण्डा के निकट तराइन का प्रथम युद्ध हुआ। इस युद्ध में गोरी की पराजय हुई। 'हम्मीर-महाकाव्य' के अनुसार पृथ्वीराज ने मोहम्मद गोरी को कैद कर लिया परन्तु उदारतापूर्वक उसे छोड़ दिया। परन्तु यह कथन माननीय नहीं है। गोरी ने पृथ्वीराज के भाई गोविन्दराय को तलवार से घायल किया था और गोविन्दराय ने गोरी को भाले से घायल कर दिया था। अपनी सेना के छिन्न-भिन्न हो जाने और इस गम्भीर घाव के कारण गोरी वापस मुड़ गया और जबकि वह दुर्बलता के कारण अपने घोड़े से गिरने वाला था तब एक नवयुवक खलजी सैनिक ने उसे सहारा दिया और उसी के घोड़े पर बैठकर उसे युद्ध-क्षेत्र से बाहर एक सुरक्षित स्थान पर ले गया। भारत में मोहम्मद गोरी की यह दूसरी गम्भीर पराजय थी। उसके पश्चात् पृथ्वीराज ने भटिण्डा के किले पर आक्रमण किया परन्तु मलिक जियाउद्दीन ने उसकी इतनी अच्छी प्रकार रक्षा की कि पृथ्वीराज उसे 13 माह के पश्चात् जीत सका। मोहम्मद गोरी तराइन के प्रथम युद्ध की पराजय को न भुला सका। वह अपने को अपमानित अनुभव करता था और पृथ्वीराज को परास्त किये बिना वह भारत में आगे बढ़ भी नहीं सकता था। एक वर्ष तक गोरी ने युद्ध की तैयारियाँ कीं और एक लाख बीस हजार की चुनी हुई घुड़सवार-सेना को लेकर गजनी से चला। लाहौर पहुँचकर उसने पृथ्वीराज के पास सन्देश भेजा कि वह इस्लाम और उसके आधिपत्य को स्वीकार कर ले। पृथ्वीराज ने उसे भारत से वापस चले जाने के लिए कहा। गोरी ने भटिण्डा को जीतकर तराइन के मैदान में प्रवेश किया। पृथ्वीराज भी अपनी सेना लेकर वहाँ पहुँच गया। बहुत-से हिन्दू राजा और अधीनस्थ सामन्त पृथ्वीराज की सहायता के लिए आये थे। फरिश्ता ने लिखा है कि उसकी सेना में पाँच लाख घुड़सवार और तीन हजार हाथी थे। पृथ्वीराज की सेना की यह संख्या तो बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बतायी गयी है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह एक बड़ी सेना को लेकर युद्ध के लिए गया था। **1192 ई. में तराइन का द्वितीय युद्ध हुआ जिसमें गोरी की सजगता और श्रेष्ठ युद्धप्रणाली के कारण मुसलमानों की जीत हुई।** । गोविन्दराय उस युद्ध में मारा गया। पृथ्वीराज ने हताश होकर घोड़े पर बैठकर भागने का प्रयत्न किया परन्तु वह सरस्वती के निकट पकड़ा गया और कैद कर लिया गया। पृथ्वीराज की मृत्यु के बारे में विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं परन्तु उनमें से हसन निजामी का मत ही स्वीकार

किया जाता है कि पृथ्वीराज गोरी के साथ अजमेर गया था और उसने गोरी की अधीनता स्वीकार कर ली थी। एक तत्कालीन संस्कृत में लिखे गये ग्रन्थ क्रिसल-विधि-विद्धवमसा मे भी यह दिया गया है कि पृथ्वीराज ने मोहम्मद गोरी की अधीनता स्वीकार कर ली थी। पृथ्वीराज के कुछ सिक्कों के पीछे के भाग में 'श्री मोहम्मद साम' का लिखा होना भी यही सिद्ध करता है। परन्तु जब उसने विद्रोह करने का षड्यन्त्र किया तब बाद में मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। तराइन का दूसरा युद्ध भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण था। स्मिथ ने लिखा है कि "1192 ई. के तराइन के युद्ध को निर्णयात्मक कहा जा सकता है क्योंकि इससे भारत में मुस्लिम आक्रमण की अन्तिम विजय सुनिश्चित हो गयी।" डॉ. डी. सी. गांगुली ने लिखा है कि "तराइन के द्वितीय युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय ने न केवल चौहानों की साम्राज्यवादी शक्ति को ही नष्ट किया बल्कि वह सम्पूर्ण भारत के विनाश का कारण बनी।"[1] इस पराजय ने राजाओं और प्रजा के मनोबल को तोड़ दिया और सम्पूर्ण भारत में भय की भावना व्याप्त हो गयी। उससे मोहम्मद गोरी की भारत-विजय सरल हो गयी। गोरी ने हाँसी, कुहराम आदि सैनिक महत्व के स्थानों को जीत लिया। चौहानों की राजधानी अजमेर को भी जीत लिया गया और पृथ्वीराज को मृत्यु-दण्ड देने के पश्चात् उसके एक पुत्र को अजमेर का शासन सौंप दिया गया। उसके पश्चात् दिल्ली को भी जीत लिया गया। अपने विजित प्रदेशों को कुतुबुद्दीन ऐबक की देख-रेख में सौंपकर गोरी भारत से वापस चला गया। दिल्ली को भी गोविन्दराय के पुत्र की अधीनता में दे दिया गया और ऐबक ने उसके निकट इन्द्रप्रस्थ को अपना केन्द्र-स्थान बनाया। गोरी ने भी विजित प्रदेश में हिन्दू मन्दिरों को नष्ट किया और उनके स्थान पर मस्जिदें खड़ी कीं परन्तु गोरी ने एक दूरदर्शिता की बात की थी। उसने आरम्भ में अपने विजित प्रदेशों में हिन्दू राजाओं को ही शासक नियुक्त किया था जिससे वह हिन्दुओं की भावनाओं को सन्तुष्ट करके मुस्लिम विजय को संगठित कर सका। इस नीति के अनुसार उसने आरम्भ में अजमेर में पृथ्वीराज के पुत्र और दिल्ली में गोविन्दराय के पुत्र को अपनी अधीनता में शासक नियुक्त किया था। बाद में विद्रोहों के कारण ऐबक ने इन स्थानों को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में ले लिया और चौहान-वंश का राज्य सर्वदा के लिए नष्ट हो गया।

गोरी के वापस लौट जाने के पश्चात् पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने अजमेर को अपने अधिकार में लेने का प्रयत्न किया। परन्तु ऐबक ने उसके प्रयत्न को विफल कर दिया। उसके पश्चात् ऐबक ने बुलन्दशहर, मेरठ और दिल्ली को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में ले लिया। 1193 ई. से दिल्ली भारत में गोरी के राज्य की राजधानी बन गयी। अजमेर में हरिराज ने एक बार पुनः विद्रोह किया और पृथ्वीराज के पुत्र को अजमेर से बाहर निकाल कर रणथम्भौर को घेर लिया। ऐसे प्रमाण प्राप्त हुए हैं कि पृथ्वीराज के पश्चात् हरिराज ने चौहानों का नेतृत्व किया था और पृथ्वीराज के पुत्र (जो अभी अल्पायु था) के स्थान पर वह स्वयं चौहानों का राजा बना था। परन्तु ऐबक ने अजमेर के विद्रोह को दबा दिया और रणथम्भौर को जीता। उसके पश्चात् उसने कोल (अलीगढ़) को विजय किया।

---

1 "The defeat of Prithviraja in the second battle of Tarain not only destroyed the imperial power of the Chauhanas, but also brought disaster on the whole of Hindustan." —Dr D. C. Ganguly.

1194 ई. में मोहम्मद गोरी कन्नौज के शासक जयचन्द पर आक्रमण करने के लिए भारत आया। उत्तरी भारत में कन्नौज का राज्य बहुत शक्तिशाली माना जाता था। उसके राजा जयचन्द की पृथ्वीराज से शत्रुता थी। इस कारण उसने गोरी के विरुद्ध पृथ्वीराज को कोई सहायता नहीं दी थी। इस अवसर पर उसे भी गोरी से अकेले युद्ध करना पड़ा। कन्नौज और इटावा के बीच चन्दवार नामक स्थान पर गोरी से उसका युद्ध हुआ। जयचन्द युद्ध में मारा गया और राजपूतों की पराजय हुई। गोरी ने आगे बढ़कर बनारस को लूटा और जयचन्द के राज्य के प्राय: सभी प्रमुख स्थानों पर अधिकार कर लिया। गोरी उस समय कन्नौज पर अधिकार न कर सका। उसे बाद में मुस्लिम राज्य में सम्मिलित किया गया। परन्तु तब भी गोरी को इस विजय से काफी बड़ा भू-क्षेत्र प्राप्त हुआ। अब उत्तरी भारत में उसका मुकाबला करने के लिए अन्य कोई शक्तिशाली राजा बाकी न रहा और मुसलमानों के लिए बिहार तथा बंगाल की विजय का मार्ग खुल गया।

जयचन्द को पराजित करने के पश्चात् मोहम्मद गोरी भारत से वापस चला गया और विजित प्रदेशों को संगठित करने का उत्तरदायित्व ऐबक पर छोड़ गया। गोरी के चले जाने के पश्चात् विभिन्न स्थानों पर विद्रोह हुए क्योंकि राजपूत उस समय तक तुर्कों की अधीनता को स्वीकार करने के लिए तत्पर न थे। वे सभी विद्रोह दबा दिये गये। कोल (अलीगढ़) के निकट हुए विद्रोह को स्वयं ऐबक ने दबाया। अजमेर में तीसरी बार विद्रोह हुआ। हरिराज ने अजमेर से पृथ्वीराज के पुत्र को बाहर निकाल दिया और एक बार फिर चौहानों की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न किया। परन्तु ऐबक के विरुद्ध उसे सफलता न मिली और उसने स्वयं को आग में जलाकर आत्महत्या कर ली। ऐबक ने 1194 ई. में अजमेर को जीत लिया। इस बार अजमेर को एक तुर्की अमीर के आधिपत्य में दे दिया गया और पृथ्वीराज के पुत्र को रणथम्भौर का किला दिया गया। इस प्रकार (1194 ई.) अजमेर पर मुसलमानों का प्रत्यक्ष आधिपत्य हो गया। उस अवसर पर ऐबक ने हिन्दू और जैन-मन्दिरों को नष्ट करके उनके अवशेषों से दिल्ली में 'कुवात-उल-इस्लाम' नामक मस्जिद बनवायी। बाद में 1196 ई. में अजमेर के संस्कृत-विश्वविद्यालय के स्थान पर 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नामक एक अन्य विख्यात मस्जिद को बनवाना आरम्भ किया गया जो 1200 ई. में पूर्ण हुई।

1195-96 ई. में गोरी पुन: भारत आया। इस बार उसने बयाना को जीता और ग्वालियर पर आक्रमण किया। ग्वालियर का किला बहुत मजबूत था। इस कारण जब राजा सुलक्षणपाल ने गोरी के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया तो गोरी ने उससे सन्धि कर ली और वापस चला गया। परन्तु जाने से पहले वह बयाना के सूबेदार तुगरिल को ग्वालियर को जीतने के आदेश दे गया। बाद में 12 वर्ष के युद्ध के पश्चात् तुगरिल ने उसे जीता।

इस बार वापस जाकर मोहम्मद गोरी को कई वर्ष तक भारत आने का अवसर न मिल सका और बाकी भू-प्रदेशों को जीतने और वहाँ हुए विद्रोहों को दबाने का उत्तरदायित्व उसके तुर्की अमीरों पर पड़ा। राजस्थान में एक बार फिर विद्रोह हुआ और मेद तथा चौहान-राजपूतों ने गुजरात के चालुक्यों की सहायता लेकर तुर्कों को राजस्थान से निकालने का प्रयत्न किया। ऐबक उसे दबाने के लिए गया परन्तु

राजपूतों की शक्ति इतनी अधिक हो गयी थी कि उसे बाध्य होकर अजमेर के किले में शरण लेनी पड़ी। परन्तु गजनी से सहायता पहुँच जाने पर उसने राजपूतों पर आक्रमण किया और विद्रोह को दबा दिया। राजस्थान के विद्रोह को समाप्त करके ऐबक ने गुजरात पर आक्रमण किया। आबू पहाड़ के निकट चालुक्य-राजपूतों ने उसका मुकाबला किया। ऐबक के सैन्य-संचालन के कारण उसकी जीत हुई। उसने आगे बढ़कर गुजरात की राजधानी अन्हिलवाड़ को लूटा (1197 ई.) जिसे भीमदेव द्वितीय छोड़ गया था। फरिश्ता ने लिखा है कि ऐबक ने गुजरात में एक सूबेदार नियुक्त किया था। परन्तु ऐबक गुजरात को अपने प्रत्यक्ष शासन में न ले सका था, यह प्रमाणित हो चुका है। 1240 ई. तक वह चालुक्य-वंश के अधिकार में था। इस कारण स्पष्ट है कि इस बार ऐबक अन्हिलवाड़ को लूटकर ही वापस चला गया था। राजस्थान के विद्रोह को समाप्त करने और चालुक्य-राजा भीमदेव द्वितीय को परास्त करने के अतिरिक्त ऐबक ने बदायूं को जीता। बनारस तथा चन्द्रवार भी, जो उसके हाथों से निकल गये थे, पुनः जीते गये और कन्नौज को भी विजय किया गया।

ऐबक की एक महत्वपूर्ण विजय बुन्देलखण्ड की थी। मध्य-भारत में केवल यही एक ऐसा राजपूत-राज्य था जो उस समय तक पूर्ण स्वतन्त्र था। चन्देल राजा परमर्दीदेव साहसी था और उसका कालिंजर का किला बहुत दृढ़ था। 1202-1203 ई. में ऐबक ने उस पर आक्रमण किया। युद्ध के बीच में परमर्दीदेव की मृत्यु हो गयी। उसके मन्त्री अजयदेव ने युद्ध जारी रखा परन्तु अन्त में उसे किला छोड़ना पड़ा। कालिंजर को जीतने के पश्चात् ऐबक ने महोबा, खजुराहो आदि पर भी अधिकार कर लिया।

बिहार और बंगाल की विजय के बारे में गोरी अथवा ऐबक ने सोचा भी न था। कन्नौज तक फैले हुए विजित प्रदेशों को संगठित करने तक ही उनका लक्ष्य रहा था। परन्तु जिस समय ऐबक मध्य-भारत में तुर्की-शासन को संगठित कर रहा था, उसी समय गोरी के एक साधारण सरदार इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार खलजी ने पूर्व की ओर तुर्की-राज्य को फैलाया। इख्तियारुद्दीन खलजी एक साहसी, बहादुर और महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। अपने चेहरे की कुरूपता के कारण वह गजनी और दिल्ली में नौकरी तक प्राप्त नहीं कर सका था। परन्तु बाद में अपनी योग्यता के कारण वह एक विजेता सिद्ध हुआ। आरम्भ में उसे बदायूँ में एक सैनिक के रूप में नौकरी मिली। बाद में उसने अवध के सरदार हिसामुद्दीन-अबुल-बक के यहाँ नौकरी प्राप्त की। अपनी योग्यता के कारण उसे कुछ गाँवों की जागीर मिली और उसी को उसने अपनी उन्नति का साधन बना लिया। खलजी सैनिकों की एक छोटी सी सेना तैयार करके उसने उन समीपवर्ती क्षेत्रों पर आक्रमण करने प्रारम्भ किये जो बंगाल के राजा के अधीन बिहार में थे। बिहार में बार-बार आक्रमण करने पर भी उसके मार्ग में किसी ने बाधा नहीं डाली। यह बात आश्चर्यजनक रही कि बंगाल के राजा ने अपनी सीमाओं की सुरक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया। सम्भवतया, यहाँ का बहुत कुछ भाग कन्नौज-राज्य के भी अधीन रहा था और उनकी पराजय के पश्चात् इन क्षेत्रों की देखभाल करने वाला कोई न था। प्रत्येक बार की सफलता ने इख्तियारुद्दीन की लालसा, सम्पत्ति और शक्ति में वृद्धि की और वह धीरे-धीरे आक्रमण के क्षेत्र को बढ़ाता गया। 1202-1203 ई. में उसने उदन्दपुर पर आक्रमण किया और वहाँ के

बौद्ध-विहार को लूटा तथा भिक्षुओं को कत्ल कर दिया। उसके पश्चात् उसने नालन्दा और विक्रमशिला के विद्या-केन्द्रों पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार धीरे-धीरे उसने सम्पूर्ण बिहार को जीत लिया और आश्चर्य यह है कि उसे एक भी स्थान पर किसी गम्भीर विरोध का सामना नहीं करना पड़ा।

बंगाल के शासक लक्ष्मण सेन की अकर्मण्यता इख्तियारुद्दीन को स्पष्ट हो गयी थी। इस कारण उसने 1204-1205 ई. में बंगाल पर आक्रमण किया। वह इतनी तीव्र गति से आगे बढ़ा कि उसकी मुख्य सेना पीछे रह गयी और जब उसने राजधानी नदिया में प्रवेश किया तब उसके साथ केवल 18 घुड़सवार थे। सम्भवतया, राजधानी के सैनिकों और नागरिकों ने उसको घोड़ों के व्यापारी समझा और वे बिना किसी रुकावट के महल के फाटक तक पहुँच गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अचानक महल पर आक्रमण कर दिया। राजा लक्ष्मण सेन दोपहर का भोजन करने बैठा था। वह इतना भयभीत हुआ कि नंगे पैर पीछे के दरवाजे से भाग निकला। इसी बीच तुर्की-सेना नगर में प्रवेश कर गयी। राजा की अनुपस्थिति में नगर ने आत्मसमर्पण कर दिया और तुर्कों ने नदिया को बुरी तरह लूटा। लक्ष्मण सेन पूर्वी बंगाल भाग गया और वहीं कुछ समय तक शासन करता रहा। इख्तियारुद्दीन ने भी सम्पूर्ण बंगाल को जीतने का प्रयत्न नहीं किया। दक्षिण-पश्चिम बंगाल के अधिकांश भाग पर तुर्कों का अधिकार हो गया और इख्तियारुद्दीन ने लखनौती को उसकी राजधानी बनाया। अपनी बंगाल-विजय से प्रोत्साहित होकर इख्तियारुद्दीन ने तिब्बत को जीतने की योजना बनायी परन्तु वह उसके असम्मान और मृत्यु का कारण बनी। अपनी सेना को लेकर ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे-किनारे वह तिब्बत तक पहुँच गया। वहाँ उसे मुकाबले की कठिनाई का पता लगा और वह वापस लौटा। मार्ग में उसे रसद की कठिनाई हुई और पहाड़ी जाति तथा कामरूप (असम) की सेना ने उस पर आक्रमण किये। अपनी सम्पूर्ण सेना को नष्ट कराकर केवल 100 सैनिकों के साथ वह देवकोट वापस पहुँच सका। इस दुर्भाग्य ने उसकी सम्पूर्ण शक्ति को नष्ट कर दिया और जबकि वह बीमार पड़ा हुआ था, उसके एक सरदार अलीमर्दन खलजी ने उसका कत्ल कर दिया (1206 ई.)। इस प्रकार बहादुर इख्तियारुद्दीन का अन्त हुआ। परन्तु अपनी मृत्यु से पहले उसने बिहार और बंगाल के अधिकांश भाग को तुर्की-अधीनता में कर दिया था जिसकी आशा ऐबक और गोरी भी नहीं करते थे।

जिस समय गोरी के सरदार भारत में उसके राज्य का विस्तार कर रहे थे, उस समय वह स्वयं ख्वारिज्म के शासक से मृत्यु और जीवन का संघर्ष कर रहा था। गोरी-वंश का संघर्ष पश्चिम के उस ख्वारिज्म-वंश से चलता रहता था जिसने ईरान में एक शक्तिशाली राज्य स्थापित कर लिया था। 1202 ई. में गोरी के बड़े भाई गियासुद्दीन की मृत्यु हो गयी और उसके स्थान पर स्वयं गोरी सम्पूर्ण गोर-वंश के राज्य का स्वामी बना। उसने भी ख्वारिज्म के शासकों से युद्ध जारी रखा। 1205 ई. में मोहम्मद गोरी की अन्धखुद के युद्ध में भयंकर रूप से पराजय हुई। बड़ी कठिनाई से वह अपनी जान बचाकर अपनी राजधानी (अब वह गोर थी) पहुँच सका। इस पराजय से मोहम्मद गोरी के सम्मान को बहुत ठेस लगी और भारत में भी उसका प्रभाव आया। यह अफवाह फैल गयी कि गोरी युद्ध में मारा गया। भारत में विभिन्न स्थानों पर विद्रोह हो गये। पंजाब में खोक्खर-जाति ने मुल्तान के सूबेदार को परास्त करके लाहौर को जीतने का प्रयत्न किया। इस कारण 1205 ई. में गोरी एक बार

फिर भारत आया। झेलम और चिनाव नदी के बीच उसका खोक्खरों से मुकाबला हुआ। यह युद्ध बड़ा भयंकर हुआ और ऐवक के ठीक समय पर अपनी सेना को लेकर पहुँच जाने के कारण ही गोरी की विजय हो सकी। खोक्खरों को निर्दयता से कत्ल किया गया। उसके पश्चात् गोरी लाहौर पहुँचा और वहाँ व्यवस्था स्थापित करके गजनी चल दिया। मार्ग में सिन्धु नदी के तट पर दमयक स्थान पर शाम की नमाज पढ़ते हुए मोहम्मद गोरी पर कुछ व्यक्तियों ने अचानक आक्रमण करके उसे 15 मार्च, 1206 ई. को कत्ल कर दिया। कुछ इतिहासकारों के अनुसार कत्ल करने वाले खोक्खर थे और कुछ अन्य के अनुसार ये इस्माइल-सम्प्रदाय के शिया थे। सम्भवतया इस कत्ल में इन दोनों वर्गों का हाथ था।

मोहम्मद गोरी के शव को गजनी ले जाकर दफना दिया गया। गोरी के कोई पुत्र न था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भतीजा महमूद उसका उत्तराधिकारी हुआ लेकिन वास्तविकता से देखा जाय तो किरमान का सूबेदार ताजुद्दीन यिल्दिज और भारत का सूबेदार कुतुबुद्दीन ऐवक ही उसके उत्तराधिकारी थे। महमूद बहुत अधिक समय तक जीवित न रहा और उसकी मृत्यु के पश्चात् शक्तिशाली ख्वारिज्म शासक ने गोरी के मध्य-एशिया के राज्य के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया। 1215 ई. तक गजनी पर ताजुद्दीन यिल्दिज ने अपना अधिकार रखा परन्तु जब उस वर्ष उसे भी वहाँ से निकाल दिया गया तो गोरी का सम्पूर्ण मध्य-एशिया का राज्य ख्वारिज्मशाह के अधीन हो गया। परन्तु भारत में कुतुबुद्दीन ऐवक ने उसके राज्य की सुरक्षा करने में सफलता पायी और यहाँ तथाकथित गुलाम-वंश के राज्य को स्थापित किया।

### मोहम्मद गोरी का चरित्र और मूल्यांकन

मोहम्मद गोरी के चरित्र और कार्यों का मूल्यांकन करते हुए स्वत: ही उसकी तुलना महमूद गजनवी से कर ली जाती है जिससे कभी-कभी उसके दुर्बल पक्ष पर अधिक बल हो जाता है। परन्तु तब भी मोहम्मद गोरी का इतिहास में स्थान विवाद-रहित है। निस्सन्देह, मोहम्मद गोरी महमूद गजनवी के समान योग्य सेनापति न था। महमूद जन्मजात सेनापति था। भारत में उसके सभी आक्रमण सफल हुए थे और मध्य-एशिया में उसने एक शक्तिशाली और ऐश्वर्यशाली राज्य की स्थापना की थी। उसकी शक्ति और ऐश्वर्य बगदाद के खलीफा से भी बढ़ गया था। उसकी सैनिक-सफलताओं की समानता मोहम्मद गोरी की सफलताएँ नहीं कर सकतीं। गोरी ने अन्हिलवाड़ के शासक मूलराज द्वितीय से हार खायी, उसने तराइन के प्रथम युद्ध में पृथ्वीराज तृतीय से हार खायी और उसे ख्वारिज्म के शासक ने अन्धखुद के युद्ध में बुरी तरह पराजित किया। परन्तु इनमें से कोई भी पराजय मोहम्मद गोरी के साहस को न तोड़ सकी और न उसे उसके लक्ष्य से भ्रष्ट कर सकी। गोरी ने अपने अनुभवों से सबक लिया, अपनी प्रत्येक पराजय से अपनी दुर्बलताओं को परखा, उनको दूर किया और अन्त में सफलता प्राप्त की। स्थायी परिणाम की दृष्टि से गोरी महमूद गजनवी की तुलना में अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुआ। लेनपूल ने लिखा है कि "महमूद की तुलना में मोहम्मद का नाम कम विख्यात हुआ तथापि भारत में उसकी विजयें महमूद की विजयों से कहीं अधिक विस्तृत तथा स्थायी थीं।" प्रो. के. ए. निजामी ने लिखा है कि "अन्धखुद, तराइन और अन्हिलवाड़ के तीन युद्धों में पराजित इस मुख्य पात्र को जैसा प्रो. हबीब उसे पुकारते हैं, मध्य-युग के महानतम साम्राज्यों में से एक

को स्थापित करने का श्रेय है और इस दृष्टि से वह निस्सन्देह महमूद गजनवी से श्रेष्ठ है।"[1] मोहम्मद गोरी में परिस्थितियों को समझने और उनके अनुसार कार्य करने की क्षमता थी। उसने भारत की खोखली राजनीति को समझ लिया था। इस कारण उसका उद्देश्य भारत में राज्य स्थापित करने का था। निरन्तर सफलता प्राप्त करने के पश्चात् भी महमूद गजनवी ने अपना उद्देश्य भारत में धन लूटने और इस्लाम की प्रतिष्ठा को स्थापित करने से अधिक नहीं रखा जबकि गोरी ने असफलताओं के बावजूद भी अपना उद्देश्य विस्तृत रखा। गोरी के आक्रमणों में भी मन्दिरों को नष्ट किया गया और हिन्दुओं को इस्लाम में परिवर्तित किया गया परन्तु गोरी के मूल उद्देश्य ये न थे। भारत में एक राज्य की स्थापना करना उसका प्रमुख उद्देश्य रहा। इस कारण उसका उद्देश्य महमूद की तुलना में अधिक श्रेष्ठ रहा। भारत में उसने राजनीतिक दूरदर्शिता का भी परिचय दिया। उसका एक उद्देश्य यह रहा कि हिन्दू राजा मिलकर कोई संगठन न बना पायें। इस कारण उसने सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अजमेर में पृथ्वीराज के पुत्र और दिल्ली में गोविन्दराय के पुत्र को शासन सौंपने में उसका यही अभिप्राय था। मुख्य स्थानों पर अधिकार करने और विभिन्न स्थानों पर सैनिक-चौकियों को स्थापित करने के अतिरिक्त उसने अधीनस्थ हिन्दू राजाओं के शासन और स्थिति में परिवर्तन नहीं किया। मोहम्मद गोरी मानव-चरित्र का अच्छा पारखी था। योग्य व्यक्तियों की तलाश करना और उनसे कार्य लेना उसे आता था। प्रो. हबीबुल्ला ने लिखा है कि "यद्यपि वह एक राजवंश की स्थापना में असफल हुआ परन्तु उसने कुछ ऐसे व्यक्तियों को शिक्षित किया जो उसके आदर्शों के प्रति उससे भी अधिक वफादार और उसके साम्राज्य की सुरक्षा करने में उससे भी अधिक योग्य सिद्ध हुए।'[2] ऐबक, यिल्दिज और तुगरिल जैसे व्यक्ति उसकी सफलताओं के लिए उत्तरदायी थे और उनको गोरी ने ही शिक्षित किया था। मोहम्मद गोरी के लक्ष्य और चरित्र की दृढ़ता भी उसकी सफलता के लिए उत्तरदायी थी। भारत में एक ही नहीं बल्कि दो गम्भीर पराजयें भी उसे उसके लक्ष्य से न डिगा सकीं। उसी प्रकार पश्चिम की ओर से शक्तिशाली ख्वारिज्मशाह से अपनी प्रगति के मार्ग को रुका पाकर भी उसका उत्साह भंग नहीं हुआ और न उसने पूर्व की ओर अपनी प्रगति के उद्देश्य में कोई कमी की। मोहम्मद गोरी अपनी सम्पूर्ण योजना को एक सूत्र में बाँधता था, आवश्यकता के अनुसार उसमें परिवर्तन करता था, अपनी दुर्बलताओं को दूर करता था और राजनीति में अनावश्यक संकट मोल नहीं लेता था। बल्कि इसके विपरीत, वह बहुत सावधानी, तत्परता और निश्चित योजना से कार्य करता था। अन्हिलवाड़ में पराजित होकर उसने अपने आक्रमण के मार्ग को बदल दिया। तराइन के प्रथम युद्ध में पराजित होकर वह द्वितीय युद्ध की

---

1 "This hero of three stupendous defeats—Andkhud, Tarain and Anhilwara as Professor Habib calls him, has to his credit the establishment of one of the greatest empires of the Middle Ages, and in this he definitely rises above Mahmud of Ghazni."
—Prof K. A. Nizami.

2 "If the failed to found a dynasty, he yet trained up a band of men who were to prove more loyal to his ideals better fitted to maintain his empire." —Prof. A. B. M. Habibullah.

जबर्दस्त तैयारी करके भारत आया और उसने अपने युद्ध करने के तरीके में भी परिवर्तन कर दिया। सेनानायक की दृष्टि से उसकी दृष्टि अपने समस्त सैनिक अभियानों पर रहती थी। जब वह भारत में गोक्खरो के विद्रोह को दबा रहा था तब उसकी दृष्टि अपने मध्य-एशिया के अभियान पर भी थी और ऑक्सस नदी पर बन रहे किले की ओर उसका ध्यान था। इसी कारण गोरी जन्मजात सेनापति न होते हुए भी एक सफल विजेता हो सका। निस्सन्देह, मोहम्मद गोरी भारत में मुस्लिम राज्य की नींव डालने वाला था और यह उसकी एक महान् सफलता थी।

गोरी को शासन की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला और न उसने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया। वह गजनी और गोर का ही शासक रहा। भारत के राज्य को संगठित करने का उत्तरदायित्व उसके गुलाम और सूबेदार कुतुबुद्दीन ऐबक पर पड़ा। गोरी संस्कृति की प्रगति की ओर से भी उदासीन न था। उसने विद्वानों को संरक्षण दिया। फखरुद्दीन राजी तथा नजामी उरुजी उसके दरबार में रहते थे। उसने और उसके भाई गियासुद्दीन ने गोर को संस्कृति और विद्वत्ता का केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया था।

परन्तु मोहम्मद गोरी की मुख्य सफलता उसकी उत्तरी भारत की विजय थी जिसे उसके गुलाम ऐबक ने भारत के मुस्लिम राज्य में परिवर्तित कर दिया और जिसके कारण भारत के इतिहास में एक नवीन अध्याय सम्मिलित हुआ।

## [ 3 ]

## 11वीं और 12वीं सदी में मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दू-राजाओं की पराजय के कारण

भारत ने इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबला प्रायः 300 वर्षों तक अपनी उत्तर-पश्चिम की सीमा पर किया। अरबों का भारत पर आक्रमण सिन्ध और मुल्तान तक सीमित रहा और तुर्कों द्वारा काबुल, जाबुल, अफगानिस्तान तथा पंजाब की विजय इस्लाम के लिए सरल सिद्ध नहीं हुई थी। यह एक गौरव की बात थी कि जिस इस्लाम ने एशिया, अफ्रीका और यूरोप के अधिकांश भाग और उसमें निवास करने वाली विभिन्न नस्लों तथा उनकी सभ्यताओं को जीतकर अपना अंग बना लिया, उसका मुकाबला हिन्दू एक लम्बे समय तक कर सके थे। परन्तु साथ ही साथ उत्तर-पश्चिम भारत की प्राचीर के टूट जाने के पश्चात् जिस प्रकार हिन्दू-राज्यों की पराजय हुई, यह भी इतिहास की एक आश्चर्यजनक घटना है। 11वीं और 12वीं सदी में हिन्दू-राज्य, जिस प्रकार महमूद गजनवी और मोहम्मद गोरी से पराजित हुए, वह अस्वाभाविक था। निस्सन्देह, हिन्दुओं ने उसके पश्चात् भी निरन्तर संघर्ष किया और अन्त तक अपनी संस्कृति और सभ्यता की रक्षा करने में सफलता पायी, जैसा इस्लाम के अधीन किसी अन्य प्रदेश में सम्भव नहीं हुआ, परन्तु तब भी तुर्की आक्रमणों के आगे हिन्दू-राज्यों का इस प्रकार झुक जाना आश्चर्यजनक था, हिन्दू राजाओं में से अनेक के राज्य गजनवी और गोरी के राज्य की तुलना में कम न थे, हिन्दू राजाओं के सैनिकों की संख्या तुर्की आक्रमणकारियों की सेना की संख्या से कम न थी तथा उनकी शक्ति भी कम न थी जैसा गोरी की अन्हिलवाड़ तथा तराईन के युद्धों की पराजय से स्पष्ट होता है। शौर्य एवं साहस की दृष्टि से भी भारतीय दुर्बल न थे परन्तु तब भी अन्त में विजय तुर्कों की ही हुई, यह सभी इतिहासकारों की जिज्ञासा का

कारण रहा है। वे कौन से कारण थे जो तुर्कों के विरुद्ध हिन्दू राजाओं की हार के कारण बने? विभिन्न इतिहासकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से इसका उत्तर दिया है और यदि वे एकमत भी हो गये हैं तो किसी ने किसी एक कारण पर अधिक बल दिया है तो किसी ने किसी दूसरे कारण पर।

इन कारणों को जानने में कठिनाई भी है। तत्कालीन विद्वान हसन निजामी मिनहाजुस सिराज और फक्र-ए-मुदब्विर ने इन कारणों पर कोई प्रकाश नहीं डाला और मध्य-युग के किसी भी इतिहासकार ने इन कारणों को खोजने की गम्भीर चेष्टा नहीं की। इस कारण आधुनिक इतिहासकारों ने हिन्दू राजाओं की पराजय के जो विभिन्न कारण बताये हैं वह अपनी-अपनी सहज बुद्धि, अध्ययन और तर्क के आधार पर बताये हैं। इस कारण उनमें मतभेद होना स्वाभाविक है। अंग्रेज इतिहासकारों ने तुर्कों की एकता, उनका बहादुर होना, उनका ठण्डे देश का निवासी होना, उनका मांस खाना, उनमें धार्मिक जोश का होना, आदि तुर्कों की सफलता के कारण बताये हैं। एलफिन्स्टन ने लिखा है कि गोरी की सेना में ऑक्सस और सिन्धु नदी के बीच के प्रदेशों के लड़ाकू सैनिक थे और उन्हें सज्जूक-तुर्कों तथा तातारों से युद्ध करने का अभ्यास था। इस कारण हमें उनके विरुद्ध ऐसे व्यक्तियों (भारतीयों) से कोई आशा नहीं करनी चाहिए जो शान्तिप्रिय थे, छोटे राज्यों में बँटे हुए थे और जो बिना किसी लाभ या विजय की लालसा से युद्ध करते थे। इसी प्रकार के विचार लेनपूल ने प्रकट किये और विन्सेण्ट स्मिथ ने भी लिखा कि "आक्रमणकारी अच्छे योद्धा थे क्योंकि वे उत्तर के शीत-प्रधान देश से आये थे, मांसाहारी थे तथा युद्ध-कला में दक्ष थे।" परन्तु यह विचार आधुनिक समय में स्वीकार नहीं किया जाता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतीय सैनिक साहस और बहादुरी में किसी देश के सैनिकों से कम नहीं रहे। राजपूत-शौर्य और साहस की कहानियाँ तो संसार में प्रसिद्ध हैं। ठण्डा देश अथवा मांस खाना व्यक्ति को शूरवीर बनाता है, यह वैज्ञानिक आधार पर गलत सिद्ध हो चुका है, और शरीर के आकार या नस्ल के आधार पर कोई व्यक्ति साहसी और कर्मठ सैनिक होता है, यह विचार अनुभव और विज्ञान के आधार पर स्वीकार नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्त, इतिहास इस बात का साक्षी है कि 15वीं सदी में इन्हीं तुर्कों की एक शाखा ओटोमन तुर्कों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य और यूरोप के बाल्कान-प्रदेश को जीतकर, शक्तिशाली यूरोपीय शक्तियों के विरोध के होते हुए भी, प्राय: 300 वर्ष अपनी अधीनता में रखा।

सर जदुनाथ सरकार ने समानता और सामाजिक एकता, भाग्यवादिता और अल्लाह में विश्वास तथा मुसलमान सैनिकों का शराब न पीना तुर्कों की सफलता के मुख्य कारण बताये। प्रो. के. ए. निजामी ने हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था और जाति-भेद के अन्तरों को, जिनके कारण हिन्दुओं की सम्पूर्ण सैनिक-व्यवस्था दुर्बल हो गयी थी, इसका मुख्य कारण बताया। श्री रोमेशचन्द्र दत्त ने उस समय की गिरी हुई राजनीतिक और सामाजिक स्थिति को इसका मुख्य कारण बताया। सरदार के. एम. पाणिक्कर ने विदेशों से भारत का सम्पर्क न होना और समाज, धर्म, साहित्य, कला आदि की दृष्टि से भारत की पतनोन्मुख सभ्यता को इसके लिए उत्तरदायी बताया। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने आन्तरिक दुर्बलताओं को इसके लिए दोषी ठहराते हुए जाति-व्यवस्था, ब्राह्मणवाद का उत्थान और स्त्रियों की हीन स्थिति पर बल दिया। डॉ. के. एस. लाल ने राजनीतिक एकता के अभाव से उत्पन्न सामाजिक उच्छृंखलता

और विभाजन को स्पष्ट करते हुए गुप्तचर विभाग की कमी और रणनीति की दुर्बलता पर बल दिया। डॉ. ए. एल श्रीवास्तव ने राजनैतिक एकता का अभाव सामाजिक विभेद, ब्राह्मणवाद का उत्थान, नैतिक पतन और भारतीयों की तुलना में तुर्कों की रणनीति, सैनिक संगठन, साधन आदि की दृष्टि से श्रेष्ठ होना इसका कारण बताये। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वानों ने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, सैनिक और आर्थिक आदि सभी कारणों पर प्रकाश डाला है। इस आधार पर तुर्कों के विरुद्ध भारतीयों की पराजय के निम्नलिखित कारण माने जाते हैं :

1 भारत की राजनीतिक दुर्बलता उसकी पराजय का कारण थी। राजनीतिक दुर्बलता का कुप्रभाव सामाजिक, नैतिक और सैनिक स्थिति पर भी पड़ा था। राजनीतिक एकता का अभाव और सम्पूर्ण अथवा उत्तरी भारत में भी एक शक्तिशाली और विस्तृत साम्राज्य का न होना इस दुर्बलता का एक कारण था, परन्तु यह उसका मुख्य कारण नहीं था। सम्राट अशोक के पश्चात् भारत में कभी भी राजनीतिक एकता न हो सकी थी। शक्तिशाली गुप्त-सम्राट और सम्राट हर्ष भी उस दृष्टि से सम्पूर्ण भारत को राजनीतिक एकता प्रदान नहीं कर सके थे। प्राचीन और मध्य-युग की उन परिस्थितियों में भारत जैसे विशाल महाद्वीप को एक राज्य में संगठित करने के प्रयत्न सफल भी नहीं हो सकते थे बल्कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब कभी भी इस बात का प्रयत्न किया गया, वह असफल हुआ। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत की राजनीतिक एकता न तो साधारणतया सम्भव थी और न आवश्यक। निस्सन्देह, भारत उस समय विभिन्न राज्यों में बँटा हुआ था परन्तु उनमें से अनेक राज्य शक्ति, समृद्धि, विस्तार और सैनिक-बल में गजनवी और गोरी के राज्यों से कम नहीं थे। इस कारण राजनीतिक दुर्बलता का मुख्य कारण एक राज्य का अभाव नहीं बल्कि भारतीय राज्यों की निरन्तर पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और शत्रुता थी। धर्म द्वारा दिग्विजय स्वीकृत थी और राजपूत-शौर्य और अभिमान युद्धों के अनुकूल था। इस कारण ये विभिन्न राजपूत-राज्य आपस में निरन्तर युद्ध करते रहते थे। इनमें से अधिकांश का संघर्ष वंशानुगत था और बहुत-से केवल यश की भावना से युद्ध करते रहते थे। इन निरन्तर संघर्षों के कारण वे विदेशी शत्रु के सम्मुख अपने राज्य, धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए इकट्ठे न हो सके और न विदेशी आक्रमण की सफलता के प्रभाव को ठीक प्रकार समझ सके। इसके अतिरिक्त निरन्तर युद्धों में लगे रहने के कारण वह अपने सैनिक-बल को भी क्षति पहुँचाते रहते थे।

कुछ इतिहासकारों का यह कहना है कि भारत की नौकरशाही (Bureaucracy) के नैतिक पतन ने इस पराजय में भाग लिया था। परन्तु यह माननीय नहीं है। भारतीय नौकरशाही अन्य समय की भाँति न तो पूर्णतया दोषरहित थी और न पूर्णतया दोषपूर्ण ही। नौकरशाही से उत्पन्न शासन-कुव्यवस्था इस पराजय का कारण नहीं हो सकती थी और न नौकरशाही पर देश-द्रोह का अपराध लगाया जा सकता है। यदि मुसलमानों के साथ किसी ने सहयोग किया था तो वह भारतीय नौकरशाही न थी बल्कि मुख्यतया बौद्ध-मतावलम्बी और निम्न जातियाँ थीं जो हिन्दू समाज की कट्टरता और सामाजिक असमानता से असन्तुष्ट थीं।

भारतीय राज्यों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के अतिरिक्त उनकी राजनीतिक दुर्बलता का मुख्य कारण राजपूतों की जागीरदारी-प्रथा (Feudalism) थी जिसने

भारत को आर. सी. दत्त के शब्दों में, "राजनीतिक पतन की अन्तिम श्रेणी पर पहुँचा दिया था।"[1] प्रत्येक जागीरदार अपने कुल और जागीर का स्वामी था और वह उसकी रक्षा तथा उसके सम्मान में वृद्धि करना अपना प्रमुख कर्तव्य समझता था। इससे न केवल राजपूतों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन मिलता था बल्कि ऐसे जागीरदारों की सेनाओं से मिलाकर बनी हुई एक राजपूत राजा की सेना विभिन्न अलग-अलग टुकड़ों को जोड़कर बनायी गयी ऐसी सेना होती थी जिसमें एकता, एक नेतृत्व और सैन्य-संचालन का अभाव होता था। ऐसी सेना में मूल आधार पर दोष था, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जागीरदारी-व्यवस्था राज्य की आर्थिक, प्रशासनिक और सैनिक एकता के विरुद्ध थी। निस्सन्देह, विभिन्न छोटे-छोटे जागीरदारों और हिन्दू राजाओं ने मुसलमानों का विभिन्न स्थानों पर कठोर मुकाबला किया परन्तु उनकी शक्ति इकट्ठी होकर कभी भी शत्रु के विरुद्ध प्रयोग में न लायी जा सकी। जयपाल और पृथ्वीराज को जो सहयोग आक्रमणकारियों के विरुद्ध प्राप्त हुआ था, वह संगठित शक्तिशाली राजाओं का सहयोग न था बल्कि विभिन्न छोटे-छोटे राजाओं, रायों और जागीरदारों का सहयोग था जिसके कारण वे आशातीत सफलता न पा सके।

उत्तर-पश्चिम सीमान्त की सुरक्षा का ध्यान न रखना और वहाँ के निवासियों को असभ्य तथा निम्न हिन्दू मानना भी भारतीयों की एक दुर्बलता रही जिसके कारण ब्राह्मणशाही राज्य को जो सहायता भारतीय राजाओं से मिलनी चाहिए थी न मिल सकी।

2. सामाजिक दुर्बलता भारतीयों की पराजय का एक अन्य कारण थी। जाति-व्यवस्था, छुआ-छूत, ऊँच-नीच की भावना और स्त्रियों की हीन स्थिति इस दुर्बलता के मुख्य कारण थे। हर्ष के साम्राज्य के पतन के पश्चात् राजनीतिक एकता के अभाव में भारतीय समाज पतन की ओर अग्रसर हो गया था और 11वीं तथा 12वीं सदी तक बहुत दुर्बल स्थिति में पहुँच गया था। मुसलमानी आक्रमणों से पहले उसकी दुर्बलता प्रकट नहीं हुई थी परन्तु उनके आक्रमणों के आरम्भ होते ही उसकी दुर्बलता नग्न हो गयी। ब्राह्मणवाद के पुनरुत्थान ने जाति-व्यवस्था, छुआ-छूत और ऊँच-नीच की भावना को प्रोत्साहन दिया। राजपूतों ने भी इसमें सहयोग दिया क्योंकि वे ब्राह्मणों के समर्थन के कारण क्षत्री-वंशीय स्वीकार किये गये थे। ऐसी स्थिति में धर्म और शासन दोनों ने सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के स्थान पर उनका समर्थन किया। जाति-व्यवस्था की जटिलता से ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का दावा किया तथा वैश्य और शूद्र ही नहीं अपितु क्षत्रियों को भी उनके स्थान से अपदस्थ करने का प्रयत्न किया गया। अन्तर्जातीय-विवाह, खान-पान और जाति-परिवर्तन बहुत जटिल हो गये। समाज एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् विभिन्न वर्गों में बँट गया। निम्न जातियों की स्थिति बहुत गिर गयी और विभिन्न पददलित जातियों को नगरों से बाहर रहने के लिए बाध्य किया गया। हिन्दू समाज अपनी उस उदारता को भूल गया जिसके कारण उसने विभिन्न विदेशियों को अपने समाज में सम्मिलित करके उससे लाभ उठाया था। अब विदेशियों से तो क्या विभिन्न जातियों में भी पारस्परिक सहयोग सम्भव न था। छुआ-छूत इतनी अधिक बढ़ गयी कि जो व्यक्ति एक बार जाति और धर्म से अलग

---

1 "India was then in the last stage of her political decline."

—R. C. Dutt.

हो गया अथवा किसी मजदूरी के कारण विधर्मियों के सम्पर्क में आ गया उसके लिए अपने समाज और धर्म में पुनः स्थान प्राप्त करना असम्भव हो गया। स्त्रियों की स्थिति भी गिर गयी। अल्पायु-विवाह होने लगे, स्त्री-शिक्षा कम हो गयी, लड़की का जन्म दुखद माना जाने लगा, उच्च जातियों में विधवा-विवाह असम्भव हो गये और सम्भवतया झूठे दम्भ, जबर्दस्ती लादी गयी नैतिकता, पुनर्विवाह का न होना आदि के कारण सती-प्रथा आरम्भ हुई। ऐसा गतिहीन और विभाजित समाज राजनीतिक और सैनिक शक्ति के संचित करने योग्य न था। हिन्दुओं का बहुसंख्यक वर्ग देश की राजनीति और भाग्य के प्रति उदासीन हो गया था। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने लिखा है कि "विदेशियों के विरुद्ध जनता का कोई विद्रोह नहीं है और न उनकी प्रगति को रोकने के लिए सम्मिलित प्रयत्न किये जाते हैं। जबकि आक्रमणकारी उनकी लाशों के ऊपर से गुजर रहा होता है उस समय भारतीय एक अपंग शरीर की भाँति असहाय होकर उसे देखते रहते हैं।"[1] डॉ. के. ए. निजामी ने लिखा है कि जाति-व्यवस्था ने राजपूत-राज्यों की सैनिक शक्ति को दुर्बल किया क्योंकि युद्ध करना एक विशेष वर्ग का कर्तव्य समझा गया। उन्होंने लिखा है कि "भारतीयों की पराजय का मुख्य कारण उनकी सामाजिक व्यवस्था और अन्यायपूर्ण जाति-भेद थे जिन्होंने उनके सम्पूर्ण सैनिक-संगठन को अरक्षित और दुर्बल बना दिया। जाति-भेद और बन्धनों ने सामाजिक और राजनीतिक एकता की भावना को पूर्ण नष्ट कर दिया।"[2] डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि जाति-भेदों पर आधारित समाज में से शत्रुओं को गुप्त देशद्रोहियों का मिलना बहुत सरल था। यह एक ऐसा कारण था जिसमें 15 वर्षों में ही उत्तरी भारत के सभी महत्वपूर्ण नगर विजेताओं के हाथों में चले गये। युद्ध में मुसलमानों को कठिन संघर्ष करना पड़ता था परन्तु उसके पश्चात् सभी कुछ सरल हो जाता था क्योंकि नगरों और गाँवों में उनका विरोध करने वाला कोई न था। उन्होंने लिखा है कि यदि एक बार एक नगर मुसलमानों के हाथों में चला जाता था तो हिन्दुओं का उसे जीतना कठिन हो जाता था क्योंकि जाति-विभेद से पीड़ित हिन्दू-समाज के अधिकांश व्यक्ति हिन्दू-शासन की अपेक्षा जाति-विभेद से मुक्त मुस्लिम शासन को अन्य अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी पसन्द करते थे। इसके अतिरिक्त जिन हिन्दुओं को मुसलमान पकड़ लेते थे, उनका हिन्दू-समाज में सम्मिलित होना असम्भव था। इस कारण जो भी स्त्री, पुरुष और बच्चे एक बार मुसलमानों के हाथों पड़ जाते थे उनके पास मुसलमान बने रहने के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग न था।

3. धर्म में गिरावट भी इसका एक कारण था। हिन्दू धर्म ने संसार के सम्मुख एक व्यक्ति का आदर्श, नैतिक और सामाजिक जीवन प्रस्तुत किया है। वास्तव

---

1 "No public upheaval greets the foreigners, nor are any organised efforts made to stop their progress. Like a paralysed body, the Indian people helplessly look on, while the conqueror marches on their corpse." —Dr. R. C. Mazumdar.

2 "The real cause of the defeat of the Indians lay in their social system and the invidious caste distinction which rendered the whole military organization rickety and weak. Caste taboos and discriminations killed all sense of unity—social or political." —Prof. K. A. Nizami.

में हिन्दुओं के अनुसार धर्म की परिभाषा कर्तव्य है जो एक व्यक्ति को समाज और मानवता के लिए उपयोगी व्यक्ति बनाता है। इसी कारण हिन्दू धर्म एक धार्मिक ग्रन्थ, एक दर्शन, एक ईश्वर, एक संगठन, एक प्रार्थना-स्थान अथवा एक देवता की मूर्ति-पूजा पर आधारित नहीं है जो धर्म (Religion) की साधारण आवश्यकताएँ हैं। इसी कारण हिन्दू धर्म अत्यधिक उदारता पर आधारित है। हिन्दू धर्म की यह उदारता उसकी दुर्बलता और समय के अनुसार उसकी गिरावट का कारण भी बनी। संस्कृत भाषा के अध्ययन की कठिनाई और ब्राह्मणों के धार्मिक एकाधिपत्य ने जन-साधारण को धर्म से पृथक् कर दिया और उसकी उदारता ने उसे विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में विभाजित कर दिया। इससे धर्म की एकता नष्ट हो गयी, सत्य धर्म से जन-साधारण पृथक् हो गया, कर्मकाण्ड और मूर्ति-पूजा धर्म में प्रमुख बन गये, वाम-मार्ग और तान्त्रिकवाद पनप गये और धर्म में विशृंखलता आ गयी। धार्मिक एकता के अभाव में सामाजिक एकता भी सम्भव न हुई और भारत में 'भारत संकट में है' अथवा 'भारत का धर्म या समाज अथवा संस्कृति संकट में है,' यह भावना विदेशी आक्रमणकारी की विध्वंसकारी नीति के विरोध में भी उत्पन्न न हो सकी और भारतीय प्रत्येक प्रकार से विभाजित रहे। कर्मकाण्ड, तन्त्रविद्या और मूर्ति-पूजा ने हिन्दुओं को धर्म की मुख्य भावना से विमुख कर दिया जिससे उनमें मानव-जीवन और मानव-कर्तव्य के प्रति आस्था न रही और वे मानव-प्रगति में पिछड़ गये।

4. समाज और धर्म की इस स्थिति ने भारतीयों को विदेशों की प्रगति से अनभिज्ञ रखा। ऐसा नहीं था कि भारत का विदेशों से सम्पर्क न था परन्तु भारतीय विदेशों से कुछ भी सीखने को तैयार न थे। अलबरुनी का यह लिखना कि 'भारतीय अपने धर्म और संस्कृति को ही श्रेष्ठ समझते हैं', यह सिद्ध करता है कि भारतीय कितने दम्भी और उसके परिणामस्वरूप कितने एकांकी हो गये थे। इसी कारण भारतीय विदेशी राजनीति के प्रति उदासीन रहे, विदेशी सैन्य-कौशल और शस्त्र-विद्या से अपरिचित रहे, इस्लाम की मूल भावना और उसके प्रभाव से अनभिज्ञ रहे, उत्तर-पश्चिम की सीमाओं की सुरक्षा की ओर से असावधान रहे और अपने-जीवन, कौशल, योग्यता और प्रतिभा को कुण्ठित और सीमित करते चले गये।

5. भारत की नैतिकता, कला, साहित्य और सम्पूर्ण संस्कृति को भी इन परिस्थितियों ने प्रभावित किया। सरदार के. एम. पाणिक्कर ने इस स्थिति पर काफी प्रकाश डाला है और सांस्कृतिक गिरावट को भारतीयों की पराजय का एक मुख्य कारण बताया है। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने भी नैतिक गिरावट को इसका एक कारण बताया है। वाम-मार्ग का विस्तार, मन्दिरों में देवदासी-प्रथा, मठों और विहारों में अनाचार आदि इस गिरती हुई नैतिकता के प्रमाण थे। कला के क्षेत्र में कोणार्क, खजुराहो यहाँ तक कि पुरी, चित्तौड़, उदयपुर आदि के मन्दिरों में बनी हुई विभिन्न मूर्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि धर्म और समाज की गिरती हुई नैतिकता ने कला को भी प्रभावित किया था। तान्त्रिक-साहित्य, काव्य में गिरावट और अश्लील पुस्तकों की रचना साहित्य की गिरावट के प्रमाण थे। इस कारण अनेक इतिहासकार इस युग को सांस्कृतिक गिरावट का युग मानते हैं और उसे भारत की पराजय का एक कारण स्वीकार करते हैं।

6. उत्तर-पश्चिम-सीमा की सुरक्षा की ओर ध्यान न देना भी राजपूतों की

पराजय का एक कारण था। महमूद गजनवी ने भारत पर निरन्तर आक्रमण किये। उसके पश्चात् भी राजपूतों ने न तो उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा की कोई व्यवस्था की और न बाद के गजनवी-शासकों से पंजाब को छीनने का प्रयत्न किया। इस कारण मोहम्मद गोरी को पंजाब को जीतने में सरलता हो गयी और उसने उसे भारत पर अपने आक्रमणों का आधार बना लिया।

7. आर्थिक दृष्टि से भारत सम्पन्न था। वैज्ञानिक ढंग से कृषि होती थी और सिंचाई की व्यवस्था थी। विभिन्न खाद्यान्नों के उत्पादन के अतिरिक्त मगध चावल के लिए, कश्मीर अंगूर और केसर के लिए, कनारा-तट चन्दन के लिए और मलाबार-तट गर्म मसालों के लिए प्रसिद्ध था। पाण्ड्य राज्य मोतियों के लिए, गुजरात सूती और चमड़े के वस्त्रों के लिए और वारंगल सूती वस्त्र के लिए प्रसिद्ध था। मलाबार और गुजरात के बन्दरगाह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए प्रसिद्ध थे और भारत का व्यापार चीन, जावा, सुमात्रा, अरब आदि पूर्व, दक्षिण-पूर्व और पश्चिम के दूरस्थ प्रदेशों से हुआ करता था। इस सभी से भारत में धन संचित होता था। राजाओं, राजदरबारों और मन्दिर का वैभव इसका प्रमाण थे। कुछ इतिहासकारों ने आर्थिक असमानता पर बल देते हुए उसे भारतीयों की दुर्बलता का कारण बताया है। परन्तु उससे अधिक भारतीयों की दुर्बलता का कारण इस आर्थिक सम्पन्नता का सदुपयोग न करना था। उन्होंने इसका उपयोग सैनिक-शक्ति को बढ़ाने के लिए नहीं किया जिससे इसकी सुरक्षा हो पाती बल्कि उन्होंने इसे राज्य-परिवारों और मन्दिरों में संग्रह कर दिया जिसके कारण ये स्थान विदेशी आक्रमणकारियों की धन-लोलुपता का कारण बने।

इस प्रकार राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक दुर्बलता और आर्थिक सम्पन्नता का ठीक प्रयोग न करना भारतीयों की पराजय के कारण थे। इस कारण डॉ. आर. सी. मजूमदार का यह कथन काफी ठीक है कि "अपने शत्रु की तुलना में श्रेष्ठ और विस्तृत साधनों से सम्पन्न होते हुए भी एक इतने प्राचीन और विस्तृत देश का इतनी शीघ्रता और पूर्णता से धराशायी हो जाने का मुख्य कारण उसकी आन्तरिक गिरावट का परिणाम ही हो सकता है, न कि केवल विदेशी आक्रमण जो उसके परिणाम तो थे कारण नहीं।"[1]

परन्तु डॉ. यू. एन. घोषाल इन सभी उपर्युक्त कारणों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि राजनीतिक एकता के अभाव और जन-साधारण की देश के भाग्य के प्रति उदासीनता को बढ़ा-चढ़ा कर बताया गया है। राजपूतों का कठोर संघर्ष करना और उनके पतन के बाद भी भारतीयों का निरन्तर मुसलमानों से संघर्ष करते रहना ऐसे प्रमाण हैं जो इन कारणों के महत्व को कम कर देते हैं। इसी प्रकार गिरती हुई धर्म, समाज, संस्कृति और नैतिकता की स्थिति को भी बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया है। वास्तव में, तान्त्रिकवाद ने दुर्बलता के स्थान पर जन-साधारण की

---

1 "The utter and precipitate prostration of such a vast and ancient land, endowed with resources far superior and greater to those of her invaders can be the result mainly of internal decay and not merely of external attacks, which were its effect rather than the cause."
—Dr. R. C. Mazumdar.

धार्मिक भावना को सन्तुष्ट करके उनमें विदेशी शत्रु से मुकाबला करने की शक्ति का निर्माण किया। देवदासियों की प्रथा भी नवीन न थी बल्कि यह हमें प्राचीन समय से प्राप्त होती है। इसी प्रकार जटिल सामाजिक व्यवस्था ने हमारी संस्कृति की रक्षा में महत्वपूर्ण भाग लिया, इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार कला और साहित्य की दृष्टि से इस समय में प्रगति न हुई हो, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। कला और मुख्यतया स्थापत्य-कला की दृष्टि से यह युग महान् प्रगति का था। एक नहीं बल्कि राजपूत-युग के बने हुए अनेक मन्दिर, महल और किले सम्पूर्ण उत्तरी और दक्षिणी भारत में बिखरे हुए थे। उड़ीसा में मुक्तेश्वर का मन्दिर, भुवनेश्वर का लिंगराज का मन्दिर, कोणार्क का सूर्य-मन्दिर, खजुराहो के विभिन्न मन्दिर, गुजरात का सोमनाथ का मन्दिर, तंजौर का राजराजा का मन्दिर, होयसलेश्वर का मन्दिर आदि तो कुछ उदाहरण मात्र थे अन्यथा उत्तरी भारत के विभिन्न राजपूत-शासकों और दक्षिण के पल्लव, चोल और चालुक्य शासकों के संरक्षण में बने हुए महल, मन्दिर, किले और मूर्तियाँ भारतीय कला की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ मानी गयी हैं। वाम-मार्ग से प्रभावित कामसूत्र पर आधारित खजुराहो अथवा कुछ अन्य स्थानों पर बनी हुई मूर्तियाँ इस युग की कला को निम्न कोटि का सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इसके विपरीत उस समय में स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला और चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ भारत में प्रगति पर थीं। साहित्य में काव्य-शैली की गिरावट और कुछ श्रृंगार-ग्रन्थों की रचना-मात्र से साहित्यिक गिरावट को पूर्ण मान लिया जाय, ऐसी बात भी नहीं है। कल्हण की 'राजतरंगिणी' और जयदेव का 'गीत-गोविन्द' इसी समय में लिखे गये थे। हलायुध, हेमचन्द्र, रामानुज, गणेश, श्रीधर, यादवप्रकाश, विजननेश्वर, देवननभट्ट आदि विभिन्न विद्वान इसी समय में हुए जिन्होंने दर्शन, न्याय, कानून आदि पर विभिन्न ग्रन्थों की रचना की। इसी प्रकार अनैतिकता का समाज में प्रवेश न कोई नवीनता थी और न एक सम्पन्न समाज की कोई मुख्य विशेषता। इस कारण भारतीय सभ्यता और संस्कृति की गिरावट न तो पूर्ण थी और न उसे मूल रूप से भारतीयों की पराजय का कारण स्वीकार किया जा सकता है। यह कहना एक अतिशयोक्ति है कि प्रायः 500 वर्षों तक संसार से पृथक् रहने के कारण भारतीय सभ्यता गतिहीन होकर पतन की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी और वही भारतीयों की पराजय का कारण बनी। इस प्रकार डॉ. यू. एन. घोषाल राजनीतिक और सांस्कृतिक दुर्बलता को स्वीकार करते हुए भी उसे भारतीयों की पराजय के कारणों में प्रमुख स्थान नहीं देते।

डॉ. यू. एन. घोषाल के उपर्युक्त विचार अत्यन्त तर्कपूर्ण हैं। इस कारण यह माना जा सकता है कि सामन्तवाद और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा पर आधारित भारत की राजनीतिक स्थिति किसी शक्तिशाली आक्रमणकारी का मुकाबला करने की स्थिति में न थी यद्यपि वही हिन्दुओं की पराजय का एकमात्र कारण नहीं थी। इसी प्रकार भारत की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति किसी शक्तिशाली आक्रमणकारी के विरोध में एकता, उत्साह और उस राष्ट्रीय बल को प्रदान करने में तो असमर्थ थी जो भारतीयों की अन्य दुर्बलताओं को ढक देती क्योंकि यह सत्य है कि एक समाज, राज्य अथवा राष्ट्र की आत्मा और उसकी शक्ति का मूल आधार उसकी सभ्यता और जीवन की मूल मान्यताएँ होती हैं परन्तु वह स्थिति असहायता की भी न थी। इस प्रकार यह कहना भी ठीक है कि भारतीय सभ्यता में दुर्बलताएँ तो थीं परन्तु वह पूर्णतया शक्तिहीन भी न थी। भारतीय सभ्यता की दुर्बलता इस बात से स्पष्ट

होती है कि वह आक्रमणकारियों की सफलता में बाधा न डाल सकी और उसकी शक्ति इस तथ्य से प्रकट होती है कि पराजित होने के पश्चात् भी वह मुसलमानों से सदियों तक संघर्ष कर सकी और अन्त तक जीवित रही।

8. इस कारण भारतीयों की पराजय का एक अन्य मुख्य कारण था। भारत के भाग्य का निर्णय कुछ युद्धों की पराजय से हुआ। इस कारण भारतीयों की पराजय का एक मूल कारण उनकी सैनिक-दुर्बलता थी चाहे उस सैनिक दुर्बलता के मूलभूत कारण कुछ भी रहे हों। सभी इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं कि तुर्क-आक्रमणकारी सैनिक-संगठन, युद्ध-नीति, शस्त्र और योग्य नेतृत्व की दृष्टि से भारतीयों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुए। वही उनकी सफलता का मुख्य कारण बना। महमूद गजनवी किसी भी युद्ध में पराजित नहीं हुआ और मोहम्मद गोरी की अन्हिलवाड़ और तराइन के प्रथम युद्ध की पराजय एक अपवाद की भाँति रही। अन्त में, सफलता उसी के हाथों में रही। भारतीयों की सैनिक-दुर्बलता के विभिन्न कारण बताये जाते हैं। राजपूत साहस और शौर्य में तुर्कों से कम न थे और युद्ध में वीरगति प्राप्त करना वे अपना गौरव मानते थे। परन्तु उनका युद्ध करने का आदर्श और लक्ष्य तुर्कों से भिन्न था। राजपूत-राजा हिन्दू-परम्परा के अनुसार कुछ नियमों का पालन करते हुए युद्ध करते थे चाहे युद्ध में विजय हो अथवा पराजय। धोखे से आक्रमण करना, पीने योग्य जल में जहर मिलाना, कृषि को नष्ट करके शत्रु को रसद प्राप्त न होने देना, पीछे से अथवा अकस्मात् आक्रमण करना, आदि तरीकों का प्रयोग राजपूतों ने अपने मुसलमान शत्रुओं के विरुद्ध भी नहीं किया। इसके विपरीत मुसलमान-तुर्कों का लक्ष्य युद्ध में विजय प्राप्त करना था चाहे उसके साधन कुछ भी हों। इस कारण वे युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए उपर्युक्त सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग करते थे। इसी प्रकार जबकि मुसलमान सैनिक युद्ध में सावधान रहते थे, राजपूत-सैनिक युद्ध को शौर्य-प्रदर्शन का एक मंच मानते थे। प्रो. हबीबुल्ला ने लिखा है कि "राजपूत की खतरे के प्रति उदासीनता में प्रेम-आकर्षण का तत्व है परन्तु उसमें व्यावहारिक बुद्धिमत्ता की कमी है।"[1] इसी प्रकार डॉ. घोषाल ने लिखा है कि "मुख्यतया राजपूत यद्यपि बहादुरी और मृत्यु के प्रति अवहेलना की दृष्टि से अद्वितीय थे, परन्तु एक आदर्श योद्धा और सैनिक-सम्मान की ऐसी भावना से प्रेरित थे जो उन्हें युद्ध में व्यावहारिक सफलता प्राप्त करने के लिए अक्सर अयोग्य बना देती थी।"[2] तुर्कों की तुलना में राजपूतों का सैनिक-संगठन दुर्बल था। राजपूतों का सैनिक-संगठन सामन्तवादी था और सैनिक अपने-अपने सामन्त की संरक्षता में युद्ध करते थे। ऐसी सेना एक निश्चित योजना के अनुसार युद्ध करने में असमर्थ थी जबकि तुर्कों की सेना विभिन्न वर्गों और नस्लों के व्यक्तियों के सम्मिलन से बनी हुई होने पर भी एक सेनापति के संरक्षण में, एक अनुशासन में और एक योजना के अनुसार युद्ध करती थी। तुर्कों की तुलना में राजपूतों के युद्ध के साधन भी दुर्बल थे। राजपूत-सेना का एक मुख्य अंग हाथी थे जो

---

1 "Rajput recklessness has an element of romance in it but of little wisdom." —Prof. A. B. M. Habibullah.

2 "The Rajputs, in particular, although they were remarkable for their bravery and contempt of death, were inspired by a high sense of chivalry and military honour which made them often unfit for practical success in warfare." —Dr. U. N. Ghoshal.

सेना के सबसे आगे रहते थे। अनेक अवसरों पर हाथी राजा को युद्ध-स्थल से लेकर भाग जाते थे जिससे राजा को भागता हुआ जानकर सेना भी भाग जाती थी। इसके अतिरिक्त तुर्कों के तीरों से घायल होकर हाथी अक्सर पीछे भागते थे और अपनी ही सेना की व्यवस्था को नष्ट कर देते थे। राजपूत-सेना में घुड़सवारों की संख्या कभी अधिक न हो सकी यद्यपि भारत के राजा विदेशों से अच्छी नस्ल के घोड़े मँगाने पर बहुत धन व्यय करते थे। राजपूतों का मुख्य शस्त्र तलवार थी जो निकट के युद्ध में ही लाभदायक थी। इनकी तुलना में तुर्कों का मुख्य साधन घुड़सवार-सेना और उनके तीर थे। छोटे-छोटे धनुषों का प्रयोग करते हुए तुर्की घुड़सवार तीर चलाने की कला में दक्ष थे और दूर से ही शत्रु पर आक्रमण कर सकते थे। आर. सी. स्मेल ने लिखा है कि "वे घोड़ों की पीठ पर बैठे हुए और गतिशील रहते हुए धनुष का प्रयोग करते थे। यह उन्हें भारी और धीमी गति से चलने वाली राजपूत-सेनाओं के मुकाबले एक अतिरिक्त लाभ प्रदान करता था।"[1] राजपूत भी धनुष-बाण का प्रयोग करते थे परन्तु एक स्थान पर खड़े होकर, जिसके कारण उसकी तीरन्दाजी तुर्कों की तुलना में कम प्रभावशाली थी। तुर्कों की घुड़सवार-सेना उनकी श्रेष्ठता का मुख्य साधन थी। उससे उनकी सेना तीव्र गतिगामिनी थी। डॉ. के. ए. निजामी ने लिखा है कि "उस युग में गतिशीलता तुर्की सैनिक-संगठन का मूल आधार थी। वह युग 'घोड़ों का युग' था और अद्वितीय गतिशील तथा शस्त्र-सुसज्जित घुड़सवार-सेना उस युग की एक महान् आवश्यकता थी।"[2] डॉ. जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि उस युग में तुर्की घुड़सवार एशिया में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। वह लिखते हैं कि "सीमा पार के इन आक्रमणकारियों के शस्त्रों और घोड़ों ने उनको भारतीयों पर विवादरहित सैनिक-श्रेष्ठता प्रदान की। उनकी रसद भी तेज चलने वाले ऊँटों द्वारा ले जायी जाती थी जिसको स्वयं दाने-चारे की आवश्यकता न थी बल्कि जिनका खाना मार्ग में पड़ने वाली जड़ें और पत्तियाँ थीं जबकि हिन्दुओं की रसद-वाहन बंजारों की बैलगाड़ियाँ बहुत धीमी गति से चलने वाली और बोझिल होती थीं।"[3] डॉ. पी. सी. चक्रवर्ती ने लिखा है कि "भारतीय घुड़सवारों की संख्या और कुशलता की दृष्टि से विवादरहित दुर्बलता सुबुक्तगीन द्वारा भटिण्डा के जयपाल की सीमाओं पर किये जाने वाले आक्रमणों के समय से ही मौजूद थी।"[4] तुर्कों के पास किलों को तोड़ने वाली मशीनें थीं जिनको मंजनिक, अर्रादा आदि

---

1 "They used the bow from the saddle and while moving. This gave them an added advantage over the heavy and slow moving Rajput armies" —R C. Smail.

2 "Mobility was the key-note of Turkish military organisation at this time. It was the 'age of horse' and a well-equipped cavalry with tremendous mobility was the great need of the time." —Prof. K. A. Nizami.

3 "The arms and horses of these trans-border invaders gave them indisputable military superiority over the Indians. Their provisions, also, were carried by fast trotting camels, which require no fodder for themselves but fed on the roots and leaves of the way-side, while the Banjara pack-oxen of the Hindu commissariat were slow and burdensome." —Sir J. N. Sarkar.

4 "The apparent weakness of Indian horsemen both in number and efficiency has been present ever since the raids of Subuktagin on the dominions of Jayapal of Bhatinda," —Dr. P. C. Chakravarti.

पुकारते थे। राजपूतों के पास इनका पूर्ण अभाव था जिसके कारण एक किले को खोने के पश्चात् वे उसे पुनः नहीं जीत सकते थे। पृथ्वीराज को भटिण्डा के किले को जीतने में इसी कारण 13 माह लगे। तुर्कों की तुलना में राजपूतों की युद्ध-नीति भी दुर्बल थी। राजपूत अपनी सेना को केवल तीन भागों में बाँटते थे—केन्द्रीय भाग, दाहिना भाग और बायाँ भाग, जबकि तुर्कों की सेना इन तीनों भागों के अतिरिक्त दो अन्य उपयोगी भागों में बँटी होती थी। उनमें से एक उनका अग्रगामी भाग था जो आगे बढ़कर शत्रु-सेना की शक्ति को तोलता था, उनकी रसद को रोकता था और उसकी संख्या, उद्देश्य, स्थिति, आदि का पता लगाता था। दूसरा भाग उनकी सुरक्षित सेना थी जो केवल कठिनाई के अवसर पर अथवा जिस समय शत्रु थक जाता था उस समय उस पर आक्रमण करती थी और अधिकांशतया युद्ध की सफलता के लिए उत्तरदायी होती थी। तुर्कों के युद्ध करने का एक तरीका यह भी था कि वे 'सहसा आक्रमण' करते थे, कभी-कभी पीछे हटने अथवा भागने का प्रदर्शन करते थे और फिर अचानक आक्रमण करते थे। यह तुर्कों के 'सहसा आक्रमण' (Short tactics) के तरीके थे जो उनकी सफलता का एक कारण थे। गजनवी और गोरी ने उनको बड़े पैमाने पर प्रयोग किया। आक्रमण करना, लूटमार करना, वापस चले जाना और एक या दो वर्ष के बाद फिर आक्रमण करना भी ऐसी ही रण-नीति थी। राजपूतों की रण-नीति की एक मुख्य दुर्बलता उनकी रक्षात्मक नीति थी। हिन्दूशाही-राज्य के राजा जयपाल के अतिरिक्त किसी भी अन्य हिन्दू राजा ने तुर्कों के विरुद्ध आक्रमण-कारी नीति का पालन नहीं किया। यहाँ तक कि उन्होंने अपनी विजय से पूर्ण लाभ उठाने का प्रयत्न भी नहीं किया जैसा गुजरात के शासक मूलराज की अन्हिलवाड़ और पृथ्वीराज तृतीय की तराइन के प्रथम युद्ध की विजय सिद्ध करती हैं। राजपूतों में योग्य नेतृत्व का अभाव रहा। निस्सन्देह, पृथ्वीराज तृतीय एक योग्य सेनापति था परन्तु वह उस युग में एकमात्र अकेला था और वह भी गोरी की तुलना में योग्य न था। महमूद गजनवी का तो किसी यशस्वी सेनापति से मुकाबला ही नहीं हुआ। महमूद अपने युग का महानतम सेनापति था और गोरी ने अपने अनुभव और कर्मठता से अपनी कमी की पूर्ति कर ली। परन्तु भारत ने उस समय में किसी भी जन्मजात, दूरदर्शी अथवा अनुभवी सेनापति को उत्पन्न नहीं किया। मध्य-युग में युद्धों का निर्णय बहुत बड़ी मात्रा में सेनापति के व्यक्तित्व और उसकी योग्यता पर निर्भर करता था और भारत इस पक्ष से दुर्बल रहा। डॉ. यू. एन. घोषाल ने लिखा है कि "सत्यता यह है कि भारतीय अपनी परम्परागत युद्ध-नीति को नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाने में (जैसा 17वीं सदी में शिवाजी ने किया) अपने सामाजिक और भौगोलिक एकाकीपन के कारण असफल नहीं हुए थे बल्कि इस कारण असफल हुए थे कि उनमें पर्याप्त प्रतिभा-सम्पन्न नेताओं की कमी थी।"[1] राजपूतों में गुप्तचर-विभाग का पूर्ण अभाव था जिसके कारण उन्हें अपने शत्रु की सेना और उसकी गतिविधियों की

---

1 "In truth it was not for their social and geographical aloofness but for their want of leaders with sufficient talents that the Indians of the eleventh and twelfth centuries failed to adopt their time-honoured system of warfare (as Shivaji, the Maratha was destined to do in the seventeenth century) to the requirements of the new situation." —Dr. U. N. Ghoshal.

सूचना ठीक प्रकार और ठीक समय से प्राप्त नहीं होती थी और वे समय के रहते हुए सावधान नहीं हो पाते थे।

9. राजपूतों की इस पराजय का एक मुख्य कारण भावनात्मक भी था। राजपूतों ने युद्ध किये परन्तु मुख्यतया अपने राजा और अपने राज्य की रक्षा के लिए। धर्म की रक्षा एक सहायक कारण रहा होगा परन्तु हिन्दू और हिन्दू के अन्तरों को देखते हुए वह कभी भी प्रबल न बन सका था। सम्मान की रक्षा भी एक कारण रहा होगा परन्तु युद्ध में वीरगति पाने और जौहर करने से उसकी रक्षा सम्भव हो जाती थी। अपनी सभ्यता, संस्कृति और समाज की रक्षा का प्रश्न मुख्य नहीं बना होगा क्योंकि न तो मुसलमानों से भारत में स्थायी रूप से बस जाने की आशा की गयी थी और न इस्लाम के भारत में प्रवेश करने के परिणामों की गम्भीरता को हिन्दू समझ सके थे। इस्लाम की धार्मिक कट्टरता धार्मिक दृष्टि से उदार हिन्दुओं के लिए पूर्णतया नवीन थी और उसका प्रभाव उन्हें बाद में ही अनुभव हुआ। इस कारण हिन्दुओं का युद्ध का लक्ष्य सीमित रहा। इसी कारण इनकी युद्ध की प्रेरणादायक शक्ति भी सीमित रही। इसके विपरीत, नवीन इस्लाम धर्म का जोश और उसके सम्मान को बढ़ाने की लालसा मुसलमानों में मुख्य थी और वह भी इस्लाम धर्म में नवीन-परिवर्तित तुर्कों में। इस्लाम और उसकी प्रतिष्ठा को फैलाने की भावना ने तुर्कों के युद्धों में वह प्रेरणा प्रदान की जिसका हिन्दुओं में अभाव था। यद्यपि, इसके विपरीत, डॉ. के. ए. निजामी ने लिखा है कि "तुर्कों की सफलता का कारण मुसलमानों के धार्मिक जोश में तलाश करना अनैतिहासिक होगा।"[1] वह मुसलमानों के धार्मिक जोश को एक गौण और शीघ्र समाप्त हो जाने वाला कारण मानते हैं। परन्तु सभी इतिहासकार इस मत से सहमत नहीं हैं। निस्सन्देह, धन की लालसा, लूटमार की इच्छा और राज्य-विस्तार की आकांक्षा भी तुर्कों को प्रेरणा प्रदान करने वाले थे परंन्तु इस्लाम धर्म उनकी एकता और प्रेरणा का एक मुख्य आधार था, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में वह तुर्कों की सफलता का एक मुख्य कारण था, यह मानना ठीक होगा। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "केवल शारीरिक शक्ति और सैनिक हथियार ही सेना के लिए पर्याप्त नहीं हैं। एक प्रेरणादायिनी विचारधारा भी उतनी आवश्यक है जितनी सैनिक-शिक्षा और साधन।"[2] मध्य-युग शौर्य, प्रेम-प्रसंग और धर्म (Chivalry, Romance and Religion) का युग था। आधुनिक युग में इनका महत्व नहीं है परन्तु आधुनिक युग के विचारों को आधार मानकर मध्य-युग की मान्यताओं के प्रभाव को समझना कठिन है। मध्य-युग में आस्था और धर्म का बहुत महत्व था और उस युग के व्यक्तियों पर उसका गम्भीर प्रभाव न हो, यह नहीं माना जा सकता। मध्य-युग में धर्म का प्रभाव न अस्वाभाविक था, न तिरस्कृत और न वर्तमान युग की भाँति हानिकारक। मध्य-युग में व्यक्ति धर्म से अधिक प्रभावित थे, यह मानना उनका दोष निकालना नहीं है बल्कि इसके विपरीत धर्म के प्रभाव

---

1 "It would be unhistorical to seek an explanation of this Turkish success in the religious zeal of the Musalmans." —Dr. K. A. Nizami.

2 "Mere physical strength and military weapons do not constitute the total equipment of an army. An inspiring ideology is as essential as military training and equipment." —Dr. A. L. Srivastava.

की गम्भीरता को कम करना उस युग और उस युग के व्यक्तियों के साथ अन्याय करना है क्योंकि ऐसी स्थिति में यह मानना होगा कि उस युग के व्यक्ति अपने युग के साथ न्याय नहीं कर सके थे। यदि मुसलमानों में धार्मिक भावना थी तो ईसाइयों में भी थी और हिन्दुओं में भी। यह बात अलग है कि अपने-अपने धर्म की विचारधारा और अपनी-अपनी परिस्थितियों के कारण किस में कम थी और किस में अधिक अथवा किसने उसका उपयोग किस प्रकार और कितनी मात्रा में किया? उस समय तुर्कों की प्रेरणा-शक्ति का आधार इस्लाम रहा था, यह मानने में हमें कठिनाई नहीं होनी चाहिए। वह उनकी भारत में ही नहीं बल्कि अन्य स्थानों पर भी सफलता का कारण बनी थी, यह स्पष्ट है। डॉ. यू. एन. घोषाल ने लिखा है कि "जैसाकि सत्य ही बताया गया है, तुर्कों की सैनिक-श्रेष्ठता का एक अन्य और अधिक शक्तिशाली कारण उनका अदम्य उत्साह था और यह ध्यान रखना चाहिए कि उस भावना का आधार जितना भारतीय मन्दिरों और महलों में संचित किये गये अतुल सम्पत्ति के खजानों को लूटने की आशा थी उतना ही अपने नवीन स्वीकृत धर्म के प्रति जोश भी था। 300 वर्ष से भी अधिक समय के कठोर संघर्ष के पश्चात् भारत के अधिकांश भाग को जीत लेने में तुर्कों की सफलता का यह एक सबसे बड़ा कारण था, यह बात 11वीं सदी के सज्जूक-तुर्कों और 15वीं सदी के ओटोमान-तुर्कों के समान उदाहरण से सिद्ध हो जाती है जिन्होंने उस बाइजन्टाइन-साम्राज्य को बरबाद करने और अन्त में, समाप्त करने में सफलता पायी जो भारत में पायी जाने वाली राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था की विशेष दुर्बलताओं से मुक्त था।"[1]

इस प्रकार विभिन्न कारणों से 11वीं और 12वीं सदी में मुसलमानों के विरुद्ध भारतीय राजाओं को पराजय हुई। भारत की आन्तरिक दुर्बलताओं ने इस पराजय की पृष्ठभूमि तैयार की और मुसलमानों की सैनिक शक्ति और धार्मिक उत्साह ने उन्हें विजयी बनाया जिसके कारण भारतीय इतिहास में, एक नवीन अध्याय और भारतीय राजनीति में एक नवीन तत्व सम्मिलित हुआ।

[ 4 ]

## तुर्कों की सफलता के परिणाम

तुर्कों की सफलता का मुख्य परिणाम भारत में मुसलमानी राज्य की स्थापना

---

1 "Another and a still more potent cause of the military superiority of the Turks was, as has been rightly pointed out, their mighty enthusiasm, a sentiment which, it is well to remember was derived as much from the prospect of plunder of the colossal treasures stored in the Indian temples and palaces as from zeal for their newly acquired religion. That this was the greatest single factor in enabling the Turks to conquer most of the country after a hard struggle of more than three centuries is proved by the parallel example of the Seljuk Turks of the eleventh and Ottoman Turks of the fifteenth century who succeeded in despoiling and eventually destroying the Byzantine Empire in spite of its immunity from the characteristic weaknesses of the Indian political and social system."
—Dr. U. N. Ghoshal.

था। मोहम्मद गोरी की मृत्यु के पश्चात् उसके गुलाम और सूबेदार कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारत में मुसलमानी राज्य की स्थापना की। गोर अथवा गजनी पर उसका आधिपत्य असम्भव था, इस कारण भारत में एक पृथक् स्वतन्त्र मुसलमानी राज्य की स्थापना उसके लिए एकमात्र मार्ग था। गजनवी और गोरी के समय का इतिहास वास्तव में मध्य एशिया के इतिहास का एक अंश है परन्तु ऐवक के समय का इतिहास भारत का इतिहास है।

मुसलमानी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप भारत में पुनः एक केन्द्रीय शासन की नींव पड़ी, मुसलमानों की शक्ति के गढ़ भारत के शहरों के द्वार सभी जाति के व्यक्तियों के लिए खोल दिये गये, सैनिक-संगठन और युद्ध-नीति में परिवर्तन हुआ, फारसी भाषा को मुसलमानी राज्य-भाषा स्वीकार किया गया और संघर्ष तथा समझौता दोनों ही तरीकों के द्वारा हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने आरम्भ हुए। इन सभी का प्रभाव भविष्य की भारत की राजनीति और सभ्यता पर पड़ा। इस समय से उत्तरी-भारत को एक शासन और एक प्रशासकीय सत्ता के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ जो क्रमशः पूरा भी हुआ। नगरों में सभी जातियों के व्यक्तियों को प्रवेश प्राप्त हो जाने से हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था को आघात पहुँचा। डॉ. यदुनाथ सरकार के कथनानुसार इस समय से भारत ने पुनः अपने सम्बन्ध विदेशों से स्थापित करने प्रारम्भ किये जिससे भारत का अन्य देशों से अलगाव समाप्त हो गया। इससे विदेशी व्यापार की सुविधा में वृद्धि हुई। सैनिक संगठन में सभी जातियों के व्यक्तियों को स्थान प्राप्त होना और अलाउद्दीन खलजी के समय से सेना का केन्द्रीयकरण किया जाना भारत के लिए लाभदायक रहा। ऐसी संगठित सेना ने मंगोलों के भीषण आक्रमणों को रोकने में सफलता पायी। इस प्रकार, तुर्कों की भारत-विजय ने विभिन्न बातों के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. महमूद गजनवी के आक्रमणों के अवसर पर भारत की स्थिति का वर्णन कीजिए।
2. महमूद गजनवी के आक्रमणों के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।
3. मोहम्मद गोरी के आक्रमण के अवसर पर भारत की स्थिति क्या थी?
4. मोहम्मद गोरी के आक्रमणों के कारणों और उनके परिणामों को स्पष्ट कीजिए।
5. महमूद गजनवी और मोहम्मद गोरी के चरित्र और व्यक्तित्व का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
6. 11वीं और 12वीं सदी में तुर्कों के विरुद्ध राजपूतों की पराजय के सैनिक कारणों का विवेचन कीजिए।
7. 11वीं और 12वीं सदी में राजपूतों के विरुद्ध तुर्कों की सफलता के कारणों पर प्रकाश डालिए।

द्वितीय खण्ड

# दिल्ली सल्तनत के विभिन्न राजवंश

(अ) दिल्ली के ममलूक सुल्तान
अथवा तथाकथित गुलाम-वंश
(ब) खलजी-वंश
(स) तुगलक-वंश
(द) सैयद-वंश
(इ) लोदी-वंश

# 4

# कुतुबुद्दीन ऐबक और आरामशाह

1206 ई. से 1290 ई. के मध्य में हुए दिल्ली सल्तनत के सुल्तान गुलाम-वंश के सुल्तानों के नाम से विख्यात हुए यद्यपि वे न तो एक वंश के थे और न सुल्तान बनने के अवसर पर इनमें से कोई गुलाम था। वे सभी सुल्तान तुर्क थे परन्तु उनके वंश पृथक्-पृथक् थे। कुतुबुद्दीन ऐबक ने 'कुतबी', इल्तुतमिश ने 'शम्शी' और बलबन ने 'बलबनी' राजवंश की स्थापना की थी और इस प्रकार दिल्ली में इस समय में एक ने नहीं बल्कि तीन राजवंशों ने राज्य किया था। इसी प्रकार उन तीनों राजवंशों के संस्थापक सुल्तान बनने से पहले गुलामी से मुक्त हो चुके थे। इस कारण इन सुल्तानों को गुलाम-वंश के सुल्तान कहने के स्थान पर प्रारम्भिक तुर्क सुल्तान अथवा दिल्ली के ममलूक[1] सुल्तान कहना अधिक उपयुक्त है।

## [ 1 ]

## कुतुबुद्दीन ऐबक (1206-1210 ई.)

दिल्ली का पहला मुसलमान शासक कुतुबुद्दीन ऐबक था और उसी को भारत में तुर्की राज्य का संस्थापक भी माना जाता है। मोहम्मद गोरी ने भारतीय प्रदेशों को विजय करके उन्हें अपने राज्य का अंग अवश्य बनाया परन्तु वह गोर का सुल्तान था न कि दिल्ली का। परन्तु कुतुबुद्दीन ऐबक दिल्ली का शासक था। उसने न केवल अपने स्वामी को उसकी भारत-विजय में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की बल्कि अधिकांशतया वही उन विजयों और उनके संगठन के लिए उत्तरदायी था। इसके अतिरिक्त ऐबक की मुख्य सफलता भारत के तुर्की राज्य को गोर और गजनी के सुल्तानों के स्वामित्व से मुक्त करके उसे स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करने का प्रयत्न करना तथा गोरी की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न हुई अस्थिर परिस्थितियों में उसे स्थायित्व प्रदान करना था। इसी कारण उसे भारत में तुर्की राज्य का संस्थापक माना गया है।

### प्रारम्भिक जीवन

कुतुबुद्दीन ऐबक तुर्क था और उसके माता-पिता तुर्किस्तान के निवासी थे। बचपन में निशापुर के काजी फखरुद्दीन अब्दुल अजीज कूफी ने उसे एक दास के रूप में खरीदा था। तुर्कों में अपने गुलामों को योग्य बनाने की परम्परा थी। अनेक व्यक्ति

---

1 ममलूक (वह गुलाम व्यक्ति जो स्वतन्त्र माता-पिता की सन्तान था)।

अपने गुलामों को साहित्य, कला और सैनिक शिक्षा प्रदान करते थे। अनेक गुलामों को राज्य की उत्तम सेवा करने के योग्य बनाया जाता था और अनेक गुलाम सुल्तानों की सेवा करने के योग्य बनाये जाते थे जिससे उनका अधिक से अधिक मूल्य प्राप्त हो सके। इस कारण उस समय के तुर्क सुल्तानों के अनेक गुलाम बहुत योग्य हुआ करते थे और वे राज्य सेवा में श्रेष्ठतम पद प्राप्त कर लेते थे। इल्तुतमिश को कुतुबुद्दीन ऐबक ने 1197 ई. में हुए अन्हिलवाड़ के युद्ध के पश्चात् खरीदा और वही इल्तुतमिश ऐबक का दामाद और दिल्ली का सुल्तान बना। इसी प्रकार बहाउद्दीन बलबन को इल्तुतमिश ने 1232 ई. में खरीदा और उसी बलबन ने इल्तुतमिश की एक पुत्री से विवाह किया, सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद से अपनी पुत्री का विवाह किया और अन्त में, स्वयं दिल्ली का सुल्तान बना। इसी प्रकार मोहम्मद गोरी के योग्यतम सूबेदार कुतुबुद्दीन ऐबक, ताजुद्दीन यिल्दिज और नासिरुद्दीन कुबाचा उसके गुलाम थे। निशापुर के काजी ने ऐबक को सभी प्रकार की शिक्षा प्रदान की। काजी की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों ने ऐबक को बेच दिया और अन्त में, मोहम्मद गोरी ने उसे खरीदा। अपनी योग्यता के कारण ऐबक अपने स्वामी की दृष्टि में उठ गया। ऐबक ने धीरे-धीरे अपनी योग्यता के कारण अमीर-ए-अखूर (अश्वशाला का अध्यक्ष) के पद को प्राप्त कर लिया जो उस समय बहुत सम्मानित पद माना जाता था। प्रो. हबीबुल्ला के अनुसार तराइन के द्वितीय युद्ध के पश्चात् 1192 ई. में गोरी ने ऐबक को अपने मुख्य भारतीय प्रदेशों का सूबेदार नियुक्त किया।

**गोरी का सहायक**

मोहम्मद गोरी के समय में कुतुबुद्दीन ऐबक ने कई महत्वपूर्ण कार्य किये थे। तराइन के द्वितीय युद्ध (1192 ई.) के अवसर पर गोरी के साथ था। गोरी के भारत से वापस चले जाने के पश्चात् उसने अजमेर, मेरठ आदि स्थानों के विद्रोह को दबाया और दिल्ली को अपने अधिकार में किया। 1194 ई. में जब गोरी ने कन्नौज के शासक जयचन्द से चन्दवार नामक स्थान पर युद्ध किया तब भी ऐबक उसके साथ था। उसके पश्चात् उसने अलीगढ़ को जीता, अजमेर के विद्रोह को दबाया, गुजरात की राजधानी अन्हिलवाड़ को लूटा, राजस्थान के कुछ किलों को जीता और बुन्देलखण्ड के राजा परमर्दीदेव को परास्त करके कालिंजर, महोबा और खजुराहो पर अधिकार किया। इस प्रकार ऐबक ने अपने स्वामी गोरी को न केवल भारत के विभिन्न प्रदेशों को जीतने में सहायता दी बल्कि समय-समय पर उसकी अनुपस्थिति में जीते हुए प्रदेशों को तुर्कों के आधिपत्य में रखा और राज्य-विस्तार भी किया।

**शासक ऐबक**

1206 ई. में मोहम्मद गोरी का वध कर दिया गया। उसके कोई पुत्र न था और क्योंकि उसकी मृत्यु अचानक हुई थी, इस कारण उसे अपने साम्राज्य की एकता को कायम रखने के लिए अपने उत्तराधिकारी को नियुक्त करने अथवा कोई अन्य व्यवस्था करने का अवसर नहीं मिल सका था। मोहम्मद गोरी की मृत्यु की सूचना पाकर लाहौर के नागरिकों ने कुतुबुद्दीन ऐबक को लाहौर आकर शासन-सत्ता अपने हाथों में लेने के लिए आमन्त्रित किया। ऐबक ने लाहौर पहुँच कर शासन-सत्ता अपने हाथों में ले ली यद्यपि उसने अपना राज्याभिषेक गोरी की मृत्यु के तीन माह पश्चात् जून 1206 ई. में कराया। सिंहासन पर बैठने के अवसर पर उसने सुल्तान की उपाधि ग्रहण नहीं की बल्कि केवल 'मलिक', 'सिपहसालार' की पदवियों

से ही सन्तुष्ट रहा जिन्हें उसने अपने स्वामी गोरी से प्राप्त किया था। इसी कारण ऐबक ने न अपने नाम का खुतबा पढ़वाया और न अपने नाम के सिक्के चलाये। बाद में गोरी के उत्तराधिकारी गियासुद्दीन ने उसे 'सुल्तान' स्वीकार किया लेकिन उस समय जब ऐबक अपनी शक्ति को स्वयं के प्रयत्नों से दृढ़ कर चुका था। उसी प्रकार ऐबक को नियमपूर्वक अपनी दासता से मुक्ति भी 1208 ई. में प्राप्त हुई क्योंकि गोरी ने अपनी मृत्यु के समय तक अपने किसी भी दास को दासता से मुक्त नहीं किया था। परन्तु कानूनी स्थिति कुछ भी रही हो, वास्तविकता में ऐबक ने 1206 ई. में लाहौर को अपनी राजधानी बनाकर गोरी के भारत के राज्य को अपनी अधीनता में रखने का प्रयत्न किया और उसी समय से उसने एक स्वतन्त्र सुल्तान की दृष्टि से व्यवहार करना आरम्भ कर दिया। भारत की सत्ता में वह न किसी से साझेदारी करने और न किसी के आधिपत्य को स्वीकार करने के लिए तैयार था, यह आरम्भ से ही स्पष्ट हो गया था।

**कठिनाइयाँ**

सिंहासन पर बैठने के अवसर पर ऐबक अनेक कठिनाइयों से घिरा हुआ था। वह अपने सभी सरदारों से वफादारी की आशा नहीं कर सकता था बल्कि उनकी ईर्ष्या और व्यक्तिगत आकांक्षाएँ उसके और नव-स्थापित तुर्की राज्य के लिए घातक सिद्ध हो सकती थीं। तुर्कों ने अफगानिस्तान से लेकर उत्तरी भारत के बंगाल तक के भू-प्रदेशों को अपने पैरों तले रौंद अवश्य दिया था परन्तु वे इसके निर्विवाद स्वामी बनने में अभी तक असमर्थ थे। गोरी ने राजपूतों की शक्ति को दुर्बल अवश्य कर दिया था परन्तु समाप्त नहीं कर सका था और राजपूत स्थान-स्थान पर तुर्कों का मुकाबला कर रहे थे तथा अनेक स्थानों से तुर्कों को निष्कासित कर रहे थे। चन्देल शासक ने कालिंजर को पुनः विजय करके तुर्कों के दक्षिण की ओर बढ़ने के मार्ग को रोक दिया था, गहड़वार राजा हरीशचन्द्र ने फर्रुखाबाद और बदायूँ में अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी और प्रतिहार-राजपूतों ने ग्वालियर को पुनः जीत लिया था। बंगाल में खलजी सरदारों के पारस्परिक झगड़ों ने वहाँ तुर्की-सत्ता को दुर्बल कर दिया था और बंगाल के खलजी सरदार ऐबक के आधिपत्य को स्वीकार करने के लिए तत्पर न थे। वास्तव में ऐबक का आधिपत्य सिन्ध, पंजाब, दिल्ली और दोआब तक सीमित था और वहाँ पर भी राजपूत उसकी सत्ता का विरोध कर रहे थे।

परन्तु इनमें भी बड़ी कठिनाइयाँ ऐबक को अपने सम्बन्धियों तथा अपने ही समान गोरी के दास और उसके राज्य के उत्तराधिकारी ताजुद्दीन यिल्दिज और नासिरुद्दीन कुबाचा की तरफ से थी। ताजुद्दीन यिल्दिज ने गजनी में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी, उसकी पुत्री का विवाह ऐबक से हुआ था और वह ऐबक को अपने अधीन तथा गोरी के भारत के राज्य पर अपना अधिकार मानता था। नासिरुद्दीन कुबाचा उच्छ का सूबेदार था, यिल्दिज की एक पुत्री और ऐबक की एक बहिन से उसने विवाह किया था तथा वह भी दिल्ली के राज्य पर अपना अधिकार मानता था। वास्तव में यिल्दिज और कुबाचा ऐबक के प्रतिद्वन्द्वी थे। ताजुल-मासिर के आधार पर प्रो. ए. बी. एम. हबीबुल्ला ने और फख़्रे-ए-मुदब्बिर के आधार पर डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने यह लिखा है कि गोरी ने ऐबक को अपने भारतीय राज्य का संरक्षक नियुक्त किया था, उसे 'मलिक' की उपाधि दी थी और उसकी इच्छा थी

कि ऐबक भारत में उसका उत्तराधिकारी बने, परन्तु प्रो. के. ए. निजामी इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि गोरी ने अपनी मृत्यु के समय तक अपने गुलाम सरदारों के अधिकारों और अपने उत्तराधिकार के प्रश्न का निर्णय नहीं किया था जिसके कारण ऐबक, यिल्दिज और कुबाचा की स्थिति समान थी और उनमें से प्रत्येक अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अपने-अपने अधिकारों की व्याख्या करने के लिए स्वतन्त्र था। यही नहीं, बल्कि उनका तो यहाँ तक कहना है कि गोरी ने भारत के विभिन्न तुर्की सरदारों को भी ऐबक की अधीनता में नहीं किया था और यदि बहाबुद्दीन तुगरिलखाँ तथा मुहम्मद बख्तियार खलजी जैसे शक्तिशाली सरदारों की मृत्यु पहले ही न हो गयी होती तो वे भी ऐबक के प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध होते। यिल्दिज और कुबाचा की भविष्य की गतिविधियों को देखते हुए डॉ. निजामी का कथन सत्य के अधिक निकट दिखायी देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गोरी की मृत्यु के पश्चात् ऐबक को स्वतः ही भारत का तुर्की राज्य प्राप्त नहीं हो गया था बल्कि उसे इसके लिए कौशल और युद्ध से प्रयत्न करना पड़ा था।

ऐबक की कठिनाई यिल्दिज और कुबाचा की प्रतिद्वन्द्विता तक ही सीमित न थी बल्कि ख्वारिज्म के शाह की बढ़ती हुई शक्ति भी उसके लिए एक बड़ा खतरा थी। ख्वारिज्म के शाह की नजर गजनी पर थी। यिल्दिज उसकी शक्ति का मुकाबला करने में असमर्थ था। ऐसी स्थिति में यदि गजनी पर ख्वारिज्मशाह का अधिकार हो जाता तो वह दिल्ली पर भी अपना दावा कर सकता था। इस कारण ऐबक की एक मुख्य कठिनाई भारत के राज्य को मध्य-एशिया की राजनीति से पृथक् करना, उसे गजनी के शासकों के कानूनी आधिपत्य से मुक्त करना तथा उसे एक पृथक् स्वतन्त्र राज्य का अधिकार और अस्तित्व प्रदान करना थी।

## कार्य

ऐबक का मुख्य कार्य अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को स्थापित रखना था। उसने कौशल और कूटनीति से कार्य किया। उसने अपने तुर्की सरदारों को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए मना लिया। सम्भवतया, इस कार्य को करने के कारण ही उसे सिंहासन पर बैठने में कुछ समय लगा था। अपनी स्थिति को दृढ़ करने के आशय से ही उसने अपनी पुत्री का विवाह इल्तुतमिश से और अपनी बहिन का विवाह नासिरुद्दीन कुबाचा से किया था तथा सम्भवतया कुबाचा ने उसे दिल्ली का सुल्तान स्वीकार कर लिया था। परन्तु यिल्दिज की तरफ से खतरा रहा। इस कारण ऐबक सर्वदा लाहौर में रहा। उसे दिल्ली में रहने का अवसर कभी न मिल सका।

सुल्तान गियासुद्दीन ने यिल्दिज को दासता से मुक्त करके गजनी का शासक स्वीकार कर लिया था। ख्वारिज्मशाह के दबाव के कारण यिल्दिज को गजनी छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। उसने पूर्व में पंजाब पर आक्रमण किया। गजनी का शासक होने के नाते वह भारत के तुर्की राज्य को अपने अधिकार में मानता था। ऐबक ने उसका विरोध किया और उसे युद्ध में परास्त करके पंजाब छोड़ने के लिए बाध्य किया। परन्तु गजनी उस समय अरक्षित था और सम्भव था कि ख्वारिज्मशाह उस पर अधिकार कर लेता। गजनी के नागरिकों ने ऐबक को आने के लिए निमन्त्रण भेजा और ऐबक ने आगे बढ़कर गजनी पर अधिकार कर लिया। परन्तु गजनी के नागरिक उससे सन्तुष्ट न रह सके और उन्होंने यिल्दिज को आम-

न्त्रित किया। यिल्दिज के अचानक गजनी की सीमा पर पहुँच जाने के कारण ऐबक केवल 40 दिन पश्चात् ही गजनी को छोड़ने के लिए बाध्य हुआ। इस प्रकार ऐबक का गजनी का अभियान सफल होते हुए भी स्थायी लाभ का न रहा। परन्तु यिल्दिज भी उसके भारत के राज्य पर अधिकार करने में असमर्थ रहा और ऐबक ने दिल्ली के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्थापित रखने में सफलता प्राप्त की।

बंगाल के दूरस्थ, सूबा (इक्ता) ने भी ऐबक को परेशान किया। मुहम्मद बख्तियार खलजी के हत्यारे अलीमर्दनखाँ को खलजी सरदारों ने कैद कर लिया था और उन्होंने मुहम्मद शेरा को इस शर्त पर गद्दी पर बैठाया था कि वह दिल्ली की अधीनता स्वीकार नहीं करेगा। इस कारण आरम्भ में बंगाल एक स्वतन्त्र राज्य बन गया था। परन्तु अलीमर्दनखाँ कैद से भागकर ऐबक के पास पहुँचा। ऐबक ने उसे बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया और उसने वायदा किया कि वह ऐबक के अधीन रहेगा तथा उसे वार्षिक कर देगा। परन्तु खलजी सरदार इस प्रबन्ध को मानने के लिए तैयार नहीं थे। ऐबक के सरदार कैमाज रूमी के निरन्तर प्रयत्न और युद्ध के पश्चात् ही अलीमर्दनखाँ को बंगाल का सूबेदार बनाया जा सका और बंगाल दिल्ली सुल्तान की अधीनता में हो गया।

ऐबक को राजपूतों की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला और न वह साम्राज्य-विस्तार की नीति को अपना सका बल्कि राजपूतों ने कुछ स्थानों को उससे छीन लिया और ऐबक उन्हें पुनः जीतने का प्रयत्न भी न कर सका। ऐबक को समय भी थोड़ा प्राप्त हुआ। चौगान (आधुनिक पोलो की भाँति का एक खेल) के खेल में घोड़े से गिर जाने के कारण 1210 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसे लाहौर में दफनाया गया और उसकी कब्र पर एक साधारण स्मारक बना दिया गया।

**ऐबक का मूल्यांकन**

ऐबक को भारत में तुर्की राज्य का संस्थापक माना गया है। मोहम्मद गोरी की भारत-विजय में ऐबक उसका सबसे बड़ा सहायक था। गोरी की अनुपस्थिति में उसी ने उसकी विजयों को सुरक्षित और संगठित किया तथा उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके भारतीय राज्य को गजनी के आधिपत्य से मुक्ति दिलाकर एक स्वतन्त्र राज्य में परिणत करने का प्रयत्न भी उसी ने आरम्भ किया। उसने न तो यिल्दिज की अधीनता स्वीकार की और न ही उसे पंजाब में प्रवेश करने दिया। भारत के तुर्की सरदारों को अपने साथ और आधिपत्य में लेकर उसने दिल्ली के तुर्की के राज्य को एकता प्रदान की और दिल्ली सल्तनत को आरम्भ किया। यदि वह ऐसा न कर पाता तो सम्भव था कि भारत का तुर्की राज्य गजनी-राज्य के अधीन हो जाता अथवा मध्य-एशिया की राजनीति का एक भाग बनकर ख्वारिज्मशाह की लालसा का शिकार हो जाता अथवा तुर्की सरदारों के पारस्परिक झगड़ों के कारण टुकड़े-टुकड़े होकर शक्ति-हीन हो जाता और अन्त में, नष्ट हो जाता। ऐबक ने ऐसा कुछ नहीं होने दिया बल्कि उसने तुर्की राज्य को एकता प्रदान की और उसके स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए प्रयत्न ही नहीं किया बल्कि उसे स्थापित भी रखा। इसी दृष्टि से ऐबक को भारत के तुर्की राज्य का संस्थापक माना गया है।

ऐबक मोहम्मद गोरी के गुलामों में योग्यतम गुलाम सिद्ध हुआ। वह अपनी योग्यता के कारण धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ सुल्तान के पद तक पहुँचा और एक

ऐसे राज्य का संस्थापक बना जो भारत में स्थायी रहा। ऐबक में मस्तिष्क और हृदय दोनों के गुण थे। प्रो. ए. बी. एम. हबीबुल्ला ने लिखा है कि "उसमें एक तुर्क का साहस और एक ईरानी की उदारता तथा सभ्यता मिश्रित थी।"[1] सभी तत्कालीन इतिहासकारों ने उसकी वफादारी, उदारता, साहस और न्यायप्रियता की प्रशंसा की है। हसन निजामी ने लिखा है कि "कुतुबुद्दीन अपनी प्रजा को समान रूप से न्याय प्रदान करता था और अपने राज्य की शान्ति और समृद्धि के लिए प्रयत्नशील था।"[2] इतिहासकार मिनहाज ने लिखा है कि "ऐबक श्रेष्ठ भावनाओं से युक्त विशाल-हृदयी बादशाह था। वह बहुत दानशील था।"[3] अपनी उदारता के कारण वह इतना अधिक दान करता था कि उसे 'लाखबख्श' (लाखों को देने वाला) के नाम से पुकारा गया। फरिश्ता ने लिखा है कि यदि व्यक्ति किसी की दानशीलता की प्रशंसा करते थे तो उसे 'अपने युग का ऐबक' पुकारते थे। ऐबक को साहित्य से अनुराग था और स्थापत्य कला में उसकी रुचि थी। तत्कालीन विद्वान हसन निजामी और फक्र-ए-मुदब्बिर ने उसका संरक्षण प्राप्त किया था और उसे अपने ग्रन्थ समर्पित किये थे। उसने दिल्ली में 'कुवात-उल-इस्लाम' और अजमेर में 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नामक मस्जिदों का निर्माण कराया था। दिल्ली में स्थित कुतुबमीनार का निर्माण भी उसके समय में आरम्भ किया जा चुका था।

ऐबक में व्यावहारिक बुद्धि थी। साथ ही उसमें कूटनीतिज्ञता का भी अभाव न था। वह यह समझ सका था कि उसकी प्रथम आवश्यकता भारत के तुर्की राज्य को मध्य-एशिया की राजनीति से पृथक् रखना और उसे गजनी के आधिपत्य से मुक्त करना था। उसने इसी दिशा में प्रयत्न किये और भारत में राज्य-विस्तार की ओर ध्यान नहीं दिया। वह यह भी समझता था कि भारत के तुर्की सरदारों को अपनी अधीनता में लेना आवश्यक था अन्यथा भारत का तुर्की राज्य छोटी-छोटी जागीरों में विभाजित हो जायेगा। इस कार्य में वह सफल रहा। नासिरुद्दीन कुबाचा, यिल्दिज और बंगाल के अलीमर्दनखाँ से उसका व्यवहार कूटनीतिज्ञता का रहा था। निस्सन्देह अन्य सरदारों के प्रति भी उसका व्यवहार कौशल और कूटनीतिज्ञता का रहा होगा जिसके कारण भारत की सीमाओं के अन्तर्गत किसी भी तुर्की सरदार ने उसका विरोध नहीं किया और बंगाल में उसकी सत्ता स्वीकार कर ली गयी।

परन्तु ऐबक की सबसे बड़ी योग्यता उसका एक कर्मठ सैनिक और योग्य सेनापति होना था। वह एक साहसी और अनुभवी सेनापति था। मोहम्मद गोरी की भारतीय विजयों का अधिकांश श्रेय उसी को था। प्रो. हबीबुल्ला ने लिखा है कि "इस पर अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं है कि मुईजुद्दीन की भारत की सफलताओं का मुख्य श्रेय ऐबक के अथक परिश्रम और वफादार सेवा को था क्योंकि मुईजुद्दीन ने केवल प्रेरणा-शक्ति प्रदान की थी जबकि ऐबक दिल्ली राज्य की विस्तृत

---

1 "He combined the intrepidity of the Turk with the refined taste and generosity of the Persian." —Prof. A. B. M. Habibullah.

2 "Qutbuddin dispensed even-handed justice to the people and exerted himself to promote peace and prosperity of the realm." —Hasan Nizami.

3 "Aibak was a high-spirited and open hearted monarch. He was very generous." —Minhaj.

योजनाओं और उसके निर्माण के लिए उत्तरदायी था।"[1] सेनापति की दृष्टि से ऐबक बहुत योग्य था। फक्र-ए-मुदब्बिर ने लिखा है, "यद्यपि ऐबक की सेना में विभिन्न नस्लों के सैनिक थे जैसे तुर्क, गोर, खुरासानी, खलजी, भारतीय आदि परन्तु जब भी कोई सैनिक किसी व्यक्ति से जबरदस्ती एक तिनका घास, एक दाना अनाज, एक चिड़िया अथवा एक भेड़ भी छीनने का अथवा निवास-स्थान प्राप्त करने का साहस नहीं कर सकता था।"[2] बाद के महान् विद्वान अबुल फजल ने जिसने निरपराधों का रक्त बहाने के कारण सुल्तान महमूद गजनी की कटु आलोचना की है, ऐबक के बारे में लिखा है कि "उसने अच्छे और महान् कार्य किये।"[3]

इस प्रकार ऐबक एक योग्य सेनापति, एक व्यावहारिक शासक और एक उदार व्यक्ति था। वह भारत में तुर्की राज्य का संस्थापक माना गया है। परन्तु ऐबक में कुछ कमियाँ भी रहीं। जहाँ वह बहुत दानशील था वहाँ वह लाखों व्यक्तियों का रक्त बहाने वाला भी था। शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से उसमें कोई विशेष प्रतिभा न थी। उसका शासन एक फौजी जागीर की भाँति रहा जिसमें स्थायित्व के गुणों का समावेश न था। हिन्दू मन्दिरों के अवशेषों से मस्जिदों का निर्माण कराना भी उपयुक्त न था। इसके अतिरिक्त, ऐबक अपने कार्य की पूर्ति नहीं कर सका। ऐबक के पास समय का अभाव रहा। वह अपने जीवन में दिल्ली सल्तनत को पूर्ण स्थायित्व प्रदान नहीं कर सका और न उसे गजनी सुल्तानों के संप्रभुता के दावे से पूर्ण मुक्ति दिला सका। उसके ये कार्य अधूरे रहे। इस कारण उसके पश्चात् इल्तुतमिश को इन कार्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करने पड़े।

## [ 2 ]
## आरामशाह (1210-1211 ई.)

कुतुबुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् उसके सरदारों ने उसके पुत्र (यद्यपि कुछ इतिहासकार इसके बारे में सन्देह प्रकट करते हैं। जुवाइनी ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि ऐबक के कोई पुत्र न था और मिनहाज ने केवल उसकी तीन पुत्रियों का जिक्र किया है।) आरामशाह को लाहौर में गद्दी पर बैठा दिया। परन्तु दिल्ली के नागरिक इससे सहमत नहीं हुए। आरामशाह एक अयोग्य नवयुवक था जबकि उस समय की कठिन परिस्थितियों में तुर्की राज्य को एक योग्य तथा अनुभवी शासक की आवश्यकता थी। इस कारण सिपहसालार अमीर-ए-दाद और कुछ तुर्की अमीरों ने ऐबक के दामाद

---

1 "It hardly needs emphasising that to his untiring exertion and devoted service Muizzudin owed most of his success in India, for he merely supplied the motive power, Aibak was responsible for the detailed planning and initiation of the Delhi State."
—Prof. A. B M. Habibullah.

2 "Despite the fact that his troops were drawn from such hetrogenous sources as Turks, Ghurids, Khurasanis, Khaljis and Hindustanis, no soldier dared to take by force a flode of grass, a morsel of food, a goat from the fold or a bird from the sown or extract compulsory lodging from a peasant."
—Fakir-i-Muddabir.

3 "He achieved things, good and great." —Abul Fazl.

और बदायूँ के सूबेदार इल्तुतमिश को दिल्ली का सुल्तान बनने के लिए आमन्त्रित किया। इल्तुतमिश ने दिल्ली पहुँच कर सुल्तान का पद ग्रहण कर लिया। आरामशाह ने उस पर आक्रमण किया, परन्तु वह पराजित हुआ और उसे मार दिया गया। इस प्रकार आरामशाह का शासन केवल आठ माह में समाप्त हो गया और इल्तुतमिश दिल्ली का सुल्तान बन गया।

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. "कुतुबुद्दीन ऐबक भारत में तुर्की राज्य का संस्थापक था।" आप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं?
2. कुतुबुद्दीन ऐबक के कार्यों और उसके परिणामों पर विचार कीजिए।

# 5

# सुल्तान इल्तुतमिश (1211-1236 ई.)

वस्तुतः दिल्ली का पहला सुल्तान इल्तुतमिश था। उसने सुल्तान के पद की स्वीकृति किसी गोर के शासक से नहीं बल्कि खलीफा से प्राप्त की। इस प्रकार, वह कानूनी तरीके से दिल्ली का प्रथम स्वतन्त्र सुल्तान हुआ। व्यावहारिक दृष्टि से उसने दिल्ली की गद्दी के दावेदार ताजुद्दीन यिल्दिज और नासिरुद्दीन कुबाचा को समाप्त किया, भारत के तुर्की राज्य को संगठित किया, उसे मंगोल-आक्रमण से बचाया, राजपूतों की शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न किया, सुल्तान के पद को वंशानुगत बनाया, दिल्ली को तुर्की राज्य की राजधानी के अनुरूप वैभवपूर्ण बनाया और अपने नाम के सिक्के चलाये।

इल्तुतमिश को कुतुबुद्दीन ऐबक ने खरीदा था। इस कारण वह एक गुलाम का गुलाम था। परन्तु अपनी योग्यता के कारण उसने अपने स्वामी से पहले दासता से मुक्ति प्राप्त कर ली थी। मोहम्मद गोरी ने अपने समय में ही उसे दासता से मुक्त कर दिया था। इस कारण, ऐबक की भाँति सिंहासन पर बैठने के समय वह गुलाम न था बल्कि उससे बहुत पहले दासता से मुक्त हो चुका था। यह उसकी योग्यता का प्रमाण था कि जब गोरी ने अपने सबसे अधिक विश्वासपात्र और योग्य गुलामों, जैसे यिल्दिज, कुबाचा और ऐबक को भी दासता से मुक्त नहीं कर दिया था, उसने इल्तुतमिश को दासता से मुक्त कर दिया था।

इल्तुतमिश कुतुबुद्दीन ऐबक का दामाद था, न कि उसका वंशज। इल्तुतमिश शम्सी-वंश का था। इस कारण उसके गद्दी पर बैठने से दिल्ली के सिंहासन पर एक नवीन राजवंश का अधिकार स्थापित हुआ। कुछ इतिहासकारों ने यह लिखा है कि दिल्ली के सिंहासन पर इल्तुतमिश का कानूनी अधिकार न था। परन्तु अधिकांश इतिहासकार इस बात से सहमत नहीं हैं। उस समय जब सिंहासन पर वंशानुगत अधिकार की परम्परा स्थापित नहीं हुई थी और तलवार की शक्ति शासकों का निर्णय करती थी, इल्तुतमिश का दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार करना अवैध नहीं माना जा सकता। आरामशाह को लाहौर के सरदारों का समर्थन प्राप्त था और इल्तुतमिश को दिल्ली के सरदारों का। इल्तुतमिश आरामशाह के मुकाबले अधिक योग्य और अनुभवी था। उस समय की परिस्थितियों में उसका समर्थन तुर्की राज्य के हित में था। इस कारण, आरामशाह को समाप्त करके इल्तुतमिश का दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार करना न तो अवैध था और न अनुचित।

## प्रारम्भिक जीवन

शम्सुद्दीन इल्तुतमिश का वंश इल्बारी-तुर्क था। उसका पिता इलामखाँ अपने

कबीले का प्रधान था। इल्तुतमिश सुन्दर और बुद्धिमान था तथा उसका पिता प्रेमवश उसे घर से बाहर नहीं जाने देता था। इस कारण वह अपने भाइयों की ईर्ष्या का पात्र हो गया जिन्होंने उसे धोखे से एक मेले में ले जाकर एक गुलामों के व्यापारी को बेच दिया। उसके पश्चात् इल्तुतमिश को दो बार फिर बेचा गया और अन्त में जमालुद्दीन मुहम्मद नामक एक व्यापारी उसे बेचने के लिए गजनी ले गया। वहाँ उसे सुल्तान मोहम्मद गोरी ने खरीदना चाहा परन्तु मुँहमाँगी धनराशि न मिलने के कारण जमालुद्दीन ने उसे बेचने से इन्कार कर दिया जिसके कारण गोरी ने उसे गजनी में बेचने पर पाबन्दी लगा दी। अन्त में, कुतुबुद्दीन ऐबक की दृष्टि उस पर पड़ी और क्योंकि उसको गजनी में खरीदना और बेचना अवैध था, इस कारण उसे दिल्ली ले जाया गया जहाँ ऐबक ने उसे खरीद लिया। इल्तुतमिश ने किस प्रकार और क्या शिक्षा प्राप्त की, इसके बारे में पता नहीं लगता। परन्तु वह शिक्षित व्यक्ति, साहसी सैनिक और योग्य नेता था। ऐबक ने उसे आरम्भ से ही 'सर-जाँदार' (अंगरक्षकों का प्रधान) का महत्वपूर्ण पद दिया। एक के पश्चात् एक पद से उन्नति करता हुआ वह बहुत शीघ्र 'अमीरे शिकार' के पद पर पहुँच गया। ग्वालियर के किले की विजय के पश्चात् उसे वहाँ का किलेदार बनाया गया। उसके पश्चात् उसे बरन (बुलन्दशहर) का इक्ता (सूबा) सौंपा गया और अन्त में उसे दिल्ली राज्य का सबसे महत्वपूर्ण बदायूँ का इक्ता सौंपा गया। ऐबक ने अपनी एक पुत्री का विवाह भी उसके साथ कर दिया। 1205-1206 ई. में खोक्खर जाति के विद्रोह को दबाने के अभियान में इल्तुतमिश सुल्तान मोहम्मद गोरी और ऐबक के साथ था। इल्तुतमिश ने इस युद्ध में जिस साहस और कौशल का परिचय दिया उससे प्रसन्न होकर गोरी ने ऐबक को उसके साथ भला व्यवहार करने की सलाह दी और उसे दासता से मुक्त करने के आदेश दिये। ऐबक की मृत्यु के पश्चात् सिपहसालार अमीर अली इस्माइल ने दिल्ली के तुर्की सरदारों की सम्मति लेकर इल्तुतमिश को दिल्ली आने के लिए निमन्त्रण दिया। इल्तुतमिश ने दिल्ली पहुँचकर अपने को सुल्तान घोषित कर दिया, और 1211 ई. में आरामशाह को परास्त किया तथा उसका वध कर दिया।

**कठिनाइयाँ**

इल्तुतमिश ने ऐबक से एक अरक्षित सिंहासन और छोटा राज्य प्राप्त किया। उसने आरामशाह को युद्ध में परास्त करके समाप्त कर दिया था परन्तु जब तुर्की सरदार दिल्ली में एकत्र हुए तब उनमें से कुछ ने उसे सुल्तान मानने से इन्कार कर दिया। वे दिल्ली से बाहर चले गये और विद्रोह की तैयारी करने लगे। इल्तुतमिश ने अपनी सेना लेकर उन पर आक्रमण किया और जूद के युद्ध में उन्हें परास्त करके उनमें से अधिकांश का वध कर दिया। युद्ध को जीतकर और विद्रोह को दबाकर भी जो राज्य उसे प्राप्त हुआ वह पूर्व में बनारस से लेकर पश्चिम में शिवालिक पहाड़ियों तक ही सीमित था। गजनी का शासक यिल्दिज दिल्ली-राज्य को अपनी अधीनता में मानता था। उसने ऐबक के समय में भी यह दावा किया था और उससे युद्ध किया था। परन्तु ऐबक उसका दामाद था जबकि इल्तुतमिश से उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था। इसके अतिरिक्त, ख्वारिज्मशाह के बढ़ते हुए दबाव के कारण उसे पंजाब की ओर बढ़ने के लिए बाध्य होना पड़ रहा था। इन परिस्थितियों में गजनी और दिल्ली के शासकों की शत्रुता का बढ़ना स्वाभाविक हो गया। नासिरुद्दीन कुबाचा ने कुतुबुद्दीन

से झगड़ा नहीं किया था परन्तु वह इल्तुतमिश की कठिनाइयों से लाभ उठाकर अपने राज्य का विस्तार कर रहा था। उच्छ, सिन्ध और मुल्तान के अतिरिक्त उसने भटिण्डा, कुहराम तथा सरस्वती को अपने अधिकार में कर लिया था। आरामशाह की मृत्यु के पश्चात् उसने लाहौर को भी जीत लिया। बंगाल और बिहार दिल्ली राज्य से पृथक् हो गये थे और लखनौती में अलीमर्दन ने अपने को स्वतन्त्र शासक बना लिया था। हिन्दू राजपूत-शासक पुनः शक्ति एकत्र कर रहे थे और विभिन्न स्थानों से तुर्कों को बाहर निकाल दिया गया था। जालौर, रणथम्भौर और ग्वालियर स्वतन्त्र हो गये थे और दोआब में तुर्की आधिपत्य को कायम रखना कठिन हो रहा था। ऐसी कठिन परिस्थितियों में चगेजखाँ के नेतृत्व में मंगोल आक्रमण का भय भी इल्तुतमिश के समय में उपस्थित हुआ। इसके अतिरिक्त ऐबक का दिल्ली का राज्य एक अस्थिर फौजी जागीर की भाँति था जिसमें स्थायित्व का अभाव था और जिसे केवल शक्ति के आधार पर ही कायम रखा जा सकता था। इस प्रकार ये सभी परिस्थितियाँ संकट-पूर्ण थीं। परन्तु इल्तुतमिश ने कौशल, साहस और शक्ति से इन सभी संकटों का मुकाबला किया तथा अन्त में सफलता प्राप्त की।

**कार्य**

**1. चालीस गुलाम-सरदार के गुट (तुर्कान-ए-चिहालगानी) का संगठन**—जिस समय इल्तुतमिश सिंहासन पर बैठा उस समय कुछ कुतबी-सरदारों (कुतुबुद्दीन ऐबक के सरदार) और मुइज्जी (मोहम्मद गोर के सरदार) सरदारों ने उसका विरोध किया। उसने उनके विद्रोह को दबा दिया परन्तु वह उन पर पूर्ण विश्वास नहीं कर सका। इस कारण उसने अपने प्रति वफादार अपने स्वयं के गुलाम-सरदारों का एक गुट बनाया जिसे तुर्कान-ए-चिहालगानी पुकारा गया। वे सभी सरदार उसके द्वारा गुलामों की भाँति खरीदे गये थे। उन्हें उनकी योग्यतानुसार पद दिये गये और इस प्रकार, शासन में उनसे सहयोग लिया गया। वे सभी सरदार पूर्णतया इल्तुतमिश पर निर्भर थे और उसके प्रति वफादार रहे जिससे उसे कुतबी और मुइज्जी सरदारों पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रही।

**2. यिल्दिज की पराजय**—यिल्दिज के प्रति इल्तुतमिश का व्यवहार सफल कूटनीतिज्ञता का रहा। जब वह सिंहासन पर बैठा तो यिल्दिज ने उसे अपने अधीन मानते हुए छत्र, दण्ड आदि राजचिह्न भेजे। इल्तुतमिश ने उन्हें शान्ति से स्वीकार कर लिया। यिल्दिज के सैनिकों ने जब कुबाचा से लाहौर और पंजाब के अधिकांश भाग को छीना तब भी इल्तुतमिश ने उसकी ओर ध्यान न दिया। वह अपनी राजधानी और उसके निकट के क्षेत्रों में अपनी स्थिति को दृढ़ करता रहा। इसके अतिरिक्त उसने सरस्वती, कुहराम और भटिण्डा पर अधिकार कर लिया जिससे उनकी पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा हो सके। इस प्रकार इल्तुतमिश ने यिल्दिज को उस समय तक झगड़ा करने का अवसर नहीं दिया जब तक उसने अपनी राजधानी में और पूरब की ओर बनारस तक के क्षेत्र में अपनी स्थिति को दृढ़ नहीं कर लिया।

1215 ई. में ख्वारिज्मशाह से पराजित होकर यिल्दिज लाहौर भाग आया और उसने थानेश्वर तक के पंजाब-प्रदेश पर अधिकार कर लिया। उसने दिल्ली के सिंहासन पर अपना दावा किया। इस अवसर पर इल्तुतमिश ने उससे अन्तिम निर्णय करने की तैयारी की और अपनी सेना को लेकर आगे बढ़ा। 1215-1216 ई. में

तराइन के युद्ध में यिल्दिज को परास्त करके कैद कर लिया गया। उसे कैद करके बदायूँ भेज दिया गया और उसी वर्ष उसका वध कर दिया गया। यिल्दिज की समाप्ति से इल्तुतमिश को दो लाभ हुए। प्रथम, उसका मुख्य शत्रु समाप्त हो गया और द्वितीय, दिल्ली का गजनी से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। यिल्दिज के पश्चात् गजनी का कोई सुल्तान दिल्ली के सिंहासन का दावा नहीं कर सका।

3. मंगोल आक्रमण का भय—इल्तुतमिश के समय में भारत के तुर्की राज्य को मंगोलों के आक्रमण की सम्भावना से एक महान् संकट उत्पन्न हुआ। मंगोलों के महान् नेता चंगेजखाँ ने गोबी के रेगिस्तान और एशिया के घास के मैदान (Steppes) की समस्त वर्बर जातियों को अपने नेतृत्व में संगठित करके चीन, तुर्किस्तान, इराक, मध्य-एशिया, पर्शिया आदि को अपने पैरों तले रौंद दिया। उसने अलाउद्दीन मुहम्मद ख्वारिज्मशाह का सम्पूर्ण साम्राज्य नष्ट कर दिया। इस कारण जब ख्वारिज्मशाह स्वयं कैस्पियन समुद्र-तट की ओर भाग गया, उसका सबसे बड़ा पुत्र जलालुद्दीन मंगवर्नी भागकर भारत की ओर आया। चंगेजखाँ ने खुरासान और अफगानिस्तान होते हुए सिन्धु नदी के तट तक उसका पीछा किया। परन्तु वहाँ आकर वह रुक गया। उस समय से पंजाब और सिन्ध-सागर के दोआब का ऊपरी भाग जलालुद्दीन मंगवर्नी, कुवाचा, मंगोल-अधिकारियों और खोक्खर जाति के संघर्ष का रण-क्षेत्र बन गया। इल्तुतमिश ने उनके झगड़ों में फँसना पसन्द नहीं किया और स्थिति को चुपचाप देखता रहा। जलालुद्दीन मंगबर्नी एक साहसी और योग्य नेता था। सिन्धु नदी के तट पर अपनी छोटी-सी सेना को लेकर उसने जिस प्रकार मंगोलों का मुकाबला किया और जिस साहस से उसने सिन्धु नदी को पार किया उससे चंगेजखाँ स्वयं इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने अपने पुत्रों से कहा कि "एक पिता को ऐसा पुत्र चाहिए।" इस कारण जलालुद्दीन चुप बैठने वाला न था। उसने सिन्ध-सागर-दोआब पर अधिकार किया, खोक्खर नेता राय खोक्खर की पुत्री से विवाह किया और सियालकोट जिले में पस्तूर को जीत लिया। उसने लाहौर की ओर अपने कदम बढ़ाये परन्तु साथ ही साथ मंगोल के विरुद्ध इल्तुतमिश से सहायता भी माँगी। इल्तुतमिश के सम्मुख बड़ी कठिनाई थी। एक शरणार्थी मुसलमान शाहजादे की सहायता की माँग को ठुकराना एक मुसलमान सुल्तान के लिए अपवाद का कारण बन सकता था। परन्तु जलालुद्दीन को सहायता देने का परिणाम उस चंगेजखाँ से शत्रुता मोल लेना था जिसके सम्मुख बड़े-बड़े साम्राज्य झुकते चले गये थे। अन्त में, इल्तुतमिश ने जलालुद्दीन के दूत का वध करा दिया और जलालुद्दीन को शरण देने से नम्रतापूर्वक इन्कार कर दिया। उसने जलालुद्दीन से प्रार्थना की कि वह पंजाब को खाली कर दे परन्तु साथ ही साथ उसने एक बड़ी सेना भी युद्ध के लिए तैयार कर ली। जलालुद्दीन ने इल्तुतमिश से युद्ध करना उचित न समझा और खोक्खरों के शत्रु कुबाचा पर दबाव डाला। उसने कुबाचा को उच्छ के निकट परास्त किया और उसकी शक्ति को काफी हानि पहुँचायी। अन्त में सिन्ध के दक्षिणी भाग को लूटकर और अपने कुछ अधिकारियों को भारत में छोड़कर जलालुद्दीन 1224 ई. में पर्शिया भाग गया। जब तक जलालुद्दीन भारत में रहा तब तक इल्तुतमिश ने उसे कोई सहायता नहीं दी, और जब तक चंगेजखाँ जीवित रहा तब तक उसने सिन्धु नदी के पश्चिम में राज्य-विस्तार की लालसा नहीं की तथा अन्य किसी भी प्रकार से मंगोलों को असन्तुष्ट करने का कारण उत्पन्न नहीं किया। यद्यपि चंगेजखाँ का उद्देश्य भारत पर आक्रमण करना न था,

परन्तु यदि इल्तुतमिश ने जलालुद्दीन को सहायता दी होती तो सम्भवतया वह दिल्ली पर आक्रमण करता। ऐसी स्थिति में चंगेजखाँ जैसे महान् विजेता के विरुद्ध इल्तुतमिश की विजय की सम्भावना नहीं थी। यह सम्भव था कि भारत का तुर्की राज्य उस मंगोल-आक्रमण के तूफान के कारण नष्ट हो जाता। इस प्रकार इल्तुतमिश की दूरदर्शिता ने तुर्की राज्य को मंगोल आक्रमण से बचा लिया। यही नहीं बल्कि उसने बाद में उससे उत्पन्न परिस्थितियों से लाभ उठाया।

**4. कुबाचा की पराजय**--मोहम्मद गोरी का एक मुख्य गुलाम नासिरुद्दीन कुबाचा भी था जिसे उच्छ की सूबेदारी दी गयी थी। उसने कुतुबुद्दीन ऐबक को तंग नहीं किया परन्तु इल्तुतमिश के गद्दी पर बैठते ही उसने सिन्ध-सागर-दोआब-सरस्वती, भटिण्डा और पंजाब में लाहौर को जीत लिया। इस कारण कुबाचा इल्तुतमिश का एक प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी था जो कभी भी खतरनाक सिद्ध हो सकता था। यिल्दिज ने लाहौर को कुबाचा से छीन लिया था परन्तु जब वह इल्तुतमिश से परास्त हो गया तब कुबाचा ने लाहौर को पुनः अपने अधीन कर लिया। इल्तुतमिश ने उस समय उस ओर ध्यान नहीं दिया परन्तु 1217 ई. में उसने लाहौर को कुबाचा से छीन लिया। तब भी कुबाचा मुल्तान, उच्छ, सिन्ध और सिन्ध-सागर-दोआब का स्वामी रहा। जलालुद्दीन मंगबर्नी के भारत में भागकर आने का सबसे अधिक कुप्रभाव कुबाचा की शक्ति पर पड़ा। जलालुद्दीन ने सिन्ध-सागर-दोआब को उससे छीन लिया, उसके शत्रु खोक्खरों की सहायता की तथा जाने से पहले उच्छ को बरबाद और सिन्ध को दुर्बल करता गया। उसके पश्चात् उसके समर्थक और सरदार भी निरन्तर कुबाचा की शक्ति को सिन्ध में दुर्बल करते रहे जहाँ वे मंगोलों के दबाव के कारण आने के लिए बाध्य हुए थे। इस प्रकार जलालुद्दीन ने कुबाचा की शक्ति को बहुत हानि पहुँचायी। इल्तुतमिश ने इस स्थिति का लाभ उठाया। उसने पहले लाहौर को अधिकार में किया। इसके पश्चात् उच्छ और मुल्तान पर एक साथ आक्रमण किया। कुबाचा ने घबड़ाकर निचले सिन्ध में स्थित भक्खर के किले में जाकर शरण ली। तीन माह पश्चात् मई 1228 ई. में उच्छ पर इल्तुतमिश का अधिकार हो गया। कुबाचा की स्थिति भक्खर में भी दुर्बल हो गयी और उसने सन्धि की बातचीत आरम्भ की। इल्तुतमिश ने उसे बिना शर्त के आत्मसमर्पण करने की सलाह दी जिसे कुबाचा ने स्वीकार नहीं किया। अन्त में, निराश होकर कुबाचा ने सिन्धु नदी में डूबकर अपनी जान दे दी। इस प्रकार 1228 ई. में इल्तुतमिश का एक अन्य मुख्य शत्रु समाप्त हो गया। मुल्तान और उच्छ को दिल्ली राज्य में मिला लिया गया और अन्य बहुत-से महत्वपूर्ण किलों को जीतकर इल्तुतमिश ने पंजाब और सिन्ध में अपनी स्थिति को दृढ़ कर लिया। दिल्ली राज्य की सीमाएँ पश्चिम में मकरान तक हो गयीं तथा निचले सिन्ध में देवल के 'वली' (शासक) मलिक सिनानुद्दीन ने इल्तुतमिश के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। इल्तुतमिश ने अपनी मृत्यु के अवसर तक सियालकोट और हजनेर तक अपना आधिपत्य कर लिया था परन्तु उसने उससे आगे बढ़ने का प्रयत्न नहीं किया क्योंकि उससे मंगोलों से प्रत्यक्ष झगड़ा होने की सम्भावना थी।

**5. बंगाल-विजय**—कुतुबुद्दीन ऐबक के समर्थन और सहायता से अलीमर्दनखाँ ने बंगाल में अपनी सत्ता स्थापित की। इस कारण उसने कुतुबुद्दीन की अधीनता को स्वीकार किया था। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उसने अपने को स्वतन्त्र शासक बना लिया। वह इतना अधिक अत्याचारी सिद्ध हुआ कि प्रायः दो वर्ष पश्चात् ही उसके

सरदारों ने उसे कत्ल कर दिया और उसके स्थान पर 1211 ई. में हुसामद्दीन एवाज खलजी को गद्दी पर बैठाया। एवाज ने सुल्तान गियासुद्दीन की उपाधि ग्रहण की और एक स्वतन्त्र शासक बन गया। तब इल्तुतमिश अपनी पश्चिमी सीमा की सुरक्षा में व्यस्त था तब गियासुद्दीन ने विहार को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया और जाजनगर, तिरहुत, बंग तथा कामरूप के पड़ोसी राज्यों से कर वसूल किया। जब इल्तुतमिश ने अपनी पश्चिमी सीमा की सुरक्षा कर ली तब उसने पूर्व की ओर ध्यान दिया। दक्षिणी बिहार को जीतकर वह आगे बढ़ा। गियासुद्दीन उसका मुकाबला करने के लिए आया परन्तु बाद में उसने बिना किसी युद्ध के इल्तुतमिश की अधीनता स्वीकार कर ली और उसे युद्ध की क्षति-पूर्ति के रूप में बहुत-सा धन दिया। इल्तुतमिश मलिक जानी को बिहार का सूबेदार नियुक्त करके वापस आ गया। परन्तु कुछ समय पश्चात् गियासुद्दीन ने मलिक जानी को बिहार से बाहर निकाल दिया और दिल्ली राज्य के आधिपत्य को मानने से इन्कार कर दिया। इल्तुतमिश ने अपने पुत्र तथा अवध के सूबेदार नासिरुद्दीन महमूद को अनुकूल समय की प्रतीक्षा करने के आदेश दिये। जब गियासुद्दीन अपनी पूर्वी सीमा पर युद्ध करने के लिए गया हुआ था तब नासिरुद्दीन ने उसकी राजधानी लखनौती पर आक्रमण किया। गियासुद्दीन अपनी राजधानी की सुरक्षा के लिए वापस लौटा परन्तु युद्ध में मारा गया और 1226 ई. में नासिरुद्दीन ने लखनौती को विजय कर लिया। इस प्रकार 1226 ई. में बंगाल दिल्ली सल्तनत का एक इक्ता (सूबा) बन गया। परन्तु दो वर्ष पश्चात् 1229 ई. में शाहजादा नासिरुद्दीन की मृत्यु हो गयी और मलिक इख्तियारुद्दीन बल्का खलजी ने विद्रोह करके गद्दी पर अपना अधिकार कर लिया। 1229 ई. में इल्तुतमिश ने स्वयं जाकर उस विद्रोह को समाप्त किया, इख्तियारुद्दीन बल्का युद्ध में मारा गया और बंगाल पुनः दिल्ली सुल्तान के अधीन हो गया। इस बार इल्तुतमिश ने बंगाल और बिहार में पृथक्-पृथक् इक्तादारों (सूबेदारों) की नियुक्ति की। इसके पश्चात् इक्ता (सूबे) इल्तुतमिश की मृत्यु तक उसके अधीन रहे।

**6. हिन्दू राजाओं से संघर्ष** (राजस्थान, मालवा, दोआब आदि)--- कुतुबुद्दीन ऐबक को हिन्दू शासकों की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला था। उसके समय में हिन्दुओं ने कुछ स्थान तुर्कों से छीन लिये थे और उसकी मृत्यु से भी उन्होंने लाभ प्राप्त किया था। हिन्दू राजाओं ने आक्रमणकारी नीति को अपना लिया था और वे विभिन्न स्थानों पर तुर्की राज्य को समाप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। चन्देलों ने कालिंजर और अजयगढ़ को जीत लिया था, प्रतिहारों ने ग्वालियर, नरवर और झाँसी पर अधिकार कर लिया था, गोविन्दराय के नेतृत्व में चौहानों ने रणथम्भौर को तुर्कों से छीन कर जोधपुर और उसके निकट के प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया था, जालोर के चौहानों ने दक्षिण-पश्चिमी राजपूताना के अधिकांश प्रदेश को जीत लिया था और कई बार तुर्कों को परास्त किया था, भट्टी-राजपूतों ने अलवर और उसके निकटस्थ प्रदेशों को स्वतन्त्र कर लिया था तथा अजमेर, बयाना और थंगीर भी स्वतन्त्र हो गये थे। राजस्थान की भाँति दोआब (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में भी हिन्दू शासक तुर्कों के विरुद्ध विद्रोह कर रहे थे। बदायूँ, कन्नौज, बनारस और कटेहर तुर्की आधिपत्य से मुक्त हो गये थे और फर्रुखाबाद तथा बरेली जैसे स्थानों पर हिन्दुओं ने अपने सुरक्षित दुर्ग बना लिये थे।

हिन्दू शासकों की शक्ति को दुर्बल करना और अपने राज्य के मुख्य भाग

दोआब को अपने अधीन करना इल्तुतमिश के लिए आवश्यक था। उसने हिन्दू राजाओं के प्रति दृढ़ और आक्रमणकारी नीति का पालन किया। मुख्यतया उसने तुर्की राज्य से छीने गये स्थानों को पुनः जीतने और अपने अधीन प्रदेशों में अपनी सत्ता को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। उसने 1226 ई. में रणथम्भौर को जीत लिया। उसके पश्चात् उसने परमारों की राजधानी मन्दोर पर अधिकार किया। 1228-1229 ई. में जालोर के शासक उदयसिंह को आधिपत्य स्वीकार करने एवं वार्षिक कर देने के लिए बाध्य किया गया। उसके पश्चात् बयाना, थंगीर, अजमेर, नागौर और उनके आस-पास के प्रदेश जीते गये। 1231 ई. में ग्वालियर का घेरा डाला गया और एक वर्ष के कठिन संघर्ष के बाद उसे विजय कर लिया गया। इल्तुतमिश ने ग्वालियर के सूबेदार मलिक तुसरानुद्दीन तयसाई को कालिंजर पर आक्रमण करने के लिए भेजा। चन्देल शासक भाग गया और मलिक तयसाई ने 1233-1234 ई. में कालिंजर और उसके आस-पास के प्रदेशों को लूटने में सफलता पायी। परन्तु इल्तुतमिश के नागदा के गुहिलोतों और गुजरात के चालुक्यों पर किये गये आक्रमण विफल हुए। 1234-1235 ई. में इल्तुतमिश ने मालवा पर आक्रमण किया तथा भिलसा और उज्जैन लूटने में सफलता पायी। तुर्कों ने भिलसा के एक प्राचीनतम हिन्दू मन्दिर तथा उज्जैन के मन्दिरों को लूटा और नष्ट कर दिया। परन्तु यह मालवा की विजय न थी बल्कि केवल एक लूट मात्र थी। दोआब में इल्तुतमिश ने बदायूँ, कन्नौज, बनारस, कटेहर और बहराइच को पुनः जीतने में सफलता प्राप्त की तथा अवध में भी तुर्की सत्ता को स्थापित किया। इस प्रकार इल्तुतमिश ने तुर्की सत्ता से स्वतन्त्र हो गये प्रदेशों को पुनः जीतने में सफलता प्राप्त की, हिन्दू राजाओं की आक्रमणकारी शक्ति को दुर्बल कर दिया और विजित प्रदेशों में सफलतापूर्वक अपना आधिपत्य स्थापित किया।

परन्तु इस कार्य की पूर्ति के लिए इल्तुतमिश को कठोर संघर्ष करना पड़ा था, यह अवध में हुए पिर्थू के विद्रोह से स्पष्ट हो जाता है जिसके बारे में इल्तुतमिश के पुत्र और अवध के सूबेदार नासिरुद्दीन ने कहा था कि "उसने प्रायः 1,20,000 मुसलमानों का रक्त बहाया था।" उसी प्रकार राजस्थान में भी इल्तुतमिश की सफलता पूर्ण न थी। राजपूतों की शक्ति नष्ट कर दी गयी हो, ऐसी कोई बात न थी। नागदा के गुहिलोतों और गुजरात के चालुक्यों ने उसको परास्त किया था, बूंदी के राजपूतों ने उसके एक अधिकारी के आक्रमण को विफल कर दिया था, बयाना और थानागढ़ की विजयों ने चौहानों की शक्ति के विकास को रोकने में असफलता पायी थी, मालवा में परमार-राजपूतों का शासन पहले की भाँति रहा और ग्वालियर की विजय ने चन्देल-राजपूतों के उत्साह में कोई कमी नहीं की जिनके आधिपत्य में झाँसी के निकट तक का प्रदेश रहा।

**7. खलीफा द्वारा इल्तुतमिश के सुल्तान पद की स्वीकृति**—इल्तुतमिश ने बगदाद के खलीफा से सुल्तान पद की स्वीकृति की प्रार्थना की थी। फरवरी 1229 ई. में खलीफा के प्रतिनिधि इस स्वीकृति-पत्र को लेकर दिल्ली पहुँचे। खलीफा द्वारा इल्तुतमिश को सुल्तान स्वीकार किये जाने के कारण उसका पद कानूनी बन गया और दिल्ली सल्तनत वैध रूप से एक स्वतन्त्र राज्य बन गया जिसके लिए कुतुबुद्दीन ऐबक ने प्रयत्न आरम्भ किये थे। इस स्वीकृति से इल्तुतमिश को सुल्तान के पद को

वंशानुगत बनाने और दिल्ली के सिंहासन पर अपने बच्चों के अधिकार को सुरक्षित करने में सहायता मिली।

8. शासन-प्रबन्ध—इल्तुतमिश ने शासन में कुछ नवीन बातें आरम्भ कीं। उसने इक्ता-व्यवस्था को आरम्भ किया, केन्द्र पर एक बड़ी सेना रखी और दो सिक्के—चांदी का टंका और ताँबे का जीतल चलाया।
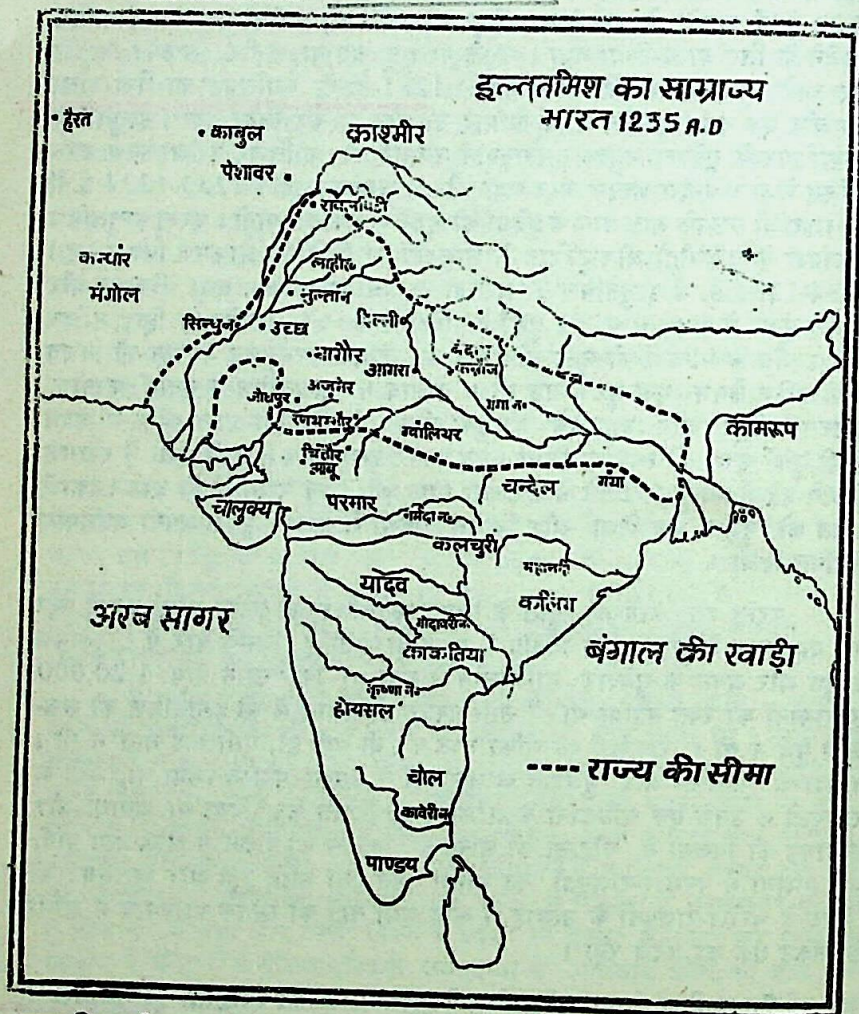
## इल्तुतमिश की मृत्यु

1236 ई. इल्तुतमिश ने बनियान के शासक और जलालुद्दीन मंगबर्नी के अधिकारी सैफुद्दीन हसन कार्लुग (सर वूल्जले हेग के अनुसार खोक्खरों) पर आक्रमण किया। सैफुद्दीन ने गजनी और सिन्धु नदी के बीच के एक बड़े प्रदेश पर अपना

अधिकार कर लिया था और मंगोल भी उसे वहाँ से नहीं निकाल सके थे। परन्तु मार्ग में इल्तुतमिश बीमार हो गया जिसके कारण उसे दिल्ली वापस आना पड़ा। अप्रैल 1236 ई. में इल्तुतमिश की मृत्यु हो गयी।

**इल्तुतमिश का मूल्यांकन**

इल्तुतमिश एक सुसभ्य धार्मिक व्यक्ति, साहसी सैनिक, अनुभवी सेनापति और योग्य शासक था। वह दूरदर्शी और कूटनीतिज्ञ भी था। गुलाम का गुलाम होते हुए भी जिस तीव्र गति से उसने उन्नति की और अन्त में सुल्तान के पद को प्राप्त किया, यह उसकी योग्यता का प्रमाण था। निस्सन्देह, अन्य अनेक मुइज्जी (सुल्तान मोहम्मद गोरी के) और कुतुबी (कुतुबुद्दीन ऐबक के) सरदार भी योग्य थे जिनके बारे में स्वयं इल्तुतमिश ने यह कहा था कि जब वे उसके दरबार में खड़े होते थे तो उसकी इच्छा उनके हाथों और पैरों को चूमने की होती थी। परन्तु वह उन सभी को पीछे छोड़ गया और उन सभी ने उसे अपना सुल्तान स्वीकार किया। यह इल्तुतमिश की श्रेष्ठता का प्रमाण था।

इल्तुतमिश सुसभ्य था और उसने अपने दरबार में ईरानी राज-दरबार के रीति-रिवाजों और व्यवहार को आरम्भ किया। वह विद्वानों और योग्य व्यक्तियों का सम्मान करता था। मंगोल-आक्रमणों के कारण मध्य-एशिया और इस्लामी प्रदेशों से भागकर भारत आये हुए सभी योग्य व्यक्तियों और राज-पुरुषों को उसने अपने दरबार में स्थान दिया। उसने समकालीन विद्वान मिन्हाज-उस-सिराज और मलिक ताजुद्दीन को संरक्षण प्रदान किया था। निजामुल-मुल्क मुहम्मद जुनैदी, जो एक लम्बे समय तक उसका प्रधानमन्त्री रहा, मलिक कुतुबुद्दीन हसन गोरी और फखरुल-मुल्क इसामी जैसे योग्य व्यक्ति उसके दरबार में सम्मान प्राप्त किये हुए थे। इसके अतिरिक्त उसने स्वयं अनेक गुलामों को प्रशिक्षित किया था जो उसकी शक्ति का आधार बने। विभिन्न योग्य व्यक्तियों के कारण 'उसका राज-दरबार सुल्तान महमूद गजनवी की भाँति ही गौरवपूर्ण बन गया था।' इल्तुतमिश ने लाहौर के स्थान पर दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया और उसे दिल्ली सल्तनत के सम्मान के अनुकूल सुन्दर और वैभवपूर्ण बनाया। उसने दिल्ली में विभिन्न तालाब, मदरसे, मस्जिदें और इमारतें बनवायीं। उसने कुतुबमीनार को पूरा कराया जो प्रारम्भिक इस्लाम कला का एक श्रेष्ठ नमूना माना गया है।

इल्तुतमिश धार्मिक विचारों का व्यक्ति था। तबकात-ए-नासिरी के लेखक मिनहाज-उस-सिराज ने लिखा है कि "इल्तुतमिश के समान धार्मिक, दयावान और सन्तों तथा विद्वानों का सम्मान करने वाला शासक उस समय तक नहीं हुआ था।" इल्तुतमिश अपने जीवन के आरम्भ में ही धार्मिक व्यक्तियों के सम्पर्क में आ गया था जिसका प्रभाव उसके जीवन पर अन्त तक रहा। वह रात्रि का काफी समय प्रार्थना और चिन्तन में व्यतीत करता था। वह सूफी सन्तों, जैसे शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी (जिसके बारे में डॉ. ईश्वरीप्रसाद का कहना है कि इल्तुतमिश ने उसके ही सम्मान में कुतुबमीनार को बनवाया था), काजी हमीदुद्दीन नागौरी, शेख जलालुद्दीन तबरीजी, शेख बहाउद्दीन जकारिया, शेख नजीबुद्दीन नखशबी आदि का बहुत सम्मान करता था। वह धार्मिक दृष्टि से कट्टर था, यह उसके व्यक्तिगत जीवन से ही नहीं बल्कि व्यवहार से भी प्रकट होता है। उसने भिलसा और उज्जैन में हिन्दू मन्दिरों

को नष्ट किया था। उसके अन्तिम समय में दिल्ली के इस्माइली शियाओं ने उसकी धार्मिक नीति से ही असन्तुष्ट होकर उसे दिल्ली की मस्जिद में कत्ल करने का प्रयत्न किया था। परन्तु जैसा डॉ. के. ए. निजामी ने लिखा है, उसकी राजनीति उसके धार्मिक विचारों से पृथक् रही, यह ठीक प्रतीत होता है। वह अपने धार्मिक विचारों के कारण तत्कालीन धार्मिक नेताओं का समर्थन प्राप्त करके अपने राज्य को नैतिक समर्थन दिलाने में सफल हुआ। परन्तु वह प्रत्येक अवसर पर उलेमा-वर्ग (धार्मिक व्यक्तियों का वर्ग) से सलाह लेना आवश्यक नहीं मानता था। यह उसके द्वारा अपनी पुत्री रजिया को अपना उत्तराधिकारी बनाने से स्पष्ट हो जाता है।

इल्तुतमिश एक न्यायप्रिय शासक था। इब्नबतूता ने लिखा है कि "इल्तुतमिश ने अपने महल के सम्मुख संगमरमर के दो शेर बनवाये जिनकी गर्दनों में घंटियाँ डाली गयीं। उन घंटियों को बजाकर कोई भी व्यक्ति सुल्तान से न्याय की माँग कर सकता था।"

इल्तुतमिश एक साहसी सैनिक और अनुभवी सेनापति था। मोहम्मद गोरी के समय में खोक्खरों के विद्रोह को दबाने के अवसर पर उसने जिस साहस और शौर्य का परिचय दिया था, उसके कारण गोरी ने उसे दासता से मुक्त कर दिया था। यिल्दिज और कुबाचा को समाप्त करने में स्वयं उसका योगदान था और बंगाल तथा राजस्थान के महत्वपूर्ण युद्धों में उसने स्वयं नेतृत्व किया था। उसकी विजयों का बहुत कुछ श्रेय उसकी स्वयं की सैनिक प्रतिभा और सेनापतित्व की योग्यता को था।

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार इल्तुतमिश ने शासन-संस्थाओं का निर्माण नहीं किया और वह रचनात्मक प्रतिभा-सम्पन्न राजनीतिज्ञ न था। निस्सन्देह, इल्तुतमिश की शासन-व्यवस्था के विषय में जानने के साधन उपलब्ध नहीं हैं और सम्भवतया उसने किसी नवीन-शासन-व्यवस्था को जन्म नहीं दिया। परन्तु डॉ. के. ए. निजामी के अनुसार इक्ता की शासन व्यवस्था और सुल्तान की सेना के निर्माण का विचार उसने दिल्ली सल्तनत को प्रदान किया। उसके अनुसार इल्तुतमिश द्वारा स्थापित शासन व्यवस्था में इक्ताओं का प्रमुख स्थान था। उसके समय में इक्ता दो प्रकार के होते थे—बड़े और छोटे। छोटे इक्तादारों को सैनिक-सेवा के बदले में भूमि केवल कर वसूल करने के लिए दी जाती थी जबकि बड़े इक्तादारों को प्रशासकीय उत्तरदायित्व भी दिया जाता था। उनसे आशा की जाती थी कि वे अपने क्षेत्र में शान्ति व्यवस्था बनाये रखेंगे और आवश्यकता होने पर सुल्तान को सैनिक सहायता देंगे। इक्ता की व्यवस्था को स्थापित करने में इल्तुतमिश के दो उद्देश्य थे— एक विजित प्रदेशों पर नियन्त्रण रखा जा सके और द्वितीय भारतीय सामन्तशाही संस्थाओं को नष्ट किया जा सके। वह इक्तादारों के स्थान-परिवर्तन भी करता था। इसी प्रकार इल्तुतमिश ने प्रथम बार सुल्तान की सेना का निर्माण भी किया जिसकी भर्ती, वेतन आदि का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार का था। उसने मुद्रा में सुधार किया था, इसे सभी स्वीकार करते हैं। वह पहला तुर्क सुल्तान था जिसने शुद्ध अरबी सिक्के चलाये। सुल्तान-युग के दो महत्वपूर्ण सिक्के चाँदी का 'टंका' और ताँबे का 'जीतल' उसी ने आरम्भ किये थे। 'टंका' पर उस शहर का नाम भी उसी ने खुदवाना आरम्भ किया था जिस शहर में वह ढाला जाता था।

इल्तुतमिश दूरदर्शी और कूटनीतिज्ञ था। भारत की उन परिस्थितियों में एक

वंशानुगत राजतन्त्र की स्थापना करना एक प्रमुख आवश्यकता थी। उसने उसे समझ लिया था। उसने उसके लिए प्रयत्न किये और सफल हुआ। खलीफा से सुल्तान के पद की स्वीकृति लेना उसके इस उद्देश्य की पूर्ति का एक भाग था। अपनी कूटनीतिज्ञता का परिचय उसने चंगेजखाँ और जलालुद्दीन मंगवर्नी के साथ व्यवहार करते हुए दिया। चंगेजखाँ को उसने असन्तुष्ट नहीं किया और मंगोल-आक्रमण से अपने राज्य को बचा लिया। जलालुद्दीन मंगवर्नी को उसने सहायता नहीं दी और तब भी वह इस्लाम के समर्थकों को सन्तुष्ट रख सका। इसके अतिरिक्त परिस्थितियों के अनुकूल होने पर यिल्जिद और कुबाचा को समाप्त करना भी उसकी दूरदर्शिता का प्रमाण था।

परन्तु इल्तुतमिश की मुख्य सफलता भारत में नव-स्थापित तुर्की राज्य को सुरक्षा प्रदान करना, उसे वैधानिक स्थिति दिलाना और उस पर अपने वंश के अधिकार को वंशानुगत अधिकार बनाना था। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के शब्दों में, "भारत में मुस्लिम संप्रभुता का इतिहास उससे आरम्भ होता है।"[1] ऐवक ने अपने द्वारा आरम्भ किये गये कार्यों को अधूरा छोड़ दिया था। इल्तुतमिश ने उन कार्यों को पूर्ण किया। यिल्दिज और कुबाचा को समाप्त करके उसने गोर और गजनी के स्वामित्व के दावे से दिल्ली सल्तनत को मुक्त कर दिया, राजस्थान के राजपूत-शासकों द्वारा दिल्ली सल्तनत से छीने गये प्रदेशों को पुनः अपने अधीन करके और दोआब के विद्रोहों को दबाकर उसने दिल्ली सल्तनत की वास्तविकता को सिद्ध कर दिया, बंगाल को दिल्ली सल्तनत का एक 'इक्ता' (सूबा) बनाकर उसने उसका विस्तार किया और मंगोल-आक्रमण से दिल्ली सल्तनत की रक्षा करके उसने उसे एक महान् संकट से बचा लिया। डॉ. के. ए. निजामी ने लिखा है कि "ऐबक ने दिल्ली सल्तनत की रूपरेखा के बारे में सिर्फ दिमागी आकृति बनायी थी, इल्तुतमिश ने उसे एक व्यक्तित्व, एक पद, एक प्रेरणा-शक्ति, एक दिशा, एक शासन-व्यवस्था और एक शासक-वर्ग प्रदान किया।"[2] इल्तुतमिश को न तो ऐबक की भाँति सुल्तान मोहम्मद गोरी का समर्थन प्राप्त हो सका था और न उसकी भाँति भारत के तुर्की सरदारों का नैतिक समर्थन ही मिला था। इसके विपरीत उसे दिल्ली सल्तनत प्राप्त करने के लिए आरामशाह से युद्ध करना पड़ा था। परन्तु तब भी अपनी मृत्यु के अवसर तक उसने एक दृढ़ तुर्की राज्य की स्थापना कर दी, उसकी सीमाएँ निश्चित कर दीं और खलीफा से सुल्तान के पद की स्वीकृति प्राप्त करके अपने और अपने बच्चों के लिए दिल्ली के सिंहासन पर कानूनी अधिकार स्थापित कर दिया। अपने वंश के अधिकार को उसने इतना अधिक दृढ़ बना दिया था कि उसकी मृत्यु के तीस वर्ष बाद भी व्यक्ति यह विश्वास करते रहे कि दिल्ली के सिंहासन पर केवल उसी के वंश का अधिकार था। इस धारणा की पुष्टि इस बात से होती है कि जब बाद में सीदी मौला के समर्थकों ने जलालुद्दीन खलजी को सिंहासन से हटाने का षड्यन्त्र किया तब नागरिकों का समर्थन प्राप्त करने

---

1 "The history of Muslim sovereignty in India begins with him."
—Dr. R. P. Tripathi.

2 "Aibak had merely visualized an outline of the Sultanate; Iltutmish gave it an individuality and a status, a motive power, a direction, an administrative system and a governing class."
—Dr. K. A. Nizami.

हेतु उन्होंने सीदी मौला का विवाह, इल्तुतमिश के वंशज और मृतक सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद की एक पुत्री से करने का इरादा किया। इस प्रकार वास्तव में इल्तुतमिश ने दिल्ली सल्तनत का निर्माण किया और वह उसका पहला सुल्तान था। प्रो. के. ए. निजामी ने लिखा है कि "उसने गोरी द्वारा भारत में विजित और कमजोर तरीके से जोड़े गये प्रदेशों के समूह को सुनियोजित एवं संगठित राज्य 'दिल्ली सल्तनत' में परिवर्तित कर दिया।"[1] प्रो. ए. बी. एम. हबीबुल्ला ने लिखा है कि "ऐबक ने दिल्ली सल्तनत की सीमाओं और उसकी संप्रभुता की रूपरेखा बनायी। इल्तुतमिश, निस्सन्देह, उसका पहला सुल्तान था।"[2] डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "उसने एक ऐसे सैनिक राजतन्त्र की नींव डाली जो आगे चलकर खलजियों के नेतृत्व में निरंकुशता की पराकाष्ठा पर पहुँच गया।"[3] प्रो. हबीबुल्ला ने लिखा है कि "उसने एक ऐसे निरंकुश राजतन्त्र की नींव डाली जो बाद में खलजी शासकों के समय में एक सैनिक-साम्राज्यवाद का मुख्य साधन बना।"[4] प्रो. हबीबुल्ला ने इल्तुतमिश को महान् नहीं माना है और कुछ अन्य इतिहासकार, जैसे डॉ. एस. आर. शर्मा उसे गुलाम-शासकों में प्रथम स्थान प्रदान नहीं करते। परन्तु तब भी इल्तुतमिश एक श्रेष्ठ सुल्तान था, यह सभी मानते हैं। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने उसे गुलाम शासकों में प्रथम स्थान दिया है और सर वूल्जले हेग ने भी लिखा है कि "इल्तुतमिश गुलाम-शासकों में सबसे महान् था।"[5] तत्कालीन इतिहासकार मिन्हाज-उस-सिराज ने भी लिखा था कि "इल्तुतमिश के समान गुणवान, दयालु और बुद्धिमान तथा धर्मपरायण व्यक्तियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने वाला शासक कभी भी सिंहासन पर नहीं बैठा था।"[6] इस प्रकार यह माना जाता है कि इल्तुतमिश गुलाम-शासकों में श्रेष्ठतम शासक था। नवस्थापित तुर्की राज्य की रक्षा करने, उसे दृढ़ बनाने, उसे एक राजधानी प्रदान करने और उसे एक स्वतन्त्र, संगठित तथा वंशानुगत राज्य बनाने का श्रेय उसी को था। डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने ठीक ही लिखा है, "इल्तुतमिश, निस्सन्देह, गुलाम-वंश का वास्तविक संस्थापक था।"[7]

---

1 "He transformed a loosely patch up congeries of Ghurid acquisitions in Hindustan into a well-knit and compact state—the Sultanate of Delhi." —Prof. K. A. Nizami.

2 "Aibak outlined the Delhi Sultanate and its sovereign status; Iltutmish was unquestionably its first king." —Prof. A. B M. Habibullah.

3 "He laid the foundation of military monarchy which reached a high water mark of despotism under the Khaljis." —Dr A L. Srivastava.

4 "He laid the foundation of an absolutist monarchy that was to serve later as the instrument of a military imperialism under the Khaljis." —Prof A. B M. Habibullah.

5 "Iltutmish was the greatest of all the slave kings." —Sir Wolseley Haig.

6 "Never has a sovereign so virtuous, kind-hearted and revered towards the learned and the divines, sat upon the throne." —Minhaj-us-Siraj.

7 "Iltutmish is, undoubtedly, the real founder of the slave dynasty." —Dr. Iswari Prasad.

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. इल्तुतमिश की कठिनाइयों का वर्णन कीजिए। वह उन्हें दूर करने में कहाँ तक सफल रहा ?
2. "भारत में मुस्लिम संप्रभुता का इतिहास इल्तुतमिश के शासन-काल से आरम्भ होता है।" विवेचना कीजिए।
3. "इल्तुतमिश गुलाम-वंश का संस्थापक था।" आप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं ?

# 6

# सुल्तान इल्तुतमिश के उत्तराधिकारी

## [सुल्तान और तुर्की गुलाम-सरदारों के गुट (तुर्कान-ए-चिहालगानी) में राज्य-शक्ति के लिए संघर्ष : 1236-1265 ई.]

सुल्तान इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् दस वर्षों के अन्तर्गत ही उसके वंश चार सुल्तानों को बलि के बकरों की भाँति कत्ल किया गया। उसके बाद पाँचवें सुल्तान ने एक कठपुतले की भाँति राज्य किया और अन्त में इल्तुतमिश के द्वारा खरीदे गये एक गुलाम बलबन ने उसके राजवंश को समाप्त करके दिल्ली के सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया। निस्सन्देह, इसका मुख्य कायण उसके उत्तराधिकारियों का दुर्बल और अयोग्य होना था। सुल्ताना रजिया के अतिरिक्त इल्तुतमिश के जीवित पुत्रों अथवा पौत्रों में से कोई भी सुल्तान बनने के योग्य न था। परन्तु इन घटनाओं का एक अन्य मुख्य कारण इल्तुतमिश के गुलाम सरदारों की महत्वाकांक्षाएँ थीं जिनके कारण उन्होंने सुल्तानों की दुर्बलता का लाभ उठाकर दिल्ली की राज्य-सत्ता पर अपार प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया।

इल्तुतमिश की संप्रभुता और शासन का मुख्य आधार विदेशी मुसलमान थे। वे विदेशी मुसलमान मुख्यतया दो वर्गों में बँटे हुए थे— प्रथम, उसके तुर्क गुलाम-सरदार (तुर्कान-ए-पाक-अस्ल) और दूसरे, ताजिक (ताजिकान ए-गुजीदा-वस्ल) अथवा वे विदेशी मुसलमान जो तुर्क नहीं थे परन्तु उच्च वंश के थे और अपनी योग्यता के कारण श्रेष्ठ पदों को प्राप्त कर सके थे। तुर्की गुलाम-सरदार अपने को 'ख्वाजा-तश' अर्थात् एक मालिक के गुलाम पुकारते थे और वे एक-दूसरे को समान और भाई-भाई समझते थे। राज्य के शासन में उनका बहुत प्रभुत्व था और उन सभी ने सुल्तान इल्तुतमिश की वफादारी से सेवा की थी। परन्तु इल्तुतमिश के दुर्बल उत्तराधिकारी उन गुलाम सरदारों को अपने काबू में न रख सके बल्कि वे सरदार ही सुल्तानों को बनाने और मिटाने वाले बन गये। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने अपने को 'सुल्तानी' अर्थात् उस सुल्तान के सरदार पुकारना आरम्भ किया जिसको उन्होंने सिंहासन पर बैठाया था। उसमें से प्रत्येक राज्य का बड़ा अधिकारी था, प्रत्येक के पास अपनी सेना अथवा अंगरक्षक थे तथा प्रत्येक के पास अपने-अपने महल तथा सुख एवं शक्ति के साधन थे। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् धीरे-धीरे उन्होंने अपने एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी ताजिकों को भी समाप्त कर दिया और राज्य की शक्ति का एकमात्र आधार बन गये। इल्तुतमिश के अयोग्य उत्तराधिकारियों से उन्होंने राज्य

की संप्रभुता को छीनने का प्रयत्न किया। परन्तु क्योंकि उनमें से प्रत्येक महत्वाकांक्षी था और प्रत्येक दूसरे के साथ समानता का दावा करता था, इस कारण उनमें से कोई भी एक उस समय तक सुल्तान न बन सका जब तक कि उसने बाकी अन्य सभी को समाप्त नहीं कर दिया। अपनी पारस्परिक ईर्ष्या के कारण वे अपने में से किसी एक को सुल्तान नहीं बना सके परन्तु उन्होंने मिलकर सुल्तान की शक्ति को अपने हाथों में लेने और अपनी इच्छा के अनुसार सुल्तानों को बनाने और हटाने का प्रयत्न अवश्य किया। इस कारण सुल्तान और उसके गुलाम सरदारों में राज्य की शक्ति के लिए संघर्ष हुआ। उन गुलाम-सरदारों की संख्या निश्चित न थी परन्तु यह संख्या 40 के आस-पास ही रही थी। इस कारण उनका गुट 'चालीस सरदारों के गुट' (तुर्कान-ए-चिहालगानी) के नाम से विख्यात हुआ। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् प्रायः तीस वर्ष का दिल्ली सल्तनत का इतिहास मुख्यतया सुल्तानों और 'चालीस सरदारों के गुट' के संघर्ष का इतिहास रहा। इस संघर्ष में सरदारों की विजय हुई और अन्त में इन्हीं गुलाम-सरदारों में से एक सरदार बलबन ने अपने सभी साथियों के प्रभाव को नष्ट करके सिंहासन पर बैठने में सफलता पायी और दिल्ली में अपने राजवंश की सत्ता स्थापित की।

सुल्तानों और सरदारों के गुट के इस संघर्ष के कारण सुल्तान का सम्मान और शक्ति नष्ट हो गयी, उत्तर-पश्चिमी सीमा पर मंगोल-आक्रमणों को प्रोत्साहन मिला, हिन्दू-राजपूत शासकों ने तुर्कों की शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न किया, दूरस्थ सूबों ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के प्रयत्न किये, आन्तरिक विद्रोह हुए और शासन व्यवस्था दुर्बल हुई। भाग्यवश अथवा सुल्तानों की दुर्बलता के कारण यह संघर्ष लम्बा नहीं चला बल्कि मूलतया दस वर्ष पश्चात् नासिरुद्दीन महमूद के सिंहासन पर बैठ जाने से समाप्त हो गया और इसके साथ-साथ शासन में एक योग्य सरदार बलबन का प्रभुत्व हो जाने के कारण स्थिति सँभल गयी अन्यथा भारत के तुर्की राज्य को अधिक हानि उठानी पड़ती।

## [ 1 ]
## रुकनुद्दीन फीरोजशाह (1236 ई.)

इल्तुतमिश का सबसे बड़ा पुत्र नासिरुद्दीन महमूद उसका योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध होता परन्तु 1229 ई. में उसकी मृत्यु हो चुकी थी। तभी से इल्तुतमिश को अपना उत्तराधिकारी चुनने की आवश्यकता अनुभव हो रही थी। उसका दूसरा पुत्र फीरोज आलसी और विलासी था तथा उसके अन्य पुत्रों की आयु कम थी। ऐसी स्थिति में इल्तुतमिश ने अपनी योग्य पुत्री रजिया को अपना उत्तराधिकारी चुना। ग्वालियर पर आक्रमण करने के अवसर पर वह रजिया को शासन की देखभाल करने के लिए राजधानी दिल्ली छोड़ गया और जिस कुशलता से रजिया ने उस कार्य की पूर्ति की उससे वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि ग्वालियर से वापस आने पर उसने उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया और चाँदी के 'टका' पर उसका नाम अंकित करा दिया। उस अवसर पर उसके कुछ अमीरों ने रजिया के स्त्री होने के नाते उसका विरोध किया परन्तु इल्तुतमिश ने उनको यह कहकर शान्त कर दिया कि ''मेरी मृत्यु के पश्चात् यह पता लग जायेगा कि मेरी पुत्री के अतिरिक्त मेरे पुत्रों में

से कोई भी शासक बनने योग्य नहीं है।"[1] परन्तु अपनी मृत्यु से पहले इल्तुतमिश फीरोज को लाहौर से अपने साथ ले आया था। इससे कुछ इतिहासकारों ने यह अनुमान लगाया है कि इल्तुतमिश ने अपने अन्तिम समय में फीरोज को अपना उत्तराधिकारी बनाने का निर्णय किया था। परन्तु इस बात के निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं होते। इस कारण माननीय यही है कि इल्तुतमिश ने अपनी पुत्री रजिया को ही अपना उत्तराधिकारी बनाया था।

परन्तु इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद उसकी इच्छा का पालन नहीं किया गया। फीरोज का व्यक्तित्व आकर्षक था और उसकी माँ शाह तुर्कान (जो पहले एक दासी थी) महत्वाकांक्षी तथा कुचक्री थी। उस समय इल्तुतमिश ने प्रान्तीय इक्तादार (सूबेदार) उसके पश्चिमी सीमा के अभियान से उसके साथ वापस दिल्ली आये हुए थे। शाह तुर्कान ने उनके साथ मिलकर अपने पुत्र के पक्ष को दृढ़ कर लिया और इल्तुतमिश की मृत्यु होने के अगले दिन ही फीरोज को सुल्तान घोषित कर दिया गया। निस्सन्देह, फीरोज को सुल्तान बनाने में मुख्य भाग प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों) का था।

परन्तु फीरोज विलासी और अयोग्य था तथा उसकी माँ क्रूर सिद्ध हुई। फीरोज भोग-विलास में फँस गया और वह अनावश्यक रूप से जनता में धन बिखेरने लगा। उसकी माँ शाह तुर्कान ने शाही परिवार की स्त्रियों और बच्चों पर अत्याचार करने आरम्भ किये और शासन की शक्ति का स्वयं उपभोग करने लगी। उसके और फीरोज के व्यवहार से अमीरों और सरदारों में असन्तोष हो गया और जब इल्तुतमिश के एक छोटे पुत्र कुतुबुद्दीन को अन्धा करके मरवा दिया गया तब सरदारों को फीरोज और उसकी माँ पर कोई भरोसा न रहा। इसके अतिरिक्त फीरोज की योग्यता और उसकी माँ के शासन में हस्तक्षेप करने से दरबार के अनेक अमीर और कुछ प्रान्तीय इक्तादार (सूबेदार) असन्तोष अनुभव कर रहे थे तथा विभिन्न स्थानों पर विद्रोह की तैयारियाँ होने लगी थीं।

ऐसी स्थिति में बनयान के शासक सैफुद्दीन हसन कार्लूग ने उच्छ पर आक्रमण किया परन्तु उच्छ के योग्य सूबेदार सैफुद्दीन ऐबक ने उसे परास्त करके वापस जाने के लिए बाध्य किया।

परन्तु फीरोज आन्तरिक विद्रोहों से न बच सका। उसके भाई और अवध के सूबेदार गियासुद्दीन ने विद्रोह करके बंगाल से दिल्ली आने वाले खजाने और निकट के विभिन्न नगरों को लूट लिया। प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों) में से बदायूँ के इक्तादार मलिक इजाउद्दीन मुहम्मद सालारी, मुल्तान के इक्तादार मलिक इजूउद्दीन कबीरखाँ ऐयाज, हाँसी के इक्तादार मलिक सैफुद्दीन कूची और लाहौर के इक्तादार मलिक अलाउद्दीन जानी ने सम्मिलित होकर विद्रोह किया और फीरोज को सिंहासन से उतारने के उद्देश्य से अपनी सेनाओं के साथ दिल्ली की ओर बढ़े। फीरोज अपनी

---

1 "After my death it will be seen that no one of them will be found more worthy of the heir-apparentship than she, my daughter."
—Sultan Iltutmish.
(मिनहाज के कथन पर आधारित, प्रो. के. ए. निजामी द्वारा उद्धृत)

सेना को लेकर उनके मुकाबले के लिए आगे बढ़ा। परन्तु उसकी सेना वफादार न थी और उसका वजीर निजामुल-मुल्क जुनैदी उसका साथ छोड़कर विद्रोहियों से जा मिला। जब फीरोज अपनी सेना को लेकर कुहराम की ओर बढ़ रहा था तब मार्ग में उसकी सेना के अधिकांश सैनिकों ने विद्रोह कर दिया, गैर-तुर्की सरदारों को कत्ल कर दिया और दिल्ली वापस चले गये। इस प्रकार सेना के प्रमुख भाग ने फीरोज का साथ छोड़ दिया जिसके कारण विद्रोहियों का मुकाबला करने की बजाय उसे राजधानी की ओर वापस लौटना पड़ा।

दिल्ली में रजिया ने फीरोज की अनुपस्थिति का लाभ उठाया। शुक्रवार की नमाज के समय वह लाल वस्त्र (लाल वस्त्र वह पहनता था जो न्याय की माँग करता था) पहनकर जनता के सम्मुख गयी। उसने जनता को इल्तुतमिश की इच्छा को याद कराया, क्रूर शाह तुर्कान के विरुद्ध सहायता माँगी और सम्भवतया यह वायदा भी किया कि यदि शासक बनने का अवसर मिलने पर वह अयोग्य सिद्ध हो तो उसका सिर काट लिया जाय। दिल्ली की जनता ने उत्साहित होकर उसका साथ दिया। फीरोज को छोड़कर आये हुए सैनिक और सरदारां ने भी रजिया का समर्थन किया। ऐसी स्थिति में फीरोज के दिल्ली में प्रवेश करने से पहले ही रजिया को सिंहासन पर बैठा दिया गया। फीरोज की माँ शाह तुर्कान को कारागार में डाल दिया गया और स्वयं फीरोज को पकड़कर कत्ल कर दिया गया। इस प्रकार फीरोज का शासन काल सात माह में समाप्त हो गया और रजिया ने दिल्ली का सिंहासन प्राप्त कर लिया।

फीरोज के सिंहासन पर बैठने और हटाये जाने से एक बात स्पष्ट होती है। फीरोज को सुल्तान बनाने में सरदारों—मुख्यतया प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों)—का योगदान था और उसके सिंहासन से हटाये जाने में उसके प्रति दिल्ली के नागरिकों का असन्तोष और उसके दिल्ली के सरदारों का उसके विरुद्ध विद्रोह करना था। निस्सन्देह, प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों) का विद्रोह भी इस घटना को बढ़ावा देने वाला था यद्यपि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से इसमें भाग नहीं लिया था। इन घटनाओं ने भविष्य के इतिहास पर प्रभाव डाला। रजिया स्त्री थी, इस कारण सरदारों ने सुल्तान बनने के मामले में हस्तक्षेप किया था। फीरोज अयोग्य निकला, इस कारण सरदारों ने पुनः सुल्तान बनने के मामले में हस्तक्षेप किया। दोनों बार उनका हस्तक्षेप सफल सिद्ध हुआ। इससे उनका उत्साह और आत्मविश्वास बढ़ा। रजिया को सुल्ताना बनाने में प्रान्तीय सूबेदारों का भाग न था, इस कारण वे असन्तुष्ट रहे जिससे रजिया की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ आरम्भ हुईं। वास्तव में परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार बन रही थीं जिनमें दिल्ली के सरदार ही नहीं बल्कि प्रान्तीय सूबेदार भी सुल्तान को बनाने के निर्णय में शक्ति के आधार पर अपने अधिकार की माँग कर रहे थे। इल्तुतमिश के गुलाम-सरदार सिंहासन पर उसके वंश के अधिकार को स्वीकार करते हुए भी यह निर्णय अपने हाथों में रखने का प्रयत्न कर रहे थे कि उसके वंश में से सुल्तान कौन होगा? इस प्रश्न का जो उत्तर रजिया ने दिया उसके कारण उसका सम्पूर्ण शासनकाल अपने सरदारों और इक्तादारों (सूबेदारों) से संघर्ष करने में व्यतीत हुआ।

## [ 2 ]

## सुल्ताना रजिया (1236-1240 ई.)

प्रो. के. ए. निजामी के अनुसार रजिया के सुल्ताना बनने से कुछ निम्नलिखित बातें स्पष्ट हुई :

(1) दिल्ली के नागरिकों ने दिल्ली-सल्तनत के इतिहास में प्रथम बार सुल्तान को बनाने में भाग लिया। इस कारण सुल्ताना रजिया को दिल्ली में रहते हुए कोई भय नहीं था और उसे दिल्ली में रहते हुए षड्यन्त्र द्वारा सिंहासन से नहीं हटाया जा सकता था।

(2) सुल्ताना रजिया ने यह वायदा किया कि यदि वह सफल न हुई तो दिल्ली के नागरिकों को उसे हटाने का अधिकार था। इस प्रकार उसका सिंहासन पर बैठना सुल्ताना और उसकी प्रजा के बीच एक समझौता था।

(3) उसके सिंहासन पर बैठने से इल्तुतमिश की इच्छा की पूर्ति हुई।

(4) उसके सिंहासन पर बैठने से धार्मिक वर्ग की राजनीति में असहायता प्रकट हुई क्योंकि इस्लाम की परम्परा के अनुसार एक स्त्री का सिंहासन पर बैठना वर्जित था।

(5) इससे तुर्कों की बौद्धिक उदारता प्रमाणित हुई क्योंकि उन्होंने एक स्त्री को शासक स्वीकार कर लिया।

सुल्ताना रजिया योग्य पिता की योग्य पुत्री थी। इससे भी अधिक वह मध्ययुग की अद्वितीय स्त्री थी। व्यक्तिगत दृष्टि से उसने भारत में पहली बार स्त्री के सम्बन्ध में इस्लाम की परम्पराओं का उल्लंघन किया और राजनीतिक दृष्टि से उसने राज्य की शक्ति को सरदारों अथवा सूबेदारों में विभाजित करने की बजाय सुल्तान के हाथों में एकत्रित करने पर बल दिया और इसी प्रकार इल्तुतमिश के सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राजतन्त्र के सिद्धान्त का समर्थन किया, जो उस समय की परिस्थितियों में तुर्की राज्य के हित में था। परन्तु इसी कारण रजिया को प्रारम्भ में ही अनेक कठिनाइयों का मुकाबला करना पड़ा और वही उसके पतन का मुख्य कारण बनीं।

रजिया के सिंहासन पर बैठने के अवसर पर बदायूं, मुल्तान, हांसी और लाहौर के इक्तादार अपनी सेनाओं को लेकर दिल्ली की ओर बढ़ रहे थे। प्रान्तीय इक्तादारों ने फीरोज को सिंहासन पर बैठाने में मुख्य भाग लिया था और उसको सिंहासन से उतारने के लिए वे विद्रोही बनकर अपनी सेनाओं के साथ दिल्ली की ओर चले थे। दिल्ली में फीरोज के स्थान पर रजिया सुल्ताना बन चुकी थी। इससे उसका एक उद्देश्य तो पूरा हो चुका था। परन्तु रजिया को सुल्ताना बनाने में उन्होंने भाग नहीं लिया था। वे अपने इस अधिकार को छोड़ने के लिए तैयार न थे कि सुल्तान के चुनाव में उनकी सम्मति भी होनी चाहिए। इस कारण वे अपनी सेनाओं को लेकर दिल्ली तक पहुँच गये। वजीर निजामुल-मुल्क जुनैदी पहले ही फीरोज का साथ छोड़कर उनसे जा मिला था और क्योंकि रजिया के चुनाव में उसका कोई योगदान न था अतएव वह भी रजिया को सुल्ताना मानने के लिए तैयार न हुआ। रजिया अपने प्रान्तीय इक्तादारों को यह अधिकार देने को तैयार न थी। इस कारण उसने इन आक्रमणकारी इक्तादारों से युद्ध करने का निश्चय किया और अपनी सेना

को लेकर दिल्ली से बाहर निकल आयी। छुटपुट के युद्ध से कोई लाभ नहीं निकला। उसके पश्चात् रजिया ने चालाकी से कार्य किया। उसने बदायूं के इक्तादार (सूबेदार) मलिक इजाउद्दीन मुहम्मद सालारी और मुल्तान के इक्तादार मलिक इजूउद्दीन कबीरखाँ ऐयाज को गुप्त रूप से अपनी तरफ मिला लिया और उन्होंने वजीर जुनैदी और अन्य सरदारो को कैद करने का वायदा किया। इसकी सूचना अन्य सरदारों को हो गयी अथवा रजिया ने जान-बूझकर स्वयं यह सूचना उसके पास पहुँच जाने दी। इससे विद्रोही सरदारों का मनोबल समाप्त हो गया और वे भाग खड़े हुए। उनका पीछा किया गया। हाँसी का सूबेदार मलिक सैफुद्दीन कूची और उसका भाई फखरुद्दीन पकड़े गये और बाद में कारागार में मार डाले गये। लाहौर का सूबेदार मलिक अलाउद्दीन जानी भी मारा गया और उसका सिर काटकर सुल्ताना के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। वजीर जुनैदी सिरमूर की पहाड़ियों में भाग गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई। इन विद्रोही सरदारों का दमन रजिया की कूटनीति और शक्ति की एक बड़ी विजय थी। इस विजय के पश्चात् ही वह वास्तविक सुल्ताना होने का दावा कर सकी।

विद्रोही इक्तादारों को परास्त करने के पश्चात् रजिया ने अपने शासन को कौशल और शक्ति से दृढ़ किया और सफल हुई। उसका प्रमुख लक्ष्य शासन से तुर्की गुलाम-सरदारों के प्रभाव को समाप्त करके उन्हें सिंहासन के अधीन बनाना था। उसने अपने विश्वासपात्र सरदारों को विभिन्न पदों पर नियुक्त किया। विभिन्न पदों और सूबों में उसने नवीन अधिकारियों की नियुक्ति की। ख्वाजा मुहाजबुद्दीन को वजीर, मलिक सैफुद्दीन ऐबक बहतू को सेना का प्रधान और उसकी मृत्यु के पश्चात् मलिक कुतुबुद्दीन हसन गोरी को 'नायब-ए-लश्कर' और मलिक इजूउद्दीन कबीरखाँ ऐयाज को लाहौर का इक्ता (सूबा) दिया गया। दो अन्य नियुक्तियाँ भी महत्वपूर्ण थीं। मलिक-ए-कबीर इख्तियारुद्दीन एतगीन को 'अमीर-ए-हाजिब' का पद दिया गया और इख्तियारुद्दीन अल्तूनिया को भटिण्डा का इक्तादार (सूबेदार) बनाया गया। यह दो अधिकारी रजिया के कृपापात्र थे और उसी की कृपा से इतने श्रेष्ठ पदों पर पहुँचे थे। परन्तु बाद में रजिया के पतन में इन दोनों ने मुख्य भाग लिया। एक अबीसीनियन मलिक जमालुद्दीन याकूत को रजिया ने अमीर-ए-अखूर (अश्वशाला का प्रधान) का सम्मानित पद दिया। जमालुद्दीन याकूत रजिया का कृपापात्र था और वह रजिया के घोड़े पर बैठने के अवसर पर उसे अपने हाथों का सहारा दिया करता था। इस कारण कुछ इतिहासकारो ने रजिया पर याकूत के साथ प्रेम-सम्बन्ध होने का आरोप भी लगाया है। परन्तु अधिकांश इतिहासकार इस आरोप को झूठा मानते हैं। याकूत सर्वदा से रजिया के प्रति वफादार था और रजिया ने शासन में तुर्की गुलाम-सरदारों के एकाधिपत्य को समाप्त करने के लिए उसे यह पद दिया था जो शक्ति से अधिक सम्मान का था। इसी कारण तुर्की सरदार इस नियुक्ति से बहुत असन्तुष्ट हुए और जमालुद्दीन याकूत उनकी ईर्ष्या तथा घृणा का पात्र बन गया। परन्तु तब भी जिस कौशल से रजिया ने अपने सरदारों को अपने अधीन किया यह इससे स्पष्ट होता है कि बंगाल और बिहार के विद्रोही सरदार तुगुलखाँ ने भी रजिया के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार रजिया का आधिपत्य उच्छ से लेकर लखनौती तक स्वीकार कर लिया गया। परन्तु रजिया को रणथम्भोर और

ग्वालियर को जीतने में सफलता नहीं मिली जो इस बात का प्रमाण था कि इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् हिन्दू शासक पुनः शक्तिशाली बन गये थे।

परन्तु रजिया केवल इससे सन्तुष्ट न थी। सुल्तान की शक्ति और सम्मान में वृद्धि करने के लिए उसने अपने व्यवहार में परिवर्तन किया। उसने पर्दा त्याग दिया, मर्दाने कपड़े पहनकर दरबार लगाना आरम्भ किया, शिकार और घुड़सवारी करना आरम्भ किया और वह अपनी जनता के सम्मुख खुले मुँह जाने लगी। रजिया के व्यवहार से प्रतिक्रियावादी मुसलमान-वर्ग अवश्य असन्तुष्ट हुआ होगा। परन्तु यह उसके विरुद्ध असन्तोष का मुख्य कारण न था। रजिया का यह व्यवहार इस बात का प्रमाण था कि वह सुल्तान की दृष्टि से एक पुरुष की भाँति कार्य करना चाहती थी और उसका स्त्री होना उसके शासन की दुर्बलता नहीं बन सकता था।

1238 ई. में गजनी और बनयान के ख्वारिज्म-सूबेदार मलिक हसन कार्लुग ने मंगोलों के विरुद्ध रजिया से सहायता माँगी। रजिया ने उससे सहानुभूति प्रकट करते हुए 'बरन' की आय उसे दे देने का वायदा किया परन्तु सैनिक सहायता नहीं दी। इस प्रकार इल्तुतमिश की भाँति उसने भी मंगोलों के आक्रमण से अपने राज्य को बचाया।

रजिया के शासन के तीसरे वर्ष तक यह पूर्णतया स्पष्ट हो गया कि रजिया शासन को अपने हाथों में केन्द्रित करना चाहती थी। विदेशी और तुर्की मुसलमानों को विभिन्न प्रशासकीय पदों पर नियुक्त करना उसकी उस योजना का भाग था जिसके द्वारा वह गुलाम तुर्की सरदारों की शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न कर रही थी। इसे तुर्की गुलाम-सरदार सहन नहीं कर सके। उन्होंने रजिया को सिंहासन से हटाकर अपनी शक्ति को कायम रखने का प्रयत्न किया और इस कारण उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया। उस षड्यन्त्र में दिल्ली और सूबों के वे सरदार जो प्रभावशाली। 'चालीस-सरदारों के गुट' के सदस्य थे, सम्मिलित थे। 'अमीर-ए-हाजिब', इख्तियारुद्दीन एतगीन, लाहौर के सूबेदार कबीरखाँ ऐयाज और भटिण्डा के सूबेदार इख्तियारुद्दीन अल्तूनिया ने उस षड्यन्त्र का नेतृत्व किया। परन्तु दिल्ली में रजिया पूर्ण सुरक्षित थी। दिल्ली के नागरिक उसके प्रति वफादार थे, वह पूर्ण सचेत थी जिसके कारण महल में कोई षड्यन्त्र सफल नहीं हो सकता था और दिल्ली पर आक्रमण करके उसे जीतने का प्रयत्न पहले की भाँति असफल हो सकता था। इस कारण रजिया को उसकी राजधानी से दूर ले जाकर ही समाप्त किया जा सकता था। इस आशय से 1240 ई. में लाहौर के इक्तादार (सूबेदार) कबीरखाँ ने विद्रोह किया। रजिया ने तुरन्त अपनी सेना लेकर उस पर आक्रमण किया। यह आक्रमण इतनी शीघ्रता से हुआ कि अन्य षड्यन्त्रकारी सरदार कबीरखाँ की सहायता के लिए पहुँचने का अवसर न पा सके। अकेला कबीरखाँ रजिया से युद्ध में परास्त हो गया और भाग खड़ा हुआ। रजिया ने उसका पीछा किया। चिनाब नदी के उस पार मंगोलों का आतंक था। इस कारण रजिया द्वारा वहाँ तक पीछा किये जाने पर कबीरखाँ ने आत्मसमर्पण कर दिया। रजिया ने उससे लाहौर की सूबेदारी छीन ली परन्तु उसे मुल्तान का सूबा प्रदान कर दिया। परन्तु रजिया को राजधानी में वापस आये हुए कठिनाई से दस दिन ही हुए थे कि उसे भटिण्डा के सूबेदार अल्तूनिया के विद्रोह का समाचार मिला। अल्तूनिया रजिया के 'अमीर-ए-हाजिब' एतगीन का घनिष्ठ मित्र था और वह बहुत सावधानी से कार्य कर रहा था। रमजान के गर्मी के दिनों की परवाह न

करके रजिया तुरन्त ही विद्रोह को दबाने के लिए चल दी। जिस समय रजिया भटिण्डा के किले के सामने अपनी सेना को लेकर खड़ी हुई थी, उस समय उसके तुर्की सरदारों ने उसे धोखा दिया। उन्होंने जमालुद्दीन याकूत का वध कर दिया और रजिया के विरुद्ध विद्रोह करके उसे पकड़ कर भटिण्डा के किले में कैद कर दिया। रजिया के कैद हो जाने की सूचना पाते ही षड्यन्त्रकारियों ने तुरन्त इल्तुतमिश के तीसरे पुत्र बहराम को सिंहासन पर बैठा दिया जिसका निर्णय वे पहले ही कर चुके थे। षड्यन्त्रकारियों के नेता एतगीन के दिल्ली पहुँचने पर उसे 'नाइब-ए-मामलिकात' का नवीन पद दिया गया। यद्यपि उसके व्यवहार से असन्तुष्ट होकर सुल्तान बहराम ने दो माह के अन्तर्गत ही उसका वध करा दिया।

विद्रोह की सफलता के पश्चात् अल्तूनिया को उसकी इच्छानुसार पद नहीं मिला। उसके मित्र एतगीन के वध के पश्चात् उसे किसी अच्छे पद की आशा भी नहीं रही। उसने रजिया से विवाह कर लिया। ऐसा करने से रजिया ने अपने सिंहासन को प्राप्त करने की आशा की थी और अल्तूनिया को अपने सम्मान और पद में वृद्धि की आशा थी। बहराम से असन्तुष्ट हो गये सरदार मलिक सालारी और कराकश भी उनसे जा मिले। खोक्खर, राजपूत और जाटों को सम्मिलित करके अल्तूनिया ने एक सेना एकत्र की और रजिया के साथ दिल्ली की ओर बढ़ना आरम्भ किया। परन्तु दिल्ली की संगठित सेना के मुकाबले उनकी पराजय हुई और उन्हें भटिण्डा की ओर वापस लौटना पड़ा। उनके सैनिक उनका साथ छोड़ गये और मार्ग में कैथल के निकट कुछ हिन्दू डाकुओं ने रजिया और अल्तूनिया का 13 अक्टूबर, 1240 ई. को वध कर दिया जबकि वे एक वृक्ष के नीचे आराम कर रहे थे।

**रजिया का मूल्यांकन**

इतिहासकार मिनहाज-उस-सिराज के अनुसार रजिया ने 3 वर्ष 5 माह 6 दिन राज्य किया। दिल्ली की सुल्ताना बनने वाली वह एकमात्र स्त्री थी और मिनहाज-उस-सिराज के अनुसार "उसमें वे सभी प्रशंसनीय गुण थे जो एक सुल्तान में होने चाहिए।" परन्तु वही इतिहासकार उसके चरित्र के गुणों को बताते हुए अन्त में लिखता है कि "ये सभी श्रेष्ठ गुण उसके किस काम के थे?" निस्सन्देह मिनहाज-उस-सिराज का यह कथन यह संकेत देता है कि रजिया की एकमात्र दुर्बलता उसका स्त्री होना था। कुछ इतिहासकारों ने रजिया की असफलता का एक मुख्य कारण रजिया का स्त्री होना बताया भी है। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस धारणा से सहमत नहीं हैं। निस्सन्देह रजिया स्त्री थी परन्तु यह उसके विरोधियों द्वारा उसे नष्ट करने का एक बहाना मात्र था। सुल्ताना रजिया ने स्त्री होकर भी स्त्री होने की किसी दुर्बलता का परिचय नहीं दिया। वह योग्य, शिक्षित, दयालु, कर्तव्य-परायण, साहसी, कुशल सैनिक और योग्य सेनापति थी। वह कौशलयुक्त और कूटनीतिज्ञ भी थी। वह राज्य के स्थायी हितों से अवगत थी और उनकी पूर्ति के लिए उसने निरन्तर प्रयत्न किये। सुल्तान की प्रतिष्ठा और शक्ति में उसकी आस्था थी और उसने उन्हें स्थापित करने का प्रयत्न किया। इल्तुतमिश को अपनी पुत्री की योग्यता में विश्वास था और उस पुत्री ने अपने पिता के विश्वास को झूठा सिद्ध नहीं किया।

रजिया स्त्री थी और उसने अपने भाई के विरुद्ध होकर दिल्ली के सिंहासन

को प्राप्त किया था। परन्तु उसके पिता इल्तुतमिश ने उसे अपनी उत्तराधिकारिणी बनाया था, उसका भाई अयोग्य शासक सिद्ध हुआ था और उसके शासक-भाई की माँ शाह तुर्कान उसका कभी भी वध करा सकती थी। इस कारण रजिया का अपने भाई के विरुद्ध सिंहासन को प्राप्त करने का प्रयत्न उसकी सुरक्षा और उसके उचित अधिकार की पूर्ति के अनुकूल था। जहाँ तक स्त्री होकर शासक बनने का प्रश्न है, यह भारत में इस्लाम के समर्थकों के लिए एक नवीन बात अवश्य थी परन्तु इस्लाम के इतिहास के लिए नहीं। मिस्र, ईरान और ख्वारिज्म के साम्राज्यों में स्त्रियों ने शासन-सत्ता का उपभोग किया था, और कर रही थीं। जहाँ तक रजिया के व्यक्तिगत गुणों का प्रश्न है, सभी इतिहासकारों ने उनकी प्रशंसा की है। तत्कालीन इतिहासकार इसामी ने उस पर जमालुद्दीन याकूत से अनुचित प्रेम-सम्बन्ध का आरोप लगाया था। परन्तु अविवाहित इसामी के इस आरोप को अन्य इतिहासकार स्वीकार नहीं करते। वह एक ऐसा सन्देह है जिसका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। कौशल और कूटनीति की दृष्टि से वह श्रेष्ठ थी। विद्रोही सरदारों में फूट डालकर उन्हें परास्त करना, मलिक हसन कार्लूग को सहायता न देकर मंगोल-आक्रमण से अपने राज्य को बचाना और उच्छ से लेकर लखनौती तक अपनी सत्ता को स्वीकार करा लेना इसके प्रमाण थे। वह एक कर्मठ सैनिक और योग्य सेनापति थी तथा प्रत्येक कष्ट और उत्तरदायित्व को स्वयं उठाने के लिए तैयार रहती थी। यह इस बात से स्पष्ट होता है कि उसने प्रत्येक महत्वपूर्ण युद्ध में सेना का संचालन स्वय किया था। शासक के कर्तव्यों की पूर्ति करने के लिए उसने पर्दा करना छोड़ दिया था और अपने सरदारों तथा नागरिकों पर अपना प्रभाव रखने के लिए वह खुले मुँह दरबार में बैठती थी तथा अपनी प्रजा के सम्मुख जाती थी। इससे उसकी लोकप्रियता में कोई कमी नहीं आयी थी। यह इससे स्पष्ट होता है कि दिल्ली के नागरिक अन्त तक उसके लिए वफादार रहे थे जिसके कारण विद्रोही सरदारों ने रजिया को दिल्ली से बाहर ले जाकर ही अपने षड्यन्त्र में सफलता प्राप्त की थी। रजिया के दिल्ली में रहते हुए किसी भी षड्यन्त्र की सफलता की आशा नहीं की जा सकती थी। रजिया यह विश्वास करती थी कि राज्य के हित और सुल्तान की प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए तुर्की गुलाम-सरदारों की शक्ति को तोड़ना आवश्यक है। इस कारण उसने प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों) के द्वारा सुल्तान के चुनाव में भाग लेने के प्रयत्न का विरोध किया था और इसी कारण उसने गैर-तुर्की सरदारों को बड़े-बड़े पद देने आरम्भ किये थे। प्राय: तीन वर्ष तक वह अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल रही। वह अपने राज्य की सीमाओं की सुरक्षा कर सकी, सफलतापूर्वक शासन कर सकी और अपने तुर्की सरदारों को अपने अधीन रख सकी। इसके अतिरिक्त उसकी मुख्य विशेषता यह थी कि उसने अपने तुर्की अमीरों की सहायता से शासन नहीं किया बल्कि उनको अपने अधीन बनाकर शासन किया। परन्तु अन्त में रजिया असफल हुई। वह तुर्की अमीरों की शक्ति को न तोड़ सकी बल्कि उन्होंने उसे नष्ट कर दिया।

**इस कारण रजिया की असफलता का मुख्य कारण तुर्की गुलाम-सरदारों की महत्वाकांक्षाएँ थीं।** इल्तुतमिश के योग्य तुर्की सरदार जो राज्य में बड़े से बड़ा पद प्राप्त किये हुए थे और जिन्हें इल्तुतमिश ने अपनी शक्ति का आधार बना रखा था, उसके बच्चों के प्रति वफादार न रहे। इल्तुतमिश के पश्चात् एक शक्तिशाली उत्तराधिकारी की अनुपस्थिति ने उन्हें वह अवसर प्रदान कर दिया जिसमें वह सुल्तान के

भाग्य-विधाता बन सकते थे। इसी के लिए वे मिलकर प्रयत्नशील रहे। परन्तु जब रजिया ने सुल्तान की शक्ति और प्रतिष्ठा को कायम करने के लिए उनकी शक्ति को दुर्बल करने का प्रयत्न किया तब वे रजिया के विरुद्ध हो गये और उन्होने रजिया को समाप्त करने का प्रयत्न किया। अन्त में, वे सफल हुए और उन्होंने रजिया के स्थान पर अपनी इच्छानुसार बहराम को सिंहासन पर बैठाने में सफलता पायी। यही रजिया के पतन का मुख्य कारण था। परन्तु तब भी इतिहास में रजिया का सम्मानित स्थान है। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "उससे पहले और बाद में इल्तुतमिश-वंश के अन्य सभी सदस्य व्यक्तिगत और चारित्रिक दृष्टि से उससे कहीं अधिक दुर्बल थे।"[1] प्रो. के. ए. निजामी ने लिखा है कि "इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों में सबसे श्रेष्ठ थी।"[2]

[ 3 ]

## मुईजुद्दीन बहरामशाह (1240-1242 ई.)

रजिया को हटाकर बहरामशाह को सिंहासन पर बैठाना तुर्की सरदारों की विजय का प्रतीक था। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् शक्ति के लिए जो संघर्ष सुल्तान और उसके तुर्की गुलाम-सरदारों के गुट में हुआ उसमें तुर्की सरदारों के गुट की विजय हुई। तुर्की सरदारों ने रजिया के व्यवहार से एक सबक और सीखा। वे अब सुल्तान को शासन में कोई भी अधिकार देने को तैयार न थे। इस कारण उन्होने एक नवीन पद 'नाइब' उर्फ 'नाइब-ए-मामलिकात' बनाया और शासन के सम्पूर्ण अधिकार उस अधिकारी को सौंप दिये जिससे शासन की वास्तविक शक्ति सुल्तान के स्थान पर उनमें से किसी एक के पास रह सके। सर्वप्रथम रजिया के विरुद्ध षड्यन्त्र करने वालों के नेता एतगीन को यह पद दिया गया। परन्तु क्या सुल्तान इस स्थिति को स्वीकार कर लेगा? क्या सुल्तान वास्तविक शासन-सत्ता को तुर्की सरदारों को देकर अपनी प्रतिष्ठा और अपने विशेष अधिकारों के बारे में समझौता कर लेगा, आदि प्रश्नों का उत्तर सुल्तान बहरामशाह के शासन-काल में मिला। सुल्तान ने अपनी प्रतिष्ठा और विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में तुर्की सरदारों से समझौता नहीं किया जिसके कारण उसे भी सिंहासन से हटाना पड़ा और तुर्की सरदार अपनी शक्ति के विस्तार में एक कदम और आगे बढ़ गये।

बहरामशाह इस शर्त पर सिंहासन पर बैठा था कि वह शासन के सम्पूर्ण अधिकार 'नाइब' को सौंप देगा। बहरामशाह को सुल्तान की शान-शौकत और बाह्य दिखावट में भी रुचि न थी परन्तु वह आतंकवादी और निर्भय होकर रक्त बहाने वाला था। सुल्तान बनने के दो माह पश्चात् ही उसने यह सिद्ध कर दिया कि तुर्की सरदारों ने उसे पूर्णतया असहाय समझने में भूल की थी। उसने एतगीन को 'नाइब' स्वीकार कर लिया जबकि बजीर का पद मुहाजबुद्दीन के पास ही रहा। बहरामशाह ने 'नाइब' को शासन के अधिकार देने से तो इन्कार नहीं किया परन्तु जब एतगीन ने अपने महल

---

1 "Other members of the dynasty of Iltutmish, both before and after her, were much weaker in personality and character."
—Dr. A. L. Srivastava.

2 "That she was the ablest of the successors of Iltutmish can hardly be denied."
—Prof. K. A. Nizami.

के सामने 'नौवत' रखना और हाथी रखना आरम्भ किया तो वह असन्तुष्ट हो गया क्योंकि वे अधिकार सुल्तान के विशेषाधिकारों में से थे। अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए एतगीन ने वहरामशाह की एक तलाकशुदा बहिन से विवाह कर लिया। बहरामशाह उसकी इन बढ़ती हुई लालसाओं से इतना अधिक असन्तुष्ट हो गया कि उसने दो माह में ही उसके दफ्तर में उसका वध कर दिया। तुर्की सरदारों में से एक प्रभावशाली सरदार का वध अत्यन्त महत्वपूर्ण वात थी परन्तु सम्भवतया पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के कारण तुर्की सरदारों ने सुल्तान के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठाया बल्कि रजिया और अल्तूनिया के विरुद्ध हुए युद्ध में उन्होंने सुल्तान का साथ दिया।

परन्तु एतगीन का वध करने से बहरामशाह को शासन-शक्ति प्राप्त नहीं हुई। निस्सन्देह 'नाइब' के पद पर किसी अन्य व्यक्ति की नियुक्ति नहीं हुई परन्तु अब 'अमीर-ए-हाजिब' बदरुद्दीन संकर रूमा ने वे सभी अधिकार हड़प लिये जो 'नाइब' को प्राप्त थे। इस कारण बहरामशाह अब बदरुद्दीन संकर से ईर्ष्या करने लगा। बदरुद्दीन संकर ने बहरामशाह को सिंहासन से हटाने के लिए षड्यन्त्र किया परन्तु वजीर मुहाजबुद्दीन ने बहरामशाह को इस षड्यन्त्र से अवगत करा दिया क्योंकि वह भी बदरुद्दीन संकर से ईर्ष्या करता था। बहरामशाह ने षड्यन्त्रकारियों को तुरन्त बन्दी बना लिया परन्तु अपनी दुर्बलता को समझकर वह उन्हें कठोर दण्ड न दे सका। उनमें से कई को उनके पदों से हटा दिया गया और कई को दिल्ली से वाहर भेज दिया गया। बदरुद्दीन संकर को बदायूँ भेज दिया गया परन्तु वह चार माह में ही दिल्ली वापस आ गया। उसे कैद कर लिया गया और बाद में उसका और एक अन्य सरदार सैयद ताजुद्दीन अली का वध कर दिया गया।

नाइब एतगीन के वध से तुर्की सरदारों में गम्भीर असन्तोष था परन्तु बदरुद्दीन और ताजुद्दीन के वध ने उन्हें अपनी रक्षा के लिए कटिबद्ध कर दिया। तुर्की उलेमा-वर्ग भी बहरामशाह से असन्तुष्ट हो गया था क्योंकि उनमें कई को उसने दण्ड दिये थे और उसमें से एक 'मिहिर' के काजी का उसने वध करा दिया था। वजीर मुहाजबुद्दीन ने सरदारों के इस असन्तोष का लाभ उठाना चाहा। उसने बहरामशाह को सिंहासन से हटाने का प्रयत्न किया। 1241 ई. में जब मंगोलों ने पंजाब पर आक्रमण करके लाहौर को घेर लिया तब वजीर को अवसर मिला। वह लाहौर की रक्षा हेतु भेजी गयी सेना के साथ स्वयं भी गया। मार्ग में उसने तुर्की सरदारों को यह कहकर भड़का दिया कि सुल्तान ने उसे उन सभी को गुप्त रूप से मार देने के आदेश दिये हैं। उसने यह आदेश-पत्र भी उन्हें दिखा दिया जिसे उसने स्वयं धोखे से सुल्तान से प्राप्त कर लिया था। इससे तुर्की सरदारों ने विद्रोह कर दिया, सुल्तान को सिंहासन से हटाने की शपथ ली और दिल्ली वापस चल दिये। बहरामशाह के कुछ वफादार गुलामों और दिल्ली के नागरिकों ने विद्रोही सेना का मुकाबला किया परन्तु उनकी पराजय हुई। बहरामशाह को बन्दी बना लिया गया और मई 1242 ई. में उसका वध कर दिया गया। तुर्क सरदार किश्लूखाँ ने दिल्ली में सबसे पहले प्रवेश किया और महल पर अधिकार करके उसने अपने आपको सुल्तान बनाने का प्रयत्न किया परन्तु अन्य तुर्की सरदार इसके लिए तैयार न हुए। अन्त में, फीरोजशाह के पुत्र अलाउद्दीन मसूदशाह को उन्होंने सुल्तान बनाया।

इस प्रकार एक बार फिर सुल्तान के विरुद्ध तुर्की सरदारों की विजय हुई।

सुल्तान बहरामशाह का शाही विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न असफल हुआ। यह स्पष्ट हो गया कि राज्य को वास्तविक शक्ति तुर्की सरदारों के हाथ में निहित थी और सुल्तान केवल नाममात्र का सुल्तान बनकर ही रह सकता था। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट था कि तुर्की सरदारों में से कोई भी एक उस समय तक इतना अधिक शक्तिशाली न बन सका था जिससे अन्य सरदार उसे सुल्तान मानने को तैयार हो जाते। इस कारण सुल्तान का पद इल्तुतमिश के एक वंशज को ही दिया गया।

[ 4 ]

## अलाउद्दीन मसूदशाह (1242-1246 ई.)

अलाउद्दीन मसूदशाह सुल्तान इल्तुतमिश के पुत्र सुल्तान फीरोजशाह का पुत्र था। उसे भी इसी शर्त पर सिंहासन सौंपा गया था कि वह स्वयं राज्य की शक्ति का प्रयोग नहीं करेगा बल्कि अपने 'नाइब' के द्वारा करेगा। इस कारण 'नाइब' का पद पुनः स्थापित किया गया और यह पद मलिक कुतुबुद्दीन हसन को दिया गया जो गोर से भाग कर आया हुआ एक शरणार्थी था। परन्तु क्योंकि वह तुर्की सरदारों के दल का नहीं था, अतएव 'नाइब' के पद का वास्तविकता में कोई महत्व नहीं रहा। अन्य पदों पर तुर्की सरदारों के गुट के सदस्यों का बहुमत रहा यद्यपि कुछ नवीन सरदारों को भी इन पदों के वितरण में सम्मिलित किया गया जो यह संकेत करता था कि तुर्की सरदारों के गुट की एकता पारस्परिक ईर्ष्या के कारण दुर्बल हो रही थी। शासन की वास्तविक सत्ता वजीर मुहाजबुद्दीन ने हथिया ली जो वास्तव में एक 'ताजिक' (गैर तुर्क) था। वजीर ने अपनी शक्ति में वृद्धि करने के लिए तुर्की सरदारों को उनके पदों से हटाने का प्रयत्न किया परन्तु वह सफल न हुआ। तुर्की सरदारों ने वजीर को अपना पद छोड़ने के लिए बाध्य किया और उसके स्थान पर नजमुद्दीन अबू बक्र को वजीर बनाया। उस अवसर पर विभिन्न पदों को सरदारों में पुनः वितरित किया गया और उसमें 'अमीर-ए-हाजिब' का महत्वपूर्ण पद बलबन को प्राप्त हुआ।

बलबन 'चालीस तुर्की सरदारों के दल' में एक निम्न स्थान रखता था परन्तु अपनी योग्यता के कारण उसने यह पद प्राप्त किया था। 'अमीर-ए-हाजिब' का पद प्राप्त करके बलबन ने धीरे-धीरे तुर्की सरदारों का नेतृत्व प्राप्त कर लिया। उसने शासन सत्ता अपने हाथों में रखी और तुर्की सरदारों का ध्यान राजपूतों और मंगोलों की ओर लगा दिया। इस कारण मसूदशाह का शासन तुलनात्मक दृष्टि से अधिक शान्तिपूर्ण रहा तथा सुल्तान और सरदारों अथवा सरदारों-सरदारों के परस्पर झगड़े नहीं हुए।

परन्तु तब भी मसूदशाह के समय में बंगाल और बिहार के सूबेदार तुगानखाँ ने दिल्ली के आधिपत्य को मानने से इन्कार कर दिया और उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी सरदार तथा अवध के सूबेदार तमरखाँ से निरन्तर झगड़ा किया। वास्तव में, बंगाल और बिहार दिल्ली के प्रभाव से मुक्त हो चुके थे, लेकिन तुगान और तमर की शत्रुता के कारण ही वे नाममात्र के लिए दिल्ली की अधीनता में थे। इसी प्रकार उच्छ और मुल्तान के सूबेदारों ने भी दिल्ली की अधीनता को मानने से इन्कार किया और केवल

मंगोल-आक्रमणों का भय ही उन्हें नाममात्र के लिए दिल्ली की अधीनता को मानने के लिए बाध्य कर सका।

इस प्रकार मसूदशाह का शासन शान्तिमय होते हुए भी प्रभावपूर्ण न था। वास्तविकता में वह समय बलबन की शक्ति-निर्माण का था। सुल्तान मसूदशाह के हाथों में कोई शक्ति बाकी नहीं रह गयी थी और बलबन धीरे-धीरे उस शक्ति को अपने हाथों में एकत्र कर रहा था तथा तुर्की सरदारों में भी अपने प्रभुत्व को स्थापित कर रहा था। इस कारण जब बलबन ने नासिरुद्दीन और उसकी माँ के साथ मिलकर मसूदशाह को सिंहासन से हटाने का षड्यन्त्र किया तब वह केवल महल तक सीमित रहा। जून 1246 ई. में मसूदशाह को सिंहासन से हटा दिया गया और उसके स्थान पर नासिरुद्दीन को सुल्तान बनाया गया। यह कार्य शन्तिपूर्ण ढंग से हो गया जो इस बात का प्रमाण था कि सुल्तान अपनी सत्ता को पूर्णतया खो चुके थे। मसूदशाह की मृत्यु कारागार में हुई।

## [ 5 ]
## नासिरुद्दीन महमूद (1246-1265 ई.)

नासिरुद्दीन महमूद 10 जून, 1246 ई. को सिंहासन पर बैठा। उसके सुल्तान बनने के समय से राज्य-शक्ति के लिए जो संघर्ष सुल्तानों और उसके तुर्की सरदारों में चल रहा थां, वह समाप्त हो गया। सुल्तान ने स्वयं कभी शासन नहीं किया। वह शक्ति का अनुयायी रहा। तुर्की सरदार शक्तिशाली थे और बलबन उनका नेता था। उसने राज्य की शक्ति उन्हे और उनके नेता को सौंप दी। यह कहा जाता है कि सुल्तान नासिरुद्दीन महत्वाकांक्षाओं रहित एक धर्म-परायण व्यक्ति था। वह कुरान की नकल करता था, उनको बेचकर अपनी आय करता था और धार्मिक कार्यों में लगा रहता था। उसकी सादगी और सच्चरित्रता के बारे में अनेक किंवदन्तियाँ भी प्रचलित हुईं। यह कहा जाता है कि उसकी पत्नी स्वयं भोजन बनाती थी। एक बार उँगलियों के जल जाने के कारण उसने अपने पति और सुल्तान से एक नौकरानी रखने के लिए कहा परन्तु सुल्तान ने इससे इन्कार कर दिया क्योंकि वह राज्य के धन को अपनी सुख-सुविधाओं पर खर्च करना नहीं चाहता था। परन्तु इन किंवदन्तियों में अतिशयोक्ति है। सुल्तान की पत्नी तुर्की सरदारों के प्रधान और राज्य के 'नाइब' बलबन की पुत्री थी। यह कैसे सम्भव था कि उसकी सेवा में दासियाँ न हों? सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि 'एक अन्य अवसर पर सुल्तान ने इतिहासकार मिन्हाजुद्दीन की बहिन को 40 दास भेंट-स्वरूप दिये थे।' इस कारण इतना स्वीकार करना पर्याप्त है कि सुल्तान दयालु और सहृदय प्रवृत्ति का व्यक्ति था। उसे हस्तलिपि का शौक था जिसके कारण वह कुरान की नकल करता था और सुल्तान के पद के बाह्य ऐश्वर्य के लिए लालायित होने के स्थान पर वह सादगी से सन्तुष्ट था। यह भी स्पष्ट है कि परिस्थितियों ने उसे इस बात के लिए बाध्य किया था, अन्यथा एक पूर्ण सरल प्रवृत्ति के व्यक्ति को राज्य शासन की इच्छा ही नहीं होनी चाहिए थी। ऐसी स्थिति में नासिरुद्दीन अपनी माँ और बलबन के साथ मिलकर मसूदशाह को सिंहासन से उतारने का प्रयत्न न करता। वास्तविकता यह थी कि नासिरुद्दीन महत्वाकांक्षी न था और उसमें परिस्थितियों से समझौता करने की समझदारी थी। वह यह समझ सका कि उससे पहले के चार सुल्तानों का क्या परिणाम हुआ था। उनमें से प्रत्येक को सिंहासन

छोड़ना पड़ा था और प्रत्येक का वध हुआ था क्योंकि उन्होंने तुर्की सरदारों की शक्ति का विरोध करने का साहस किया था। 16 वर्ष की अवस्था के नासिरुद्दीन को ठीक मार्ग पर रखने के लिए यह भय काफी था। इसके अतिरिक्त वह उन तुर्की सरदारों के नेता की कृपा से ही सुल्तान बन सका था और वह ठीक प्रकार समझ गया था कि उनकी कृपा से ही वह शासक रह सकता था अन्यथा इल्तुतमिश-वंश के सभी व्यक्ति अभी मरे नहीं थे। इस कारण जिस प्रकार उसने सिंहासन प्राप्त किया था, उसी प्रकार कोई अन्य भी सिंहासन प्राप्त कर सकता था। इतिहासकार इसामी ने नासिरुद्दीन की धार्मिक प्रवृत्ति की बहुत प्रशंसा की है परन्तु वह यह भी लिखता है कि "वह बिना उनकी (तुर्की सरदारों की) पूर्व आज्ञा के अपनी कोई राय व्यक्त नहीं करता था। वह बिना उनके आदेश के अपने हाथ-पैर तक नहीं हिलाता था। वह बिना उनकी जानकारी के न पानी पीता था और न सोता था।"[1] इसी कारण डॉ. के. ए. निजामी ने लिखा है कि "आत्मसमर्पण पूर्ण था।"[2] नासिरुद्दीन के शासन-काल में कुछ थोडे समय को छोड़कर शासन-सत्ता पूर्णतया उनके 'नाइब' बलबन के हाथों में रही। आरम्भ में बलबन 'अमीर-ए-हाजिब' था और अबू बक्र वजीर। परन्तु वास्तव में शासन-सत्ता का उपभोग बलबन ही करता था। अगस्त 1249 ई. में उसने अपनी पुत्री का विवाह सुल्तान नासिरुद्दीन से कर दिया। उस अवसर पर उसे 'नाइब-ए-मामलिकात' का पद देकर कानूनी रूप से शासन के सम्पूर्ण अधिकार सौंप दिये गये और उसे 'उलूगखां' की पदवी से भी विभूषित किया गया। बलबन के सभी सम्बन्धियों को राज्य में सम्मानित पद दिये गये जिससे वह शासन-व्यवस्था पर पूर्ण नियन्त्रण रख सके।

परन्तु डॉ. ए. बी. पाण्डे ने एक अन्य विचार नासिरुद्दीन के बारे में व्यक्त किया है। उनका मत है कि नासिरुद्दीन मात्र कठपुतला शासक नहीं था अपितु 1255 ई. तक पर्याप्त प्रभावशाली रहा। अपने मत के समर्थन में डॉ. पाण्डे ने मिनहाज-उस-सिराज के इस कथन की ओर ध्यान दिलाया है कि "नासिरुद्दीन जब बहराइच का हाकिम था तब उसने हिन्दुओं के विरुद्ध कई युद्ध लड़े और वहाँ का शासन इतनी कुशलता से किया कि उसकी प्रजा सुखी और सम्पन्न हो गयी।" डॉ. पाण्डे का यह भी कहना है कि 1253 ई. में बलबन को नाइब-ए-मामलिकात से हटाया जाना और 1254 ई. में उसकी पुनः उस पद पर नियुक्ति भी शासन में नासिरुद्दीन के प्रभावशाली होने का प्रमाण हैं। डॉ. पाण्डे ने फरिश्ता के कथन को भी अपने मत के समर्थन में व्यक्त किया है, जो लिखता है कि "सिंहासन पर उसका (नासिरुद्दीन) अधिकार केवल इस कारण नहीं था कि उसका उस पर कानूनी अधिकार था अपितु इसलिए भी था कि वह साहसी, योग्य, विद्वान और अन्य कई गुणों से भी युक्त था। परन्तु डॉ. पाण्डे के विचार से अधिकांश इतिहासकार अभी तक सहमत नहीं हो सके हैं।

---

1 "He expressed no opinion without their prior permission; he did not move his hands or feet except at their order. He would neither drink water nor go to sleep except with their knowledge."
—Isami.

2 "The surrender was absolute," —Dr. K. A. Nizami.

## रायहान 'वकीलदार' (1253 ई.)

बलबन को प्रायः एक वर्ष अपने पद से पृथक् रहना पड़ा और उस समय में एक भारतीय मुसलमान रायहान ने शासन-संचालन किया। 1249 ई. में बलबन की पुत्री का विवाह सुल्तान से होने, उसके 'नाइब' बनने और उसके सम्बन्धियों को बड़े-बड़े पद प्राप्त होने से दरबार के कुछ सरदार उससे ईर्ष्या करने लगे थे। इस कारण बलबन के विरुद्ध कुछ सरदारों का एक पृथक् दल बन गया। उसमें कुछ तुर्की सरदार थे, सुल्तान नासिरुद्दीन की माँ उनके साथ थी और बाकी अन्य भारतीय मुसलमान थे जिनकी संख्या अब पर्याप्त हो गयी थी। सम्भवतया, सुल्तान नासिरुद्दीन भी उनके साथ हो गया था। इस दल का नेतृत्व रायहान ने किया। उन सभी सरदारों के कहने से 1253 ई. में सुल्तान ने बलबन को उसके पद से हटा दिया और उसे अपने सूबे हाँसी में जाने की आज्ञा दी। बाद में उसे नागौर भेज दिया गया। बलबन ने दोनों ही अवसरों पर सुल्तान की आज्ञा का पालन किया। राज्य के अन्य सरदारों के पदों में भी परिवर्तन किया गया। रायहान स्वयं 'वकीलदार' बना और सम्पूर्ण शासन पर उसका अधिकार हो गया। बलबन के भाई और सम्बन्धियों को भी उनके पदों से हटा दिया गया और उनके स्थान पर नवीन अधिकारियों की नियुक्ति की गयी। मलिक मुहम्मद निजाम जुनैदी को वजीर, मिन्हाज को हटाकर शमसुद्दीन को मुख्य काजी और भटिण्डा तथा मुल्तान की सूबेदारी शेरखाँ के स्थान पर अर्सलाखाँ को दी गयी।

परन्तु रायहान बहुत अधिक समय तक अपनी स्थिति को दृढ़ न रख सका। तुर्की सरदार एक भारतीय मुसलमान की सत्ता को सहन न कर सके और उनमें से रायहान के साथ हो गये थे, वे पुनः बलबन के पक्ष में हो गये। प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों) ने बलबन को सहायता का आश्वासन दिया। 1254 ई. में बलबन और उसके समर्थकों ने अपनी सेनाएँ भटिण्डा में एकत्र कर लीं और उसके पश्चात् दिल्ली की ओर बढ़ना आरम्भ कर दिया। सुल्तान रायहान को साथ लेकर दिल्ली से बाहर निकला। दोनों विरोधी दलों की सेनाएँ समाना पहुँच गयीं जहाँ युद्ध करने की बजाय समझौते की बातचीत आरम्भ हुई। रायहान ने सुल्तान को युद्ध करने की सलाह दी परन्तु सभी तुर्की सरदार बलबन के पक्ष में हो गये थे। इस कारण सुल्तान जो शक्ति के साथ रहना पसन्द करता था, युद्ध के लिए तैयार न हुआ। अन्त में, विद्रोही सरदारों की सलाह मानकर सुल्तान ने रायहान को उसके पद से हटा दिया और बलबन को पुनः 'नाइब' का पद दे दिया। रायहान को पहले बदायूँ और उसके पश्चात् बहराइच भेजा गया। बाद में वह वहीं पर मारा गया। इस प्रकार भारतीय मुसलमानों द्वारा शासन-सत्ता को प्राप्त करने का प्रथम प्रयत्न असफल हुआ। रायहान के पतन का मुख्य कारण तुर्की सरदारों की ईर्ष्या थी जो भारतीय मुसलमानों से भी उतनी ही घृणा करते थे जितनी हिन्दुओं से जिसके कारण वे उसके आधिपत्य को बर्दाश्त नहीं कर सके।

## बलबन पुनः नाइब (1254-1265 ई.)

रायहान के पतन के पश्चात् बलबन ने नासिरुद्दीन के अन्तिम समय तक निर्विवाद सत्ता का उपभोग किया। सभी महत्वपूर्ण पदों पर पुनः उसके समर्थकों की नियुक्ति की गयी, अधिकांश सरदारों ने उसकी सत्ता को स्वीकार कर लिया और

यदि कभी किसी ने विरोध करने का साहस भी किया तो उसे समाप्त कर दिया गया जैसा मलिक कुतुबुद्दीन हसन के साथ हुआ। बलबन ने सुल्तान से 'छत्र' (सुल्तान के पद का प्रतीक) प्रयोग करने की आज्ञा माँगी थी और सुल्तान ने अपना छत्र उसके प्रयोग के लिए दे दिया था। कुतुबुद्दीन ने उसके विषय में कुछ कह दिया जिसके कारण बलबन ने उसकी हत्या करवा दी।

**नाइब के रूप में बलबन के कार्य**

नाइब के रूप में बलबन का मुख्य कार्य अपनी स्थिति को दृढ़ करना था। इसमें वह सफल हुआ। इसके अतिरिक्त उसके अन्य मुख्य कार्य दिल्ली सल्तनत की सीमाओं की सुरक्षा करना तथा आन्तरिक विद्रोहों को दबाना थे। इन कार्यों को करने के लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील रहा परन्तु आंशिक रूप में सफल हुआ।

पूर्व में बंगाल का सूबा दिल्ली सुल्तानों के लिए सर्वदा कष्टदायक रहा था। इस अवसर पर सूबेदार तुगानखाँ ने दिल्ली की सत्ता को मानने से इन्कार कर दिया। परन्तु उड़ीसा में जाजनगर के हिन्दू राजा से परास्त हो जाने पर उसने दिल्ली सुल्तान से सहायता माँगी। तमरखाँ के नेतृत्व में भेजी गयी सेना के बंगाल तक पहुँचने तक उड़ीसा की सेना वहाँ से वापस आ चुकी थी परन्तु बलबन के इशारे में तमरखाँ ने तुगानखाँ से लखनौती को छीन लिया। तुगानखाँ को अवध की सूबेदारी दी गयी और बंगाल दिल्ली के अधीन हो गया। इसके पश्चात् 1255 ई. में तुगान के एक उत्तराधिकारी यूजबक-ए-तुगरिलखाँ ने सुल्तान की उपाधि ग्रहण कर ली। परन्तु 1257 ई. में कामरूप के हिन्दू राजा पर आक्रमण करने के अवसर पर वह मारा गया और बंगाल फिर से दिल्ली के अधीन हो गया। लेकिन तीन या चार वर्ष के पश्चात् कड़ा के इक्तादार अर्सलाखाँ ने बंगाल पर अधिकार कर लिया और वह एक स्वतन्त्र शासक की तरह व्यवहार करने लगा। इस प्रकार नासिरुद्दीन के समय में बंगाल दिल्ली सल्तनत के प्रभुत्व से निकल गया।

उत्तर-पश्चिम में मंगोल-आक्रमणों, बनयान के शासक सैफुद्दीन कार्लूग की महत्वाकांक्षाओं और कश्लूखाँ सदृश विद्रोही सरदारों के विद्रोहों ने दिल्ली सल्तनत की स्थिति को दुर्बल बनाया। मुल्तान और सिन्ध पर दिल्ली का अधिकार अस्थिर रहा और मंगोलों ने लाहौर तक अपना अधिकार कर लिया। यद्यपि बाद में वे उसे छोड़ गये तब भी पंजाब का उत्तर-पश्चिम का सम्पूर्ण प्रदेश मंगोलों के अधिकार में रहा। परन्तु 1259 ई. में मंगोल शासक हलाकू के साथ एक समझौता हो जाने के पश्चात् पंजाब में कुछ शान्ति हो गयी।

बलबन को अपनी बहुत कुछ शक्ति आन्तरिक विद्रोहों को दबाने में लगानी पड़ी। पश्चिम में खोक्खर, मेवात में मेव (मेवाती), दोआब और बुन्देलखण्ड में होने वाले विद्रोह तथा मालवा और राजस्थान के राजपूत-शासकों ने उसे निरन्तर व्यस्त रखा। बलबन को प्रायः प्रत्येक वर्ष किसी न किसी स्थान पर विद्रोहों को दबाने के लिए जाना पड़ता था। इससे यह स्पष्ट होता है कि वह इन विद्रोहों को समाप्त करने में पूर्ण सफल नहीं हुआ था। राजस्थान में रणथम्भोर, ग्वालियर और बूंदी को जीतने के उसके प्रयत्न असफल रहे। जाजनगर (दक्षिणी बिहार) और कामरूप के शासकों ने तुर्क सेनाओं को पराजित करने में सफलता पायी। यह इस बात का प्रमाण था कि इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों के समय में हिन्दू शासक अपनी शक्ति में वृद्धि करके दिल्ली सल्तनत से टकराने का साहस कर रहे थे।

इस प्रकार 'नाइब' की दृष्टि से बलबन के समय में कोई बहुत महत्वपूर्ण कार्य नहीं किये गये। वास्तव में सुल्तान के सम्मान और शक्ति में कमी हो जाने और तुर्की सरदारों की महत्वाकांक्षाओं के पारस्परिक प्रतिस्पर्धा में परिवर्तन हो जाने से दिल्ली सल्तनत और तुर्की राज्य का प्रभाव दुर्बल हो गया था। बलबन के लिए यही कार्य यथेष्ट था कि उसने तुर्की राज्य को नष्ट नहीं होने दिया और उसके प्रभाव को कायम रखने के लिए प्रयत्नशील रहा। इसके अतिरिक्त उसे अपनी स्थिति को भी दृढ़ रखना था जिसमें वह पूर्णतया सफल रहा और यही बलबन की सबसे बड़ी सफलता थी।

1265 ई. में सुल्तान नासिरुद्दीन की अकस्मात मृत्यु हो गयी। इतिहासकार इसामी ने लिखा है कि बलबन ने नासिरुद्दीन को जहर देकर मरवा दिया था और फरिश्ता ने लिखा है कि बलबन ने इल्तुतमिश के कई वंशजों का वध कर दिया जिससे कोई उसके विरुद्ध सिंहासन का दावेदार न बन सके। इब्नबतूता ने भी लिखा था कि "अन्त में नाइब ने उसे (नासिरुद्दीन को) कत्ल करा दिया और स्वयं सुल्तान बन गया।" इस कारण प्रो. के. ए. निजामी का मत है कि बलबन ने नासिरुद्दीन को मरवा दिया था। मृत्यु के अवसर पर सुल्तान की आयु 36 वर्ष की थी जबकि बलबन उससे 20 या 24 वर्ष बड़ा था। इस कारण महत्वाकांक्षी बलबन पर ऐसा सन्देह किया जाना अस्वाभाविक भी नहीं है। परन्तु बरनी ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा जबकि तारीख-ए-मुबारकशाही के अनुसार सुल्तान की मृत्यु बीमारी से हुई। इस कारण, सर वूल्जले हेग और प्रो. हबीबुल्ला यह मत प्रकट करते हैं कि सुल्तान की अचानक मृत्यु हो गयी और क्योंकि उसके कोई बच्चा न था, अतएव बलबन स्वयं सुल्तान बन गया। इसमें से सत्य कुछ भी हो परन्तु तथ्य यह है कि नासिरुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् बलबन निर्विवाद सुल्तान बना।

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. इल्तुतमिश की कठिनाइयों का वर्णन कीजिए। वह उन्हें दूर करने में कहाँ तक सफल रहा?
2. "भारत में मुस्लिम सम्प्रभुता का इतिहास इल्तुतमिश के शासन-काल से आरम्भ होता है।" विवेचना कीजिए।
3. "इल्तुतमिश गुलाम-वंश का वास्तविक संस्थापक था।" आप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं?

# 7

# गियासुद्दीन बलबन, कैकुबाद और क्यूमर्स

बलबन ने एक नवीन राजवंश 'बलबनी-वंश' की नींव डाली यद्यपि इल्तुतमिश के वंश से उसके घनिष्ठ रक्त सम्बन्ध हो गये थे। सुल्तान मसूदशाह और सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद दोनों उसके दामाद थे और नासिरुद्दीन की दूसरी पत्नी से उत्पन्न एकमात्र पुत्री से उसके पुत्र बुगराखाँ का विवाह हुआ था।[1] सुल्तान नासिरुद्दीन के समय में बलबन 'नाइब' था और राज्य की सम्पूर्ण शक्ति का उपभोग करता था। इस प्रकार बलबन के सुल्तान बनने से सुल्तान में परिवर्तन हुआ, परन्तु शासन करने वाले में नहीं। वास्तविकता में नासिरुद्दीन का शासन बलबन का शासन था। यहाँ तक कि उसने सुल्तान के सम्मान के प्रतीक 'छत्र' का प्रयोग भी नासिरुद्दीन के समय में ही आरम्भ कर दिया था।

## [ 1 ]

## गियासुद्दीन बलबन (1265-1287 ई.)

### प्रारम्भिक जीवन

बहाउद्दीन बलबन के जन्म के बारे में कुछ पता नहीं लगता है परन्तु सम्भवतया, जैसा डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है, वह 'इल्तुतमिश की भाँति इल्बारी तुर्क था।' वह बचपन में मंगोलों के द्वारा पकड़ा गया और उन्होंने उसे बगदाद ले जाकर गुलाम के रूप में बेच दिया। उसे ख्वाजा जमालुद्दीन बसरी नामक एक व्यक्ति ने खरीदा जो उसे 1232-1233 ई. में गुजरात के मार्ग से दिल्ली ले आया। इल्तुतमिश ने 1233 ई. में ग्वालियर की विजय के पश्चात् उसे खरीदा। इल्तुतमिश उसकी योग्यता से प्रभावित हुआ और कुछ समय पश्चात् उसे 'खासदार' का पद प्राप्त हो गया। अपनी योग्यता और कार्यक्षमता के कारण रजिया के शासन-काल में वह 'अमीर-ए-शिकार' के महत्वपूर्ण पद पर पहुँच गया। रजिया के विरुद्ध षड्यन्त्र करने वाले तुर्की सरदारों में से वह भी एक था और जब बहरामशाह सुल्तान बना तो उसे 'अमीर-ए-अखूर' (अश्वशाला का प्रधान) का पद प्रदान किया गया। 'अमीर-ए-हाजिब' मलिक बदरुद्दीन संकर रूमी की उस पर विशेष कृपा रही जिसके कारण उसे रेवाड़ी की जागीर दी गयी। सुल्तान बहरामशाह को सिंहासन से हटाकर मसूदशाह को सुल्तान बनाने में भी उसने तुर्की अमीरों का साथ

---

1 *The Foundations of Muslim Rule in India* by A. B. M. Habibullah.

दिया, जिसके कारण उसे हाँसी की सूबेदारी दी गयी। जब वजीर मुहाजबुद्दीन और तुर्की सरदारों में झगड़ा हुआ और मुहाजबुद्दीन को हटाकर अबू बक्र को वजीर बनाया गया तो बलबन को 'अमीर-ए-हाजिब' का पद प्राप्त हुआ। वजीर अबू बक्र बहुत सरल प्रकृति का व्यक्ति था और 'नाइब' के पद पर किसी व्यक्ति को नियुक्त नहीं किया गया था। इस कारण बलबन को 'अमीर-ए-हाजिब' के पद की दृष्टि से अपनी शक्ति को दृढ़ करने का अवसर मिल गया। बलबन ने तुर्की सरदारों का ध्यान पारस्परिक झगड़ों की ओर से हटाकर राजपूतों और मंगोलों की ओर आकृष्ट कर दिया और धीरे-धीरे राज्य की शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर ली। मसूदशाह को सिंहासन से हटाकर नासिरुद्दीन महमूद को सुल्तान बनाने में मुख्य भाग बलबन का रहा। इस कारण नासिरुद्दीन ने स्वेच्छा से राज्य की सम्पूर्ण शक्ति बलबन के हाथों में दे दी। अगस्त 1249 ई. में बलबन ने अपनी पुत्री का विवाह सुल्तान नासिरुद्दीन से कर दिया। उस अवसर पर उसे 'उलूगखाँ' की उपाधि और 'नाइब-ए-मामलिकात' का पद दिया गया। इस प्रकार शासन के सम्पूर्ण अधिकार कानूनी तौर पर उसे दे दिये गये। बलबन ने अपने सम्बन्धियों को महत्वपूर्ण पद प्रदान किये और स्वयं राज्य का वास्तविक शासक बन गया। बलबन की शीघ्र उन्नति से अनेक सरदार उससे ईर्ष्या करने लगे जिनमें कुछ तुर्की सरदार भी सम्मिलित थे, जो अपने में से ही एक साधारण सरदार की श्रेष्ठतम पदोन्नति और सत्ता से असन्तुष्ट हो गये। रायहान के नेतृत्व में संगठित होकर उन्होंने बलबन का विरोध किया जिसके कारण बलबन को उसके पद से हटा दिया गया और रायहान ने 'वकीलदार' के पद के रूप में प्रायः एक वर्ष (1253 ई.) तक शासन-सत्ता का उपयोग किया। परन्तु रायहान के शासन से तुर्की सरदार सन्तुष्ट न रह सके और उन्होंने पुनः बलबन के नेतृत्व में संगठित होकर रायहान का विरोध किया। रायहान को उसके पद से हटा दिया गया और बलबन का शासन पर पूर्ण प्रभुत्व रहा। धीरे-धीरे उसने अपने सहयोगी और समर्थक तुर्की सरदारों की शक्ति को भी दुर्बल बना दिया और जब नासिरुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् वह स्वयं सुल्तान बना तो उस समय कोई भी सरदार उसका विरोध करने की स्थिति में न था। इस प्रकार धीरे-धीरे अपनी योग्यता, कुशलता और कुचक्रों से बलबन एक साधारण स्थिति से उठकर तुर्की सरदारों में ही श्रेष्ठ नहीं बन गया बल्कि 1265 ई. में सुल्तान भी बन गया।

**कठिनाइयाँ**

बलबन ने नासिरुद्दीन महमूद के समय में प्रायः 20 वर्ष शासन किया था। परन्तु तब भी सुल्तान बनने पर बलबन के सम्मुख अनेक कठिनाइयाँ थीं। सबसे पहली आवश्यकता सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित करने की थी। बरनी के कथनानुसार "शासन-शक्ति का भय जो कि सफल शासन का आधार और राज्य की प्रतिष्ठा और वैभव का स्रोत होता है, सभी व्यक्तियों के हृदय से निकल गया था, और देश दुर्दशा की स्थिति में पहुँच गया था।"[1] इस कारण, बिना सुल्तान की प्रतिष्ठा

---

1 "Fear of the governing power, which is the basis of all good governments and the source of glory and splendour of the state had departed from the hearts of all men and the country had fallen into a wretched condition." —Barani.

को स्थापित किये हुए शासन और सिंहासन के प्रति भय अथवा श्रद्धा प्राप्त करना असम्भव था जो एक अच्छे शासन की प्रथम आवश्यकता थी। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् एक के बाद एक हुए दुर्बल सुल्तानों के कारण सुल्तान का सम्मान नष्ट हो गया था। तुर्की गुलाम सरदारों और बाद के समय में स्वयं बलबन ने भी सुल्तान की शक्ति और सम्मान को नष्ट करने में योग दिया था। इस कारण यह स्पष्ट था कि जिन साधनों और तरीकों का उपयोग बलबन ने अपनी शक्ति के निर्माण के लिए किया था, उनको अब अपनी शक्ति की रक्षा के लिए नष्ट करना आवश्यक था। तुर्की सरदारों की शक्ति और प्रभाव को नष्ट करना और जन-साधारण में सुल्तान के प्रति भय और सम्मान की भावना जाग्रत करना बलबन की प्रथम आवश्यकता तथा उसके मार्ग की सबसे बड़ी कठिनाई थी। प्रो. ए. बी. एम. हबीबुल्ला ने लिखा है कि 'इल्तुतमिश ने संस्था दिल्ली सल्तनत अर्थात् सुल्तान के पद को कायम करने की रूपरेखा का सिर्फ निर्माण ही किया था, उसको पुनर्जीवित करने और उसे उसकी स्थिति की पूर्णता तक पहुँचाने का कार्य बलबन के लिए छोड़ दिया गया था।"[1]

बलबन की दूसरी प्रमुख कठिनाई दिल्ली सल्तनत की सुरक्षा और उसका संगठन था। उसकी अन्य सभी कठिनाइयाँ उससे सम्बन्धित थीं। यद्यपि बलबन के समय में मंगोलों के द्वारा भारत की विजय का भय न था परन्तु मंगोल आक्रमणों से अपनी उत्तर-पश्चिम की सीमाओं की सुरक्षा करना बलबन की एक प्रमुख कठिनाई थी। उत्तर-पश्चिमी बंगाल का सम्पूर्ण प्रदेश मंगोलों के हाथ में चला गया था। मंगोल भारत में और अधिक प्रवेश न कर सकें, यह बलबन की एक प्रमुख चिन्ता थी। बंगाल नासिरुद्दीन के अन्तिम समय में स्वतन्त्र हो गया था। अन्य सूबे इस उदाहरण को अपने सम्मुख न रखें तथा बंगाल भी दिल्ली सल्तनत का अंग बना रहे, यह बलबन के लिए आवश्यक था। इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद से हिन्दुओं की आक्रमणकारी शक्ति बढ़ गयी थी। राजस्थान, दोआब, मालवा, बुन्देलखण्ड आदि सभी ऐसे प्रदेश थे जहाँ हिन्दू शासक अपनी शक्ति को पुनः स्थापित और विस्तृत करने का प्रयत्न कर रहे थे। बलबन के लिए हिन्दू शासकों की इस आक्रमणकारी शक्ति को नष्ट करना आवश्यक था। विभिन्न स्थानों पर होने वाले विद्रोह यह सिद्ध कर रहे थे कि दिल्ली सल्तनत की शक्ति का कोई भय नहीं रहा था। मेव (मेवाती) तथा कटेहर और दोआब के हिन्दुओं के विद्रोहों एवं उपद्रवों ने राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत भी अशान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न कर रखी थी। दिल्ली के निकट मेवों का इतना अधिक आतंक हो गया था कि कोई भी राजमार्ग सुरक्षित न था। दिल्ली नगर का पश्चिमी फाटक दोपहर की नमाज के बाद बन्द कर दिया जाता था। इतिहासकार बरनी ने लिखा है कि दोपहर की नमाज से पहले भी वे (मेव) उन पानी भरने वालों और दासियों को लूटते थे जो तालाब से पानी लेने जाती थीं।

---

1 "Iltutmish had only outlined the institution, it was left to Balban to regenerate and raise it to its full stature."
—Prof, A. B. M. Habibullah.

वे उनके कपड़े उतार कर ले जाते थे और उनको नग्न छोड़ देते थे।"[1] इन विद्रोहियों और लुटेरों को नष्ट करना भी राज्य के सम्मान और उसकी सुरक्षा के लिए आवश्यक था।

**वलबन के कार्य**

इस प्रकार वलबन के सम्मुख विभिन्न कठिनाइयाँ थीं। लेकिन वलबन योग्य, दूरदर्शी और व्यावहारिक व्यक्ति था। वह अपनी कठिनाइयों को ठीक प्रकार समझ सका और उसने दृढ़ता से उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया। वलबन ने एक निश्चय यह किया कि राज्य-विस्तार का प्रयत्न वह उस समय तक नहीं करेगा जब तक कि जिस राज्य को उसने प्राप्त किया है उसकी सीमाओं की सुरक्षा और उन सीमाओं के अन्तर्गत शान्ति और व्यवस्था को स्थापित करने का प्रबन्ध नहीं कर लेता। जब उसके सरदारों ने उसे गुजरात और मालवा को विजय करने की सलाह दी तब उसने उनसे कहा कि "जब तक अपना राज्य अरक्षित है तब तक विदेशी भूमि पर आक्रमण करने की अपेक्षा अपने ही राज्य में शान्ति स्थापित रखना और अपनी शक्ति को संगठित करना अधिक श्रेयस्कर है।"[2] इस कारण, वलबन का सम्पूर्ण समय आन्तरिक संगठन का है, साम्राज्य-विस्तार का नहीं।

**1. वलबन का राजत्व-सिद्धान्त और सुल्तान की प्रतिष्ठा की स्थापना**—वलबन दिल्ली सल्तनत का पहला शासक था जिसने सुल्तान के पद और अधिकारों के बारे में विस्तृत रूप से विचार प्रकट किये। प्रो. के. ए. निजामी ने लिखा है कि 'यह सुल्तान के सम्मान में वृद्धि करने तथा अन्य सरदारों के संघर्ष से बचने के लिए आवश्यक था परन्तु इसका एक कारण उसकी हीनता की भावना भी थी जिसके कारण वह अपने विचारों को निरन्तर व्यक्त करके अपने सरदारों को यह विश्वास दिलाना चाहता था कि वह किसी हत्यारे के छुरे अथवा जहर के प्याले के कारण सुल्तान नहीं बना है बल्कि ईश्वर की इच्छा के कारण बना है।' उन्होंने लिखा है कि 'मिनहाज और बरनी ने कहीं पर यह नहीं लिखा है कि उसे दासता से मुक्त कर दिया गया था। इस कारण, उसे शासन करने का कानूनी अधिकार ही न था।' इसी कारण, उसने अपने अधिकार को 'ईश्वर प्रदत्त' बनाने का प्रयत्न किया।' वलबन के राजत्व-सिद्धान्त की दो मुख्य विशेषताएँ थीं। प्रथम, सुल्तान का पद ईश्वर के द्वारा प्रदान किया हुआ होता है और द्वितीय सुल्तान का निरंकुश होना आवश्यक है। उसके अनुसार "सुल्तान पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि (नियावत-ए-खुदाई) है और उसका स्थान केवल पैगम्बर के पश्चात् है। सुल्तान को कार्य करने की प्रेरणा और शक्ति ईश्वर से प्राप्त होती है। इस कारण जन-साधारण या सरदारों को उसके कार्यों की आलोचना करने का अधिकार नहीं है।" उसने अपने पुत्र बुगराखाँ से कहा था कि

---

1 "But even before the afternoon prayers they (the Meos) molested water-carriers and slave-girls, who went to fetch water from the tank; they took off their clothes and left them nude."
—Barani.

2 "Maintaining peace and consolidating our power in our own kingdom is far better than invading foreign territories, while our own dominion is insecure."
—Balban.
(डॉ. के. ए. निजामी : बरनी के विवरण पर आधारित)

सुल्तान का पद निरंकुशता का सजीव प्रतीक है।"[1] उसका विश्वास था कि सुल्तान की विशेष स्थिति और सम्मान ही उसके नागरिकों को उसकी आज्ञा-पालन के लिए बाध्य कर सकते थे।

अपने इन विचारों को बलबन ने व्यवहार में परिणित किया। अपने वंशानुगत अधिकार की लघुता को समझकर उसने अपने को विद्वान फिरदौसी की रचना 'शाहनामा' के शूरवीर पात्र अफ्रीसीयाब का वंशज बताया। सुल्तान की प्रतिष्ठा के अनुकूल उसने अपने व्यवहार को बहुत गम्भीर और एकाकी बना लिया। उसने अधिकांशतया एकान्त में रहना आरम्भ कर दिया, शराब पीना बन्द कर दिया, विनोद प्रिय व्यक्तियों के साथ बैठना बन्द कर दिया और साधारण व्यक्तियों के साथ तो क्या छोटे अमीरों और सरदारों से भी मिलना बन्द कर दिया। दिल्ली के एक धनी व्यापारी ने सुल्तान से मिलने के बदले में अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति देने का वायदा किया परन्तु तब भी वह बलबन से मिलने की स्वीकृति न पा सका। वह उच्च और निम्न कुल में उत्पन्न व्यक्तियों में बहुत अन्तर मानता था और निम्न कुल के किसी भी व्यक्ति को सरकारी पद देना पसन्द नहीं करता था। उसने न कभी किसी के सामने अस्वाभाविक हर्ष प्रकट किया और न कभी अपना दुख। जब उसे उसके सबसे बड़े प्रिय पुत्र तथा राज्य के उत्तराधिकारी महमूद की मृत्यु की सूचना राज-दरबार में दी गयी तो वह विचलित हुए बिना राज्य-कार्य करता रहा, यद्यपि उसकी और उसके वंश की सम्पूर्ण आशाएँ उस शाहजादे की मृत्यु के साथ समाप्त हो गयी थीं और वह उसके लिए अपने निजी कक्ष में फूट-फूटकर रोया करता था। वह दरबार में न हँसता था और न मुस्कराता था। वह कभी भी पूर्ण वेश-भूषा के बिना किसी के सम्मुख उपस्थित नहीं होता था। इस प्रकार बलबन ने अपने व्यवहार को 'व्यक्ति बलबन' के स्थान पर 'सुल्तान बलबन' में ढाल दिया।

दरबार के लिए भी उसने एक बड़े सुल्तान के दरबार के अनुरूप नियम बनाये और उन्हें कठोरता से लागू किया। इस दृष्टि से उसका आदर्श ईरानी बादशाह थे और उसने उनकी कई परम्पराओं को अपने दरबार में आरम्भ किया। उसने 'सिजदा' (भूमि पर लेटकर अभिवादन करना) और 'पैबोस' (सुल्तान के सिंहासन के निकट जाकर उनके चरणों को चूमना) की रीतियाँ आरम्भ की, ऊँचे और भयानक व्यक्तियों को अंगरक्षक बनाया जो उसके सिंहासन के दोनों तरफ चमचमाती हुई नंगी तलवारें लेकर खड़े रहते थे और बड़े-बड़े सरदारों के अतिरिक्त बाकी सभी व्यक्तियों को अपने दरबार में खड़े रहने के आदेश दिये। दरबारियों के लिए शराब पीना निषिद्ध कर दिया गया और उन्हें विशेष वस्त्र धारण करके ही दरबार में आने की आज्ञा दी गयी। किसी भी व्यक्ति को दरबार में मुस्कराने अथवा हँसने की आज्ञा न थी। उसके दरबार में प्रत्येक वर्ष ईरानी त्यौहार 'नौरोज' बड़ी शान-शौकत के साथ मनाया जाने लगा। उसके दरबार की शान-शौकत को देखकर विदेशी व्यक्ति चकित रह जाते थे। 16वीं सदी के एक लेखक फजूनी अस्तराबादी ने बलबन के बारे में लिखा था कि 'उसका चेहरा लम्बा था, उसकी दाढ़ी लम्बी थी और वह बहुत ऊँचा मुकुट पहनता था जिसके कारण दाढ़ी से लेकर उसके मुकुट की ऊँचाई की लम्बाई प्रायः एक गज

---

1 "Kingship is the embodiment of despotism." —Balban.
(डॉ. के. ए. निजामी : बरनी के विवरण पर आधारित)

हो जाती थी।' जब बलबन बाहर निकलता था तब नंगी तलवारें लिये हुए तथा बिस-मिल्लाह-बिसमिल्लाह कहते हुए भयंकर शरीर रक्षक उसके साथ चलते थे। शान शौकत और सत्ता के इस प्रदर्शन का प्रभाव सरदारों और जन-साधारण पर पड़ा और सुल्तान की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त बलबन ने विदेशों से आये हुए विद्वान व्यक्तियों और सम्मानित राज-पुरुषों को अपने दरबार में स्थान दिया तथा उनके निवास-गृहों के नाम, उनके देश अथवा वंश के नाम पर रखे। इससे विदेशों में उसका सम्मान बढ़ा और उसे मुस्लिम सभ्यता का संरक्षक माना जाने लगा। अपने व्यक्तिगत व्यवहार और दरबार की शान-शौकत तथा सत्ता के प्रदर्शन से बलबन को सुल्तान की प्रतिष्ठा स्थापित करने में सहायता मिली; इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

**2. तुर्की सरदारों अथवा चालीस गुलाम सरदारों के दल की समाप्ति**—बलबन 'चालीस तुर्की सरदारों के गुट' का सदस्य रहा था। उसका एक सदस्य होने के नाते उसने सुल्तानों और सरदारों के बीच हुए संघर्ष में स्वयं सक्रिय भाग लिया था तथा उसी कारण वह सुल्तान के पद पर पहुँचा था। इस कारण वह भली-भाँति जानता था कि सुल्तान की प्रतिष्ठा और उसके वंश की सुरक्षा उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक कि वह सरदारों के उस गुट को समाप्त नहीं कर देता। सुल्तान नासिरुद्दीन के समय में जब उसने 'नाइब' के रूप में कार्य किया तभी से उसने इस 'चालीस सरदारों के गुट' (तुर्कान-ए-चिहालगानी) को नष्ट करने का प्रयत्न किया और उसके लिए सभी सम्भव साधनों का प्रयोग किया। जहर का प्याला अथवा हत्यारे का छुरा दोनों ही उसके लिए समान थे यदि वे उसके लक्ष्य की पूर्ति में सहायक थे। इस कारण जब तक वह सुल्तान बना उस समय तक इस दल के अधिकांश सदस्य या तो स्वयं मर चुके थे अथवा बलबन द्वारा मार दिये गये थे। जो कुछ सरदार बाकी रह गये थे उन्हें उसने सुल्तान बनने के पश्चात् समाप्त कर दिया या उनके प्रभाव को नष्ट कर दिया। उसने निम्न तुर्क पदाधिकारियों को उच्च पद प्रदान किये जिससे 'चालीस सरदारों' का सम्मान कम हो। इसी कारण, उसने छोटे अपराधों के लिए भी 'चालीस सरदारों' के सदस्यों को कठोर दण्ड देने आरम्भ किये। बदायूँ के इक्तादार (सूबेदार) मलिक बकबक को जन-साधारण के सम्मुख कोड़ों से पीटा गया क्योंकि उसने अपने एक दास को कोड़ों से पीटकर मार दिया था। इसी प्रकार अवध के इक्तेदार हैबातखाँ को अपने एक दास को जान से मार देने के अपराध में 500 कोड़े लगाये जाने की आज्ञा दी गयी। उसने मृत व्यक्ति की विधवा को बहुत-सा धन देकर मुक्ति पायी परन्तु वह इतना अधिक लज्जित हुआ कि अपनी मृत्युपर्यन्त वह अपने निवास स्थान से बाहर नहीं निकला। प्रो. हबीबुल्ला ने बलबन के न्याय की प्रशंसा की है और निस्सन्देह, बलबन जन साधारण के प्रति न्यायपूर्ण था। परन्तु प्रभावशाली सरदारों के प्रति इस प्रकार के व्यवहार का कारण तो उनके प्रभाव और सम्मान को नष्ट करना ही हो सकता था; अन्य कुछ नहीं। बलबन और अपने वंश के अधिकार की सुरक्षा और सम्मान की वृद्धि के लिए किसी भी तरीके को अपनाने में नहीं हिचकता था, यह डॉ. के. ए. निजामी के कथन से स्पष्ट होता है। उन्होंने लिखा है कि "यद्यपि व्यक्ति और व्यक्ति के झगड़ों के सम्बन्ध में बलबन न्यायपूर्ण था परन्तु जब कभी किसी एक व्यक्ति और राज्य के हित में टकराव हुआ अथवा जब कभी उसके व्यक्तिगत या वंश के हित से सम्बन्धित प्रश्न उपस्थित हुआ तब उसने न्याय

और निष्पक्षता के सभी सिद्धान्तों को त्याग दिया।"[1] इसी कारण जब अवध का इक्तादार अमीनखाँ बंगाल के आक्रमण में विफल होकर वापस लौटा तो बलबन ने उसे मृत्यु-दण्ड देकर अयोध्या के फाटक पर लटकवा दिया। इसके अतिरिक्त बलबन ने अपने चचेरे भाई शेरखाँ पर सन्देह करके उसे जहर देकर मरवा दिया। शेरखाँ की मृत्यु से बलबन का सबसे शक्तिशाली और सम्भावित विरोधी सरदार समाप्त हो गया। इस प्रकार बलबन ने सभी महत्वपूर्ण तुर्की सरदारों को समाप्त कर दिया और चालीस सरदारों का गुट नष्ट हो गया। उन सरदारों के स्थान पर छोटे सरदारों की पदोन्नति की गयी जो बलबन के प्रति वफादार हो सकते थे और जो कभी भी उसके साथ समानता का दावा नहीं कर सकते थे। 'चालीस सरदारों के गुट' को नष्ट करके बलबन ने सुल्तान की प्रतिष्ठा और आतंक को स्थापित करने में अवश्य सफलता प्राप्त की परन्तु जिस प्रकार उसने उनको नष्ट किया उससे भारत में तुर्की नस्ल का पराभव हो गया। बाद के समय में तुर्क नस्ल ने अपनी शक्ति और योग्यता दोनों को खो दिया। प्रो. के. ए. निजामी ने बलबन को भारत में तुर्क-शक्ति के पतन के लिए दोषी बताया है। उन्होंने लिखा है कि "अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक हितों की सुरक्षा करने के लिए उसने तुर्की शासन-वर्ग के हितों को पूर्णतया भुला दिया। उसने तुर्की सरदारों की प्रतिभा को इतनी क्रूरता से नष्ट किया कि जब सिंहासन के लिए खलजी उनके प्रतिद्वन्द्वी बनकर सामने आये तब वे पूर्णतया असहाय और पराजित कर दिये गये। भारत में तुर्की शक्ति के पतन में बलबन के उत्तरदायित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता।"[2]

**3. सेना का संगठन**—मध्ययुग में एक बड़ी और कुशल सेना के अभाव में सुल्तान की शक्ति और प्रतिष्ठा की सुरक्षा सम्भव नहीं थी। मंगोल-आक्रमणों से सुरक्षा तथा आन्तरिक विद्रोहों को दबाने के लिए भी बलबन को सेना का पुनर्गठन करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त बलबन की निरंकुशता का आधार उसकी सेना की शक्ति ही हो सकती थी। इस कारण बलबन ने सेना को विशाल और कुशल बनाने का प्रयत्न किया। बलबन ने अपनी सेना की संख्या में वृद्धि की तथा हजारों अनुभवी और वफादार सैनिक-अधिकारियों की नियुक्ति की। उसने सैनिकों के वेतन में वृद्धि की। वह उनकी शिक्षा पर बल देता था और स्वयं जाड़ों में प्रत्येक दिन

---

1 "But though just in disputes concerning individuals, Balban threw overboard all his principles concerning justice and fair play when cases of an individual versus the state came before him, or where his personal and dynastic interests were involved."
—Prof. K A. Nizami.

2 "Anxious to secure his personal and family interests, he completely ignored the interests of the Turkish governing class. He destroyed the talent amongst the Turkish nobles so ruthlessly that when the Khaljis entered the field as competitors for the throne against them, they were completely outmanoeuvred and defeated. Balban's responsibility for the fall of the Turkish power in India cannot be denied."
—Prof. K A Nizami.

एक हजार घुड़सवार और एक हजार पैदल सैनिकों को लेकर शिकार के बहाने रेवाड़ी तक जाता था और रात्रि हो जाने के पश्चात् वापस आता था। उसने अपना सेना-मन्त्री (दीवाने-ए-अर्ज) इमाद-उल-मुल्क को नियुक्त किया जो बहुत ही ईमानदार और परिश्रमी व्यक्ति था। बलबन ने उसे वजीर के आर्थिक नियन्त्रण से भी मुक्त कर दिया जिससे उसे धन की कमी न हो। बलबन की सेना की अच्छी व्यवस्था का बहुत अधिक श्रेय इमाद-उल-मुल्क को था। इसके अतिरिक्त बलबन कभी भी अनावश्यक कार्यवाहियाँ नहीं करता था, प्रत्येक सैनिक-आक्रमण की योजना स्वयं बनाता था और उसे अन्तिम दिन तक गुप्त रखता था। उसके सैनिकों को आज्ञा दी जाती थी कि वह निर्धनों और दुर्बलों को न सतायें।

बलबन ने उन सभी जागीरों की जाँच करायी जो विभिन्न व्यक्तियों को सैनिक-सेवा के बदले में पिछले शासकों द्वारा दी गयी थीं। उनमें से अनेक व्यक्ति ऐसे थे जो जागीरें प्राप्त करके उनके बदले में राज्य की कोई सेवा नहीं कर रहे थे। अनेक वृद्ध पुरुष, बच्चे अथवा विधवा स्त्रियाँ भी ऐसी जागीरों की मालिक थीं। ऐसे सभी व्यक्तियों से जागीरें छीन लेने के आदेश दिये गये। जो व्यक्ति राज्य की सेवा के योग्य थे अथवा राज्य-सेवा कर रहे थे, उनकी जागीरों से आय एकत्र करने का अधिकार सरकारी कर्मचारियों को दिया गया और जागीरदारों को नकद धन देने के आदेश दिये गये। परन्तु बलबन को अपने इन आदेशों में थोड़ा परिवर्तन करना पड़ा। अनेक वृद्ध पुरुष और विधवा स्त्रियाँ सुल्तान के मित्र कोतवाल फखरुद्दीन की शरण में पहुँचीं और सुल्तान से उनकी सिफारिश करने की प्रार्थना की। वृद्ध कोतवाल के कहने से बलबन ने ऐसे असहाय व्यक्तियों को उनकी जागीरें वापस दे देने की आज्ञा दे दी। इस कारण बलबन की यह सुधार-योजना व्यर्थ हो गयी।

इसके अतिरिक्त सेना का केन्द्रीकरण किया गया हो, ऐसा कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। सैनिकों को वेतन नकद दिया जाता हो, ऐसी भी कोई बात नहीं थी। सैनिकों को वेतन के स्थान पर पहले की भाँति भूमि प्राप्त होती रही। इक्तादारों और सरदारों को अपनी सेना की व्यवस्था करने का स्वयं अधिकार रहा। इस कारण सेना के संगठन में दोष रहे। परन्तु तब भी बलबन के समय में सेना की शक्ति में वृद्धि हुई, इसे सभी स्वीकार करते हैं।

**4. शासन और गुप्तचर-विभाग का संगठन**—बलबन का शासन अर्ध-सैनिक और अर्ध-असैनिक था। उसके सभी पदाधिकारियों से सैनिक और प्रशासकीय दोनों ही प्रकार की सेवा की आशा की जाती थी। बलबन ने शासन का नियन्त्रण पूर्णतया अपने हाथों में रखा था। उसके समय में अन्य पदाधिकारियों का ही नहीं बल्कि वजीर के पद का भी महत्व घट गया था और 'नाइब' जैसा कोई अधिकारी न रहा था। बलबन प्रत्येक अधिकारी की नियुक्ति की स्वयं देखभाल करता था। बलबन के शासन की एक विशेषता यह भी थी कि वह केवल उच्च वंश के व्यक्तियों को ही अधिकारियों के पद पर नियुक्त करता था। निम्न वंश के व्यक्तियों से उसे घृणा थी। अमरोहा में एक भारतीय मुसलमान को एक सामान्य अधिकारी का पद देने से भी वह असन्तुष्ट हुआ था। शासन के सम्बन्ध में उसके क्या विचार थे यह उसके द्वारा अपने पुत्रों को दी गयी सलाह से पता लगता है। उसने सलाह दी थी कि[1]

---

1 प्रो. के. ए. निजामी (बरनी के विवरण पर आधारित)।

1. एक शासक को दुर्बलों को शक्तिशालियों से बचाना चाहिए।

2. शासन न बहुत कठोर होना चाहिए और न बहुत उदार। कर न इतने अधिक होने चाहिए कि जनता असहाय और निर्धन हो जाय और न इतने कम होने चाहिए कि जनता उद्दण्ड हो जाय।

3. शासक का कर्तव्य है कि वह एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करे जिससे कृषि-उत्पादन पर्याप्त हो।

4. राज्य की अर्थ-व्यवस्था योजनाबद्ध होनी चाहिए। आय में से आधी आय व्यय करनी चाहिए और आधी आय संकट के लिए सुरक्षित रखनी चाहिए।

5. राज्य के आदेशों का पालन होना चाहिए और उसके निर्णयों में जल्दी-जल्दी परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

6. शासक को व्यापारियों को समृद्ध और सन्तुष्ट बनाये रखने के प्रयत्न करने चाहिए।

7. सैनिकों को ठीक समय पर वेतन मिलना चाहिए तथा शासक को ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिससे सेना सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहे।

उपर्युक्त सिद्धान्तों पर बलबन ने भी कार्य किया और उसने एक ऐसी शासन-व्यवस्था को स्थापित करने में सफलता पायी जिसमें जन-साधारण न्याय और शान्ति प्राप्त कर सका।

परन्तु बलबन के शासन की सफलता का एक मुख्य आधार उसका गुप्तचर विभाग था। बलबन ने अपने पुत्रों, इक्तादारों, सैनिक-अधिकारियों, प्रशासकीय अधिकारियों आदि सभी के साथ अपने गुप्तचर (बरीद) नियुक्त किये थे। प्रत्येक इक्ता (सूबा) और जन-साधारण में भी उसके गुप्तचर रहा करते थे। बलबन स्वयं इनकी नियुक्ति करता था और उन पर पर्याप्त धन व्यय करता था। उनसे आशा की जाती थी कि वे प्रत्येक महत्वपूर्ण सूचना को प्रत्येक दिन सुल्तान के पास भेजेंगे। यदि उसमें से कोई अपने कर्तव्य की पूर्ति में असफल हो जाता था तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। गुप्तचर सुल्तान से सीधा सम्पर्क स्थापित करते थे यद्यपि उनमें से कोई भी दरबार में खुले तौर से सुल्तान के निकट नहीं जाता था। इस प्रकार बलबन ने एक अच्छा गुप्तचर-विभाग संगठित किया।

5. **विद्रोहों का दमन और शान्ति-व्यवस्था**—बलबन की एक मुख्य समस्या हिन्दू विद्रोहियों का दमन था। दोआब, बदायूँ, अमरोहा, कटेहर आदि स्थानों पर ही विद्रोह नहीं होते थे बल्कि दिल्ली का नागरिक जीवन भी अरक्षित था। विद्रोही और लुटेरे राजमार्गों पर आक्रमण करते थे, व्यापारियों को लूटते थे और लगान-अधिकारियों को पीटकर भगा दिया करते थे। राज्य की शान्ति और सम्मान की सुरक्षा के लिए इन विद्रोहों को समाप्त करना आवश्यक था। सिंहासन पर बैठते ही बलबन ने सर्वप्रथम दिल्ली की सुरक्षा का प्रबन्ध किया जहाँ मेवों (मेवातियों) ने आतंक फैला रखा था। दिल्ली के आस-पास के जंगल काट कर साफ कर दिये गये। चारों दिशाओं में चार किलों का निर्माण करके, वहाँ अफगान सैनिकों की नियुक्ति की गयी तथा लुटेरों और विद्रोहियों पर निरन्तर आक्रमण किये गये। एक ही वर्ष में दिल्ली को इन लुटेरों के आतंक से मुक्त कर दिया गया। दूसरे वर्ष बलबन ने दोआब और अवध के विद्रोहों को दबाया। सम्पूर्ण विद्रोही प्रदेश को सैनिक-क्षेत्रों में बाँट दिया गया।

मुख्य स्थानों पर सैनिक चौकियाँ बनायी गयीं, जंगल साफ किये गये, विभिन्न स्थानों पर सैनिक टुकड़ियाँ नियुक्त की गयीं और घूम-घूम कर विद्रोहियों का दमन किया गया। इसके पश्चात् सुल्तान कटेहर गया। कटेहर में बलबन ने नृशंसता का व्यवहार किया। गाँव के गाँव जला दिये गये और सभी पुरुषों का वध कर देने के आदेश दिये गये। सुल्तान की आतंक की यह नीति सफल रही और उसने प्रारम्भिक कुछ वर्षों में ही अपने राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत शान्ति की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की। साथ ही सुल्तान ने जंगलों को साफ करने, सड़कों का निर्माण करने और उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करने की नीति को भी अपनाया और वह भी उसकी सफलता का कारण बनी।

**6. बंगाल-विजय**—बंगाल पर दिल्ली सल्तनत का आधिपत्य सर्वदा ही अस्थिर रहा था। नासिरुद्दीन महमूद के समय अर्सलाखाँ ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया था। परन्तु जब बलबन सिंहासन पर बैठा, उस समय अर्सलाखाँ के पुत्र और उत्तराधिकारी तातारखाँ ने दिल्ली के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और बलबन को 63 हाथी भेंटस्वरूप भेजे। कुछ समय पश्चात् तातारखाँ को हटाकर तुगरिलखाँ को बंगाल का इक्तादार बनाया गया जो बलबन का एक योग्य गुलाम सरदार था। तुगरिलखाँ ने जाजनगर के शासक को परास्त किया और वहाँ से बहुत-सा धन तथा हाथी प्राप्त किये। उसने उनमें से कोई भेंट बलबन को नहीं भेजी। आजनगर के विरुद्ध उसकी सफलता ने उसे प्रोत्साहन दिया। उसे यह भी ख्याल था कि सुल्तान वृद्ध हो चुका है और मंगोल-आक्रमणों से भयभीत है। इस कारण वह बंगाल की ओर ध्यान न दे सकेगा। इन परिस्थितियों में लाभ उठाने का निश्चय करके तुगरिलखाँ ने 1279 ई. में विद्रोह कर दिया। उसने 'सुल्तान मुगीसुद्दीन' की उपाधि ग्रहण की, अपने नाम के सिक्के चलाये और खुतबा पढ़वाया। तुगरिलखाँ के इस विद्रोह से बलबन को एक बड़ा धक्का लगा। यह एक गुलाम सरदार का पहला विद्रोह था। यदि वह सफल हो जाता तो बलबन की सम्पूर्ण व्यवस्था नष्ट हो जाती। इस कारण उस विद्रोह को दबाना बलबन की एक मुख्य आवश्यकता हो गयी। विद्रोह का समाचार मिलते ही उसने अवध के इक्तादार अमीनखाँ को बंगाल पर आक्रमण करने के आदेश दिये। परन्तु अमीनखाँ की पराजय हुई और उसकी सेना नष्ट हो गयी। बलबन ने क्रोधित होकर अमीनखाँ को अयोध्या के फाटक पर लटकवा दिया। तिर्मिति के नेतृत्व में दिल्ली से भेजी गयी एक अन्य सेना की भी पराजय हुई। अवध के नवीन इक्तादार शहाबुद्दीन के नेतृत्व में भेजी गयी तीसरी सेना का भी वही हाल हुआ। बंगाल के विरुद्ध इन निरन्तर असफलताओं ने बलबन के धैर्य को समाप्त कर दिया। बलबन की आयु 80 वर्ष की थी और मंगोल-आक्रमण का भय भी समाप्त नहीं हुआ था, तब भी उसने स्वयं बंगाल पर आक्रमण करने का निश्चय किया। अपनी उत्तर-पश्चिमी सीमा की सुरक्षा का प्रबन्ध करके तथा अपने मित्र कोतवाल फखरुद्दीन को राजधानी का उत्तरदायित्व सौंपकर बलबन एक बड़ी सेना लेकर बंगाल की ओर बढ़ा। उसने अवध में अपनी सेना की संख्या में वृद्धि की और प्राय दो लाख सैनिकों तथा अपने पुत्र बुगराखाँ को लेकर बंगाल पहुँचा।

सुल्तान के आने का समाचार पाकर तुगरिलखाँ का साहस समाप्त हो गया और वह लखनौती को छोड़कर जाजनगर की तरफ भाग गया। उसका ख्याल था कि बंगाल की जलवायु से परेशान होकर सुल्तान थोड़े समय पश्चात् वापस चला

जायेगा, तब वह लखनौती को पुनः अपने अधिकार में कर लेगा। अतएव सुल्तान से युद्ध करने की बजाय उसने छिप जाना अधिक उचित समझा। परन्तु बलबन उसे पकड़ने के लिए कटिबद्ध था। उसने सुनारगांव तक उसका पीछा किया, परन्तु तुगरिलखाँ जंगलों में जा छिपा। अन्त में, मलिक मुहम्मद शेरन्दाज और उसके साथियों को अचानक तुगरिलखाँ के छिपने के स्थान का पता लग गया। उसने केवल अपने चालीस साथियों के साथ तुगरिलखाँ के तम्बू पर आक्रमण कर दिया। तुगरिलखाँ और उसकी सेना निश्चित होकर आराम कर रही थी। उस अचानक आक्रमण को उन्होंने सुल्तान की सेना का आक्रमण समझा और वे इधर-उधर बिखर गये। स्वयं तुगरिलखाँ ने घोड़े की नंगी पीठ पर बैठकर भागने का प्रयत्न किया, परन्तु मलिक मुकद्दर नामक एक सैनिक अधिकारी ने उसका पीछा किया और उसका सिर काट लिया। इतने में बकतार के नेतृत्व में सुल्तान की सहायता पहुँच गयी और तुगरिलखाँ की सेना नष्ट कर दी गयी तथा उनमें से हजारों सैनिकों ने आत्मसमर्पण कर दिया। बलबन उन सभी कैदियों को लेकर लखनौती पहुँचा। वहाँ उसने तुगरिलखाँ के साथियों को कठोर दण्ड दिया। इतिहासकार बरनी ने लिखा है कि "लखनौती के मुख्य बाजार के दोनों ओर दो मील लम्बी तख्तों की एक कतार खड़ी की गयी और तुगरिलखाँ के समर्थकों को उन पर ठोक दिया गया। ऐसे वीभत्स दृश्य को देखकर अनेक व्यक्ति भय अथवा घृणा से मूर्च्छित हो गये।'[1] बलबन ने अपने पुत्र बुगराखाँ को बंगाल का इक्तादार नियुक्त किया और उसे उस बाज़ार के दृश्य को दिखाते हुए सलाह दी कि वह दिल्ली के विरुद्ध विद्रोह करने का प्रयत्न न करे। उसके पश्चात् बलबन दिल्ली वापस पहुँचा और अपने साथ अनेक बन्दियों को ले गया। वह दिल्ली में उन बन्दियों को वही दण्ड देना चाहता था जो उसने लखनौती में दिया था, परन्तु अपने काजी की सलाह को मानकर उसने साधारण सैनिकों को माफ कर दिया और पदाधिकारियों को अपमानित करके निकाल दिया। बलबन तीन वर्ष पश्चात् दिल्ली पहुँचा था परन्तु उसने बंगाल को दिल्ली के अधीन कर लिया था और वहाँ पर विद्रोह की सम्भावनाओं को पूर्णतया समाप्त कर दिया था।

**7. मंगोल-आक्रमण**—डॉ. के. ए. निजामी ने लिखा है कि "मिस्र में मंगोल नेता हलाकू की पराजय हो जाने से मंगोलों की शक्ति को एक बड़ा धक्का लगा था और वे भारत को विजय करने की स्थिति में न थे।" परन्तु मंगोल-आक्रमण का भय बलबन के सम्मुख सर्वदा रहा। इसी कारण बलबन राज्य विस्तार की नीति अपनाने में समर्थ न हुआ। परन्तु बलबन ने मंगोल-आक्रमणों को रोकने की पर्याप्त व्यवस्था की। आरम्भ में कुछ वर्षों में उत्तर-पश्चिमी सीमा का रक्षक बलबन का चचेरा भाई शेरखाँ था। प्रो. हबीबुल्ला और डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि शेरखाँ एक महान् योद्धा था और उसने मंगोलों और खोक्खरों को आतंकित कर दिया था। परन्तु डॉ. के. ए. निजामी इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनका कहना

---

1 "On either side of the principal bazzar, in a street two miles in length, a row of stakes was set up and the adherents of Tughril were impaled on them. None of the beholders had ever seen such a spectacle so terrible and many swooned with terror and disgust," —Barani.

है कि मिन्हाज ने किसी भी एक ऐसे युद्ध का वर्णन नहीं किया है जिसमें शेरखाँ ने मंगोलों के विरुद्ध भाग लिया हो, बल्कि, इसके विपरीत, वह मंगोलों की सेवा करने को तत्पर हो गया था। बलबन ने उसे दिल्ली के निकट की जागीर प्रदान की परन्तु जब वह कुछ वर्षों तक वहाँ नहीं आया तो बलबन ने उसे जहर दिलाकर मरवा दिया। उपर्युक्त कोई भी कारण रहा हो परन्तु बलबन के प्रारम्भिक समय में मंगोल आक्रमणों को सफलता नहीं मिली थी, अथवा आक्रमण हुए ही नहीं थे। 1270 ई. में बलबन लाहौर गया जिस पर बहुत पहले ही उसका अधिकार हो चुका था और उसने वहाँ के किले को दृढ़ बनाने के आदेश दिये। उसने सीमा पर किलों की एक कतार बनवायी और प्रत्येक किले में एक बड़ी संख्या में सेना रखी। कुछ वर्षों के पश्चात् उत्तर-पश्चिमी सीमा को दो भागों में बाँटा गया। लाहौर, मुल्तान और दिपालपुर का क्षेत्र शाहजादा मुहम्मद को और सुनम, समाना तथा उच्छ का क्षेत्र शाहजादा बुगराखाँ को दिया गया और प्रत्येक शाहजादे के साथ प्राय. 18 हजार घुड़सवारों की एक शक्तिशाली सेना रखी गयी। जब बुगराखाँ को बंगाल का इक्तादार (सूबेदार) बनाया गया, उस समय सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिमी सीमा की सुरक्षा का उत्तरदायित्व शाहजादा मुहम्मद को दिया गया। शाहजादा मुहम्मद बलबन का सबसे बड़ा और योग्य पुत्र था। वह सिंहासन का उत्तराधिकारी भी था। वह योग्य सेनापति के अतिरिक्त सुसभ्य था और साहित्य में उसकी रुचि थी। विद्वान अमीर खुसरव और अमीर हसन ने अपना साहित्यिक जीवन उसके संरक्षण में आरम्भ किया था। फारसी के महान् कवि शेख सादी को भी उसने निमन्त्रित किया था यद्यपि वह अपनी वृद्धावस्था के कारण आ नहीं सका। शाहजादे ने मंगोल-आक्रमणों को रोकने में आशातीत सफलता प्राप्त की। परन्तु 1286 ई. में अचानक एक बड़ी मंगोल सेना से घिर जाने के कारण वह युद्ध करता हुआ मारा गया। उसके पश्चात् भी बलबन सीमा-सुरक्षा की ओर ध्यान देता रहा। मंगोलों के विरुद्ध बलबन की सफलता इस सीमा तक रही कि वह लाहौर तक के प्रदेशों को अपने अधिकार में रख सका और उसने मंगोलों को व्यास नदी को पार नहीं करने दिया। परन्तु बलबन न तो स्वयं ही कभी व्यास नदी के पश्चिमी प्रदेश पर आक्रमण कर सका और न वह उनके भय को सर्वदा के लिए समाप्त कर सका।

### मृत्यु

बलबन काफी वृद्ध हो चुका था। शाहजादा मुहम्मद की मृत्यु ने उसको बहुत दुखी कर दिया। बलबन की सम्पूर्ण आशाएँ उसमें केन्द्रित थीं। उसका दूसरा पुत्र बुगराखाँ विलासी और आरामपसन्द था। उससे बलबन को अपने वंश की सुरक्षा की आशा न थी। बलबन बीमार हो गया और उस समय उसने बुगराखाँ को बंगाल से बुला लिया। उसका आशय उसको अपना उत्तराधिकारी बनाने का था। परन्तु बुगराखाँ ने बंगाल के आरामपसन्द और स्वतन्त्र जीवन को अधिक पसन्द किया और चुपके से बंगाल वापस चला गया। बलबन ने अपने बड़े पुत्र महमूद के पुत्र कैखुसरव को अपना उत्तराधिकारी चुना और कुछ समय पश्चात् 1287 ई. के मध्य में उसकी मृत्यु हो गयी।

### बलबन का मूल्यांकन

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने बलबन के मुख्यतया दो दोष बताये हैं। प्रथम, "वह धर्मान्ध था तथा अपनी बहुसंख्यक प्रजा के प्रति उसका व्यवहार असहिष्णुता-

पूर्ण था।" द्वितीय, "उसमें रचनात्मक प्रतिभा का अभाव था। उसमें व्यवस्था स्थापित करने की शक्ति थी, नयी चीजों का आविष्कार करने की नहीं।"[1] इसके अतिरिक्त उन्होंने उसकी प्रशंसा की है और तथाकथित गुलाम सुल्तानों में इल्तुतमिश के पश्चात् वे उसे दूसरा स्थान प्रदान करते हैं। प्रो. ए. बी. एम. हबीबुल्ला ने बलबन की नीति में एक मुख्य दोष यह बताया है कि उसने भारतीय मुसलमानों के प्रभाव को राजनीति और शासन में स्वीकार नहीं किया। वह लिखते हैं कि "वह अपने को मुसलमानों का शासक मानने के स्थान पर तुर्की संप्रभुता का संरक्षक अधिक मानता था।"[2] उनका कहना है कि "अप्रत्यक्ष रूप से परन्तु काफी द्रुतगति से भारत तुर्की राज्य से बदलकर भारतीय मुसलमान राज्य में परिवर्तित होता जा रहा था और तुर्कों की श्रेष्ठता को स्थापित रखना असम्भव था। बलबन ने नस्ल की श्रेष्ठता के सिद्धान्त में विश्वास करते हुए इसका विरोध किया। यह उसकी एक बड़ी भूल थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् तुर्क भारत के भाग्य-विधाता नहीं रहे।" इसके अतिरिक्त वह भी बलबन के कार्यों की प्रशंसा करते हैं।

परन्तु बलबन की सबसे अधिक दुर्बलताएँ प्रो. के. ए. निजामी ने बतायी हैं। वह उसे राज्य में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने का श्रेय तो प्रदान करते हैं परन्तु अन्य बातों में उसकी असफलताओं की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। वह लिखते हैं कि बलबन की तुर्कों की श्रेष्ठता को कायम रखने की नीति ने लाभ के स्थान पर हानि अधिक पहुँचायी। उसने भारतीय मुसलमानों को उच्च पदों से और हिन्दुओं को प्रशासकीय सेवाओं, मुख्यतया, लगान-व्यवस्था में सम्मिलित न करके शासन में होने वाले सहज परिवर्तन को रोक दिया। इस कारण, जब वह परिवर्तन आया तब क्रान्तिकारी रूप में सम्मुख आया। इसके अतिरिक्त बलबन की सबसे बड़ी असफलता उसकी सेना के विषय में थी। लखनौती के विद्रोह को दबाने में उसे छः वर्ष लगे थे, राजपूत शासकों के विरुद्ध वह कोई कदम नहीं उठा सका था और उसके अधिकारी मंगोल-आक्रमणों के विरुद्ध असफल रहे थे। वह बताते हैं कि इसका मुख्य कारण अच्छे सैनिक अधिकारियों की कमी थी। मध्य एशिया में मंगोलों का प्रभाव बढ़ जाने के कारण भारत में बड़ी संख्या में तुर्क आ नहीं सके थे और बलबन तुर्कों के अतिरिक्त किसी अन्य नस्ल के व्यक्तियों को कोई निम्न पद तक देने को तत्पर न था। उसकी सैनिक दुर्बलता पर प्रकाश डालते हुए वह लिखते हैं कि "बलबन ने कभी भी किसी राजपूत राय से युद्ध करने का खतरा नहीं उठाया। इसके लिए उसने मंगोलों की महान् शक्ति के भय का बहाना किया। बलबन के सिंहासन पर बैठने से एक वर्ष पहले ही हलाकू (हुलागू) की मृत्यु हो चुकी थी और बलबन को स्पष्ट ज्ञात होना चाहिए था कि मिस्र-निवासियों की विजय ने हलाकू को शीघ्र ही कब्र की ओर भेज दिया था तथा पर्शिया के इल-खाँ (मंगोल-शासक) पर्याप्त रूप से सुरक्षित भारत के लिए कोई खतरा उपस्थित नहीं कर सकते थे। अलाउद्दीन खलजी तो क्या इल्तुतमिश के मापदण्ड से देखते हुए भी बलबन प्रत्येक प्रकार से असफल रहा। अपनी राजनीतिक सत्ता के दैवी-उत्पत्ति सिद्धान्त के प्रत्येक प्रकार के दिखावे और दावे के

---

1 "He was not a constructive genius. He possessed an orderly, but not an inventive intellect." —Dr. A. L. Srivastava.

2 "He considered himself more the custodian of Turkish sovereignty than a king of Mussalmans." —Prof. A. B. M. Habibullah.

बावजूद भी उसने किसी भी राजपूत किले पर आक्रमण करने का खतरा नहीं उठाया। धर्म के प्रति भक्ति-भाव रखते हुए और धार्मिक प्रवचनों के अवसर पर आँसू बहाने के पश्चात् भी वह एक संप्रभु-सुल्तान की भाँति अपने पदाधिकारियों को अपनी सार्वजनिक आज्ञाओं के द्वारा काबू में न रख सका बल्कि उसे जहर के प्याले और हत्यारे के छुरे का सहारा लेना पड़ा। बंगाल के विद्रोही सूबेदार तुगरिल ने बलबन द्वारा उसके विरुद्ध भेजी गयी दो सेनाओं को परास्त किया और बलबन उस सूबे को तीन वर्ष के अभियान के पश्चात् ही अपने अधिकार में कर सका। निश्चय रूप से साधनहीन 'इल-खाँ-राज्य' के एक सीमावर्ती अधिकारी ने उसके बड़े पुत्र को परास्त करने तथा कत्ल करने में सफलता पायी।"[1] वह पुनः लिखते हैं कि "यद्यपि उसने एक पुलिस के व्यक्ति की भाँति शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के कर्तव्यों की पूर्ति की परन्तु एक भी ऐसा कानून या नियम प्राप्त नहीं होता जिनके कारण बलबन को याद किया जा सके। विद्रोहियों में सबसे अधिक शान्त और वृद्ध जलालुद्दीन खलजी ने तुर्की गुलाम सरदारों के शासन को उलट दिया। यह निश्चय रूप से सिद्ध करता है कि वह व्यवस्था (बलबन की) कितनी दुर्बल और कीड़ों द्वारा खायी हुई हो चुकी थी।"[2]

निस्सन्देह बलबन की शासन-व्यवस्था में दोष थे। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव और प्रो. हबीबुल्ला ने भी बलबन की शासन-व्यवस्था के दोषों को बताया है। बलबन की मृत्यु के तीन वर्ष के पश्चात् ही उसके राज्य का नष्ट हो जाना और

---

1 "Balban never ventured to fight a Rajput Rai. His excuse was the great power of the Mongols. But Halaku had died a year before Balban's accession and Balban must have known that the victory of the Egyptians had driven Halaku to an early grave and that the 'Il-Khans' of Persia were no danger to a properly protected India. Judged by the standards of Iltutmish, not to speak of Alauddin Khalji, Balban failed all along the line. For all his pretensions and claims to the divine origin of his political power, he never ventured to attack a Rajput fort. In spite of his religious devotions and tears at religious sermons, he could not control his officers by public farmans (decrees) like a sovereign king but had to resort to the poisoned cup and the assassin's dagger. Tughril, the rebel governor of Bengal, defeated the two armies which Balban sent against him and Balban could only bring the province under control after a campaign of three years. A frontier-officer of the Il-Khan-kingdom—a kingdom confessedly without any resources—succeeded in defeating and killing his elder son." —Prof. K. A. Nizami.

2 "Though performing the policeman's duty of maintaining law and order, there is no legislation or regulation by which Balban can be remembered. That Jalaluddin Khalji, the mildest and oldest of revolutionists should have over-thrown the administration of the Turkish slave-officers, proves definitely how rickety and worm-eaten that structure had become."

—Prof. K. A. Nizami.

दिल्ली के सिंहासन पर खलजी-वंश का अधिकार हो जाना, उसके दोषों और दुर्बलता को सिद्ध करते हैं। बलबन के मुख्य दोष उसकी निरंकुशता और तुर्की नस्ल की श्रेष्ठता को कायम रखने का प्रयत्न करना था। एक व्यक्ति अथवा किसी एक अल्प-संख्यक-वर्ग की शक्ति और क्षमता पर आधारित राज्य स्थायी नहीं हो सकता था। इस कारण बलबन का राज्य और उसके वंश का दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार सुरक्षित न रहा।

परन्तु तब भी बलबन को एक योग्य शासक माना गया है। तथाकथित गुलाम-सुल्तानों में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। वह अपनी योग्यता से सुल्तान बना था। वह कठोर और क्रूर था, परन्तु सम्भवतया उसके समय की परिस्थितियों में उसका ऐसा बनना आवश्यक था। शासन के प्रति भय और सम्मान की भावना का नष्ट हो जाना और विद्रोहियों एवं लुटेरों की संख्या में वृद्धि एक कठोर शासक की आवश्यकता की ओर ध्यान दिला रहे थे। बलबन ने उस आवश्यकता की पूर्ति की अन्यथा बलबन न्यायप्रिय, दुर्बलों का रक्षक और प्रजा के आर्थिक हितों की ओर ध्यान देने वाला शासक था। बरनी ने लिखा था कि "सुल्तान नासिरुद्दीन के शासन के अन्त तक सुल्तान का सम्मान पूर्णतया नष्ट हो गया था।" उसने पुनः लिखा : "जब बलबन सिंहासन पर बैठा, उस समय तक राज्यसत्ता का भय समाप्त हो चुका था जोकि एक अच्छे शासन का आधार होता है। उस समय तक प्रजा राज्य के गौरव को पूर्णतया भुला चुकी थी।"[1] बलबन ने राज्य की सत्ता और सम्मान को पुनः-स्थापित किया। बलबन धर्म-परायण व्यक्ति था और धार्मिक व्यक्तियों की संगत पसन्द करता था। वह विद्वानों का सम्मान करता था। उसका दरबार मुस्लिम संस्कृति और विद्वानों का केन्द्रस्थान था। इल्तुतमिश के दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय में उत्पन्न हुई अराजकता को दूर करने का श्रेय बलबन को था। उसने विद्रोहों को समाप्त किया विद्रोही इक्तादारों को दण्ड दिया, दिल्ली सल्तनत की सीमाओं को सुरक्षित रखा और उसके अन्तर्गत शान्ति और व्यवस्था की। बलबन ने सुल्तान की संप्रभुता को प्रभावपूर्ण बनाया, और जैसा कि डॉ. त्रिपाठी ने लिखा है : "उसका संप्रभुता का सिद्धान्त सम्मान, शक्ति और न्याय पर आधारित था।"[2] डॉ. ए. बी. पाण्डे ने भी विचार व्यक्त किया है : "यदि हम बलबन की सफलताओं को एक शब्द में व्यक्त करें तो वह शब्द है 'संगठन'। वह उसकी नीति का मुख्य आधार था।"[3] सुल्तानों और तुर्की गुलाम-सरदारों के संघर्ष तथा सुल्तान की प्रतिष्ठा को समाप्त किये जाने के लिए बलबन दोषी न था। उसने राजनीतिक मंच पर आने से पहले वह संघर्ष आरम्भ हो चुका था। उसने धीरे-धीरे उन परिस्थितियों का लाभ अपने और अपने वंश

---

1 "When Balban ascended the throne, there was no fear of the authority of the state which was the very basis of good governance. By that time, the people had completely forgotten the glory of the state." —Barani.

2 "His concept of sovereignty was based on respect, power and justice." —Dr. Tripathi.

3 "If we have to express the achievements of Balban in a single word then that word is 'consolidation'. It was the primary basis of his policy." —Dr. A. B. Pandey.

के हित के लिए उठाया, यह अन्य बात है। एक बार सुल्तान बनने के पश्चात् उसने सुल्तान की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित किया, यह उसकी महान् सफलता थी। प्रो. ए. बी. एम. हबीबुल्ला ने लिखा है कि "बलबन का एकमात्र और महानतम कार्य राज्य में सल्तनत (बादशाहत) को पुनः श्रेष्ठतम स्थान प्रदान करना था।"[1] इस क्षेत्र में उसने कुतुबुद्दीन ऐबक और इल्तुतमिश के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पूर्ति की। इल्तुतमिश ने सुल्तान के पद को स्थापित किया था परन्तु उसकी शक्ति तुर्की गुलाम-सरदारों की शक्ति पर आश्रित थी। बलबन ने इस दुर्बलता को नष्ट करने में सफलता प्राप्त की। बलबन की शक्ति स्वयं सुल्तान की शक्ति थी जिसको किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं थी बल्कि जिस पर अन्य सभी निर्भर करते थे। इस कारण बलबन यथार्थ में सुल्तान था। निस्सन्देह बलबन मंगोल-आक्रमणों के भय को सर्वदा के लिए समाप्त नहीं कर सका परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि उसने मंगोलों की सफलता के मार्ग को बन्द कर दिया। उसने दिल्ली सल्तनत को सशक्त बनाया और अपनी उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा के सम्बन्ध में उसने जो नीति अपनायी वह आगे आने वाले खलजी शासकों के लिए एक उदाहरण सिद्ध हुई। डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है कि "महान् योद्धा, शासक एवं नीति-निपुण बलबन जिसने घोर संकटमय स्थिति में पड़े हुए अल्पवयस्क मुसलमान राज्य को सुरक्षित रखा और नष्ट होने से बचाया, मध्यकालीन भारतीय इतिहास में सदैव उच्च स्थान पाता रहेगा। उसने अलाउद्दीन के सफल शासन की भूमिका बना दी। यदि उसने भारत में संघर्षरत मुसलमान शक्ति को दृढ़ एवं सुरक्षित न बना दिया होता तो अलाउद्दीन मंगोलों के आक्रमणों का सफल प्रतिरोध करने तथा सुदूरवर्ती प्रदेशों की विजय करने में कभी सफल न हो पाता जिनके कारण उसको मुसलमानों के इतिहास में ऐसा गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।"[2] प्रो. हबीबुल्ला ने भी लिखा है कि "बलबन ने बहुत कुछ खलजियों की शासन-व्यवस्था के आधार का निर्माण किया।" बलबन के विषय में इतिहासकार बरनी का एक कथन महत्वपूर्ण है। उसने लिखा है कि "बलबन की मृत्यु से दुखी हुए मलिकों (अमीरों) ने अपने वस्त्र फाड़ डाले और सुल्तान के शव को नंगे पैरों दारुल-अमन के कब्रिस्तान को ले जाते हुए उसने अपने-अपने सिरों पर धूल फेंकी। उन्होंने चालीस दिन तक उसकी मृत्यु का शोक मनाया और नंगी भूमि पर सोये।"[3] इससे प्रकट होता है कि बलबन

---

1 "Balban's greatest single achievement lay in the revival of the monarchy as the supreme factor in the state."
—Prof. A. B. M. Habibullah.

2 "Balban, a great warrior, ruler and statesman, who saved the infant Muslim state from extinction at a critical time, will ever remain a great figure in medievel Indian history. He was the precursor of Alauddin, but for the scrutiny and stability which he imparted to the struggling power of the Muslims in India, it would have been impossible for Alauddin to withstand successfully the Mongol attacks and to achieve conquests in distant lands, which have won him an honoured place in Muslim history."
—Dr. Ishwari Prasad.

3 "The maliks in grief at Balban's death tore their garments and threw dust on their heads as they followed, bare-feet, the king's

की कठोरता के बावजूद भी उसके सरदार उससे प्रेम करते थे अथवा उसकी उपस्थिति की आवश्यकता को अनुभव करते थे। एक कठोर शासक के प्रति यह भावना आश्चर्य की बात थी। प्रो. ए. बी. एम. हबीबुल्ला ने भी यह स्वीकार किया है कि "उसने एक बड़ी मात्रा में खलजी राज्य-व्यवस्था की पृष्ठभूमि का निर्माण किया।"[1] इस कारण यह मानना पड़ता है कि बलबन एक सफल शासक था। इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों में एकमात्र रजिया ने योग्यता से कार्य किया परन्तु वह असफल हुई। बलबन ने सफलता प्राप्त की और उसने इल्तुतमिश के दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय में उत्पन्न हुई अव्यवस्था और दुर्बलता को दूर कर दिया। निस्सन्देह वह अपने वंश के अधिकार को दिल्ली के सिंहासन पर सुरक्षित रखने में असफल रहा, परन्तु वह दिल्ली सल्तनत के अधिकार और प्रभाव को स्थायित्व प्रदान करने में अवश्य सफल हुआ। बलबन को एक महान् सुल्तान नहीं माना जा सकता। परन्तु तथाकथित गुलाम-सुल्तानों में महान् सुल्तान कहलाने का अधिकारी तो कोई भी नहीं है। बलबन में भी कमियाँ रहीं परन्तु जो सफलताएँ उसने प्राप्त कीं, उसके कारण उसे गुलाम-सुल्तानों में एक महत्वपूर्ण सुल्तान माना गया है। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के शब्दों में "तथाकथित गुलाम-सुल्तानों में इल्तुतमिश के बाद उसका दूसरा स्थान है।"[2]

[ 2 ]

## कैकुबाद और शमसुद्दीन क्यूमर्स (1287-1290 ई.)

बलबन ने अपनी मृत्यु से पहले अपने बड़े पुत्र मुहम्मद के पुत्र कैखुसरव को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था परन्तु दिल्ली का कोतवाल फखरुद्दीन मुहम्मद उससे और उसके परिवार से घृणा करता था। उसने एक षड्यन्त्र किया और कैखुसरव को डराकर मुल्तान भगा दिया अथवा उसे मुल्तान की सूबेदारी दिला दी और उसके स्थान पर बलबन के दूसरे पुत्र तथा बंगाल के इक्तादार बुगराखाँ के पुत्र कैकुबाद को सुल्तान बनाने में सफलता प्राप्त की। सुल्तान बनने के अवसर पर कैकुबाद की आयु 17 अथवा 18 वर्ष की थी। कैकुबाद सुन्दर, सुसभ्य, उदार, शिक्षित और शस्त्र चलाने में निपुण था। परन्तु वह अल्पायु था और उसका लालन-पालन बलबन के कठोर नियन्त्रण में हुआ था। उसने सुल्तान बनने से पहले किसी सुन्दर स्त्री का मुँह तक नहीं देखा था और न कभी शराब पी थी। कोतवाल फखरुद्दीन के दामाद निजामुद्दीन ने उसका लाभ उठाया। वह कुचक्री तथा महत्वाकांक्षी था और उसका श्वसुर प्रभावशाली व्यक्ति था। उसने कैकुबाद को विलासिता की ओर प्रेरित किया। कैकुबाद की दबी हुई भावनाएँ भड़क उठीं और स्त्री, शराब

---

bier to the burial ground at Darul Aman. For forty days they mourned his death and slept on the bare floor."
—Prof. A. B. M. Habibullah.
(बरनी के विवरण पर आधारित)

1 "In a large measure he prepared the ground for the Khalji state-system."
—Prof. A. B. M. Habibullah.

2 "His place among the so-called Slave kings is next only to that of Iltutmish."
—Dr. A. L. Srivastava.

तथा गाना-बजाना ही उसके एकमात्र कार्य रह गये। निज़ामुद्दीन दिल्ली का केवल 'दाद-बेग' (शहर का अधिकारी) था परन्तु वास्तव में वह सुल्तान का 'नाइब' बन गया और सम्पूर्ण शासन की बागडोर उसके हाथों में चली गयी। निजामुद्दीन स्वार्थी और कुचक्री था परन्तु योग्य भी था। उसने शासन को अव्यवस्थित नहीं होने दिया। मंगोलों की एक सेना ने तैमूरखाँ के नेतृत्व में पंजाब पर आक्रमण किया और समाना तक पहुँच गयीं परन्तु मलिक बकबक ने लाहौर के निकट उसे परास्त करने में सफलता प्राप्त की अथवा शाही सेना के आने का समाचार पाकर मंगोल स्वयं वापस चले गये। लगभग एक हजार मंगोल बन्दी बना लिये गये और दिल्ली लाकर उन्हें कत्ल कर दिया गया।

परन्तु निजामुद्दीन सिंहासन के पीछे से शक्ति का उपभोग करने से सन्तुष्ट न रह सका। वह सुल्तान की असावधानी से लाभ उठाकर सिंहासन को प्राप्त करने के लिए उतारू हो उठा। उसने अपने श्वसुर कोतवाल फखरुद्दीन की सलाह मानने से भी इन्कार कर दिया। उसने सुल्तान के महल में अपनी पत्नी को भेज दिया जिससे वह महल पर भी अपना नियन्त्रण रख सके। छः माह पश्चात् कैखुसरव का वध कर दिया गया, वजीर ख्वाजा खतीर को गधे पर बैठाकर नगर में घुमाया गया तथा अन्य कई विरोधी तुर्क सरदारों को निजामुद्दीन ने कत्ल करा दिया। इस कारण अनेक तुर्क सरदार निजामुद्दीन के विरोधी हो गये।

कैकुबाद के विलासमय जीवन और निजामुद्दीन के बढ़ते हुए प्रभाव की सूचना उसके पिता बुगराखाँ तक पहुँच चुकी थी। उसने अपने पुत्र को पत्रों द्वारा समझाने का प्रयत्न किया परन्तु उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। अन्त में, बुगराखाँ ने अपने पुत्र से मिलने का निश्चय किया और एक बड़ी सेना लेकर वह बंगाल से अवध पहुँच गया। कैकुबाद भी अपनी सेना को लेकर अवध गया और अयोध्या के निकट पहुँच गया। निजामुद्दीन ने कैकुबाद को अपने पिता से मिलने से रोकने तथा उससे युद्ध करने का प्रयत्न किया परन्तु बुगराखाँ के धैर्य और कुछ वफादार तुर्क सरदारों के प्रयत्नों के कारण पिता-पुत्र की भेंट सम्भव हो गयी। बुगराखाँ ने 'जमींपोशी' और 'पैबोस' की रस्मों की पूर्ति की, यहाँ तक कि कैकुबाद को इतनी ग्लानि अनुभव हुई कि वह सिंहासन छोड़कर अपने पिता के चरणों पर गिर पड़ा। उसके पश्चात् पिता-पुत्र गले मिले और तीन दिन साथ-साथ रहे। बुगराखाँ ने कैकुबाद को विलासप्रिय जीवन को छोड़ देने की सलाह दी और चलते समय चुपके से निजामुद्दीन से छुटकारा पाने की भी राय दी। कैकुबाद ने दिल्ली वापस आकर अपने पिता की सलाह के अनुसार कार्य करने का प्रयत्न किया। परन्तु वह दुर्बल-चरित्र का था जिसके कारण एक सप्ताह पश्चात् वह पुनः भोग-विलास में फँस गया। परन्तु उसने निजामुद्दीन से छुटकारा पाने का निश्चय कर लिया था। निजामुद्दीन को मुल्तान जाने के आदेश दिये गये परन्तु जब उसने टालमटोल की तो कैकुबाद ने उसे जहर देकर मरवा दिया। निजामुद्दीन की मृत्यु सुल्तान के लिए लाभदायक होती यदि वह शासन को अपने हाथों में लेने का प्रयत्न करता। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया और पहले की भाँति इन्द्रिय-सुखों में लगा रहा। शीघ्र ही उसका स्वास्थ्य खराब हो गया और शासन-सत्ता दो तुर्की सरदारों—मलिक कच्छन और मलिक सुर्खा—के हाथों में चली गयी।

कैकुबाद ने जलालुद्दीन फीरोज खलजी को अपनी सेना का सेनापति और बुलन्दशहर का इक्तादार नियुक्त किया था। खलजियों को गैर-तुर्क समझा जाता था।

इस कारण जलालुद्दीन खलजी की सेनापति के पद की नियुक्ति से तुर्क सरदार असन्तुष्ट हो गये। मलिक कच्छन और मलिक सुर्खा ने शासन में तुर्कों की श्रेष्ठता कायम रखने के लिए सभी गैर-तुर्क सरदारों को कत्ल करने की योजना बनायी जिनमें सबसे पहला नाम जलालुद्दीन खलजी का था। उस समय तक कैकुबाद को लकवा मार गया था। तुर्की सरदारों ने उसे पूर्णतया अनुपयोगी समझकर उसके तीन वर्ष क पुत्र क्यूमर्स को शमसुद्दीन के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। मलिक कच्छन ने जलालुद्दीन को मारने का उत्तरदायित्व लिया और उसे धोखे से मारने के लिए सुल्तान से मिलने के आदेश दिये। जब इस आदेश को लेकर कच्छन स्वयं जलालुद्दीन के पास गया तब उसे कत्ल कर दिया गया। जलालुद्दीन अपनी सेना को लेकर दिल्ली के निकट पहुँच चुका था। उसके सैनिकों ने दिल्ली में प्रवेश करके सुल्तान और कोतवाल फखरुद्दीन के बच्चों को पकड़ लिया। उसके पश्चात् सुल्तान के संरक्षक की नियुक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ। फखरुद्दीन और सुल्तान के भतीजे मलिक छज्जू ने इस पद को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। तब जलालुद्दीन खलजी स्वयं सुल्तान का संरक्षक बन गया। परन्तु यह व्यवस्था अधिक समय तक नहीं चल सकती थी। तीन माह के पश्चात् जलालुद्दीन ने क्यूमर्स उर्फ सुल्तान शमसुद्दीन का वध करा दिया। कैकुबाद को एक खलजी सरदार ने उसकी चादर में लपेट कर यमुना नदी में फेंक दिया। इस प्रकार बलबन के उत्तराधिकारियों का अन्त हुआ और उनके साथ-साथ तुर्कों की श्रेष्ठता का समय भी समाप्त हो गया।

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सुल्तान बलवन की क्या कठिनाइयाँ थीं ? वह उसे दूर करने में कहाँ तक सफल रहा ?
2. बलवन का राजत्व सिद्धान्त क्या था ? वह उसके व्यावहारिक प्रयोग में कहाँ तक सफल रहा ?
3. "सुल्तान बलबन ने एक बड़ी मात्रा में खलजी राज्य-व्यवस्था की पृष्ठभूमि का निर्माण किया।" उपर्युक्त कथन के आधार पर बलबन के राजत्व सिद्धान्त, उसके व्यावहारिक प्रयोग और उसके परिणामों पर विचार कीजिए।
4. "बलवन गुलाम-वंश का एक महत्वपूर्ण शासक था।" आप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं ?

# 8

# जलालुद्दीन फीरोजशाह खलजी (1290-1296 ई.)

जलालुद्दीन खलजी ने दिल्ली में एक नवीन राजवंश की स्थापना की। निस्सन्देह खलजी-वंश के सुल्तान भी तुर्क थे। 'तारीख-ए-फखरुद्दीन मुबारकशाही' के लेखक फखरुद्दीन, रावर्टी (Raverty), बार्थोल्ड (Barthold) आदि विभिन्न विद्वानों ने उन्हें तुर्क माना है। अफगानिस्तान में हेलमन्द नदी की घाटी के प्रदेश को 'खलजी' के नाम से पुकारा जाता था और जो जातियाँ उस प्रदेश में बस गयीं उन्हें खलजी पुकारा जाने लगा। जलालुद्दीन के वंशज उन्हीं जातियों में से थे जो 200 वर्षों से भी अधिक समय तक उस प्रदेश में रहे जिसके कारण उनका रहन-सहन तथा रीति-रिवाज अफगानों की भाँति हो गये और भारत में उन्हें भ्रमवश अफगान समझा जाने लगा।

परन्तु तुर्क होते हुए भी एक दृष्टि से खलजियों की शासन-व्यवस्था पिछले इल्बारी तुर्कों की शासन-व्यवस्था से भिन्न रही। दिल्ली के सिंहासन पर खलजी-वंश का आधिपत्य हो जाने से भारत में तुर्कों की श्रेष्ठता समाप्त हो गयी। प्रो. ए. बी. एम. हबीबुल्ला ने लिखा है कि "25 वर्ष पहले बलबन के सिंहासनारोहण से भिन्न, इस समय से एक युग समाप्त हो गया क्योंकि ममलूक-राजवंश के समाप्त हो जाने से वह नस्लवाद भी समाप्त हो गया जो कुतुबुद्दीन इल्तुतमिश और उनके उत्तराधिकारियों के राजनीतिक दृष्टिकोण की एक मुख्य विशेषता थी।"[1] इल्बारी-तुर्कों ने बड़े साहस और शक्ति से भारत में तुर्की राज्य का निर्माण किया था और उन्होंने राज्य के संगठन में तुर्कों को ही श्रेष्ठता प्रदान की थी। तुर्कों की श्रेष्ठता स्थापित रखने के लिए बलबन ने उनके सभी विरोधियों को नष्ट करने का प्रयत्न भी किया। परन्तु वह प्रयत्न विफल रहा। इल्बारी-तुर्क बदलती हुई परिस्थितियों और मुख्यतया भारतीय अथवा गैर-इल्बारी-तुर्कों के बढ़ते हुए प्रभाव को समझने में असमर्थ रहे। इल्बारी-तुर्कों के विरुद्ध खलजियो की सरल सफलता ने यह सिद्ध कर दिया

1 "Unlike Balban's accession twenty-five years earlier, it meant the end of an age, for with the Mamaluk dynasty also passed away that racialism, which had characterized the political attitude of Qutbuddin, Iltutmish and their successors..."
—Prof. A. B. M. Habibullah.

कि नस्लवाद पर आधारित तुर्की श्रेष्ठता की नीति अनुपयोगी एवं असफल थी। खलजियों का विद्रोह मुख्यतया भारतीय मुसलमानों का उन तुर्कों के विरुद्ध विद्रोह था जो दिल्ली के स्थान पर गोर और गजनी से प्रेरणा प्राप्त करते थे। खलजी-वंश के दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ होने से शासन में भारतीय और गैर-तुर्क मुसलमानों का प्रभाव हो गया जिससे यह स्पष्ट हो गया कि सुल्तान के पद पर किसी एक विशेष वर्ग का एकाधिपत्य नहीं होता।

ममलूक-सुल्तानों के शासन-काल पर दृष्टिपात करने से एक बात और स्पष्ट होती है। प्रायः 100 वर्ष के निरन्तर संघर्ष और शासन के बावजूद भी तुर्क भारत में राज्य-विस्तार करने में असफल रहे थे। कुतुबुद्दीन ऐबक से लेकर बलबन तक हुए दिल्ली सुल्तान केवल उस राज्य की सुरक्षा और दृढ़ता में व्यस्त रहे जिसे मोहम्मद गोरी ने भारत में स्थापित किया था। स्वतन्त्र हिन्दू राजा और अधीन हिन्दू प्रजा निरन्तर मुसलमानों से संघर्ष करती रही और बलबन जैसा निरंकुश सुल्तान भी राज्य-विस्तार का साहस नहीं कर सका था। इस कारण इल्बारी-तुर्कों के शासन-काल में सम्पूर्ण उत्तरी भारत की विजय भी पूर्ण न हो सकी थी। खलजी-वंश के समय में इस स्थिति में परिवर्तन हो गया। अलाउद्दीन खलजी ने न केवल साम्राज्य-विस्तार करने में ही सफलता प्राप्त की बल्कि हिन्दुओं की विद्रोह और संघर्ष करने की शक्ति को भी दुर्बल किया। इस प्रकार खलजी-युग साम्राज्यवाद और मुस्लिम शक्ति के विस्तार का युग रहा। इसके अतिरिक्त खलजी-वंश के शासन-काल में शासन-व्यवस्था में गम्भीर परिवर्तन किये गये और उसमें भारतीय मुसलमानों का सहयोग लिया गया। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "उसने (खलजी-क्रान्ति ने) एक नवीन राजवंश को ही आरम्भ नहीं किया बल्कि उसने एक निरन्तर होने वाली विजयों, राज्य-पद्धति में नवीन अन्वेषणों और अतुलनात्मक साहित्यिक क्रिया के युग को आरम्भ किया।"[1]

एक अन्य दृष्टि से भी खलजी-वंश का महत्व है। जलालुद्दीन ने सिंहासन पर अधिकार न वंशानुगत आधार पर, न चुनाव द्वारा और न षड्यन्त्र द्वारा किया था बल्कि शक्ति के आधार पर किया था और शक्ति के द्वारा खलजियों ने उसे कायम रखा। खलजियों ने अपनी शक्ति के निर्माण में न तो जन-साधारण से सहायता ली, न सरदारों से और न उलेमा-वर्ग (मुसलमानों के धार्मिक वर्ग) से। खलजियों ने अच्छा अथवा बुरा कुछ भी किया हो परन्तु एक बात अवश्य थी कि उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि राज्य बिना धर्म की सहायता के केवल जीवित ही नहीं रह सकता बल्कि सफलतापूर्वक कार्य भी कर सकता है। खलजी-वंश के किसी भी सुल्तान ने खलीफा से अपने पद की स्वीकृति लेने की आवश्यकता भी अनुभव नहीं की।

**प्रारम्भिक जीवन**

जलालुद्दीन के पूर्वज पर्याप्त समय पहले भारत में आकर बस गये थे और

---

1 "It not only heralded the advent of a new dynasty; it ushered in an era of ceaseless conquests of unique experiments in statecraft, and of incomparable literary activity."
—Dr. K. S. Lal, *History of the Khaljis.*

तुर्क-सुल्तानों की सेवा में थे। जलालुद्दीन ने अपनी योग्यता से 'सर-जाँदार' उर्फ शाही अंगरक्षक के पद को प्राप्त किया और बाद में समाना का सूबेदार बना। उस पद पर कार्य करते हुए उसने कई अवसरों पर मंगोल-आक्रमणकारियों का मुकाबला किया और सफलता प्राप्त की। सुल्तान कैकुबाद ने उसे दिल्ली बुलाया, 'शाइस्ताखाँ' की उपाधि दी और 'आरिज-ए-मुमालिक' अर्थात् सेना-मन्त्री का पद दिया। इस प्रकार जलालुद्दीन एक योग्य सेनापति था और कैकुबाद अन्तिम दिनों में सेना-मन्त्री के पद पर कार्य कर रहा था। इसके अतिरिक्त वह भारत में खलजी कबीले का प्रधान और दरबार के गैर-तुर्की मुसलमानों के दल का नेता था। तुर्क सरदारों ने गैर-तुर्की सरदारों की शक्ति को नष्ट करने के लिए उनके महत्वपूर्ण सरदारों को कत्ल करने की योजना बनायी। उन सरदारों में से एक जलालुद्दीन खलजी भी था। इस कारण उसने उन तुर्क सरदारों के नेताओं का विरोध किया और अन्त में अपंग कैकुबाद और क्यूमर्स उर्फ सुल्तान शमसुद्दीन को समाप्त करके दिल्ली के सिंहासन को अपने अधिकार में कर लिया। 13 जून, 1290 ई. को कैकुबाद द्वारा बनवाये नये अपूर्ण किलोखरी (कीलूगढ़ी) के महल में जलालुद्दीन ने अपना राज्याभिषेक किया और सुल्तान बन गया।

### विचार और व्यवहार

सुल्तान बनने के अवसर पर जलालुद्दीन 70 वर्ष का वृद्ध व्यक्ति था और वृद्धता की दुर्बलताएँ उसके चरित्र में प्रकट होने लगी थीं। यद्यपि वह एक योग्य सेनापति था परन्तु अब उसे युद्ध प्रिय नहीं रह गया था। वह अत्यधिक उदार और सहिष्णु बन गया था। उसने तुर्की सरदारों और पिछले शासनाधिकारियों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया, विद्रोहियों को ही नहीं बल्कि लुटेरों और ठगों को माफ कर दिया, षड्यन्त्रकारी अमीरों और व्यक्तिगत शौर्य-प्रदर्शन द्वारा अथवा उदारता से अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया और अन्त में अपनी अविवेकपूर्ण उदारता के कारण अपने भतीजे के षड्यन्त्र में फँसकर मारा गया। जलालुद्दीन ने सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा के अनुकूल व्यवहार नहीं किया और न उसके अनुकूल उसकी महत्वाकांक्षाएँ रहीं। जब वह कुछ माह पश्चात् बलबन के लाल किले में गया तब वह बाहर के फाटक पर ही घोड़े से उतर गया और बलबन के सिंहासन को देखकर रो पड़ा तथा उसने सिंहासन पर बैठने से इन्कार कर दिया। बरनी के कथन के अनुसार उसने अहमद चप से कहा कि "वह उस सिंहासन पर कैसे बैठ सकता है जिसके सामने वह भय और सम्मान से घण्टों खड़ा रहता था।" जलालुद्दीन ने एक धार्मिक मुसलमान की भाँति अपने वृद्धावस्था के समय को शान्ति से व्यतीत करने के अतिरिक्त किसी अन्य इच्छा को व्यक्त नहीं किया। जलालुद्दीन का राजवंश से कोई सम्बन्ध न था और दिल्ली के नागरिक जो एक लम्बे समय से इल्बारी-तुर्कों को ही शासन का अधिकारी मानते आ रहे थे, जलालुद्दीन और खलजियों के शासन करने के अधिकार को स्वीकार करने को तत्पर न थे। तुर्की सरदार खलजियों को गैर-तुर्क मानते थे। इस कारण वे खलजियों से घृणा करते थे और उन्हें शासक स्वीकार करने में स्वयं को असम्मानित अनुभव करते थे। ऐसी परिस्थितियों में सुल्तान की उदारता और सहिष्णुता को गलत समझा गया। महत्वाकांक्षी व्यक्तियों ने जलालुद्दीन को सिंहासन से हटाने के लिए विद्रोह और षड्यन्त्रों का सहारा लिया तथा उसके खलजी सरदारों में उसके प्रति विश्वास न रहा। वास्तव में, दिल्ली सल्तनत को उस समय जलालुद्दीन सदृश एक उदार सुल्तान

की आवश्यकता न थी बल्कि एक कठोर और अनुशासनप्रिय शासक की आवश्यकता थी। जलालुद्दीन का व्यवहार और नीति इसके प्रतिकूल थी।

जलालुद्दीन को दिल्ली के नागरिकों और अमीरों के विरोध का भय न था। इस कारण उसने अपना राज्याभिषेक दिल्ली में नहीं बल्कि उसके निकट किलोखरी के महल में कराया। उसने उस महल को शोभनीय बनाया और अपने अमीरों को भी वहीं रहने की आज्ञा दी जिससे वहाँ एक सुन्दर नवीन शहर बस गया। एक वर्ष के पश्चात् कोतवाल फखरुद्दीन और दिल्ली के नागरिकों के द्वारा आमन्त्रित किये जाने पर ही वह दिल्ली गया।

## पदों की नियुक्ति

जलालुद्दीन ने बलबन के सम्बन्धियों और तुर्की सरदारों को सन्तुष्ट करने की नीति अपनायी। उसने उनसे उदारता का व्यवहार किया। सिराजुद्दीन सावी और मण्डाहर के राजपूत राज्य ने उसके सुल्तान बनने से पहले उसे असन्तुष्ट किया था परन्तु उसके सुल्तान बनने के पश्चात् वे उससे क्षमा माँगने आये। जलालुद्दीन ने उनको माफ ही नहीं किया बल्कि उन्हें उचित भेंट भी दी। तुर्की अमीरों को उसने पहले की भाँति उनके पदों पर रहने दिया। दिल्ली का कोतवाल फखरुद्दीन ही रहा, कड़ा-मानिकपुर की जागीर बलबन के भतीजे मलिक छज्जू के पास रहने दी गयी और ख्वाजा खातीर को 'वजीर' रहने दिया गया। परन्तु उसने अपने सम्बन्धियो और विश्वासपात्र सरदारों को भी महत्वपूर्ण पद दिये। उसने अपने सबसे बड़े पुत्र को 'खानखाना', दूसरे को 'अर्कलीखाँ' और तीसरे को 'कद्रखाँ' की उपाधियाँ दीं। अपने भतीजे अलाउद्दीन और अलमासवेग को उच्च पद दिये, अपने छोटे भाई यग्रुसखां को सेनामन्त्री (आरिज-ए-मुमालिक) बनाया और अपने सम्बन्धी अहमद चप को 'अमीर-ए-हाजिब' का पद दिया। इस प्रकार सुल्तान ने तुर्की अमीरों को सन्तुष्ट करने के साथ-साथ शासन पर अपना नियन्त्रण रखने की भी व्यवस्था की।

## मलिक छज्जू का विद्रोह

अगस्त 1290 ई. में कड़ा-मानिकपुर के सूबेदार मलिक छज्जू ने विद्रोह किया। उसने 'सुल्तान मुगीसुद्दीन' की उपाधि ग्रहण की, अपने नाम के सिक्के चलाये और खुतबा पढ़वाया। अवध का सूबेदार अमीरअली हातिमखाँ और बलबन के समय के राज्य के पूर्वी भागों के कुछ अन्य सरदार उससे जाकर मिल गये। दोआब के बहुत से हिन्दू सरदार भी उसके साथ हो गये। उसने बदायूँ के मार्ग से दिल्ली की ओर बढ़ना आरम्भ किया। बदायूँ में मलिक बहादुर और अलम गाजी भी अपनी सेनाओं को लेकर उसके साथ मिलने के लिए तत्पर थे। जलालुद्दीन उस विद्रोह को दबाने के लिए स्वयं गया। उसका पुत्र अर्कलीखाँ सेना के अग्रगामी भाग के साथ गया और उसने बदायूँ के निकट मलिक छज्जू को परास्त कर दिया। छज्जू भाग गया परन्तु बाद में पकड़ा गया। जब उसे और उसके साथियों को जंजीरों में जकड़कर गन्दे वस्त्रों में सुल्तान के सम्मुख प्रस्तुत किया गया तब सुल्तान रो पड़ा। उसने उनको सम्मानित ढंग से वस्त्र पहनने की आज्ञा दी और उनको दावत पर बुलाया। दावत के अवसर पर सुल्तान ने मलिक छज्जू के सहयोगियों की यह कहकर प्रशंसा की कि वे अपने स्वर्गीय सुल्तान के एकमात्र वंशज के प्रति वफादार थे। जलालुद्दीन ने मलिक छज्जू को अर्कलीखाँ की देखरेख में मुल्तान भेज दिया और उसके साथियों को मुक्त कर दिया।

उसके भतीजे अलाउद्दीन और सरदार अहमद चप ने इसका विरोध भी किया परन्तु सुल्तान ने यह कहकर उनको चुप कर दिया कि वह राज्य की खातिर मुसलमानों का रक्त बहाने के लिए तैयार नहीं है। उस अवसर पर कड़ा-मानिकपुर की सूबेदारी अलाउद्दीन खलजी को दी गयी।

**षड्यन्त्र**

जलालुद्दीन की अविवेकपूर्ण उदारता शासन के हित में उपयुक्त सिद्ध नहीं हुई। दिल्ली में करीब एक हजार ठग और चोर पकड़े गये परन्तु सुल्तान ने उनको नावों में बैठाकर बंगाल भेज दिया जहाँ उनकी आज्ञानुसार उन्हें मुक्त कर दिया गया। ऐसी उदारता निश्चय ही महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के लिए प्रोत्साहन प्रदान करने वाली थी। जब सुल्तान रणथम्भोर के अभियान पर गया हुआ था तब तक एक शराब की दावत के अवसर पर उसके कुछ सरदारों ने यह कहा कि वे वृद्ध सुल्तान का वध करके मलिक ताजुद्दीन कूची को सिंहासन पर बैठायेंगे। ताजुद्दीन कूची बलबन के समय के प्रभावशाली 'चालीस सरदारों के गुट' में से एक था। जब इस घटना की सूचना सुल्तान को मिली तो उनको अलग-अलग बुलाया और उनमें से प्रत्येक को अपने से युद्ध करने के लिए कहा। परन्तु एक समझदार सरदार के समझाने से वह तुरन्त शान्त हो गया। उसने उनको दण्डित नहीं किया बल्कि एक वर्ष के लिए उनको दरबार से निकालकर ही सन्तुष्ट हो गया।

केवल एक अवसर पर सुल्तान अपनी स्वाभाविक उदारता को भूल गया। सीदी मौला ईरान से आया हुआ एक फकीर था जो दिल्ली में बस गया था। परन्तु उसके पास बहुत धन था और उसके यहाँ हजारों व्यक्तियों को प्रतिदिन भोजन प्राप्त होता था। कुछ व्यक्तियों का विश्वास था कि वह तन्त्र-विद्या जानता था और कुछ उसके विरोधी उसे ठगों से मिला हुआ समझते थे। परन्तु सम्भवतया सुल्तान का सबसे बड़ा पुत्र खानखाना जो उसका अनुयायी था, उसे धन देता था। सीदी मौला के अनुयायियों की संख्या करीब दस हजार तक पहुँच गयी थी और उस पर सन्देह किया जाता था कि वह शाहजादा खानखाना के समर्थकों का सहयोगी था। डॉ. के. एस. लाल का कथन है कि वह राजनीति में हस्तक्षेप करता था जिससे शाहजादा अर्कलीखाँ उससे असन्तुष्ट था। सीदी मौला के समर्थकों ने उसका विवाह स्वर्गीय सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद की एक पुत्री से करके सिंहासन पर बैठाने का षड्यन्त्र किया। परन्तु उन्हीं में से एक ने इस षड्यन्त्र की सूचना सुल्तान को दे दी। सुल्तान ने उसे दरबार में बुलाया और जब सीदी मौला ने राजनीति में हस्तक्षेप करने के अपराध को स्वीकार नहीं किया तब सुल्तान ने क्रोधित होकर उसे मार देने की आज्ञा दी। विरोधी धार्मिक सम्प्रदाय के एक व्यक्ति ने एक छुरे से सीदी मौला पर कई वार किये और उसी समय शाहजादा अर्कलीखाँ के आदेश पर उसे हाथी के पैरों तले रौंद दिया गया। बरनी ने लिखा है कि इस घटना के पश्चात् एक जबर्दस्त आँधी आयी, बहुत जोर की वर्षा हुई और अकाल पड़ा। बहुत से व्यक्तियों ने यह विश्वास किया कि ये दुर्घटनाएँ उस फकीर की मृत्यु के कारण हुई थीं। अकाल का कारण कुछ भी रहा हो परन्तु यह स्पष्ट है कि सीदी मौला ने राजनीति में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया था।

सीदी मौला को इस प्रकार दण्डित करना सुल्तान का एकमात्र कठोर कार्य था अन्यथा उसकी नीति उदारता और सभी को सन्तुष्ट करने की रही।

**युद्ध**

सीदी मौला ने अपनी बाह्य नीति में भी अपनी स्वाभाविक दुर्बलता का परिचय दिया। उसने विजय की इच्छा से केवल दो आक्रमण किये। रणथम्भौर चौहानों की सत्ता का केन्द्र-स्थान था और राणा हम्मीरदेव ने गौंड और उज्जैन के राजाओं को परास्त करने में सफलता पायी थी। इस कारण जलालुद्दीन हम्मीरदेव की बढ़ती हुई शक्ति को रोकना चाहता था। उस समय तक उसके सबसे बड़े पुत्र खानखाना की शंकाजनक परिस्थितियों में मृत्यु हो चुकी थी। इस कारण अपने दूसरे पुत्र अर्कलीखाँ को राजधानी में छोड़कर सुल्तान 1290 ई. में रणथम्भौर की ओर बढ़ा। मार्ग में सुल्तान ने झैन के किले को जीता और वहाँ के हिन्दू मन्दिरों को नष्ट किया। ब्रह्मा की दो बड़ी काँसे की मूर्तियों को तोड़कर उसके टुकड़ों को दिल्ली की जामा-मस्जिद के द्वार के सामने डालने के लिए भेज दिया गया। सुल्तान की सेना के एक भाग ने मालवा पर भी आक्रमण किया जिसने उसके समीपवर्ती क्षेत्रों को लूटा और मन्दिरों को नष्ट किया। उसके पश्चात् सुल्तान रणथम्भौर के किले के सामने पहुँच गया जिसकी सुरक्षा का प्रबन्ध राजपूतों ने भलीभाँति कर लिया था। किले की सुदृढ़ स्थिति को देखकर सुल्तान उसी दिन झैन वापस आ गया और उसने अपने सरदारों से स्पष्ट कह दिया कि वह मुसलमान सैनिकों के जीवन के मूल्य पर किले को जीतने को तैयार नहीं है। उसने कहा कि "वह एक मुसलमान के एक बाल को ऐसे दस किलों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण मानता है।"[1] इस कारण रणथम्भौर को बिना जीते हुए सुल्तान जून 1291 ई. में दिल्ली वापस पहुँच गया। 1292 ई. में मण्डौर पर आक्र-किया गया और उसे जीतकर दिल्ली के अधीन कर लिया गया। झैन को भी दुबारा लूटा गया।

मण्डौर की विजय से पहले ही 1292 ई. हलाकूखाँ (हुलागू) के एक प्रपौत्र अब्दुल्ला के नेतृत्व में मंगोलों की एक बड़ी सेना ने पंजाब पर आक्रमण किया और सुनम तक पहुँच गयी। उस अवसर पर जलालुद्दीन ने समय नष्ट नहीं किया और अपनी सेना को लेकर सिन्धु नदी के तट पर पहुँच गया। बरनी के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि जलालुद्दीन ने मंगोलों को परास्त करने में सफलता पायी थी। परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ था। छुटपुट के आक्रमणों में सुल्तान को सफलता मिली और जब मंगोलों की एक बड़ी टुकड़ी ने सिन्धु नदी को पार करके सुल्तान पर आक्रमण किया तब उसे परास्त कर दिया गया और बहुत से मंगोल पदाधिकारी कैद कर लिये गये। उसके पश्चात् सन्धि की बातचीत आरम्भ हो गयी और जो कुछ भी निश्चय हुआ, वह सुल्तान के लिए बहुत सम्मानपूर्ण न था। मंगोलों ने वापस चले जाने का निर्णय किया। परन्तु चंगेजखाँ के एक वंशज उलगू ने अपने 4000 समर्थकों के साथ इस्लाम को स्वीकार करके भारत में रहने का निश्चय किया। जलालुद्दीन ने अपनी एक पुत्री का विवाह उलगू के साथ कर दिया और उसे उसके साथियों को दिल्ली के निकट रहने की आज्ञा प्रदान कर दी। वे मंगोल 'नवीन मुसलमान' कहलाये।

जलालुद्दीन के समय में उसके भतीजे और कड़ा-मानिकपुर के सूबेदार अला-

---

1 "He did not value even ten such forts above a single hair of a Musalman." —Jalaluddin Khalji.

उद्दीन ने दो साहसिक आक्रमण किये। 1292 ई. में सुल्तान की स्वीकृति लेकर उसने मालवा में स्थित भिलसा पर आक्रमण किया और वहाँ से बहुत-सा धन लूटकर लाया जिसका एक भाग उसने सुल्तान के पास भिजवा दिया। सुल्तान ने प्रसन्न होकर उसे अवध की सूबेदारी प्रदान की। उस विजय से अलाउद्दीन की विजय और धन की लालसा तीव्र हो गयी। वास्तव में अलाउद्दीन दिल्ली का सिंहासन प्राप्त करने के लिए लालायित हो गया था और जलालुद्दीन की दुर्बल नीति से असन्तुष्ट महत्वाकांक्षी खलजी सरदार उसके निकट एकत्र हो गये थे। परन्तु अलाउद्दीन को धन की आवश्यकता थी जिससे वह अपनी शक्ति और समर्थकों की संख्या में वृद्धि कर सकता। भिलसा के आक्रमण के अवसर पर उसने दक्षिण के देवगिरि राज्य की सम्पत्ति और वैभव के बारे में सुना था। इस कारण वह उस पर आक्रमण करने के लिए लालायित हो गया। वास्तव में 13वीं सदी में देवगिरि का राज्य दक्षिणी भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली और सम्पन्न राज्य था। उसका शासक रामचन्द्रदेव एक योग्य और साहसी राजा था। उसने मालवा और मैसूर के राज्यों को परास्त किया था। दीर्घकाल की शान्ति, राज्य-विस्तार तथा व्यापार और कृषि की उन्नति ने देवगिरि राज्य को सम्पन्न और वैभवपूर्ण बना दिया था। उस समय तक उत्तरी भारत का कोई भी मुसलमान शासक दक्षिणी भारत में प्रवेश करने का साहस नहीं कर सका था तथा दक्षिणी भारत के राज्यों का सम्मान और सम्पत्ति सुरक्षित रही थी। अलाउद्दीन ने देवगिरि की सम्पत्ति लूटने का निश्चय किया। परन्तु उसने अपनी योजना किसी को नहीं बतायी। उसने सुल्तान जलालुद्दीन से केवल चन्देरी पर आक्रमण करने की आज्ञा माँगी। फरवरी 1296 ई. में अपने 8,000 चुने हुए घुड़सवारों को लेकर वह दक्षिण की ओर चला। चन्देरी और भिलसा होता हुआ वह देवगिरि की उत्तरी सीमा पर स्थित एलिचपुर नामक स्थान पर पहुँच गया जहाँ उसने दो दिन आराम किया और यह अफवाह फैला दी कि वह दिल्ली से भागा हुआ एक असन्तुष्ट सरदार है जो तेलंगाना राज्य में नौकरी प्राप्त करने की आशा से जा रहा है। देवगिरि से प्रायः 12 मील पश्चिम की ओर लासूड़ा के दर्रे में वहाँ के सरदार कान्हा ने अलाउद्दीन का मार्ग रोका। दो साहसी जागीरदार रानियों ने भी उसकी सहायता की। अलाउद्दीन को कठिन मुकाबला करना पड़ा परन्तु उसने उन्हें परास्त कर दिया और देवगिरि की ओर बढ़ा। उस सहसा आक्रमण से रामचन्द्रदेव चकित रह गया। मुसलमानों का दक्षिणी भारत में वह पहला आक्रमण था जिससे जन-साधारण में भय और आतंक फैल गया। रामचन्द्रदेव का बड़ा पुत्र शंकरदेव (सम्भवतया उसका सही नाम सिंहनदेव था) राज्य की चुनी हुई सेना लेकर युद्ध करने के लिए होयसल राज्य की सीमा पर गया हुआ था। ऐसी स्थिति में मुख्यतया तब जबकि अलाउद्दीन की सेना नगर में प्रवेश कर रही थी, रामचन्द्रदेव ने किले के फाटक बन्द करके अपनी सुरक्षा करने का प्रयत्न किया। रामचन्द्रदेव कितना असावधान था यह इस बात से स्पष्ट होता है कि उस समय उसके किले के चारों तरफ की खाई में न तो पानी था और न किले में रसद का प्रबन्ध। इससे भी अधिक, अनाज समझकर एक व्यापारी से छीनकर किले में रखे गये बोरों में अनाज के बदले नमक निकला। अलाउद्दीन ने यह अफवाह फैला दी कि उसकी सेना तो दिल्ली से आने वाली 20 हजार की मुख्य सेना का एक अग्रगामी भाग मात्र है। ऐसी स्थिति मे रामचन्द्रदेव ने सन्धि की बातचीत की और अलाउद्दीन धन लेकर वापस जाने के लिए राजी हो गया। परन्तु उसी समय रामचन्द्रदेव का पुत्र शंकरदेव (सिंहनदेव)

राजधानी पर विपत्ति के समाचार सुनकर वापस आ गया और उसने अपने पिता की राय के विरुद्ध अलाउद्दीन की लूटी हुई सम्पत्ति को छोड़कर चले जाने की धमकी दी। एक हजार घुड़सवारों को नसरत के जलेसरी के संरक्षण में किले की देखभाल के लिए छोड़कर अलाउद्दीन ने शंकरदेव का मुकाबला किया। अलाउद्दीन की पराजय प्रायः निश्चित थी कि नसरत जलेसरी उसकी दुर्बल स्थिति को जानकर अपने घुड़सवारों को लेकर उसकी सहायता के लिए पहुँच गया जिसे देखकर शंकरदेव (सिंहनदेव) की सेना ने यह समझा कि वह दिल्ली से आने वाली मुख्य सेना है जिसकी अफवाह अलाउद्दीन ने फैला रखी थी। उससे भयभीत होकर हिन्दू सेना भाग खड़ी हुई और अलाउद्दीन की विजय हुई। अब रामचन्द्रदेव के पास सन्धि करने के अतिरिक्त कोई चारा न रहा। जब उसे यह पता लगा कि किले में रखे हुए बोरों में अनाज की बजाय नमक है तो उसे किले में बन्द रहकर सुरक्षा करना भी व्यर्थ लगा और सन्धि-वार्ता अनिवार्य हो गयी। अब अलाउद्दीन ने सन्धि के लिए कठोर शर्तें प्रस्तुत कीं और युद्ध-क्षति के रूप,में अतुल सम्पत्ति लेकर वापस लौटा। बरनी के कथन के अनुसार वह सम्पत्ति इतनी अधिक थी लि अलाउद्दीन और उसके उत्तराधिकारियों द्वारा अपव्यय किये जाने के पश्चात् भी वह फीरोज तुगलक के समय तक काम दे सकी। अलाउद्दीन ने एलिचपुर प्रान्त को हस्तगत कर लिया जिसकी वार्षिक आय को रामचन्द्रदेव ने अलाउद्दीन के पास भेजना स्वीकार कर लिया। कुछ इतिहासकारों के अनुसार रामचन्द्रदेव ने अपनी एक पुत्री का विवाह भी अलाउद्दीन से किया। परन्तु यह विवाह चाहे हुआ हो अथवा नहीं और अलाउद्दीन को प्राप्त होने वाली धन-राशि कितनी भी क्यों न हो, इसमें सन्देह नहीं कि अलाउद्दीन ने इस आक्रमण में अतुल सम्पत्ति प्राप्त की जिसका प्रयोग वह सुल्तान बनने के अवसर पर सफलता से कर सका। अलाउद्दीन का देवगिरि का आक्रमण जलालुद्दीन के समय की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी। उससे न केवल अलाउद्दीन की महत्वाकांक्षाएँ ही बलवती हुईं बल्कि उससे उसे वह साधन भी उपलब्ध हो गये जिनकी सहायता से वह दिल्ली का सुल्तान बन सका। इसके अतिरिक्त अपने केन्द्र-स्थान से सैकड़ों मील दूर, सर्वथा अपरिचित तथा शत्रुओं से भरपूर मार्ग से गुजर कर दूरस्थ देवगिरि पर सफल आक्रमण अलाउद्दीन के साहस और सैनिक प्रतिभा को सिद्ध करता है। इतिहासकार ब्रिग्स ने लिखा है कि "चाहे उस निश्चय को योजना बनाने की दृष्टि से, चाहे कार्यरूप में परिणत करने के साहस की दृष्टि से अथवा उसकी सफलता के परिणामस्वरूप महान् सौभाग्य की दृष्टि से देखा जाय परन्तु इतिहास के वृहत् पृष्ठों में शायद ही ऐसी कोई अन्य घटना हो जिससे उसकी तुलना की जा सके।"[1] डॉ. एस. राय ने लिखा है कि "वास्तव में दिल्ली को देवगिरि में जीता गया क्योंकि दक्षिण के स्वर्ण ने ही अलाउद्दीन के सिंहासन पर बैठने का मार्ग प्रशस्त किया।"[2]

---

1 "In the long volumes of History, there is scarcely anything to be compared with this exploit, whether we regard the resolution in forming the plan, the boldness of its execution, or the great fortune that attended its accomplishment." —Briggs.

2 "Delhi was really conquered at Devagiri. for it was the gold of the Deccan that paved the way for 'Ala-ud-din's accession to the throne."—Dr. S. Roy : *The Delhi. Sultanate*, Bhartiya Bhawan Series, Vol. VI.

## जलालुद्दीन का वध

जब अलाउद्दीन देवगिरि को लूटकर कड़ा-मानिकपुर की ओर वापस लौट रहा था, उस समय जलालुद्दीन ग्वालियर में था। उस समय तक अलाउद्दीन का एक सरदार अला-उल-मुल्क कड़ा-मानिकपुर से सुल्तान को यह सूचना भेजता रहा था कि अलाउद्दीन सुल्तान की तरफ से मध्य-भारत के आक्रमण पर गया हुआ है। पहली बार ग्वालियर में सुल्तान को अलाउद्दीन के देवगिरि आक्रमण की सूचना मिली। अहमद चप ने सुल्तान को सलाह दी कि सुल्तान को अलाउद्दीन का मार्ग रोककर उससे दक्षिण में प्राप्त सम्पत्ति छीन लेनी चाहिए अन्यथा वह धन उसे शक्तिशाली बना देगा जो राज्य के हित में नहीं होगा। परन्तु सुल्तान ने उसकी सलाह को यह कहकर ठुकरा दिया कि "मैंने अलाउद्दीन को अपनी गोद में पाला है। मेरे पुत्र मेरे विरुद्ध हो सकते हैं परन्तु अलाउद्दीन नहीं।" उसके पश्चात् सुल्तान दिल्ली चला गया और अलाउद्दीन बिना किसी बाधा के कड़ा-मानिकपुर पहुँच गया। अलाउद्दीन ने अपने भाई अलमास बेग (जिसे बाद में 'उलुगखाँ' की उपाधि दी गयी) को पत्र लिखा कि वह बहुत भयभीत है क्योंकि उसने सुल्तान की आज्ञा के बिना देवगिरि पर आक्रमण किया था और वह सुल्तान को देवगिरि की सम्पूर्ण सम्पत्ति सौंपने को तैयार है बशर्ते सुल्तान स्वयं कड़ा-मानिकपुर आये। यदि ऐसा न हुआ तो वह बंगाल भाग जायेगा अथवा आत्महत्या कर लेगा। इसी प्रकार का पत्र उसने सुल्तान को लिखा और उससे माफी माँगी। अलमास बेग चतुर सिद्ध हुआ और उसने अलाउद्दीन के प्रति जलालुद्दीन के प्रेम और विश्वास का पूर्ण लाभ उठाया। उस समय तक दरबार के अधिकांश सरदारों को यह विश्वास हो गया था कि अलाउद्दीन चालाकी कर रहा है और सम्भवतया बंगाल जाकर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना चाहता है। परन्तु तब भी अपने वफादार सरदारों की राय को ठुकराकर सुल्तान ने अलाउद्दीन से मिलने के लिए मानिकपुर जाने का निर्णय किया। स्वयं सुल्तान नदी के मार्ग से मानिकपुर गया और उसकी सेना अहमद चप के नेतृत्व में स्थल मार्ग से गयी। अलाउद्दीन कड़ा को छोड़कर गंगा नदी को पार करके मानिकपुर पहुँच गया जिससे स्थल-मार्ग से आने वाली सुल्तान की सेना को नदी पार करने में कठिनाई हो। उसके पश्चात् भी सुल्तान के पहुँचने पर अलाउद्दीन ने अपने भाई अलमास बेग (जो पहले उसके पास पहुँच चुका था) को उसके पास भेजा और उसने सुल्तान को केवल कुछ विश्वासपात्र सरदारों को लेकर गंगा पार करने के लिए तैयार कर लिया। सरदारों ने सुल्तान को समझाया कि अलाउद्दीन एक तो स्वयं उससे मिलने नहीं आया है और दूसरे उसने अपनी सेना युद्ध की तैयारी में खड़ी कर रखी है, इस कारण सुल्तान को उसके पास नहीं जाना चाहिए। परन्तु सुल्तान अलमास बेग की बातों में आकर अन्धा हो गया और केवल दो नावों में अपने कुछ सरदारों को लेकर अपने भतीजे से मिलने चल दिया। तट पर पहुँचने से पहले अलमास बेग की प्रार्थना पर सुल्तान ने अपने शस्त्र उतार फेंके और अपने सरदारों के शस्त्र भी उतरवा दिये जबकि अलाउद्दीन की सेना युद्ध-पंक्ति में खड़ी थी। अतः जो होना था वही हुआ। अलाउद्दीन नदी के तट पर जलालुद्दीन से मिलने आया और सुल्तान के पैरों पर गिर पड़ा। सुल्तान ने उसे उठाकर गले से लगाया और उसे आश्वासित करता हुआ अपनी नाव की ओर चला। उसी समय अलाउद्दीन के इशारे पर मुहम्मद सलीम ने सुल्तान पर आक्रमण किया। सुल्तान घायल होकर अपनी नाव की तरफ यह

कहता हुआ भागा कि "धोखेबाज अलाउद्दीन, यह तूने क्या किया !" एक अन्य सरदार इख्तियारुद्दीन हुद ने सुल्तान के पीछे दौड़कर उसे भूमि पर गिरा दिया और उसका सिर काट लिया। एकमात्र मलिक फखरुद्दीन को छोड़कर सुल्तान के सभी साथी कत्ल कर दिये गये अथवा गंगा में डूबकर मर गये। इस प्रकार 20 जुलाई, 1296 ई. को सुल्तान जलालुद्दीन का वध कर दिया गया और जबकि सुल्तान के कटे हुए सिर से रक्त वह रहा था, अलाउद्दीन को सुल्तान घोषित कर दिया गया। सुल्तान के कटे हुए सिर को कड़ा-मानिकपुर और अवध की सीमाओं में एक साधारण अपराधी के सिर की भाँति घुमा-घुमाकर जन-साधारण को दिखाया गया।

अलाउद्दीन ने अपने चाचा का वध करके स्वयं को सुल्तान तो घोषित कर दिया था परन्तु दिल्ली उसके अधीन न थी। इसके अतिरिक्त जलालुद्दीन का वफादार सरदार अहमद चप अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी दिल्ली की सेना को लेकर वापस दिल्ली पहुँच गया था और राज्य का उत्तराधिकारी अर्कलीखाँ एक साहसी योग्य सेनापति था। परन्तु जलालुद्दीन की विधवा पत्नी मलिका-ए-जहान ने अलाउद्दीन के कार्य को सरल कर दिया। अलाउद्दीन ने एक बार बंगाल जाकर वहाँ एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का विचार किया था परन्तु दिल्ली की राजनीति ने उसे दिल्ली की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी। जलालुद्दीन का योग्य और ज्येष्ठ पुत्र अर्कलीखाँ मुल्तान में था। विधवा मलिका-ए-जहान ने अपने दूसरे पुत्र कद्रखाँ को 'रुकुनुद्दीन इब्राहीम' के नाम से दिल्ली में सुल्तान घोषित कर दिया। इससे अर्कलीखाँ असन्तुष्ट होकर मुल्तान में रुक गया। उसके साथी भी असन्तुष्ट हो गये और वे रुकुनुद्दीन के प्रति वफादार न रहे। जलाली-सरदारों और भाइयों के इस मतभेद को देखकर अलाउद्दीन दिल्ली की ओर बढ़ा। मार्ग में स्थान-स्थान पर वह धन बिखेरता हुआ आगे बढ़ा। उस प्रत्येक स्थान पर जहाँ अलाउद्दीन मार्ग में रुका, पाँच मन सोने के सिक्के बिखेरे गये। इससे उसे अपने समर्थकों की संख्या बढ़ाने और एक बड़ी सेना एकत्र करने में सहायता मिली। जब वह बुलन्दशहर पहुँचा तो वे जलाली-सरदार, जो रुकुनुद्दीन इब्राहीम के द्वारा उसके विरुद्ध भेजे गये थे, उसके साथ मिल गये। उन्हें बहुत-सा धन दिया गया। इस प्रकार अलाउद्दीन के सोने ने बाकी बचे हुए कार्य की भी पूर्ति कर दी। जब अलाउद्दीन दिल्ली के निकट पहुँचा तब उसके साथ एक विशाल सेना थी। अर्कलीखाँ ने दिल्ली की सहायता के लिए आने से इन्कार कर दिया था और जलाली-सरदार परस्पर विभाजित हो गये थे। ऐसी स्थिति में जब रुकुनुद्दीन इब्राहीम अपनी सेना को लेकर दिल्ली से बाहर निकला तब उसको विजय की कोई आशा नहीं थी। युद्ध के आरम्भ होने से पहले ही उसकी सेना का सम्पूर्ण वाम-भाग अलाउद्दीन से जा मिला जिसके कारण रुकुनुद्दीन इब्राहीम, उसकी माँ और उनके कुछ वफादार सरदार, जैसे अहमद चप और अलगूखाँ मुल्तान भाग गये और बिना किसी युद्ध के अलाउद्दीन ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार 22 अक्टूबर, 1296 ई. को अलाउद्दीन ने दिल्ली में प्रवेश किया जहाँ बलबन के लाल महल में उसने अपना राज्याभिषेक कराया और दिल्ली का सुल्तान बना।

### जलालुद्दीन फीरोजशाह का मूल्यांकन

डॉ. ए. बी. पाण्डे ने कई दृष्टियों से जलालुद्दीन की प्रशंसा की है। उनका कहना है : "जलालुद्दीन पहला सुल्तान था जिसने उदारता को अपने शासन का

आधार बनाया।"[1] उनका कथन है कि जलालुद्दीन का मूल्यांकन करते हुए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मलिक छज्जू के असफल विद्रोह के अतिरिक्त उसके शासन-काल में कोई विद्रोह नहीं हुआ, उसके सरदार उसकी नीतियों से सहमत न होते हुए भी उसका समर्थन करते रहे और उसके प्रति वफादार रहे; उसने राज्य की कठिनाइयों को देखते हुए राज्य-विस्तार की नीति नहीं अपनायी, उसने शासन करते हुए कठोरता और चेतनता के साथ उदारता को भी सम्मिलित किया और उसने बिना आतंक की नीति अपनाये हुए सफलता से शासन किया। वह अलाउद्दीन के षड्यन्त्र का शिकार इस कारण हो गया कि वह अपने भतीजे और दामाद पर पूर्ण विश्वास करता था, और वही उसकी बदनामी का मुख्य कारण बन गया। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने भी लिखा है कि "जलालुद्दीन दिल्ली का प्रथम तुर्की सुल्तान था जिसने उदार निरंकुशवाद के आदर्श को अपने सामने रखा।"[2] निस्सन्देह जलालुद्दीन प्रथम सुल्तान था जिसने अपने विरोधियों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया था। वह एक योग्य सेनापति रहा था और सुल्तान बनने से पहले उसने मंगोलों के विरुद्ध युद्ध करने में सफलता प्राप्त की थी। परन्तु सुल्तान बनने के पश्चात् उसने युद्ध और आक्रमण की नीति को त्याग दिया। इसके अतिरिक्त, उसने भय और आतंक के स्थान पर उदारता एवं सहृदयता की नीति को अपनाया तथा अपने शत्रुओं के हृदय-परिवर्तन पर बल दिया। परन्तु यह सभी कुछ उसकी नीति के कारण ही नहीं था, जैसा डॉ. श्रीवास्तव ने लिखा है। बल्कि इसका एक कारण सुल्तान की वृद्धावस्था भी था। निस्सन्देह, जलालुद्दीन कायर न था परन्तु उसकी दयालुता और शान्ति की नीति अतिशय मात्रा में होने के कारण दुर्बलता की बन गयी जो किसी प्रकार से राज्य के हित में नहीं थी। ठगों और षड्यन्त्रकारी सरदारों के प्रति उसका व्यवहार दोषपूर्ण तथा सुल्तान की योग्यता में अविश्वास उत्पन्न करने वाला था। एक व्यक्ति की दृष्टि से उसकी दयालुता और उदारता प्रशंसनीय थी। धार्मिक दृष्टि से एक कट्टर मुसलमान था और मुसलमानों के जीवन एवं हितों के रक्षक की दृष्टि से भी उसकी सराहना की जा सकती है। परन्तु एक शासक की दृष्टि से रणथम्भोर की विजय को पूर्ण किये बिना वापस आ जाना दिल्ली राज्य के सम्मान के अनुकूल न था। इसके अतिरिक्त, जैसा डॉ. श्रीवास्तव ने स्वयं लिखा है कि वह अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति उदार न था, उसने हिन्दू मन्दिरों को तोड़ा था और उनके देवताओं की मूर्तियों को अपमानित एवं खण्डित किया था। इस कारण पूर्ण उदारता भी जलालुद्दीन की मूल प्रकृति नहीं मानी जा सकती। सीदी मौला के प्रति किया गया व्यवहार भी इसी बात की ओर संकेत करता है। अतः यह माना जा सकता है कि जलालुद्दीन की उदार नीति बहुत कुछ उसकी वृद्धावस्था की दुर्बलताओं के कारण भी थी। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि मंगोलों को वह परास्त नहीं कर सका था और जिस प्रकार उसने समझौता किया, वह सम्मान-पूर्ण नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन के प्रति उसका व्यवहार

---

1 "Jalaluddin was the first Sultan who tried to adopt benevolence as the basis of his administration." —Dr. A. B. Pandey.

2 "Jalal-ud-din was the first Turkish Sultan of Delhi who placed before him the ideal of benevolent despotism." —Dr. A. L. Srivastava.

पूर्णतया मूर्खतापूर्ण सिद्ध हुआ। बार-बार अपने वफादार सरदारों के समझौते के पश्चात् भी वह उसकी चालाकी से उसके शिकंजे में फँसता गया और स्वयं अपनी मृत्यु का कारण बना। बिना अस्त्र-शस्त्र के अलाउद्दीन से मिलने जाना और अपने सरदारों को भी शस्त्र-विहीन करके ले जाना एक सुल्तान के मूर्खता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? इसी कारण डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "खलजी-वंश के संस्थापक से अधिक अनुपयुक्त राज्य-मुकुट को धारण करने वाला कोई अन्य व्यक्ति नहीं हो सकता था।"[1] ऐसा भी नहीं माना जा सकता कि जलालुद्दीन ने कैकुबाद और क्यूमर्स के शासन-काल में उत्पन्न हुई व्यवस्था को ठीक करने के लिए कोई ठोस कदम उठाये हों जिसके कारण विस्तारवादी नीति के स्थान पर संगठन और शान्ति की नीति का पालन करना आवश्यक हो गया हो। उसके समय में शासन और व्यवस्था के लिए कोई विशेष कार्य किया गया हो, इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। निस्सन्देह, जियाउद्दीन बरनी का 'तारीख-ए-फीरोजशाही' ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिससे हमें उसके और खलजी-वंश के इतिहास के बारे में पता लगता है, किन्तु बरनी सभी खलजी शासकों से असन्तुष्ट था, अतएव उसके विवरण पर पूर्ण विश्वास करना कठिन है। परन्तु तब भी शासक की दृष्टि से जलालुद्दीन का समर्थन करने के लिए हमें बहुत कम तथ्य प्राप्त होते हैं। वह धर्मपरायण, दयालु और सज्जन व्यक्ति था, यह ठीक है। परन्तु शासक की दृष्टि से वह असफल रहा, यह मानना पड़ता है। शासक की दृष्टि से केवल एक बात उसके पक्ष में है कि जलालुद्दीन ने तुर्कों, गैर-तुर्कों और भारतीय मुसलमानों को शासन में सम्मिलित करके भारत के मुसलमानी राज्य को एक विस्तृत आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया जिसका ममलूक-सुल्तानों (गुलाम-वंश के सुल्तानों) के समय में अभाव था। यह भी बहुत कुछ परिस्थितियों के कारण था क्योंकि जलालुद्दीन स्वयं शुद्ध तुर्क होने का दावा नहीं कर सकता था। परन्तु बहुत कुछ सुल्तान जलालुद्दीन की उदारता के कारण भी था, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त जलालुद्दीन खलजी-वंश का संस्थापक भी था। अतः अन्य दृष्टिकोणों से उसका शासन-काल महत्वहीन होते हुए भी उल्लेखनीय और उपयोगी बन सका।

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. दिल्ली के सिंहासन पर खलजी-वंश के आधिपत्य करने के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
2. सुल्तान जलालुद्दीन फीरोजशाह खलजी के वध किये जाने की परिस्थितियों का वर्णन कीजिए।
3. "खलजी-वंश के संस्थापक से अनुपयुक्त राजमुकुट को धारण करने वाला कोई अन्य व्यक्ति नहीं हो सकता था।" जलालुद्दीन फीरोजशाह खलजी के इस मूल्यांकन से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

---

1 "Never was a man more unsuited to wear the Crown than the founder of the Khalji dynasty." —Dr. K. S. Lal.

# 9

# अलाउद्दीन खलजी (1296-1316 ई.)

1296 ई. में अपने चाचा और श्वसुर जलालुद्दीन का वध करने और उसके पुत्र रुकुनुद्दीन इब्राहीम को दिल्ली छोड़ने के लिए बाध्य करने के पश्चात् अलाउद्दीन दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। उस अवसर पर उसने 'अबुल मुजफ्फर सुल्तान अला-उद्दुनियाँ-वा-दिन मुहम्मद शाह खलजी' की उपाधि ग्रहण की। एक विजेता, शासक और शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से मध्य-युग के इतिहास में अलाउद्दीन खलजी का एक विशेष और गौरवपूर्ण स्थान है। अलाउद्दीन को 'महान्' कहकर नहीं पुकारा गया है परन्तु वह 'महानता' के बहुत निकट था और तुलनात्मक दृष्टि से दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों में उसे महान् स्वीकार करना अनुचित भी नहीं है।

**प्रारम्भिक जीवन**

अलाउद्दीन जलालुद्दीन के भाई शिहाबुद्दीन मसूद खलजी का पुत्र था। शिहाबुद्दीन के चार पुत्र थे—अली अथवा गुरशप (अलाउद्दीन), अलमास बेग, कुतुलुग तिगिन और मुहम्मद। अली अथवा अलाउद्दीन और अलमास बेग का तो इतिहास में विवरण मिलता है परन्तु बाकी अन्य दो भाइयों के विषय में कुछ अधिक पता नहीं लगता। इसी प्रकार अलाउद्दीन के प्रारम्भिक जीवन अथवा उसकी जन्म-तिथि के बारे में कुछ ठीक पता नहीं लगता। ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन को पढ़ने-लिखने की शिक्षा कम प्राप्त हुई, परन्तु शस्त्र-विद्या में वह निपुण हो गया। खलजी-क्रान्ति में उसने महत्वपूर्ण भाग लिया और जब जलालुद्दीन सुल्तान बना तो उसे 'अमीर-ए-तुजुक' और उसके छोटे भाई अलमास बेग को 'अखूरबेग' का पद दिया गया। जलालुद्दीन ने अपनी एक पुत्री का विवाह अलाउद्दीन के साथ और एक अन्य पुत्री का विवाह अलमास बेग के साथ किया था। मलिक छज्जू के विद्रोह को दबाने में भी अलाउद्दीन ने महत्वपूर्ण भाग लिया जिसके कारण उसे कड़ा-मानिकपुर की सूबेदारी दी गयी।

कड़ा-मानिकपुर की सूबेदारी अलाउद्दीन के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। मलिक छज्जू के समर्थक और वृद्ध जलालुद्दीन की सहिष्णु नीति से असन्तुष्ट महत्वाकांक्षी खलजी सरदार उसके चतुर्दिक एकत्र हो गये और उन्होंने अपने सम्मान और पद में वृद्धि की लालसा से अलाउद्दीन को सुल्तान बनने की प्रेरणा देना आरम्भ किया। वह प्रेरणा अलाउद्दीन की मनोवृत्ति के अनुकूल थी। वह अपनी पत्नी और सास के व्यवहार से दुखी था। उसकी पत्नी सुल्तान की पुत्री होने के कारण दम्भी थी जिसके कारण अलाउद्दीन का पारिवारिक जीवन कलहपूर्ण था। उसकी सास मलिक-ए-जहान उसे सन्देह की दृष्टि से देखती थी तथा अपने पति और पुत्री को अलाउद्दीन के विरुद्ध

भड़काती रहती थी। कड़ा-मानिकपुर पहुँचकर वह अपनी सास के ईर्ष्यालु और सन्देहपूर्ण व्यवहार से अवश्य दूर हो गया किन्तु पत्नी के दुर्व्यवहार ने उसे पारिवारिक जीवन के प्रति उदासीन कर दिया। ऐसी परिस्थितियों में उसकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ बलवती हो गयीं। वह आरम्भ से ही योग्य और महत्वाकांक्षी था। अब परिस्थितियों ने भी उसका साथ दिया। सुल्तान जलालुद्दीन का सम्मान दिन-प्रतिदिन घट रहा था। वह षड्यन्त्रकारी सरदारों का दमन करने में असफल रहा था, उसका रणथम्भौर पर आक्रमण विफल रहा था और मंगोल सरदार से उसकी पुत्री का विवाह सुल्तान की प्रतिष्ठा के अनुकूल माना गया था। ऐसी स्थिति में अलाउद्दीन और उसके समर्थकों का साहस बढ़ गया। 1292 ई. उसने सुल्तान की आज्ञा लेकर भिलसा को लूटा और उसके बदले में उसे अवध की सूबेदारी दी गयी। 1296 ई. में उसने देवगिरि पर आक्रमण किया और वह वहाँ से अतुल सम्पत्ति लूटकर लाया। इससे उसके सम्मान एवं शक्ति में वृद्धि हुई। उसी वर्ष उसने जलालुद्दीन को मानिकपुर बुलाकर धोखे से कत्ल कर दिया। इस कार्य में उसे अपने भाई अलमास बेग से बहुत सहायता मिली क्योंकि सुल्तान को धोखा देने और फुसलाने में उसका प्रमुख योगदान रहा। अलाउद्दीन ने स्वयं को कड़ा-मानिकपुर में ही सुल्तान घोषित कर दिया और अपने समर्थकों को सम्मानित पद दिये। उसके पश्चात् दिल्ली की दुर्बल स्थिति ने उसे दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए उत्साहित किया और उसी वर्ष रुकनुद्दीन इब्राहीम को भागने के लिए बाध्य करके उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया तथा अपना राज्याभिषेक किया। इस प्रकार अपनी योग्यता, धूर्तता और देवगिरि से लूटे धन की शक्ति के आधार पर अलाउद्दीन ने दिल्ली का सुल्तान बनने में सफलता प्राप्त की।

**कठिनाइयाँ**

सिंहासन पर बैठने के अवसर पर अलाउद्दीन के सम्मुख अनेक कठिनाइयाँ थीं। उसने अपने कृपालु चाचा का वध किया था जिसके कारण वह प्रजा की घृणा का पात्र था। अनेक जलाली (जलालुद्दीन के वंश के समर्थक) सरदार अलाउद्दीन से असन्तुष्ट थे और क्योंकि उनकी षड्यन्त्रकारी प्रवृत्ति पर कोई अंकुश नहीं लगाया गया था, अतएव वे कभी भी खतरनाक सिद्ध हो सकते थे। जलालुद्दीन का बड़ा पुत्र अर्कलीखाँ पंजाब, मुल्तान और सिन्ध का स्वतन्त्र स्वामी था और उसका भाई एवं अपदस्थ सुल्तान रुकुनुद्दीन इब्राहीम, उसकी माँ तथा अन्य वफादार और योग्य जलालीसरदार उसकी शरण में थे। वे सभी मिलकर अलाउद्दीन के लिए कभी भी संकट उपस्थित कर सकते थे। अधीनस्थ प्रदेशों में से सम्पूर्ण दोआब और अवध में अलाउद्दीन की स्थिति दुर्बल थी और अधीनस्थ राजा एवं प्रजा विद्रोह के लिए तत्पर थी। उत्तर-पश्चिमी सीमा पर खोक्खर जाति शत्रुतापूर्ण थी और मंगोल भारत में प्रवेश पाने के लिए निरन्तर आक्रमण कर रहे थे। बंगाल, बिहार और उड़ीसा जैसे दूरस्थ प्रदेशों में दिल्ली सल्तनत का प्रभाव नगण्य था और प्रायः स्वतन्त्र अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र हिन्दू अथवा मुसलमान शासक वहाँ शासन कर रहे थे। राजस्थान में प्रायः सभी राज्य स्वतन्त्र थे और चित्तौड़ तथा रणथम्भौर जैसे राज्य दिल्ली सल्तनत को चुनौती दे रहे थे। बुन्देलखण्ड और मालवा में भी राजपूतों की शक्ति मजबूत थी। गुजरात पर किसी भी मुसलमान शासक ने अधिकार नहीं किया था और दक्षिणी भारत में दिल्ली सल्तनत के किसी भी शासक ने प्रवेश करने का साहस नहीं किया था। इसके अति-

रिक्त शासन को व्यवस्थित करना और सुल्तान के प्रति सम्मान और भय उत्पन्न करना भी अलाउद्दीन के लिए आवश्यक था।

परन्तु अलाउद्दीन इन कठिनाइयों के अनुकूल सिद्ध हुआ। उसने इन सभी कठिनाइयों को समाप्त किया। उसने प्रजा को वश में किया, सिंहासन के दावेदारों को नष्ट किया, षड्यन्त्रकारी और विद्रोही सरदारों का दमन किया, दूरस्थ प्रान्तों में अपनी सत्ता स्थापित की, एक कठोर शासन-व्यवस्था स्थापित की, नवीन राज्यों को जीता अथवा उन्हें अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया, विदेशी आक्रमणों से अपने राज्य की सुरक्षा की और इस प्रकार खलजी साम्राज्यवाद और खलजी निरंकुशता को सफलता प्रदान की।

**प्रारम्भिक कार्य**

अलाउद्दीन की सबसे पहली आवश्यकता और कठिनाई सिंहासन पर अपनी स्थिति को दृढ़ करने की थी। उसने खुले तौर पर अत्यधिक उदारता से जनसाधारण में धन बाँटा जिससे व्यक्ति बहुत शीघ्र ही उसके चाचा के वध की घटना को भूल गये। उसने अपने वफादार सरदारों को बड़े-बड़े पद और सम्मानित उपाधियाँ जलालुद्दीन के वध के पश्चात् ही प्रदान कर दी थीं, जैसे उसने अपने भाई अलमास बेग को 'उलुगखाँ', नसरत जलेसरी को 'नसरतखाँ', मलिक यूसुफ को 'जफरखाँ' और संजर को 'अलमखाँ' की उपाधि से विभूषित किया था। दिल्ली का सिंहासन प्राप्त करने के पश्चात् जो जलाली-सरदार स्वेच्छा से उसकी सेवा में आ गये, उन्हें भी उसने उनके पदों पर रहने दिया अथवा उन्हें अच्छे पद दिये जिससे वह सन्तुष्ट हो जायें। यहाँ तक कि ममलूक सुल्तानों के द्वारा नियुक्त अधिकारियों को भी उसने उनके पदों पर रहने दिया। इस कारण ख्वाजा खतीर वजीर रहा, काजी उमदात-उल 'दीवान-ए-इन्शा' बना और मलिक सदरुद्दीन मुख्य काजी बना। इसी प्रकार अन्य सरदारों को भी प्रतिष्ठित पद दिये गये। इससे जलाली-सरदार भी सन्तुष्ट हो गये।

परन्तु एक मुख्य समस्या अर्कलीखाँ, उसके परिवार और उसके उन वफादारों की थी जो मुल्तान में थे। सिंहासन पर बैठने के प्रायः एक माह पश्चात् तीस अथवा चालीस हजार सैनिकों की एक शक्तिशाली सेना उलुगखाँ और जफरखाँ के नेतृत्व में मुल्तान पर आक्रमण करने के लिए भेजी गयी। कुछ माह के घेरे के पश्चात् अर्कलीखाँ ने आत्मसमर्पण कर दिया और वह, उसके परिवार के सदस्य तथा जलाली-सरदार बन्दी बना लिये गये। मार्ग में सुल्तान के आदेश से अर्कलीखाँ, रुकुनुद्दीन इब्राहीम, अहमद चप और मलिक अलगू को अन्धा कर दिया गया। बाद में अर्कलीखाँ, उसके दो पुत्र और रुकुनुद्दीन इब्राहीम हाँसी के कोतवाल के सुपुर्द कर दिये गये जिसने उन सभी का वध करा दिया। मलिका-ए-जहान, अहमद चप और मलिक अलगू को नसरतखाँ के सुपुर्द कर दिया और सम्भवतया वे सभी धीरे-धीरे कत्ल कर दिये गये।

इस प्रकार अलाउद्दीन ने सिंहासन के सभी दावेदारों को समाप्त कर दिया। 1297 ई. और 1299 ई. में हुए दो मंगोल-आक्रमणों को भी उसने विफल कर दिया। इसके पश्चात् उसने उन जलाली-सरदारों को दण्ड दिया जो धन के लालच में उसके साथ मिल गये थे। उनमें से अधिकांश को उसने अन्धा कर दिया और अधिकांश को कैद करा लिया तथा उन सभी की सम्पत्ति जब्त कर ली। परन्तु मलिक कुतुबुद्दीन ऐबक, मलिक नासिरुद्दीन और मलिक अमीर जमाल खलजी को दण्डित नहीं

किया गया क्योंकि उन्होंने अलाउद्दीन से धन लेकर उसका साथ नहीं दिया था बल्कि धन लेने से इन्कार कर दिया था। इस प्रकार अलाउद्दीन ने पुराने जलाली-सरदारों को पूर्णतया नष्ट करके अपने वफादार सरदारों का दल बनाया जो उसके सहायक बने।

अलाउद्दीन को अपनी और राज्य की सेवा के लिए विभिन्न योग्य व्यक्ति प्राप्त हुए। जियाउद्दीन बरनी ने उसके सरदारों को तीन वर्गों में बाँटा था। प्रथम आरम्भ में अलाउद्दीन को उलूगखाँ (उसका भाई), नसरतखाँ, अलपखाँ और जफरखाँ जैसे योग्य सेनानायक प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त उसे मलिक अला-उल-मुल्क, मलिक फखरुद्दीन, मलिक असगरी और मलिक ताजुद्दीन काफूर की सेवाएँ भी प्राप्त हुईं। इन व्यक्तियों ने उसे राज्य की जड़ों को स्थापित करने में सहायता दी। द्वितीय, उन अधिकारियों का वर्ग था जिन्होंने उसे शासन एवं व्यवस्था स्थापित करने में सहायता दी। उन व्यक्तियों में मलिक हमीदुद्दीन, मलिक अजीउद्दीन, मलिक आइनुल-मुल्क मुल्तानी, निजामुद्दीन, उलुगखाँ, मलिक शरफ कानी और ख्वाजा हाजी मुख्य थे। तृतीय, अपने शासन के बाद के समय में अलाउद्दीन को मलिक काफूर की सेवाएँ प्राप्त हुईं जिसने अलाउद्दीन के लिए दक्षिणी भारत को विजय किया और जो अन्त में 'नाइब' और राज्य का सबसे प्रभावशाली सरदार हो गया। अलाउद्दीन की सफलता का श्रेय उसके इन योग्य पदाधिकारियों को भी था।

अलाउद्दीन एक योग्य तथा महत्वाकांक्षी शासक सिद्ध हुआ। अपनी प्रारम्भिक कठिनाइयों को दूर करने के पश्चात् उसने राज्य-विस्तार और शासन-व्यवस्था हेतु महत्वाकांक्षी योजनाएँ बनायीं। उसकी विजयों और सफलताओं ने उसे इतना प्रोत्साहन दिया कि उसने 'सिकन्दर द्वितीय' (सानी) की उपाधि धारण की और उसे अपने सिक्कों पर अंकित कराया। वह सम्पूर्ण विश्व को जीतने और एक नवीन धर्म को आरम्भ करने की इच्छा भी करने लगा। परन्तु उसके मित्र वफादार कोतवाल अला-उल-मुल्क ने उसे सलाह दी कि पहले वह भारत के विस्तृत प्रदेश को जीतने का प्रयत्न करे और नवीन धर्म को चलाने का विचार त्याग दे क्योंकि यह कार्य शासकों का नहीं बल्कि पैगम्बरों का होता है। अलाउद्दीन ने उसकी सलाह मान ली और भारत में ही एक विस्तृत और दृढ़ राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। वह अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में सफल भी हुआ। अपनी शासन-नीति (गृह-नीति) के द्वारा उसने एक ऐसे निरंकुश राज्य को स्थापित किया जिसके बारे में इल्तुतमिश ने विचार मात्र किया था, जिसकी स्थापना में सुल्ताना रजिया असफल रही थी और जिसके लिए बलबन प्रयत्नशील था तथा बहुत कुछ मात्रा में सफल भी। परन्तु अलाउद्दीन के समय में निरंकुशता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। इसके अतिरिक्त, अलाउद्दीन ने अपनी विजय-योजनाओं को सफल बनाकर भारत में मुस्लिम साम्राज्य को भी उसकी पूर्णता पर पहुँचा दिया जिसके लिए ममलूक-सुल्तान तो प्रयत्न भी नहीं कर सके थे। इस प्रकार अलाउद्दीन प्रत्येक क्षेत्र में सफल रहा। यह अन्य बात है कि वह अपनी सफलता को स्थायित्व प्रदान नहीं कर सका और उसकी सफलता उसके जीवन तक ही सीमित रही।

## [ 1 ]

## आन्तरिक व्यवस्था

### 1. राजत्व-सिद्धान्त

अलाउद्दीन एक शक्तिशाली मुसलमान बादशाह था परन्तु उसने शासन में

इस्लाम के सिद्धान्तों का पालन नहीं किया। यह उसके और बयाना के काजी मुगीसुद्दीन के वार्तालाप से प्रकट होता है जिसका विवरण बरनी ने दिया है। सुल्तान के यह पूछने पर कि "भेंट देने वालों के रूप में हिन्दुओं की क्या स्थिति होनी चाहिए ?" काजी ने उत्तर दिया कि 'शरा' में हिन्दुओं को खराज-गुजर (कर देने वाला) कहा गया है और जब कोई लगान-अधिकारी उनसे चाँदी माँगे तब उनका कर्तव्य है कि वे बिना पूछताछ के और बड़ी नम्रता और सम्मान के साथ उन्हें सोना दें। यदि अवसर उनके मुँह में धूल फेंके तो उसे लेने के लिए उन्हें बिना हिचकिचाहट के अपना मुँह खोल देना चाहिए।"[1] सुल्तान के यह पूछने पर कि "राज्य के दुश्चरित्र कर्मचारियों के साथ उसे क्या व्यवहार करना चाहिए ?" काजी ने उत्तर दिया कि "मैंने किसी पुस्तक में इसके बारे में नहीं पढ़ा है परन्तु राज्य-कोष से धन चुराने वाले के हाथ नहीं काटने चाहिए।" सुल्तान के यह पूछने पर कि "देवगिरि से लूटे हुए धन पर किसका अधिकार है ?" काजी ने उत्तर दिया कि "उस पर मुसलमानों का अधिकार है।" सुल्तान के यह पूछने पर कि "राज्य-कोष पर उसका और उसके परिवार का क्या अधिकार है ?" काजी ने उत्तर दिया कि "सुल्तान का अधिकार केवल 234 टंका प्रति वर्ष प्राप्त करने का है. अथवा उतना धन जितना वह राज्य के बड़े से बड़े अधिकारी को देता है, अथवा अधिक से अधिक 234 टंका का हजार गुना धन।" अलाउद्दीन ने हिन्दुओं के सम्बन्ध में दी गयी काजी की सलाह को स्वीकार कर लिया क्योंकि वह उसके राजनीतिक तथा प्रशासकीय उद्देश्य की पूर्ति में सहायक थी परन्तु अन्य बातों के सम्बन्ध में दी गयी काजी की सलाह को उसने स्वीकार नहीं किया। अगले दिन काजी मुगीसुद्दीन को भेंट और सम्मान देकर उसने कहा कि "मौलाना मुगीस, न मुझे कुछ ज्ञान है और न मैंने कोई पुस्तक पढ़ी है तब भी मैं मुसलमान पैदा हुआ तथा मेरे पूर्वज पीढ़ियों से मुसलमान रहे हैं। उन विद्रोहों को रोकने के लिए जिनमें हजारों जीवन नष्ट हो जाते हैं; मैं अपनी प्रजा को ऐसे आदेश देता हूँ जो मैं उनकी और राज्य की भलाई के लिए लाभदायक समझता हूँ मैं ऐसे आदेश देता हूँ जो मैं राज्य के लिए लाभदायक और परिस्थितियों के अनुकूल समझता हूँ। मैं नहीं जानता कि 'शरा' उनकी आज्ञा प्रदान करता है अथवा नहीं। मैं नहीं जानता कि 'अन्तिम निर्णय के दिन' खुदा मेरे साथ क्या व्यवहार करेगा।"[2] इसी प्रकार यद्यपि अलाउद्दीन ने 'यामीन उल-खिलाफत नासिरी

---

1 "According to Shariat, they are called payers of tribute (Kharaj-guzar) and when the revenue officer demands silver from them, they should without question and with all humility and respect, tender gold. If the officer throws dirt into their mouths, they must without reluctance open their mouths wide to receive it."
—Qazi Mughisuddin.

2 "Maulana Mughis! Though I have no knowledge and have read no book, still I was born a Musalman and my ancestors have been Muslims for so many generations. To prevent rebellions in which thousands of lives are lost, I give such orders to the people as I consider to be beneficial for them and the state I issue commads which I consider to be beneficial to the state and appear prudent under the circumstances. I do not know whether they are permitted by the Shariat or not. I do not know how God will treat me

अमीर-उल-मुमनिन' (खलीफा का नाइब) की उपाधि ग्रहण की थी जिसका आशय नाम मात्र के लिए खलीफा की परम्परा को स्थापित रखना तो हो सकता था परन्तु अन्य कुछ नहीं, क्योंकि उसने खलीफा से अपने सुल्तान के पद की स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं समझी और न कभी उसके लिए प्रयत्न किया। उलेमा-वर्ग से भी वह कोई सलाह नहीं लेता था। इस प्रकार अलाउद्दीन ने शासन में न तो इस्लाम के सिद्धान्तों का सहारा लिया, न उलेमा-वर्ग से सलाह ली और न खलीफा के नाम का सहारा लिया। इसी कारण डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "इस प्रकार अलाउद्दीन दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने धर्म पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित किया और ऐसे तत्वों को जन्म दिया जिनसे कम से कम सिद्धान्ततः तो राज्य असाम्प्रदायिक आधार पर खड़ा हो सकता था।"[1] निस्सन्देह अलाउद्दीन पूर्ण मुसलमान था, इस्लाम धर्म के कानूनों का विरोध नहीं करता था, हिन्दुओं के प्रति उसकी नीति कठोर थी और समय-समय पर उसने मुसलमानों की धार्मिक भावना का लाभ भी उठाया था। परन्तु उसने धर्म और धार्मिक वर्ग को शासन में हस्तक्षेप नहीं करने दिया। सुल्तान के अधिकारियों पर धर्म कोई सीमा लगाये, यह उसे स्वीकार न था।

अलाउद्दीन निरंकुश राजतन्त्र में विश्वास करता था। यद्यपि बलबन की भाँति अलाउद्दीन ने राजस्व-सिद्धान्तों की कभी व्याख्या नहीं की परन्तु उसके विचार और कार्य उसी की भाँति थे। सुल्तान सर्वशक्तिशाली होता है, कोई उसके समान नहीं है, सुल्तान की इच्छा ही कानून होती है, आदि जैसे सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न-राज्य-तन्त्र के विचार अलाउद्दीन के भी थे। इस कारण अलाउद्दीन स्वेच्छाचारी और निरंकुश सुल्तान था। उसके वजीर, सेनापति, सरदार, शासनाधिकारी आदि सभी व्यक्ति उसके कर्मचारी थे और उनमें से कोई व्यक्ति उसे सलाह देने का भी साहस नहीं करता था। दिल्ली का कोतवाल अला-उल-मुल्क ही एकमात्र ऐसा व्यक्ति था जिससे अलाउद्दीन ने शासन के विषय में सलाह ली अथवा जो उसे सलाह देने का साहस कर सका। अलाउद्दीन में एक निरंकुश शासक बनने की क्षमता भी थी। उसमें मौलिक विचारों को जन्म देने की क्षमता, उनको कार्य-रूप में परिणित करने का दृढ़ निश्चय और उनके परिणामों को भुगतने का साहस था। दिल्ली के सुल्तानों को प्रभावित करने वाले वर्ग राज्य में केवल दो थे—सरदारों का वर्ग और उलेमा-वर्ग। अलाउद्दीन ने सरदारों की शक्ति और साहस को नष्ट कर दिया और उलेमा-वर्ग को शासन में हस्तक्षेप नहीं करने दिया। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "एक शब्द में फ्रान्स के शासक लुई चौदहवें की भाँति अलाउद्दीन अपने को राज्य में सर्वोपरि मानता था।"[2] इसी आधार पर उसने कार्य किये और सफलता पायी। इस

---

on the Day of judgment."—Sultan Ala-ud-din. (As quoted by B. P. Saksena, based on the records of Barani; *A Comprehensive History of India*, Vol. V—*The Delhi Sultanate*, published under the auspices of Indian History Congress).

1 "Thus to Ala-ud-din belongs the credit of being the first Turkish Sultan of Delhi to bring the church under the control of the state and to usher in factors that might make the state secular in theory." —Dr. A. L. Srivastava.

2 "In a word, like Louis XIV of France, Alauddin regarded himself to be all in all in the state." —Dr. K. S. Lal.

कारण उसके समय में शासन का केन्द्रीकरण पूर्णता पर था और निरंकुशता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी।

## 2. विद्रोह : उनके कारण और अध्यादेश

अलाउद्दीन के शासन-काल के आरम्भ में ही कुछ विद्रोह हुए। इनमें से एक-दो विद्रोह ऐसे भी हुए जिन्होंने अलाउद्दीन के जीवन को संकट में डाल दिया अथवा जिनके द्वारा सुल्तान में परिवर्तन करने का प्रयत्न किया गया। 1299 ई. में गुजरात पर आक्रमण किया गया था। उसकी सफलता के पश्चात् जब नसरतखाँ वापस आ रहा था तो लूट के धन वितरण पर 'नवीन मुसलमान' (मंगोल जो इस्लाम धर्म में परिवर्तित हो गये थे) असन्तुष्ट हो गये और उन्होंने अचानक विद्रोह करके अलाउद्दीन के एक भतीजे और नसरतखाँ के भाई का वध कर दिया। नसरतखाँ ने विद्रोह को दबा दिया। बहुत से विद्रोही मारे गये परन्तु कुछ भागकर हम्मीरदेव अथवा अन्य कुछ रायकरण की शरण में चले गये। अलाउद्दीन और नसरतखाँ ने विद्रोहियों के बच्चों और उनकी पत्नियों को (जो दिल्ली में थे) अपमानित किया और उनका वध कर दिया। दूसरा विद्रोह अलाउद्दीन के मृतक भाई मुहम्मद के पुत्र और राज्य के वकीलदार अकतखाँ ने किया। जब अलाउद्दीन रणथम्भौर के अभियान के लिए जा रहा था तब वह मार्ग में शिकार के लिए रुका। वह अपने कुछ सैनिकों के साथ था तब अकतखाँ ने अचानक अपने मंगोल मुसलमानों को लेकर उस पर तीर बरसाने आरम्भ कर दिये। सुल्तान ने अपनी कुर्सी को ढाल बनाकर अपनी रक्षा की परन्तु शीघ्र मूर्छित होकर गिर गया। उसके पैदल सैनिक उसके चारों तरफ घेरा बनाकर खड़े हो गये और उन्होंने कह दिया कि सुल्तान मर गया है। अकतखाँ ने सुल्तान को मृतक मानकर देर करना ठीक नहीं समझा। उसने खेमे में जाकर स्वयं को सुल्तान घोषित कर दिया। कुछ सरदारों ने उसे सुल्तान मान भी लिया। परन्तु जब उसने सुल्तान के 'हरम' (जनानखाने) में प्रवेश करने का प्रयत्न किया तो 'हरम' के रक्षक मलिक दीनार और उसके सैनिकों ने उसे रोक दिया। इतने समय में अलाउद्दीन होश में आ गया तथा अपने सैनिकों को लेकर खेमे में पहुँच गया। सुल्तान को जीवित देखकर अकतखाँ भाग खड़ा हुआ। उसका पीछा किया गया और उसका सिर काटकर सुल्तान के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। सुल्तान ने उसके छोटे भाई कुतलुगखाँ तथा अन्य समर्थकों का भी वध करा दिया। तीसरा विद्रोह अलाउद्दीन की एक बहिन के पुत्रों ने किया। उनमें से एक मलिक उमर बदायूँ का सूबेदार था और दूसरा मंगूखाँ अवध का सूबेदार था। जब अलाउद्दीन रणथम्भौर के घेरे में व्यस्त था तब उन्होंने विद्रोह किया। परन्तु वे सफल न हुए और सुल्तान के प्रति वफादार सरदारों ने उन्हें परास्त करके कैद कर लिया। उनको सुल्तान के सामने लाया गया और-उसके आदेश से उनका वध कर दिया गया। चौथा विद्रोह दिल्ली में हाजी मौला ने किया। हाजी मौला पुराने कोतवाल फखरुद्दीन का सेवक रहा था। उस समय तक अलाउद्दीन के पहले कोतवाल अला-उल-मुल्क की भी मृत्यु हो चुकी थी और उसने दिल्ली में बैयाद तिर्मिजी और सीरी में अयाज को कोतवाल नियुक्त किया था। जब अलाउद्दीन रणथम्भौर के किले के घेरे में व्यस्त था तब सीदी मौला ने कोतवाल तिर्मिजी का धोखे से वध कर दिया और कोतवाल अयाज का वध करने का असफल प्रयत्न किया। उसने सुल्तान के लाल महल पर अधिकार कर लिया और इल्तुतमिश की एक पुत्री के वंशज शाहिन्शाह को सुल्तान घोषित कर दिया। परन्तु

अलाउद्दीन का एक वफादार सरदार हमीदुद्दीन इस विद्रोह को समाप्त करने में सफल रहा तथा हाजी मौला, शाहिन्शाह और उनके समर्थकों का वध कर दिया गया।

इस प्रकार, उक्त सभी विद्रोह असफल हुए। परन्तु इतनी जल्दी-जल्दी विद्रोहों के होनें के कारण अलाउद्दीन ने उनके मूल कारणों को खोजने का प्रयत्न किया और जबकि वह रणथम्भौर के घेरे को डाले हुए था, तभी उसने अपने विश्वासपात्र सरदारों से उनके बारे में सलाह ली और अन्त में इस निर्णय पर पहुँचा कि विद्रोहों के मुख्यतया चार कारण हैं :

1. सुल्तान अपनी प्रजा और राज्याधिकारियों के अच्छे अथवा बुरे कार्यों से अनभिज्ञ रहता है;

2. शराब पीना और शराब की दावतें करना जिसके कारण विभिन्न व्यक्ति एक-दूसरे के निकट आते हैं तथा उन्हें षड्यन्त्र और विद्रोह के लिए प्रेरणा मिलती है;

3. सरदारों के पारस्परिक सामाजिक और विवाह-सम्बन्ध जिनके कारण वे एक-दूसरे के निकट हो जाते हैं और उन्हें संगठित होने का अवसर मिलता है; तथा

4. व्यक्तियों के पास सम्पत्ति का संग्रह होना जिसके कारण उन्हें विद्रोह और षड्यन्त्र करने के लिए शक्ति व समय मिल जाता है।

विद्रोहों के कारणों को समझकर अलाउद्दीन ने दिल्ली आकर उनको समाप्त करने के लिए निम्नलिखित चार अध्यादेश जारी किये :

1. एक अध्यादेश के द्वारा दान में दी गयी भूमि, उपहार, पेन्शन आदि व्यक्तियों से छीन ली गयी और सरकारी अधिकारियों को सभी व्यक्तियों से अधिकाधिक कर और धन लेने के आदेश दिये गये। इस आदेश से यह लाभ हुआ कि व्यक्तियों के पास धन नहीं रह गया और उनका ध्यान और समय मुख्यतया जीविका कमाने में लग गया। बरनी ने लिखा है कि दिल्ली में केवल मलिक, अमीर राज्य-कर्मचारी, हिन्दू-मुल्तानी व्यापारी और सेठों के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति के पास सोना न रहा।

2. दूसरे अध्यादेश के द्वारा अलाउद्दीन ने एक अच्छे गुप्तचर-विभाग का संगठन किया। 'बरीद' (गुप्तचरों के अफसर) और 'मुनहिस' (गुप्तचर) अमीरों के घरों, दफ्तरों, प्रान्तीय राजधानियों और बाजारों में नियुक्त किये गये जो सुल्तान को प्रत्येक बात और घटना की सूचना देते थे। अलाउद्दीन का गुप्तचर-विभाग इतना अधिक सफल हुआ कि बड़े से बड़े सरदार भी उससे आतंकित हो गये और आपस में बातचीत करने में भी डरने लगे।

3. तीसरे अध्यादेश के द्वारा अलाउद्दीन ने शराब और भाँग जैसे मादक द्रव्यों का प्रयोग और जुआ खेलना बन्द कर दिया। दिल्ली में शराब पीना बिल्कुल समाप्त कर दिया गया और सुल्तान ने स्वयं शराब पीना छोड़कर अपनी शराब और शराब के पात्रों को जनता के सम्मुख फिकवा दिया। इस कानून को तोड़ने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता था जिसके कारण शराब पीने वाले दिल्ली से 20 या 25 मील दूर जाकर ही शराब पी सकते थे। परन्तु बाद में इस कार्य को असम्भव समझ कर अलाउद्दीन ने इस नियम में कुछ परिवर्तन कर दिया। व्यक्तियों को अपने घरों में शराब पीने और बनाने की आज्ञा दे दी गयी परन्तु वे सार्वजनिक रूप से न शराब बना सकते थे, न उसे पी सकते थे और न शराब की दावतें कर सकते थे। अलाउद्दीन के लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह पर्याप्त था।

4. चौथे अध्यादेश के द्वारा अलाउद्दीन ने अमीरों और सरदारों की दावतों, पारस्परिक मेल-जोल और विवाह-सम्बन्धों पर बाधा लगा दी। सुल्तान की आज्ञा के बिना वे आपस में विवाह सम्बन्ध नहीं कर सकते थे, आपस में मिल-जुल नहीं सकते थे, न एक दूसरे की दावत कर सकते थे और न जनता के निकट सम्पर्क में आ सकते थे। अलाउद्दीन ने पुराने सरदारों को समाप्त कर दिया था और अपने नवीन सरदारों को इतना भयभीत कर दिया कि वे सुल्तान ही नहीं अपितु सुल्तान के अधिकारियों के आदेश का पालन भी तत्परता से करते थे।

सुल्तान के उपर्युक्त अध्यादेश अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूर्ण सफल हुए। जब तक अलाउद्दीन शारीरिक और मानसिक दृष्टि से दुर्बल नहीं हुआ तब तक उसके राज्य में विद्रोह नहीं हुए और सरदारों का शासन में प्रभाव समाप्त हो गया।

**हिन्दुओं के प्रति व्यवहार**—अलाउद्दीन का हिन्दुओं के प्रति क्या व्यवहार था और उसके क्या कारण थे, इसके विषय में इतिहासकारों में मतभेद है। हिन्दू अलाउद्दीन की कर-व्यवस्था और मुख्यतया लगान व्यवस्था से प्रभावित हुए थे और उस पर दृष्टिपात करने से ही हिन्दुओं के प्रति किये गये उसके व्यवहार और कारणों पर प्रकाश पड़ता है। डॉ. यू. एन. डे ने लिखा है कि अलाउद्दीन की कर-व्यवस्था का आधार अत्यधिक विस्तृत था यद्यपि उससे हिन्दुओं और किसानों की सम्पन्नता नष्ट हो गयी। परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से वह अत्यधिक कठोर न थी और उसके समय में तो क्या, "भारतीय इतिहास में कभी भी खूत और मुकदम ऐसी निर्धनता की स्थिति में नहीं पहुँचे।"[1] वह लिखते हैं कि "बरनी का यह कथन कि निर्धनता के कारण धन कमाने के लिए खूतों और मुकद्दमों की पत्नियों को मुसलमानों के घरों में कार्य करने के लिए जाना पड़ता था, पूर्णतया बकवास है।"[2] डॉ. डे के इन विचारों से यह अनुमान लगता है कि अलाउद्दीन की नीति हिन्दुओं के प्रति दुर्व्यवहारपूर्ण न थी। परन्तु अधिकांश इतिहासकार इसे स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार अलाउद्दीन की कर-व्यवस्था बहुत कठोर थी जिसका प्रभाव मुख्यतया हिन्दुओं पर पड़ता था। इससे यह विश्वास किया जाता है कि निस्सन्देह अलाउद्दीन ने हिन्दुओं को निर्धन बनाने का प्रयत्न किया था। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "निस्सन्देह अलाउद्दीन के कार्य अत्याचारपूर्ण थे।"[3] उनके अनुसार अलाउद्दीन का लक्ष्य किसानों के पास केवल इतना धन छोड़ने का था जो उनके जीवन की रक्षा मात्र के लिए ही आवश्यक हो। अलाउद्दीन ने खूत, मुकदम आदि हिन्दू लगान-अधिकारियों के विशेष अधिकारों को समाप्त कर दिया था, यह सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं। सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि "सम्पूर्ण राज्य में हिन्दुओं को निर्धनता तथा पीड़ा के निम्नतर स्तर पर पहुँचा दिया गया और यदि कोई एक वर्ग अन्य वर्गों की तुलना में दयनीय था तो वह

---

1 "The Khuts and Muqaddams at no stage of Indian history ever reached that stage of poverty." —Dr. U. N. Dey.

2 "The statement of Barani that the wives of the Khuts and Muqaddams, because of poverty, were forced to seek jobs in the houses of the Musalmans and earn their wages is rather absurd."
—Dr. U. N. Dey, *Some Aspects of Medieval Indian History*.

3 "Alauddin's measures were truly oppressive." —Dr. K. S. Lal.

पैतृक आधार पर कर निर्धारित करने और उसे वसूल करने वाले पदाधिकारियों का था जिनका पहले सबसे अधिक सम्मान था।"[1] इससे यह स्वीकार करना पड़ता है कि अलाउद्दीन ने हिन्दुओं को निर्धन बना दिया था। राज्य की बहुसंख्य प्रजा के साथ यह व्यवहार न उचित था और न राज्य के हित में। इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन के समय में हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करने, देवी-देवताओं की मूर्तियों को अपमानित करने और बुद्धि-जन्दियों को कत्ल करने की नीति भी यथावत् रही थी। काजी मुगीसुद्दीन द्वारा हिन्दुओं के सम्बन्ध में दी गयी सलाह का भी अलाउद्दीन ने स्वागत किया था क्योंकि वह उसकी नीति के अनुकूल थी। इस कारण हिन्दुओं के प्रति अलाउद्दीन की नीति निश्चय ही कठोर थी।

परन्तु इस नीति का आधार क्या था? डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि अलाउद्दीन की कठोर कर-व्यवस्था और बहुसंख्यक हिन्दू किसानों की निर्धनता के कारण अलाउद्दीन पर किसानों पर अत्याचार करने वाले शासक का भ्रम अवश्य हो जाता है परन्तु उसकी नीति का आधार धार्मिक न था। अलाउद्दीन व्यावहारिक शासक था और वह अपनी प्रजा के बहुसंख्यक व्यक्तियों को अप्रसन्न करने की भूल नहीं कर सकता था। परन्तु उसे यह विश्वास हो गया था कि 'जब तक हिन्दुओं को निर्धन नहीं बनाया जायेगा तब तक वे विद्रोह करना बन्द नहीं करेंगे।" डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "अलाउद्दीन अपने देशवासियों को इसलिए निर्धन बनाना चाहता था ताकि उनके मुँह से विद्रोह का शब्द नहीं निकल सके।"[2] इस प्रकार डॉ. के. एस. लाल के अनुसार अलाउद्दीन की इस नीति का उद्देश्य राजनीतिक था। परन्तु सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि "उसके पश्चात् अलाउद्दीन ने हिन्दुओं के लिए विशेष नियम बनाये जिनसे वह कुछ धर्म के आधार पर, कुछ सम्पत्ति के कारण जिसका उनमें से अनेक उपभोग करते थे, और कुछ उनके विद्रोहों मुख्यतया दोआब के विद्रोहों के कारण असन्तुष्ट था।"[3] डॉ. एस. रॉय ने लिखा है कि "अलाउद्दीन के लक्ष्य निश्चय ही राजनीतिक थे।"[4] परन्तु साथ ही वह यह भी लिखते हैं कि सुल्तान ने हिन्दू और मुसलमानों में अन्तर किया था। उनके अनुसार "मुसलमानों से कुछ विशेष अधिकार छीने गये थे परन्तु हिन्दुओं की भाँति एक वर्ग के आधार पर उन्हें जान-बूझकर पीस देने वाली निर्धनता और तिरस्कारपूर्ण असमानता की स्थिति में ले

---

1 "Hindu throughout the kingdom were reduced to one dead level of poverty and misery and if there was one class more to be pitied than another, it was that which had enjoyed the most esteem, the hereditary assessors and collectors of the revenue."
—Sir Wolseley Haig, *The Cambridge History of India*, Vol. III.

2 "Alauddin wanted to impoverish countrymen so that the word rebellion should not pass their lips." Dr. K. S. Lal.

3 "Ala-ud-din next framed a special code of laws against Hindus, who were obnoxious to him partly by reason of their faith, partly by reasons of the wealth which many of them enjoyed, and partly by reasons of their turbulence, especially in the Doab." —Sir Wolseley Haig.

4 "The motives of Ala-ud-din were decidely political."
—Dr. S. Roy.

जाने का प्रश्न नहीं था।"[1] वह लिखते हैं "परन्तु तब भी ऐसे माननीय आधार हैं जिनके कारण यह विश्वास किया जा सकता है कि हिन्दुओं के प्रति व्यवहार करते हुए अलाउद्दीन साम्प्रदायिकता की भावना से भी प्रभावित हुआ।"[2] इस प्रकार डॉ. रॉय अलाउद्दीन की नीति का आधार राजनीतिक और धार्मिक दोनों ही मानते हैं और यही विचार सत्य के अधिक निकट प्रतीत होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि अलाउद्दीन ने विद्रोहों को समाप्त करने के लिए हिन्दुओं के प्रति कठोर नीति को भी अपना एक आधार बनाया और वह इसमें भी सफल हुआ।

### 3. राजस्व (कर) तथा लगान-व्यवस्था

अलाउद्दीन की राजस्व और लगान-व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य भी एक शक्तिशाली और निरंकुश राज्य की स्थापना करना था। साम्राज्य-विस्तार की लालसा की पूर्ति और मंगोलों के आक्रमणों से सुरक्षा करने के लिए एक बड़ी सेना की आवश्यकता थी जिसके लिए राज्य की आय में वृद्धि करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं की विद्रोह करने की शक्ति को तोड़ देना भी इसका एक कारण रहा। डॉ. यू. एन. डे ने इन सुधारों के किये जाने का एक अन्य कारण भी बताया है। उनके अनुसार इक्तादार या राज्य और किसानों के बीच का वर्ग पुरानी व्यवस्था में सबसे अधिक लाभ उठाता था। वह वर्ग बिना राज्य की स्वीकृति के अपनी भूमि में वृद्धि करता चला गया था और जबकि वह किसानों से अधिक कर वसूल करता था, राज्य को उसमें से बहुत कम हिस्सा प्राप्त होता था। इससे किसानो और राज्य को कम से कम और उस वर्ग को अधिक से अधिक लाभ था। यह स्थिति बहुत समय तक नहीं चल सकती थी और इस स्थिति में सुधार करने का उत्तरदायित्व अलाउद्दीन पर गया। वह लिखते हैं कि "सम्भवतया विद्रोहों ने इस समस्या को प्रमुख बना दिया था परन्तु ये सुधार एक ऐतिहासिक क्रम का परिणाम थे और अलाउद्दीन उनको कार्य-रूप में परिणत करने का साधन मात्र बना।"[3]

इस प्रकार अलाउद्दीन की लगान-व्यवस्था के विभिन्न कारण थे। इसमें भी सन्देह नहीं कि अलाउद्दीन ने प्राचीन परम्परा को समाप्त करके एक नवीन व्यवस्था की नींव डाली। सर्वप्रथम, उसने उन व्यक्तियों पर आक्रमण किया जिन्हें इनाम, पेन्शन आदि के रूप में पिछले सुल्तानों से मुफ्त भूमि प्राप्त हुई थी और जो अब किसी भी रूप में राज्य की सेवा नहीं कर रहे थे। उन सभी व्यक्तियों से भूमि छीन ली गयी जिन्हें वह मिल्क (राज्य द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति), इनाम, इद्रारात (पेन्शनें) तथा

---

1 "Some privileges were taken away from the latter (Muslims) but there was no question of deliberately reducing them, as a class, to a state of grinding poverty and object humiliation, which was the lot of Hindus." —Dr. S. Roy.

2 "There are, however, good grounds to believe that in dealing with the Hindus, Ala-ud-din was also actuated by communal considerations." —Dr. S. Roy, *The Delhi Sultanate—The History and Culture of the Indian People*, Vol. VI.

3 "May be the rebellion highlighted the malady but the reforms were an outcome of historical process. Ala-ud-din was merely a tool in implementing them." —Dr. U. N. Dey.

वक्फ (धर्म की सेवा के आधार पर प्राप्त हुई भूमि) आदि के रूप में मिली हुई थी। डॉ. यू. एन. डे का कहना है कि ऐसा नहीं था कि व्यक्तियों के पास ऐसी भूमि न रही हो, परन्तु अलाउद्दीन ने पहले ऐसे सभी व्यक्तियों से भूमि छीनकर उनका पुनः वितरण किया। उसने योग्यता तथा राज्य-सेवा के आधार पर व्यक्तियों को भूमि प्रदान की तथा इसका स्पष्ट ब्यौरा रखा कि किसके पास कौन-सी और कितनी भूमि रहेगी। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने भी लिखा है कि ऐसा करने में उसका उद्देश्य "ऐसी सभी भूमियों के बारे में, जिनके अधिकार को वह ठीक नहीं मानता था, निर्णय करने, उन्हें समाप्त करने अथवा अपनी शर्तों पर उन्हें अन्य व्यक्तियों को देने के सुल्तान के अधिकार को स्थापित करना था।"[1] डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "सुल्तान सभी भूमि को छीनकर अपने अफसरों को नकद वेतन देना चाहता था और यदि ऐसी सभी भूमि को छीना नहीं गया तो उसमें से अधिकांश का प्रबन्ध करने का अधिकार राज्य ने अवश्य ले लिया।"[2] अलाउद्दीन के इस सुधार से राज्य की भूमि (खालसा-भूमि) में वृद्धि हुई, केवल उपयुक्त व्यक्तियों के पास भूमि रही और पुराने सरदारों का प्रभाव कम हुआ।

अलाउद्दीन का दूसरा आक्रमण खूत, चौधरी और मुकदमों पर हुआ जो पैतृक आधार पर लगान अधिकारी थे और सभी हिन्दू थे। सुल्तान को उनसे शिकायत थी कि वे किसानों से अधिक से अधिक धन वसूल करते थे और उसमें से राज्य को कम से कम देकर अधिक से अधिक अपने पास रख लेते थे। वे खराज, जजिया, करी और चराई जैसे करों का देना भी टाल देते थे। इन कारणों से वे धनवान थे। बरनी ने लिखा है कि "(वे) अच्छे घोड़े पर सवार होते थे, अच्छे वस्त्र पहनते थे, ईरानी धनुषों का प्रयोग करते थे, आपस में युद्ध करते थे और शिकार करते थे······ और शराब तथा ठाठ की दावतें करते थे।"[3] अलाउद्दीन ने उनसे लगान वसूल करने का अधिकार छीन लिया और उनके विशेषाधिकार समाप्त कर दिये। उनकी भूमि पर कर लिया जाने लगा और बाकी अन्य सभी कर भी उनसे लिये गये जिसके कारण खूत (जमींदार) और बलाहर (साधारण किसान) में कोई अन्तर न रहा। बरनी के कथनानुसार उनकी स्थिति बहुत खराब हो गयी जिसके कारण उनकी पत्नियों को कार्य करने के लिए मुसलमानों के घरों में जाना पड़ता था। अपने इस सुधार से अलाउद्दीन ने हिन्दुओं को निर्धन बनाकर उनकी विद्रोह करने की शक्ति को समाप्त कर दिया। डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सेना के अनुसार अलाउद्दीन की यह नीति गाँव के पैतृक अधि-

---

1 "To assest the right of the monarch to deal with all classes of lands, cancelled all such grants which he did not approve and bestowed others on his own terms." —Dr. R. P. Tripathi. *Some Aspects of Muslim Administration.*

2 "The Sultan preferred resumption of all land-grants and paying his officers in cash. Thus even if all the grants were not abrogated, the management of most of them at least was taken by the government." —Dr. K. S. Lal.

3 "(They) ride upon fine horses, wear fine clothes, shoot with Persian bows, make war upon each other, and go out hunting ·· and hold drinking and convivial parties." —Dr. S. Roy (Based on the records of Barani).

कारियों के प्रति अपनायी गयी थी। बड़े-बड़े हिन्दू राय, राना, रावत आदि राजनीतिक प्रभावपूर्ण व्यक्तियों के प्रति यह नीति नहीं अपनायी गयी थी।

अलाउद्दीन ने लगान (खराज) पैदावार का ½ भाग कर दिया। डॉ. यू. एन. डे का कहना है कि "पिछले सुल्तान कितना लगान वसूल करते थे इसके बारे में प्रमाण प्राप्त नहीं होते और जो कुछ भी बताया जाता है वह केवल अनुमान के आधार पर बताया जाता है।" परन्तु जो कुछ भी अनुमान लगाया जाता है उसके आधार पर यह कहा जाता है कि पिछले सुल्तानों के समय में यह पैदावार का ⅙ भाग होता था। इस प्रकार अलाउद्दीन ने लगान में वृद्धि की थी, इसमें सन्देह नहीं है। इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन पहला सुल्तान था जिसने भूमि की पैमाइश (माप) कराकर लगान वसूल करना आरम्भ किया। इसके लिए एक 'विस्वा' को एक इकाई माना गया। सुल्तान लगान को गल्ले के रूप में लेना पसन्द करता था, यह भी स्पष्ट है।

अलाउद्दीन ने दो नवीन कर भी लगाये—मकान कर और चराई कर। बरनी के अनुसार चराई कर दूध देने वाले सभी पशुओं पर लगाया गया था और उन सभी के लिए चरागाह निश्चित कर दिये गये थे, जबकि फरिश्ता के अनुसार 2 जोड़ी बैल, 2 भैंस, 2 गाय और 10 बकरियों पर कोई कर न था। उसके अनुसार जिन व्यक्तियों के पास इससे अधिक पशु थे, केवल उन्हीं को कर देना पड़ता था। जजिया, सिंचाई-कर और आयात-निर्यात-कर पहले की ही भाँति रहे। 'करी' अथवा 'करही' एक अन्य कर था परन्तु उसके बारे में कुछ ठीक पता नहीं लगता। इस प्रकार किसानों पर कर का भार बहुत अधिक था, इसमें सन्देह नहीं। सम्भवतया राज्य किसानों से उनकी पैदावार का 75% से 80% तक करों के रूप में वसूल कर लेता था। इसके अतिरिक्त जबकि मुसलमान व्यापारियों पर वस्तु के मूल्य का 5% कर था, हिन्दुओं पर यह कर 10% था।

अलाउद्दीन की लगान-व्यवस्था सम्पूर्ण राज्य में समान रूप से लागू नहीं की जा सकती थी। भूमि की पैमाइश करके किसानों से सरकारी कर्मचारी के द्वारा लगान वसूल किये जाने की व्यवस्था दिल्ली और उसके सीमावर्ती क्षेत्रों में ही लागू की गयी थी। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार, निचले दोआब, अवध, गोरखपुर, बिहार, बंगाल, मालवा, पश्चिम पंजाब, गुजरात और सिन्ध इस व्यवस्था में सम्मिलित न थे।

अपनी व्यवस्था को लागू करने के लिए अलाउद्दीन ने एक अलग विभाग 'दीवान-ए-मुसतखराज' स्थापित किया था और हजारों की संख्या में आमिल मुंशरिफ मुहस्सिल, गुमाश्ता, नवसिन्दा और सरहंग नाम के पदाधिकारियों की नियुक्ति की थी। रिश्वत और बेईमानी को रोकने के लिए उसने लगान-अधिकारियों के वेतन में वृद्धि की परन्तु जब उससे कोई लाभ नहीं हुआ तो उसने उन्हें कठोर दण्ड दिये। बरनी ने लिखा है कि "पाँच सौ अथवा एक हजार टंका के लिए एक लगान-अधिकारी को वर्षों जेल में रहना पड़ता था और एक अधिकारी किसी व्यक्ति से एक टंका भी रिश्वत के रूप में लेने का साहस नहीं कर सकता था। प्रजा भी इतनी भयभीत हो गयी थी कि एक साधारण लगान-अधिकारी बारह खूत और चौधरियों को पीटकर उनसे लगान वसूल कर सकता था और व्यक्ति लगान-अधिकारियों से इतनी घृणा करने लगे थे कि कोई भी व्यक्ति अपनी पुत्री का विवाह उनमें से किसी के भी साथ

करने को तैयार नहीं होता था।" अलाउद्दीन पूरी तरह से भ्रष्टाचार को समाप्त कर सका हो, यह तो सम्भव प्रतीत नहीं होता परन्तु तब भी अपने कठोर शासन से उसने उसमें सुधार अवश्य किया था और एक सीमित क्षेत्र में वह व्यवस्था सफल थी। उसके वित्त-मन्त्री शराफ काई ने भी अपने परिश्रम से उसकी इस सफलता में महत्व-पूर्ण योग दिया।

अलाउद्दीन की लगान-व्यवस्था उसके समय तक उसके उद्देश्य की पूर्ति में सफल रही। उसका उद्देश्य राज्य की आय में वृद्धि करने के साथ-साथ विद्रोहों की आशंकाओं को समाप्त करना था। वह उसमें सफल हुआ। परन्तु क्या उसकी व्यवस्था प्रजा और राज्य के स्थायी हित के अनुकूल थी?. डॉ. यू. एन. डे ने लिखा है कि "एक व्यक्ति यह निर्णय करने के लिए लालायित हो जाता है कि किसानों की भौतिक स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था क्योंकि बढ़ी हुई कर-व्यवस्था के पश्चात् न तो विद्रोह हुए और न किसान भूमि को छोड़कर भागे। यह भी कहा जा सकता है कि जब किसानों ने अपने ऊपर अत्याचार करने वालों के साथ भी वही व्यवहार करते हुए देखा जिससे वह बहुत पहले से पीड़ित थे तब उन्हें एक अप्रत्यक्ष सन्तुष्टि हुई।"[1] परन्तु डॉ. डे का यह विचार एक अनुमान ही कहा जा सकता है। अपनी आय का 75% से 80% तक राज्य को देकर कोई भी वर्ग सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार डॉ. इरफान हबीब का यह कहना कि "गाँवों में दो वर्गों के परस्पर झगड़ों का लाभ उठाते हुए अलाउद्दीन ने जान-बूझकर शक्तिशाली के विरुद्ध दुर्बल का समर्थन करके पूर्णतः न्यायोचित कार्य किया,"[2] भी अधिक ठीक प्रतीत नहीं होता। इस दृष्टिकोण में खूत, चौधरी, मुकदमों आदि के विशेषाधिकारों की समाप्ति पर अत्यधिक बल दिया गया है परन्तु किसानों पर डाले गये बोझ पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। अलाउद्दीन के समय में किसानों पर जो अत्यधिक भार डाला गया था, उसके सन्दर्भ में विचार करते हुए डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "मध्ययुगीन भारत के मुसलमान शासकों पर भारतीय जनता को निर्धन बनाने का आरोप ठीक अर्थ में लगाया जा सकता है।"[3] अतः यह कहना अधिक ठीक है कि अलाउद्दीन की कर-व्यवस्था राज्य और जन-साधारण के हित में न थी, और उससे

---

1 "The peasants do not seem to have been materially effected much, at least such a conclusion one is tempted to draw from the fact that neither revolts nor dessertions took place after the imposition of this enhanced rate. The cultivators, however, it may be suggested, derived an indirect satisfaction when they saw their erstwhile oppressors being subjected to the same treatment which they had been suffering so long from them." —Dr. U. N. Dey.

2 "Alauddin consciously utilized the conflict between the two rural 'classes' by standing forth as the protector of the 'weak' against 'strong' in these villages is perfectly reasonable." —Dr. Irfan Habib.

3 "The accusation of impoverishing the Indian People can rightly be levelled against the Muslim rulers of medieval India." —Dr. K. S. Lal.

स्थायी लाभ प्राप्त नहीं हो सके। डॉ. ताराचन्द ने लिखा है कि 'यह नीति आत्म-घाती थी क्योंकि उसने सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी को मार डाला। उसने उत्पादन-वृद्धि और कृषि में सुधार के तरीकों के लिए प्रोत्साहन न छोड़ा।"[1]

### 4. सैनिक-व्यवस्था

जियाउद्दीन बरनी ने लिखा था कि "बादशाहत दो स्तम्भों पर आधारित होती है—एक स्तम्भ शासन है और दूसरा स्तम्भ विजय है। यह दोनों स्तम्भ सेना पर निर्भर करते हैं ······ बादशाहत सेना है और सेना बादशाहत है।"[2] अलाउद्दीन जैसे महत्वाकांक्षी शासक के लिए एक बड़ी तथा शक्तिशाली सेना आवश्यक थी। आन्तरिक विद्रोहों को दबाने, भारत विजय की लालसा को पूरा करने, अपने शासन को निरंकुशता पर आधारित करने और मंगोल-आक्रमणों से सुरक्षा के लिए अलाउद्दीन ने सैनिक-व्यवस्था की ओर पूर्ण ध्यान दिया।

अलाउद्दीन ने केन्द्र पर एक बड़ी और स्थायी सेना रखी और उसे नकद वेतन दिया। ऐसा करने वाला वह दिल्ली का पहला सुल्तान था। उससे पहले के सुल्तान अपनी सेना की संख्या और शक्ति के लिए अपने सरदारों, इक्तादारों और मलिकों की सैनिक-सहायता पर निर्भर करते थे। अलाउद्दीन ने इस निर्भरता को समाप्त कर दिया। सैनिकों की भर्ती सेना-मन्त्री (दीवान-ए-अर्ज) द्वारा की जाने लगी और उन्हें सुल्तन की ओर से नकद वेतन दिया जाने लगा। सुल्तान के सैनिकों को हथियार, शिक्षा, रसद, वस्त्र, वेतन आदि सुल्तान से प्राप्त होते थे। उनकी नियुक्ति और पदोन्नति सुल्तान पर निर्भर करती थी। एक सैनिक ('एक अस्पा' जिसके पास एक घोड़ा होता था) को प्रति वर्ष 234 टंका वेतन मिलता था तथा 'दो अस्पा' (वह सैनिक जिसके पास दो घोड़े होते थे) को 78 टंका अतिरिक्त वेतन मिलता था। फरिश्ता के अनुसार, सुल्तान की नेना में 4,75,000 घुड़सवार थे। पैदल सेना की संख्या इससे अधिक ही होगी, यह माना जा सकता है। हाथी भी सेना का एक भाग थे और पत्थर फेंकने वाली मशीनों (तोपों) का प्रयोग किया जाता था। धनुष-वाण, तलवार, भाला, कटार, आदि युद्ध करने के मुख्य शस्त्र थे। सुरक्षा के लिए शिरस्त्राण, कवच और ढाल का प्रयोग किया जाता था।

युद्ध के अवसर पर सैनिक अपने स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति को न भेज दें, इसकी रोकथाम के हेतु सैनिकों का हुलिया रखने की व्यवस्था प्रारम्भ की गयी। इसी प्रकार सैनिक अच्छे घोड़ों में परिवर्तन न कर सकें और एक ही घोड़े को बार-बार निरीक्षण के लिए प्रस्तुत न किया जा सके, इसके लिए घोड़ों को दागने की प्रथा आरम्भ की गयी। किसी अन्य दिल्ली के सुल्तान ने अभी तक इन कार्यों को अपनी सेना में आरम्भ नहीं किया था।

---

1 "The policy was suicidal, for it killed the goose that laid the golden egg. It left no incentive for increasing the produce or improving the method of cultivation." —Dr. Tara Chand.

2 "Kingship is maintained by two pillars—the first pillar is administration and the second pillar is conquest. Both pillars are supported by the army...Kingship is the army and the army is kingship." —Ziauddin Barani.

इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन ने उत्तर-पश्चिम सीमा पर बलबन द्वारा बनवाये गये किलों की मरम्मत करायी तथा महत्वपूर्ण स्थानों पर नवीन किले बनवाये। उन सभी किलों में स्थायी रूप से सेना रखी गयी। दिल्ली और सीरी के किलों की भी मरम्मत करायी गयी।

अलाउद्दीन को अपने प्रारम्भिक काल में रणथम्भौर को जीतने की कठिनाई हुई थी, वारंगल पर किया गया उसका आक्रमण विफल हुआ था और मंगोल दिल्ली तक आ सके थे। परन्तु अलाउद्दीन के समय में ही उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में महान् विजयें की गयीं और मंगोलों को निरन्तर परास्त किया गया। इससे सिद्ध होता है कि अलाउद्दीन ने एक श्रेष्ठ सेना का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की थी।

**5. बाजार-व्यवस्था**

अलाउद्दीन ने केन्द्र पर एक बड़ी सेना रखी और उसे नकद वेतन दिया। उस सेना का व्यय बहुत अधिक था। बरनी के अनुसार "यदि उतनी बड़ी सेना को साधारण वेतन भी दिया जाता तो राज्य का खजाना पाँच या छः वर्ष में ही समाप्त हो जाता। अतः अलाउद्दीन ने सेना के व्यय में कमी करने के लिए सैनिकों के वेतन में कमी की। परन्तु उसके सैनिक सुविधापूर्वक रह सकें, इसके लिए उसने वस्तुओं की कीमतें निश्चित कीं और उनकी दरें कम कर दीं।" सुल्तान के खजाने में धन की कमी न थी। परन्तु देवगिरि से लूटकर लायी हुई सम्पूर्ण सम्पत्ति, दक्षिणी भारत के राज्यों से निरन्तर प्राप्त होने वाला कर और शराब पीने के सोने-चाँदी के बर्तनों को तोड़कर सिक्के बनाने से भी अलाउद्दीन की बड़ी सेना के व्यय के भार को शाही खजाना नहीं उठा सकता था। लगान को पैदावार का ½ भाग कर देने तथा अन्य करों में वृद्धि कर देने से भी सेना के व्यय की समस्या का हल नहीं निकल सका था। इसके विपरीत आरम्भ में सुल्तान द्वारा मुक्त-हृदय से नागरिकों में धन के वितरण और इतनी बड़ी संख्या में सैनिकों को वेतन देने से मुद्रा के मूल्य में कमी हो गयी थी। इस कारण सैनिकों के वेतन और वस्तुओं के मूल्य में कमी करना आवश्यक था। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "यह गणित की एक साधारण गणना और एक साधारण आर्थिक सिद्धान्त था। क्योंकि उसने सैनिकों के वेतन को कम करने का निर्णय किया था, अतएव उसने दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं के मूल्य को भी कम करने का निश्चय किया।"[1] डॉ. यू. एन. डे ने इस सम्बन्ध में एक अन्य विचार प्रकट किया है। उनके अनुसार अलाउद्दीन की बाजार व्यवस्था का मुख्य कारण सैनिकों के वेतन में कमी करना न होकर वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ाने से रोकना था। वह लिखते हैं "जबकि अलाउद्दीन ने अपने एक सैनिक को 234 टंका प्रति वर्ष दिया था, मुगल बादशाह अकबर ने अपने तबिनन (सैनिक) को 240 रु. प्रति वर्ष और शाहजहाँ ने अपने सैनिक को 200 रु. प्रति वर्ष दिया। इस प्रकार अलाउद्दीन ने अपने सैनिक को अकबर के सैनिक से प्रति वर्ष 6 रु. कम और शाहजहाँ के सैनिक से 34 रु. प्रति वर्ष अधिक दिया। इस प्रकार 14वीं सदी

---

1 "It was simple arithmetical calculation and simple economic principle; since he had decided to reduce and fix the salary of soldiers, he also decided to reduce and fix the prices of common use." —Dr. K. S. Lal,

के आरम्भ में अलाउद्दीन द्वारा अपने सैनिकों को दिया गया वेतन कम न था। इसी सम्बन्ध में वह एक प्रश्न करते हैं और उसका उत्तर भी देते हैं। क्या अलाउद्दीन ने वस्तुओं के मूल्य दिल्ली के समीपवर्ती क्षेत्रों में प्रचलित मूल्य से कम निश्चित किये थे? उनके अनुसार ऐसा नहीं था। वह लिखते हैं कि "अलाउद्दीन के समय में वस्तुओं के मूल्य प्रायः वही थे जो हमें बाद में फीरोजशाह तुगलक के समय में प्राप्त होते हैं। बरनी का कथन भी इस बात का समर्थन करता है। बरनी के कथनानुसार "किसान दिल्ली की मण्डी में अपनी वस्तुओं को लेकर सरकारी मूल्यों पर बेचने के लिए आते थे।" वह यह भी लिखता है कि "सुल्तान स्वयं प्रत्येक वस्तु के उत्पादन-मूल्य के आधार पर वस्तुओं का मूल्य निश्चित करता था।" डॉ. डे लिखते हैं, "इस कारण, निस्सन्देह, किसानों और व्यापारियों को कुछ लाभ अवश्य प्राप्त होता था।" जहाँ तक इस बात का प्रश्न है कि जब अलाउद्दीन का आशय वस्तुओं के मूल्य को सामान्यतया प्रचलित मूल्य से कम करने का नहीं था तो फिर बाजार-नियन्त्रण करने और उसे कठोरता से लागू करने की क्या आवश्यकता थी? वह लिखते हैं कि "उस समय दिल्ली एक बड़े साम्राज्य की राजधानी होने के कारण व्यापार और आवागमन का केन्द्र बन गयी थी, उसकी जनसंख्या में बहुत वृद्धि हो गयी थी और अलाउद्दीन की बड़ी सेना भी वहीं रहती थी। इनके अतिरिक्त सैनिकों को नकद वेतन दिये जाने तथा अन्य कारणों से मुद्रा का चलन भी दिल्ली में अधिक था। इस प्रकार जनसंख्या और मुद्रा में विस्तार हो जाने के कारण वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होना स्वाभाविक था और व्यापारी-वर्ग द्वारा संग्रह करने तथा चोर बाजारी करने के कारण वस्तुओं के मूल्यों में अधिक से अधिक वृद्धि हो जाने की सम्भावना थी। अलाउद्दीन का मुख्य उद्देश्य वस्तुओं के मूल्यों में इन कारणों से उत्पन्न होने वाली वृद्धि को रोकना था।" वह लिखते हैं कि "अलाउद्दीन का उद्देश्य व्यापारी-वर्ग द्वारा चालाकी के विभिन्न साधनों के प्रयोग से वस्तुओं के मूल्यों में हो रही वृद्धि को रोकना था, न कि उनके सामान्यतया प्रचलित मूल्यों में कमी करना।"[1] डॉ. डे का यह विचार तर्कपूर्ण और माननीय है। परन्तु इससे इस बात का महत्व कम नहीं हो जाता कि क्योंकि अलाउद्दीन ने केन्द्र पर एक बड़ी सेना रखी और उसे नकद वेतन देना आरम्भ कर दिया, इस कारण उसे बाजार-नियन्त्रण की आवश्यकता हुई।

आधुनिक इतिहासकारों में से कुछ ने यह विचार भी प्रकट किया है कि बाजार-नियन्त्रण और उसके परिणामस्वरूप वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करने में अलाउद्दीन का उद्देश्य मानवीय था। वह अपनी प्रजा को सभी वस्तुएँ उचित मूल्य पर और पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराना चाहता था। इसी कारण उसने यह कार्य किया था। उनके इस विचार का आधार शेख नासिरुद्दीन द्वारा लिखे गये ग्रन्थ 'खायरुल-मजालिस' में शेख हमीदुद्दीन का एक संवाद है जिसमें अलाउद्दीन की अपनी प्रजा की भलाई की भावना की प्रशंसा की गयी है। अमीर खुसरव द्वारा रचित 'खजाद-नुल-फुतूह' में भी अलाउद्दीन के आर्थिक सुधारों की प्रशंसा की गयी है। परन्तु उपर्युक्त आधारों को अधिक प्रमाणित नहीं माना जा सकता और न वे यह सिद्ध करने के लिए

---

1 "Ala-ud-din's motive was to check the rising prices which was due to manipulation of the business community and not to reduce the prices to a lower level than the normal."
—Dr. U. N. Dey.

पर्याप्त ही हैं कि अलाउद्दीन का मुख्य उद्देश्य प्रजा की भलाई था। इसके विपरीत, जिस कठोरता से इस बाजार-व्यवस्था को लागू किया गया और जिस प्रकार जन-साधारण पर इसका प्रभाव पड़ा उससे तो यही स्पष्ट होता है कि अलाउद्दीन ने इस व्यवस्था को लागू करने में किसी विशेष आर्थिक सिद्धान्त अथवा प्रजा की भलाई का ध्यान नहीं रखा था। इससे यह स्पष्ट होता है कि बाजार-नियन्त्रण और वस्तुओं के मूल्यों को निर्धारित करने में अलाउद्दीन का एकमात्र उद्देश्य राजनीतिक था। एक बड़ी सेना रखना, अपने सैनिकों को एक निश्चित और नकद वेतन देकर उनको जीवन की सुविधाएँ उपलब्ध कराना और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ाने से रोकना उसका मुख्य उद्देश्य था तथा बाजार-नियन्त्रण इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु एक साधन।

अलाउद्दीन ने प्रायः सभी वस्तुओं के मूल्यों को निश्चित किया। सभी प्रकार के अनाज, दालें, कपड़ा, गुलाम अथवा घोड़े ही नहीं वरन् सब्जी, मेवा, माँस, मछली, गन्ना, सुई, धागा, रंग, कंघा आदि जैसी दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं के मूल्य भी निर्धारित किये गये। उदाहरणार्थ, कुछ वस्तुओं के मूल्य निम्न प्रकार निश्चित किये गये थे :

गेहूँ ....................7½ जीतल प्रति मन
जौ ....................4 ,, ,, ,,
चावल और चना....5 ,, ,, ,,
घोड़ा (उत्तम) ..............................100-120 टंका
गाय (उत्तम) ..............................10-12 टंका
दासी (सामान्यतः सुन्दरी)..................20-40 टंका
दास ..............................20-30 टंका

जबकि उस समय का मन प्रायः 10-12 किलो के निकट होता था और चाँदी का एक टंका 46-48 जीतल के मूल्य का होता था।

प्रत्येक वस्तु के लिए पृथक्-पृथक् बाजार निश्चित किये गये। गल्ले के लिए मण्डी, कपड़े के लिए सराय-ए-आदिल, घोड़ों, गुलामों और पशुओं के लिए एक पृथक् बाजार तथा दैनिक जीवन के उपभोग की बाकी वस्तुओं के लिए एक अन्य बाजार निश्चित किया गया। कठिनाई के अवसरों पर सुरक्षा के लिए सरकारी गोदामों में सभी आवश्यक वस्तुओं को संग्रह करने की व्यवस्था की गयी थी और ऐसी परि-स्थितियों में प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक वस्तुओं के खरीदने की सीमा निश्चित की जाती थी। कोई भी वस्तु अप्राप्य न हो जाय इसके लिए भी प्रबन्ध किया गया था। खालसा-भूमि (सुल्तान की भूमि) तथा जहाँ तक भी सम्भव था अधीन सामन्तों की भूमि से भी गल्ले के रूप में लगान वसूल किया गया। सरकार में रजिस्टर्ड व्या-पारियों को ही किसानों से गल्ला खरीदने की आज्ञा थी। सभी व्यापारियों को 'शहाने-मण्डी' के दफ्तर में अपने को पंजीकृत (Registered) कराना पड़ता था। कपड़े के व्यापारियों को बाहर से कपड़ा लाने के लिए अग्रिम धन देने की व्यवस्था थी परन्तु उन्हें बाजार में एक निश्चित मूल्य पर कपड़ा बेचने के लिए बाध्य किया जाता था। सभी व्यापारियों को एक निश्चित मात्रा में वस्तुएँ लाने के लिए भी बाध्य किया जाता था जिससे किसी वस्तु की कमी न हो। सुल्तान द्वारा निश्चित किये गये मूल्यों पर

ही वे वस्तुएँ बेची जायँ और तोल में भी ठीक हों, इसके लिए बड़ी कठोरता की जाती थी। वस्तुएँ केवल निश्चित मूल्य पर ही बेची जा सकती थीं, यहाँ तक कि बड़े से बड़ा पदाधिकारी भी सुल्तान की आज्ञा के बिना मूल्यों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता था। कम तोलने वाले के शरीर से उतनी ही मात्रा में माँस काट लिया जाता था। कोई भी व्यक्ति (व्यापारी या किसान) किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं कर सकता था। दोआब के पदाधिकारियों को यह लिखकर देना पड़ता था कि वे किसी भी किसान को अनाज संग्रह नहीं करने देंगे। सट्टे-बाजी और चोर-बाजारी पूर्णतया समाप्त कर दी गयी थी। किसी भी कानून को भंग करने वाले व्यक्ति को कठोरतम दण्ड दिया जाता था। इन कार्यों की देखभाल के लिए 'दीवाने-रियासत' और 'शहाने-मण्डी' तथा न्याय के लिए 'सराल-अदूल' नाम के बड़े अधिकारियों की नियुक्ति की गयी थी। इनके अतिरिक्त 'बरीद-ए-मण्डी', 'मुनहीयान्स' आदि अनेक पदाधिकारियों की भी नियुक्ति की गयी थी। इन सभी अधिकारियों को दण्ड देने के विस्तृत अधिकार थे। वे सभी सुल्तान से आतंकित थे और उन्होंने सभी व्यापारियों को आतंकित कर रखा था जिसके कारण सुल्तान के नियमों का अक्षरशः पालन किया गया था। राज्य के बड़े-बड़े सरदार और धनवान व्यक्ति भी इन कानूनों को नहीं तोड़ सकते थे। यदि उनमें से कोई किसी बहुमूल्य वस्तु को खरीदना चाहता था तो उसे 'दीवाने-रियासत' अथवा 'शहाने-मण्डी' से आज्ञा लेनी पड़ती थी।

अलाउद्दीन की यह बाजार-व्यवस्था दिल्ली में ही लागू की गयी थी अथवा राज्य के अन्य भागों या शहरों में भी लागू की गयी? केवल इतिहासकार फरिश्ता ने यह लिखा है कि वस्तुओं के जो मूल्य दिल्ली में थे, वही राज्य के अन्य भागों में भी थे। परन्तु स्वयं बरनी, जो खलजी-वंश के इतिहास को जानने का एकमात्र मूल आधार है, ऐसी कोई स्पष्ट बात नहीं कहता बल्कि समय-समय पर उसी के द्वारा व्यक्त किये गये विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलाउद्दीन की यह व्यवस्था केवल दिल्ली तक ही सीमित थी और अधिकांश आधुनिक इतिहासकार इसी मत को स्वीकार करते हैं।

अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था उसके समय में उसके लक्ष्य की पूर्ति में सफल रही। अलाउद्दीन चाहता था कि सभी वस्तुएँ निश्चित मूल्य पर बेची जायँ और वह इसमें सफल हुआ। बरनी ने लिखा है कि "जब तक अलाउद्दीन ने शासन किया तब तक वस्तुओं के मूल्य न बढ़े और न घटे बल्कि सर्वदा निश्चित रहे।"[1] वस्तुओं के मूल्य को निश्चित रखने में अलाउद्दीन का उद्देश्य था कि वह एक बड़ी सेना रख सके। वह उसमें भी सफल हुआ। उसकी सेना बड़ी ही नहीं बल्कि प्रत्येक युद्ध में सफल भी रही। अलाउद्दीन के समय में मंगोलों के भीषणतम आक्रमण हुए परन्तु अलाउद्दीन न केवल उन्हें परास्त करने में ही सफल रहा बल्कि भारत के दूरस्थ प्रदेशों को विजय करने में भी उसने सफलता प्राप्त की। इसके अतिरिक्त दिल्ली के नागरिकों को भी उससे लाभ था क्योंकि उन्हें भी सभी वस्तुएँ सामान्य मूल्यों पर प्राप्त होती थीं और बेईमानी की कोई गुंजाइश नहीं थी। दिल्ली के नागरिकों की भावनाएँ हमीद कलन्दर के शब्दों में व्यक्त होती हैं। उसने कहा था कि "व्यक्ति उसके (अलाउद्दीन खलजी के)

---

1 "So long as Alauddin ruled, prices of commodities never rose or fell but ever remained fixed." —Barani.

मकबरे पर श्रद्धा प्रकट करने जाते थे, उसकी कब्र पर पवित्र धागा बाँधते थे, दुआएँ माँगते थे और उनकी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती थीं।"[1] निस्सन्देह, वस्तुओं को निर्धारित मूल्यों पर बेचे जाने की अलाउद्दीन की व्यवस्था सफल और अद्वितीय थी। डॉ. के. एस. लाल, जो अन्य विभिन्न प्रकार से उस व्यवस्था के दोषों को बताते हैं; यह स्वीकार करते हैं कि "अलाउद्दीन के शासन का वास्तविक महत्व वस्तुओं के मूल्यों के कम करने में नहीं है बल्कि बाजार की कीमतों को निश्चित रखने में है जो अपने युग का एक महान् आश्चर्य समझा गया था।"[2] डॉ. के. एस. लाल अलाउद्दीन के पक्ष में एक अन्य बात भी कहते हैं। वह लिखते हैं कि "अलाउद्दीन के समय की भाँति किसी अन्य शासक के समय में मंगोलों के निरन्तर आक्रमण नहीं हुए। दिल्ली सल्तनत युग के किसी अन्य सुल्तान के समय में इतने विस्तृत आधार पर विजयें नहीं की गयीं। इन परिस्थितियों में यह तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है कि उसके सभी सुधार और कानून सेना के लाभ के लिए किये गये। इसके अतिरिक्त भारत के विख्यात तुर्की सुल्तानों में से कितने सुल्तान सेना की तुलना में किसानों और व्यापारियों की प्रसन्नता और समृद्धि का ध्यान रख सकते थे? आवश्यकता, धार्मिक उत्साह और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा से प्रेरित विजय का यश उनके लिए किसानों को धनवान और व्यापारियों को अधिक धनवान बनाने वाले कानूनों के निर्माण के मुकाबले कहीं अधिक आकर्षक था। अलाउद्दीन इसके लिए अपवाद न था।"[3]

परन्तु अलाउद्दीन को उसकी सफलता का उचित श्रेय प्रदान करने के पश्चात् यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था न तो जन-साधारण के हित में थी, न राज्य के अन्तिम हितों की पूर्ति में सहायक और न स्थायी। इस व्यवस्था से किसानों को कोई लाभ न था। जिन किसानों को अपनी पैदावार का आधा भाग लगान के रूप में देना पड़ता हो, कुछ अन्य कर भी देने पड़ते हों और

---

1 "People used to pay homage to his (Ala-ud-din Khalji's) tomb, put sacred thread on his grave, beg for boons and their wishes were fulfilled."
—Hamid Qalandar.

2 "What is of real importance in Alauddin's reign is not so much the cheapness of prices, as the establishment of a fixed price in the market which was considered one of the wonders of the age."
—Dr. K. S. Lal.

3 "In the reign of no other king were the Mongol invasions so persistent as in the time of Alauddin. In the reign of no other king of Sultanate period were conquests made on such a larger scale. Under these circumstances if all his reforms and regulation were directed towards the benefit of the army, it is not at all surprising. And how many renowned Turkish kings of India could afford to keep the happiness and prosperity of the peasants and traders above those of the army? Necessity, religious zeal and personal ambition rendered the glory of conquest much more appealing to them than the glory of making such laws as would make the peasants rich and traders richer. Alauddin was no exeption."
—Dr. K. S. Lal.

बाकी को सरकारी व्यापारियों को निश्चित मूल्य पर बेचना पड़ता हो, वे अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं को अपने स्थानीय बाजार के मूल्यों (जो निस्सन्देह दिल्ली में लागू मूल्यों से अधिक होंगे) पर खरीदकर सुखी और सम्पन्न कैसे रह सकते थे ? दिल्ली के नागरिक तो अलाउद्दीन के निर्धारित मूल्यों से लाभ प्राप्त कर सकते थे परन्तु बाकी अन्य नागरिकों को यह सुविधा कैसे मिल सकती थी ? कारीगरों को भी इस व्यवस्था में लाभ नहीं था क्योंकि उनके द्वारा बनायी गयी वस्तुएँ अधिक से अधिक उत्पादन-मूल्य से कुछ अधिक मूल्य पर ही बिक सकती थीं। (यदि यह मान लिया जाय कि अलाउद्दीन ने मूल्य-निर्धारण में उत्पादन-मूल्य को अपना आधार बनाया था)। व्यापारी-वर्ग इससे सन्तुष्ट नहीं हो सकता था क्योंकि उनका लाभ राज्य की इच्छा पर निर्भर करता था। अलाउद्दीन ने व्यापारियों को वस्तुएँ खरीद कर लाने और बेचने के लिए बाध्य किया था और वह उन्हें एक-दूसरे के लिए तथा उनके परिवार के सदस्यों को उनके लिए बन्धक के रूप में रखता था। इससे व्यापारियों की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में व्यापार तथा उद्योग को प्रोत्साहन मिलने का कोई प्रश्न नहीं था। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "चाहे सुल्तान का उद्देश्य उन निर्धन किसानों पर जुल्म करने का न रहा हो जिनके विरुद्ध सम्भवतया उसे किसी शिकायत का कारण न था परन्तु राज्य की तीव्र आवश्यकताओं ने उसे ऐसे कदम उठाने पर बाध्य किया जिनके कारण व्यापार और कृषि के हितों को सेना के हितों की पूर्ति के लिए त्याग दिया गया।"[1] इसी प्रकार डॉ. एस. राय ने अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि "जबकि सम्पूर्ण देश का खून निचोड़ा गया, राजधानी का पेट भरा गया। दिल्ली में इतनी अधिक मात्रा में अनाज संग्रह किया गया था कि 1334 ई. में वहाँ आने वाले इब्न-बतूता ने अलाउद्दीन के द्वारा संग्रह किये गये चावल को खाया। इन नियमों से केवल सेना को और अनजाने में दिल्ली की जनता को लाभ हुआ। जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ये बनाये गये थे उस दृष्टि से वे अत्यधिक सफल हुए। परन्तु क्योंकि वे आर्थिक सिद्धान्तों के विरुद्ध थे अतएव वे अपने निर्माता के साथ ही समाप्त हो गये।"[2] इस प्रकार अलाउद्दीन की व्यवस्था में मूल आधार पर ही दोष थे। वह व्यवस्था अलाउद्दीन के समय में ही सफल रही। कुतुबुद्दीन मुबारकशाह को न साम्राज्य-विस्तार की लालसा थी और न मंगोल-आक्रमणों का भय। इस कारण उसे न तो बड़ी सेना की आवश्यकता

---

1 "The motive of the Sultan may not have been to crush the poor peasants against whom he could possibly have no grudge, but the exigencies of the State required him to take such steps under which the interests of commerce and cultivation were sacrificed to those of the army." —Dr. K. S. Lal.

2 "The capital was fed, while the country at large was bled ? So large a quantity of grain was stocked at Delhi that Ibn Batutah, who arrived there in A. D. 1334, consumed the rice stored by Ala-ud-din. Only the army and, incidentally, the population of the Delhi benefited by these regulations, Judged by the objective which inspired them, they proved highly successful. Opposed as they were to economic laws, they died with their author." —Dr. S. Roy.

थी और न बाजार-व्यवस्था की। मुबारकशाह इन कार्यों के लिए योग्य न था। उसे युद्धों से अधिक स्त्रियों से प्रेम था। इसके अतिरिक्त शक्ति पर आधारित यह व्यवस्था बहुत लम्बे समय तक स्थापित भी नहीं रखी जा सकती थी। अतएव अलाउद्दीन की मृत्यु के साथ-साथ उसकी बाजार-व्यवस्था भी समाप्त हो गयी।

## [ 2 ]
## साम्राज्य-विस्तार

### उत्तरी भारत

अलाउद्दीन की आकांक्षाएँ साम्राज्यवादी थीं। स्वतन्त्र राज्यों को अधिक से अधिक संख्या में अपने राज्य में सम्मिलित करना अथवा उनको अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य करना उसकी साम्राज्यवादी नीति का लक्ष्य था। उसने 'सिकन्दर द्वितीय' की उपाधि ग्रहण की थी और वह सम्पूर्ण विश्व को जीतने के स्वप्न देखता था यद्यपि अपने मित्र और दिल्ली के कोतवाल अला-उल-मुल्क की सलाह को मानकर उसने अपनी विजय-योजनाओं को भारतीय सीमाओं तक ही सीमित रखा। इस कारण भारत में अधिक से अधिक अपने राज्य और प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार करना उसका लक्ष्य रहा। उत्तरी भारत के राज्यों के प्रति उसकी नीति राज्य-विस्तार की थी जबकि दक्षिणी भारत के राज्यों से वह अपनी अधीनता स्वीकार कराकर और वार्षिक कर लेकर ही सन्तुष्ट हो गया।

### 1. जयसलमेर और गुजरात

गुजरात एक समृद्धशाली राज्य था। मुसलमान आक्रमणकारियों ने समय-समय पर उसके विभिन्न क्षेत्रों को लूटने में सफलता प्राप्त की थी परन्तु वे उसे विजय करने में न केवल असमर्थ रहे थे बल्कि एक-दो अवसरों पर पराजित भी हुए थे। उस समय उसकी राजधानी अन्हिलवाड़ (पाटन) थी और बघेला-शासक कर्ण (राय करन) उसका शासक था। गुजरात पर आक्रमण किये जाने का कारण राजा कर्ण के एक मन्त्री, माधव के द्वारा दिल्ली पहुँचकर सुल्तान से अपने मालिक के विरुद्ध सहायता माँगना था क्योंकि उसने उसकी अनुपस्थिति में उसकी पत्नी पर अधिकार कर लिया था। 1298 ई. में उलुगखाँ और नसरतखाँ के नेतृत्व में गुजरात पर आक्रमण किया गया। मार्ग में उन्होंने जयसलमेर को विजय किया। बाद में अहमदाबाद के निकट राजा कर्ण ने उनका मुकाबला किया परन्तु वह परास्त हुआ और उसने अपनी पुत्री देवलदेवी के साथ भागकर देवगिरि के शासक रामचन्द्रदेव के यहाँ शरण ली। गुजराती स्रोत-ग्रन्थों के आधार पर यह पता लगता है कि कर्ण की पराजय का कारण उसके मन्त्री माधव का विश्वासघात था। युद्ध में विजय के पश्चात् मुसलमानों ने सूरत, सोमनाथ और काम्बे के बन्दरगाह तक आक्रमण किये। गुजरात को मुसलमानों ने निर्दयता से लूटा, राजा कर्ण का समस्त खजाना और उसकी पत्नी कमलादेवी भी उसके हाथ लगी जिसको लेकर वे दिल्ली पहुँचे। सोमनाथ मन्दिर को पुनः नष्ट कर दिया गया और उसकी मूर्ति के टुकड़ों को दिल्ली लाकर मुसलमानों के पैरों तले रौंदने के लिए फेंक दिया गया। कमलादेवी से अलाउद्दीन ने विवाह कर लिया और वह उसकी प्रिय पत्नी बनी। यहीं नसरतखाँ ने काफूर हजारदीनारी को खरीदा।

## 2. रणथम्भौर

रणथम्भौर चौहान राजपूतों की शक्ति का गढ़ था। सुल्तान जलालुद्दीन उसे विजय करने में असफल रहा था और राणा हम्मीरदेव ने अपने राज्य और प्रभाव को बढ़ाने में सफलता पायी थी। राजस्थान की विजय रणथम्भौर को जीते बिना सम्भव न थी। इस कारण उसका एक विशेष महत्व था। इसके अतिरिक्त राणा हम्मीरदेव ने अपनी शरण में आये हुए मंगोल मुसलमानों को वापस देने से इन्कार करके अलाउद्दीन को आक्रमण करने का बहाना दे दिया। उलुगखाँ और नसरतखाँ को इस किले को विजय करने के लिए भेजा गया। परन्तु उनका आक्रमण विफल हुआ और नसरतखाँ मारा गया। मुसलमान आक्रमणकारियों को पीछे हटना पड़ा। तब अलाउद्दीन ने स्वयं आक्रमण किया और रणथम्भौर के किले का घेरा डाल दिया। एक वर्ष के निरन्तर घेरे के पश्चात् न तो किले को जीता जा सका और न राजपूतों ने आत्मसमर्पण ही किया। हम्मीरदेव का एक मन्त्री रनमल अलाउद्दीन से मिल गया जबकि उसे सन्धि की बातचीत के लिए भेजा गया था। अन्त में, जुलाई 1301 ई. में अलाउद्दीन ने किले को जीत लिया। परन्तु इससे पहले राजपूत स्त्रियों ने जौहर कर लिया था और राजपूत सैनिक राणा हम्मीरदेव के साथ युद्ध में मारे जा चुके थे। अलाउद्दीन ने रनमल और उसके सभी साथियों का वध करा दिया जो विश्वासघात करके उसके साथ आ मिले थे।

## 3. बंगाल

डॉ. के. एस. लाल ने यह विचार व्यक्त किया है कि "1303 ई. में वारंगल पर किया गया आक्रमण वस्तुतः बंगाल पर किया गया आक्रमण था, जहाँ शमसुद्दीन ने स्वयं को सुल्तान घोषित कर दिया था और अपने नाम के सिक्के चलाये थे।" इस आक्रमण का कोई परिणाम न निकला क्योंकि वारंगल जाकर मुस्लिम सेना की पराजय हुई और उसे वापस लौटना पड़ा। इसके फलस्वरूप बंगाल 1324 ई. तक स्वतन्त्र रहा।

## 4. चित्तौड़

राजस्थान में रणथम्भौर के पश्चात् राजपूतों की एक दूसरी बड़ी शक्ति चित्तौड़ का राज्य था। एक ऊँची पहाड़ी पर बना हुआ चित्तौड़ का किला अजेय माना जाता था। जनवरी 1303 ई. में अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया और किले का घेरा डाल दिया। राणा रतनसिंह ने सात माह तक बहादुरी से मुसलमानों का मुकाबला किया परन्तु अन्त में अगस्त 1303 ई. में किले पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया। राजपूत स्त्रियों ने पद्मिनी के साथ 'जौहर' कर लिया। डॉ. बद्रीप्रसाद सक्सेना के अनुसार यहाँ 'जौहर' नहीं किया गया। उनके अनुसार यदि ऐसा हुआ होता तब खुसरव ने उसके विषय में अवश्य लिखा होता क्योंकि वह अलाउद्दीन के साथ था। राजपूती प्रमाणों के अनुसार राणा रतनसिंह युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया, जबकि इसामी और अमीर खुसरव ने लिखा है कि राणा ने अपनी पराजय के पश्चात् आत्मसमर्पण कर दिया और अलाउद्दीन की शरण में चला गया। सत्य कुछ भी हो, परन्तु उसके पश्चात् रतनसिंह का नाम कहीं भी सुनने में नहीं आता। यह भी निश्चय है कि राजपूतों ने अलाउद्दीन का कड़ा मुकाबला किया था

क्योंकि किले पर अधिकार करने के पश्चात् अलाउद्दीन ने कत्लेआम का आदेश दिया था और प्रायः 30,000 राजपूत उस समय कत्ल किये गये थे। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का नाम खिज्राबाद रखा और उसे अपने पुत्र खिज्रखाँ को देकर स्वयं दिल्ली वापस आ गया। 1311 ई. में खिज्रखाँ को चित्तौड़ से वापस बुला लिया गया और अलाउद्दीन ने उसे अपने एक मित्र राजपूत सरदार मालदेव को दे दिया। परन्तु राजपूत चित्तौड़ की पराजय को न भूल सके। उन्होंने खिज्रखाँ को तंग किया, और रतनसिंह के ही एक वंशज हम्मीरदेव ने मालदेव को भी निरन्तर तंग किया। मालदेव ने उसे सन्तुष्ट करने के लिए अपनी एक पुत्री का विवाह भी उसके साथ किया परन्तु हम्मीरदेव ने चित्तौड़ को जीतने के प्रयत्नों में कमी न की और अन्त में 1321 ई. में मालदेव की मृत्यु के पश्चात् उसने चित्तौड़ और सम्पूर्ण मेवाड़ राज्य को स्वतन्त्र करने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् चित्तौड़ स्वतन्त्र हो गया।

**पद्मिनी की कहानी**—पद्मिनी की कहानी का मुख्य आधार 1540 ई. में मलिक मोहम्मद जायसी द्वारा लिखी गयी काव्य-पुस्तक 'पद्मावत' है। अमीर ख़ुसरव ने सुलेमान और रानी शैबा के प्रेम-प्रसंग का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया था और उसने संकेतों से अलाउद्दीन की समता सुलेमान से तथा पद्मिनी की तुलना शैबा से की थी। परन्तु उसके द्वारा बताया गया यह प्रेम-प्रसंग स्पष्ट न था बल्कि एक संकेत मात्र था। उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि शैबा से उसका अर्थ पद्मिनी से ही था। परन्तु सम्भवतया उसी को आधार मानकर मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' की रचना की और उसके आधार पर राणा रतनसिंह की रानी पद्मिनी की कहानी बनी। बाद में राजस्थान के अनेक कवियों ने उस पर गाथाएँ लिखीं तथा बहुत-से इतिहासकारों ने उस कहानी को स्वीकार किया।

'पद्मावत' के अनुसार अलाउद्दीन के चित्तौड़ पर आक्रमण करने का एक प्रमुख कारण राणा रतनसिंह की अत्यन्त सुन्दर और विदुषी पत्नी पद्मिनी को प्राप्त करना था। जब अलाउद्दीन चित्तौड़ के किले को जीतने में असमर्थ रहा तो उसने यह शर्त रखी कि यदि उसे पद्मिनी की शक्ल दर्पण में दिखा दी जायेगी तो वह वापस चला जायेगा। राणा ने इस शर्त को स्वीकार कर लिया। परन्तु जब राणा दर्पण में रानी को दिखाकर अलाउद्दीन को उसके खेमों तक छोड़ने गया तब उसे कैद करके दिल्ली ले जाया गया। राजपूतों ने भी अलाउद्दीन के साथ छल करने का निश्चय किया। उन्होंने सुल्तान को सूचना भेजी कि वे उसे पद्मिनी को देने को तैयार हैं। उसके पश्चात् सशस्त्र राजपूतों को 1,600 पालकियों में बैठाकर वे दिल्ली पहुँचे और रानी ने केवल एक बार राणा से मिलने की स्वीकृति माँगी। इस स्वीकृति के मिलने पर राजपूत राणा के पास पहुँचे। यहाँ उन्होंने अचानक आक्रमण करके राणा को छुड़ा लिया और रानी तथा राणा चित्तौड़ भाग गये। मार्ग में गोरा ने मुसलमानों का मुकाबला किया और बादल राणा तथा रानी को लेकर सुरक्षित चित्तौड़ पहुँच गया। उसके पश्चात् रतनसिंह ने कुम्भलगढ़ के शासक देवपाल पर आक्रमण किया जिसने उसकी अनुपस्थिति में पद्मिनी को प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। इस युद्ध में राणा ने देवपाल को मार दिया परन्तु स्वयं घायल हो गया और कुछ समय पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी। रानी पद्मिनी राणा के शरीर के साथ सती हो गयी। अलाउद्दीन उसके पश्चात् चित्तौड़ पहुँचा और उसने किले को जीतने में सफलता प्राप्त की।

'पद्मावत' की इस कहानी के भी विभिन्न स्वरूप हो गये हैं। कुछ लेखकों के अनुसार राणा दिल्ली नहीं गया था बल्कि वह अलाउद्दीन के खेमों में ही कैद था जहाँ से राजपूतों ने उसे छुड़ाया। इसी प्रकार पद्मिनी की कहानी में भिन्न-भिन्न लेखकों तथा कवियों ने विभिन्न परिवर्तन कर दिये हैं। परन्तु क्या पद्मिनी की कहानी ऐतिहासिक तथ्य है ? इसके विषय में इतिहासकारों में मतभेद है। डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डॉ. बी. पी. सक्सेना, डॉ. के. एस. लाल और डॉ. कानूनगो इस कहानी की सत्यता में विश्वास नहीं करते। उनका कहना है कि तत्कालीन इतिहासकार इसामी, अमीर खुसरव, इब्न-बतूता आदि किसी ने इस कहानी का वर्णन नहीं किया, अपितु इस कहानी का मुख्य आधार केवल 'पद्मावत' है। परन्तु अबुल फजल, हाजी-उद्-दबीर, फरिश्ता और नेनसी ने इस कहानी को सत्य माना और बाद में कर्नल टॉड इससे सहमत हुए। आधुनिक इतिहासकारों में से डॉ. ईश्वरीप्रसाद, डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव और डॉ. एस. रॉय यह लिखते हैं कि 'पूर्णतया प्रमाणित न होते हुए भी इस कहानी को पूर्णतया मनगढ़न्त कहना गलत है।' डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार "यद्यपि इस सम्बन्ध में अनेक घटनाएँ कल्पित हैं परन्तु काव्य का मुख्य अथानक सत्य प्रतीत होता है।" डॉ. एस. रॉय और डॉ. ईश्वरीप्रसाद अलाउद्दीन के चरित्र की कामुकता और हिन्दू स्त्रियों को प्राप्त करने की इच्छा के कारण इस कहानी के आधार को सत्य मानने की सम्भावना प्रकट करते हैं। अन्त में, यह कहा जा सकता है कि इस कहानी को पूर्णतया असत्य कहकर टाल देना उचित नहीं है यद्यपि ऐतिहासिक तथ्य इसे अभी तक सत्य प्रमाणित करने में असमर्थ हैं।

### 5. मालवा

मालवा का तत्कालीन शासक, महलकदेव एक शक्तिशाली शासक था और उसका सेनापति हरनन्द (कोका प्रधान) एक योग्य राजनीतिज्ञ और कुशल योद्धा था। मुसलमानों ने मालवा पर आक्रमण करके उज्जैन, भिलसा आदि स्थानों को पहले भी लूटा था परन्तु मालवा को विजय नहीं किया गया था। 1305 ई. में अलाउद्दीन ने मुल्तान के सूबेदार अईन-उल-मुल्क को मालवा पर आक्रमण करने के लिए भेजा। उसने महलकदेव और हरनन्द के नेतृत्व में एक हिन्दू सेना को परास्त किया। हरनन्द युद्ध में मारा गया परन्तु महलकदेव भाग कर माण्डू चला गया। कुछ समय पश्चात् आईन-उल-मुल्क माण्डू की तरफ बढ़ा। मार्ग में उसने महलकदेव के एक पुत्र को युद्ध में परास्त किया और उसके बाद माण्डू के किले का घेरा डाल दिया। एक विश्वासघाती की सहायता से आईन-उल-मुल्क रात्रि में किले में प्रवेश पा सका और उसने अचानक आक्रमण कर दिया। राजा महलकदेव मारा गया और नवम्बर 1305 ई. में किले पर आईन-उल-मुल्क का अधिकार हो गया। उसके पश्चात् उज्जैन, धारनगरी, चन्देरी आदि को भी जीत लिया गया और मालवा को दिल्ली राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

### 6. सिवाना

1308 ई. में अलाउद्दीन ने सिवाना पर आक्रमण किया। वहाँ का शासक परमार-राजपूत शीतलदेव था जो राजस्थान का एक शक्तिशाली शासक माना जाता था। कई माह तक राजपूतों ने मुसलमानों का कड़ा मुकाबला किया परन्तु एक राज्य-

द्रोही की सहायता से मुसलमानों ने उस मार्ग को बन्द कर दिया जहाँ से एक झील का जल किले में जाता था। उसके पश्चात् मुसलमानों ने किले में प्रवेश करने में सफलता प्राप्त की। शीतलदेव जालौर भागने की तैयारी करता हुआ घेर लिया गया और मारा गया। कमालुद्दीन गुर्ग को सिवाना की देखरेख का उत्तरदायित्व सौंपकर अलाउद्दीन दिल्ली वापस चला गया।

**7. जालौर**

जालौर सिवाना से केवल 50 मील दूर था और वहाँ का शासक कान्हणदेव (कृष्णदेव तृतीय) एक साहसी और महान् योद्धा था। डॉ. एस. लाल ने लिखा है कि 1304 ई. में कान्हणदेव ने अलाउद्दीन के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था। परन्तु डॉ. दशरथ शर्मा ने अपनी नवीन खोजों से यह सिद्ध किया है कि कान्हणदेव ने अलाउद्दीन की अधीनता को स्वीकार नहीं किया था बल्कि गुजरात से वापस आते हुए नसरतखाँ पर आक्रमण किया था और 1305 ई. में हुए मुसलमानी आक्रमण को विफल कर दिया था। 1311 ई. में जालौर पर पुनः आक्रमण किया गया। राजपूतों ने कई अवसर पर मुसलमानों को परास्त किया और राजपूती स्रोतों के आधार पर यह युद्ध कई वर्ष चला। अन्त में, अलाउद्दीन ने कमालुद्दीन गुर्ग के नेतृत्व में एक बड़ी सेना भेजी और जालौर को विजय कर लिया गया। कान्हणदेव युद्ध में मारा गया और उसके सभी सम्बन्धी कत्ल कर दिये गये। केवल कान्हणदेव का एक भाई मालदेव जीवित बच सका जिसने अलाउद्दीन को प्रसन्न करके चित्तौड़ की सूबेदारी प्राप्त की। जालौर का युद्ध बहुत कठिन था और कान्हणदेव की वीरता की गाथाएँ सम्पूर्ण राजस्थान में प्रसिद्ध हुईं।

जालौर की विजय ने अलाउद्दीन की राजस्थान की विजय को पूर्ण कर दिया। बूँदी, माँडोर और टोंक भी अलाउद्दीन की अधीनता में चले गये। सम्भवतया, जोधपुर पर भी अलाउद्दीन का अधिकार हो गया था यद्यपि इसके पूर्ण प्रमाण प्राप्त नहीं हो सके हैं। यद्यपि अलाउद्दीन की राजस्थान की विजय अत्यन्त अस्थिर थी, और अलाउद्दीन के सूबेदारों को निरन्तर राजस्थान में राजपूतों से मुकाबला करना पड़ा, परन्तु तब भी अलाउद्दीन का उद्देश्य पूरा हो गया। राजस्थान के दृढ़ किले उसके अधिकार में हो गये तथा गुजरात और दक्षिणी भारत के मार्ग उसके आधिपत्य में हो गये।

डॉ. बी. पी. सक्सेना का मत है कि राजस्थान के प्रति अलाउद्दीन ने कोई योजनाबद्ध नीति नहीं अपनायी थी। उनके अनुसार अलाउद्दीन को राजस्थान में कठोर युद्ध लड़ने पड़े जबकि उसे उनसे कोई आर्थिक लाभ प्राप्त नहीं हुआ। इस कारण उसने राजस्थान की विजय-योजना को त्याग दिया। परन्तु डॉ. सक्सेना के मत को इतिहासकारों के बहुमत ने स्वीकार नहीं किया है। अलाउद्दीन अपने पड़ोस में किसी भी स्वतन्त्र राज्य के अस्तित्व को बर्दाश्त नहीं कर सकता था। राजस्थान की विजय-योजना उसकी राज्य-विस्तार की योजना का एक भाग था। इसके अतिरिक्त, उसे गुजरात और दक्षिणी भारत जाने के लिए सुरक्षित मार्ग चाहिए था जो राजस्थान की विजय के बिना सम्भव नहीं था। इस कारण ही अलाउद्दीन ने राजस्थान के दृढ़ किलों जैसे चित्तौड़ और रणथम्भौर पर स्वयं ही आक्रमण किया था। इस प्रकार उसकी राजस्थान की विजय योजनाबद्ध थी। उसकी विजयों ने उसके उद्देश्य की पूर्ति कर दी।

**दक्षिणी भारत**

14वीं सदी के आरम्भ के कुछ वर्षों के पश्चात् अलाउद्दीन मंगोल-आक्रमणों से सुरक्षित हो गया था, उत्तरी भारत में उसकी शक्ति का विरोध करने का साहस किसी में बाकी न रहा था, उसके कठोर शासन के कारण राज्य में शान्ति और व्यवस्था थी, विद्रोहों की आशंकाएँ समाप्त हो चुकी थीं और सुल्तान के पास एक बड़ी तथा शक्तिशाली सेना थी। ऐसी स्थिति में अलाउद्दीन दक्षिणी भारत की विजय के लिए तत्पर हुआ। उस समय दक्षिणी भारत में चार शक्तिशाली और सम्पन्न राज्य थे। विन्ध्याचल पर्वत के दक्षिण-पश्चिम में महाराष्ट्र को सम्मिलित करते हुए यादवों का देवगिरि राज्य था। रामचन्द्रदेव वहाँ का शासक और देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद) उसकी राजधानी थी। दक्षिण-पूर्व में तैलंगाना का काकतीय राज्य था जिसका शासक प्रतापरुद्रदेव द्वितीय था तथा उसकी राजधानी वारंगल थी। देवगिरि के दक्षिण और तैलंगाना के दक्षिण-पश्चिम में होयसल राज्य था जिसका शासक वीर बल्लाल तृतीय था और द्वारसमुद्र उसकी राजधानी थी। सुदूर दक्षिण में पांड्य राज्य था जिसे मुसलमान इतिहासकारों ने 'माबर' (मलाबार) राज्य के नाम से पुकारा था। सुन्दर पांड्य द्वारा अपने पिता का वध किये जाने के पश्चात् वीर पांड्य और सुन्दर पांड्य नामक भाइयों में मुसलमानों के आक्रमण के समय संघर्ष चल रहा था। उसकी राजधानी मदुरा थी।

दक्षिणी भारत के इन राज्यों पर आक्रमण करने में अलाउद्दीन के उद्देश्य धन और विजय-लालसा दोनों ही थे। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "इस प्रकार सभी विजेताओं को प्रेरणा प्रदान करने वाले धन के लालच और गौरव की लालसा ने उसे भी एक के बाद एक दक्षिण के सभी राज्यों पर आक्रमण करने के लिए प्रेरणा दी।"[1] देवगिरि के धन ने उसे सुल्तान बनने में सहायता दी थी और दक्षिण के सम्पन्न राज्य उसे सुल्तान बनाये रखने में सहायता दे सकते थे। वस्तुतः दक्षिणी भारत में अतुल सम्पत्ति-संग्रह मौजूद थी और उसे किसी भी मुसलमान आक्रमणकारी ने नहीं लूटा था। सभी इतिहासकारों और यात्रियों ने दक्षिणी भारत की सम्पत्ति का विशद् वर्णन किया है। शिहाबुद्दीन अबुल अब्बास अहमद ने लिखा था कि "सदियों से भारत में सोना बहकर आ रहा था और उसे कभी भी विदेश नहीं भेजा गया था।"[2] मार्को पोलो ने मलाबार की अतुल सम्पत्ति का वर्णन किया है। उसने लिखा था "जब एक राजा की मृत्यु होती है तब कोई भी उसके खजाने से कुछ भी लेने का साहस नहीं करता और उनका विश्वास है कि जैसे उनके पिता ने धन-संचय किया उसी प्रकार उन्हें भी धन-संचय करना चाहिए। इस कारण राज्य के खजाने में वृद्धि होती गयी है और वहाँ अकूत धन एकत्रित हो गया है।"[3] अमीर खुसरव, बरनी

---

1 "Thus the greed of gold and lust for glory—the two incentives of all conquerors—promoted him to invade all the kingdoms of Deccan one after the other." —Dr. K. S. Lal.

2 "Gold had been flowing into India for a number of centuries and had never been exported." —Shihabuddin Abul Abbas Ahmad.

3 "When a king dies nobody dares to take anything out of his treasury and they believe that as our father collected wealth we

और फरिश्ता ने यह लिखा है कि अलाउद्दीन के समय में दक्षिणी भारत से अकथनीय सम्पत्ति लायी गयी थी। अलाउद्दीन के समय की लूटमार के पश्चात् भी मुहम्मद तुगलक को वहाँ से अपार सम्पत्ति प्राप्त हो सकी और उसके पश्चात् भी अब्दुल रज्जाक ने विजयनगर-साम्राज्य की सम्पन्नता और सम्पत्ति के बारे में जो कुछ लिखा है उससे यह सिद्ध होता है कि दक्षिणी भारत में अपार सम्पत्ति-संग्रह मौजूद था और वहाँ उसे संचय करने के साधन भी थे। इस कारण अलाउद्दीन का प्रमुख उद्देश्य दक्षिणी भारत की सम्पत्ति को लूटना था। परन्तु अलाउद्दीन इतने से ही सन्तुष्ट न था। दक्षिणी भारत के राज्यों को अपनी अधीनता स्वीकार करने और वार्षिक कर देने के लिए वाध्य करना भी उसका उद्देश्य था जिससे उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि होती थी और उसे दक्षिण से निरन्तर धन भी प्राप्त हो सकता था। डॉ. यू. एन. डे ने उसके इस उद्देश्य पर अत्यधिक वल दिया है। वह लिखते हैं कि "अलाउद्दीन दक्षिण और सुदूर-दक्षिण के राज्यों को अधीनस्थ राज्य बनाने के लिए पूर्ण सोच-विचार कर निश्चित की गयी नीति का पालन कर रहा था जिससे ये राज्य उसकी संप्रभुता को स्वीकार करें, उसे वार्षिक कर दें और प्रत्येक प्रकार से उसके अधीन राजाओं की भाँति व्यवहार करें।"[1] अलाउद्दीन एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था। वह जानता था कि दक्षिण को अपने राज्य में सम्मिलित करके उस पर शासन करना असम्भव है। इस कारण उसका उद्देश्य दक्षिण के राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित करने का कभी नहीं बना बल्कि जिन राज्यों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली और उसे वार्षिक कर दिया, उनके शासकों के प्रति उसका व्यवहार सम्मानपूर्ण रहा। रामचन्द्रदेव और वीर बल्लाल समय-समय पर सुल्तान की राजधानी में उससे मिलने गये और उनका सत्कार किया गया। डॉ. एस. रॉय ने लिखा है कि "उसने दक्षिण में राज्य-विस्तार की इच्छा कभी नहीं की। वह हिन्दू राजाओं से अपनी संप्रभुता को स्वीकार कराना और उनसे बड़ी मात्रा में राजस्व चाहता था।"[2] अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसने दक्षिणी भारत पर आक्रमण करने के लिए समय-समय पर अपनी सेनाएँ भेजीं। उसके समय में दक्षिण भारत की विजय का मुख्य श्रेय मलिक काफूर को है जिसे एक गुलाम के रूप में खरीदा गया था और जो अपनी योग्यता से 'नाइब' के पद को प्राप्त कर सका जो उस समय राज्य-शासन में सबसे बड़ा पद था।

अलाउद्दीन के समय में सबसे पहला आक्रमण 1303 ई. में तैलंगाना पर किया गया। परन्तु फखरुद्दीन जूना और नसरतखाँ के भतीजे छज्जू के नेतृत्व

---

should collect it the same way. Therefore, the wealth of the state-treasury has increased and enormous wealth has accumulated there." —Marcopolo.

1 "Alauddin was following a calculated policy of reducing the kingdoms of the Deccan and South as tributary states which would accept his suzerainty; pay annual tribute and act in all manners as his subordinates." —Dr. U. N. Dey.

2 "What he aspired to in the South was not the annexation of new territory, but huge tribute from the Hindu kings with a mere acknowledgement of his overlordship." —Dr. S. Roy.

में बंगाल तथा उड़ीसा के मार्ग से किया गया यह आक्रमण विफल हुआ और प्रताप-रुद्रदेव ने मुसलमानों को परास्त करके अव्यवस्थित रूप से वापस लौटने के लिए बाध्य किया। उसके पश्चात् अलाउद्दीन कुछ वर्षों तक दक्षिण की ओर ध्यान न दे सका।

**1. देवगिरि**

1296 ई. में देवगिरि के शासक रामचन्द्रदेव ने अलाउद्दीन के सफल आक्रमण से बाध्य होकर उसे प्रति वर्ष एलिचपुर की आय को भेजने का वायदा किया था परन्तु 1305 ई. अथवा 1306 ई. से उसने उस वार्षिक कर को दिल्ली को नहीं भेजा। यह भी कहा गया है कि रामचन्द्रदेव का पुत्र शंकरदेव (सिंहनदेव) इस बात के लिए उत्तरदायी था। रामचन्द्रदेव ने यह सूचना सुल्तान को दी। यह भी कहा जा सकता है कि रामचन्द्रदेव ने सुल्तान की सेना की वारंगल में पराजय और उसकी मंगोल-आक्रमणों की व्यस्तता का लाभ उठाना चाहा था। परन्तु कारण कुछ भी रहा हो अलाउद्दीन वार्षिक कर की हानि को बर्दाश्त करने के लिए तैयार न था। 1307 ई. में नाइब मलिक काफूर के नेतृत्व में एक सेना देवगिरि पर आक्रमण करने के लिए भेजी गयी। ख्वाजा हाजी को उसकी सहायता के लिए साथ भेजा गया और मालवा के सूबेदार आईन-ए-मुल्क तथा गुजरात के सूबेदार अलपखाँ को अपनी सेनाएँ लेकर उसकी सहायता करने के आदेश दिये गये। मलिक काफूर को राजा कर्णदेव (गुजरात के भागे हुए शासक) की पुत्री देवलदेवी को भी दिल्ली लाने के आदेश दिये गये।

सम्भवतया 1299 ई. में नसरतखाँ के गुजरात से चले आने के पश्चात् राजा कर्णदेव ने अन्हिलवाड़ और गुजरात के अधिकांश प्रदेश पर पुनः अधिकार कर लिया था परन्तु मलिक कड़ा वेग ने उसे एक वार फिर बगलाना भाग जाने पर बाध्य किया। तत्पश्चात् अलाउद्दीन ने अलपखाँ को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया जिसका शासन सफल रहा। राजा कर्ण को रामचन्द्रदेव ने अपने यहाँ शरण दी थी और बगलाना का प्रदेश उसे स्वतन्त्र रूप से शासन करने के लिए दे दिया था। उस समय से वह वहीं था। इस समय जबकि काफूर दक्षिण की विजय पर जा रहा था अलाउद्दीन की पत्नी (पहले वह राजा कर्ण की पत्नी थी) कमलादेवी ने अपनी एकमात्र जीवित पुत्री देवलदेवी को दिल्ली लाये जाने की इच्छा प्रकट की। इस कारण अलाउद्दीन ने काफूर को देवलदेवी को उसके पिता राजा कर्ण से छीनकर दिल्ली लाने की आज्ञा दी। अमीर खुसरव ने अपनी पुस्तक 'आशिक' में लिखा है कि देवलदेवी और शाहजादा खिज्रखाँ में परस्पर प्रेम था और यह आदेश खिज्रखाँ के अनुरोध पर दिया गया था। परन्तु फरिश्ता के अनुसार देवलदेवी की आयु उस समय चार वर्ष थी जबकि उसकी माँ को पकड़कर दिल्ली लाया गया था। काफूर के आक्रमण के समय में भी उसकी आयु कठिनाई से चौदह या पन्द्रह वर्ष की रही होगी। ऐसी स्थिति में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि देवलदेवी और खिज्रखाँ के मध्य कोई प्रेम-प्रसंग था। देवलदेवी और उसके पिता की कठिनाइयों का कारण तो स्वयं उसकी माँ बनी।

मलिक काफूर मालवा को पार करके सुल्तानपुर पहुँचा। राजा कर्ण ने अपनी पुत्री को काफूर को देने से इन्कार कर दिया और दो माह तक सफलतापूर्वक उसका मुकाबला किया। इस कारण अलपखाँ को राजा कर्ण को समाप्त करने का उत्तरदायित्व देकर काफूर स्वयं देवगिरि की ओर बढ़ गया। अलपखाँ का मुकाबला भी कर्ण ने दो माह तक किया। उसी अवसर पर उसे देवगिरि के राजकुमार शंकरदेव (सिंहनदेव) का

देवलदेवी से विवाह करने और सहायता देने का आश्वासन मिला। इससे पहले राजा कर्ण ने इस विवाह-प्रस्ताव को अपने वंश को शंकरदेव के वंश की तुलना में अधिक प्रतिष्ठित राजपूत-वंश मानकर ठुकरा दिया था परन्तु इस अवसर पर उसने उसे स्वीकार कर लिया और कुछ सैनिकों के साथ देवलदेवी को देवगिरि की ओर भेज दिया। अलपखाँ ने राजा कर्ण को युद्ध में पराजित करके देवगिरि की ओर भागने के लिए बाध्य किया और स्वयं उसका पीछा किया। मार्ग में अचानक उसके सैनिकों को देवलदेवी का काफिला मिल गया और उन्होंने देवलदेवी को छीन लिया। अलपखाँ ने देवलदेवी को दिल्ली भेज दिया जहाँ उसका विवाह शाहजादा खिज्रखाँ से कर दिया गया। अलपखाँ स्वयं मलिक काफूर से जाकर मिल गया।

मलिक काफूर सम्पूर्ण मार्ग में लूट-पाट करता हुआ देवगिरि पहुँचा। सम्भवतया रामचन्द्रदेव पूर्णतया असावधान था। एक युद्ध में उसे पराजित कर दिया गया। उसका पुत्र शंकरदेव (सिंहनदेव) युद्ध से भाग निकला और रामचन्द्रदेव ने आत्मसमर्पण कर दिया। काफूर ने देवगिरि को लूटा और बहुत-से हाथी, सम्पत्ति, राजा रामचन्द्रदेव तथा उसके अनेक सम्बन्धियों को दिल्ली ले गया। अलाउद्दीन ने रामचन्द्रदेव के प्रति सम्मानपूर्ण व्यवहार किया, उसे 'राय रायन' की उपाधि दी तथा छः माह के पश्चात् उसे एक लाख सोने का टंका और नवसारी के जिले को देकर उसके राज्य में वापस भेज दिया। देवगिरि राज्य का शासक रामचन्द्रदेव ही रहा परन्तु वह न केवल अलाउद्दीन के अधीन ही हो गया बल्कि उसके व्यवहार से सन्तुष्ट होकर उसका वफादार मित्र भी बन गया। उसने दक्षिणी भारत की विजय में काफूर को बहुत सहायता दी। डॉ. एस. राय ने लिखा है कि "निस्सन्देह देवगिरि दक्षिण और सुदूर-दक्षिण में खलजी सैनिक अभियानों का आधार बना।"[1]

**2. तैलंगाना**

अलाउद्दीन तैलंगाना पर अपने पिछले आक्रमण की विफलता को नहीं भूला था। देवगिरि पर आक्रमण की सफलता ने उसे तैलंगाना पर पुनः आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। 1 नवम्बर, 1309 ई. को मलिक काफूर को तैलंगाना पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया। दिसम्बर में काफूर देवगिरि पहुँच गया। रामचन्द्रदेव ने काफूर की सेना के लिए रसद की व्यवस्था की, मराठा सैनिकों को उसके साथ किया और स्वयं भी कुछ दूर तक उसके साथ गया। काफूर ने हीरों की खानों के जिले बसीरागढ़ (भैरागढ़) के मार्ग से तैलंगाना में प्रवेश किया। मार्ग में उसने सिरबर (सिरपुर) के किले को विजय किया और जनवरी 1310 ई. में तैलंगाना की राजधानी वारंगल के निकट पहुँच गया। वारंगल का किला पहले मिट्टी की और उसके बाद एक पत्थर की प्राचीर से सुरक्षित था। उसके चारों तरफ पानी से भरी हुई खाई थी। परन्तु तब भी प्रतापरुद्रदेव द्वितीय अधिक समय तक अपनी रक्षा न कर सका और उसने सन्धि की इच्छा प्रकट की। उसने अपनी एक सोने की मूर्ति बनवाकर और उसके गले में सोने की जंजीर डालकर आत्मसमर्पण-स्वरूप काफूर के पास भेजी। काफूर सन्धि के लिए राजी हो गया। प्रतापरुद्रदेव ने उसे 100 हाथी, 700 घोड़े और अतुल धनराशि प्रदान की, अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार की तथा वार्षिक कर

---

1 "Indeed, Devagiri served as the base for Khalji military operations in the Deccan and the Far South." —Dr. S. Roy.

देना भी स्वीकार किया। लूट में प्राप्त हुई सम्पत्ति को एक हजार ऊँटों पर लादकर मार्च 1310 ई. में काफूर उत्तरी भारत वापस लौटा। कहा जाता है और खफीखाँ ने लिखा है कि इसी अवसर पर प्रतापरुद्रदेव ने काफूर को संसार-प्रसिद्ध 'कोहनूर हीरा' दिया था जिसे काफूर ने सुल्तान अलाउद्दीन को भेंट किया।

**3. होयसल**

काफूर को तैलंगाना से वापस हुए केवल कुछ माह ही हुए थे कि अलाउद्दीन ने नवम्बर 1310 ई. में उसे सुदूर-दक्षिण पर आक्रमण करने के लिए भेजा। फरवरी 1311 ई में काफूर देवगिरि पहुँचा। रामचन्द्रदेव ने उसे हथियारों और रसद की ही सहायता नहीं दी बल्कि अपनी दक्षिणी-सीमा के सेनापति परुसराम (पारसदेव) को काफूर की सहायता के लिए नियुक्त किया। जिस समय काफूर होयसल राज्य की सीमा पर पहुँचा उस समय वीर पांड्य और सुन्दर पांड्य के पारस्परिक झगड़े से लाभ उठाने के लिए वीर बल्लाल तृतीय पांड्य राज्य की सीमाओं पर आक्रमण करने हेतु गया हुआ था। यह सूचना पाकर काफूर ने तुरन्त उसकी राजधानी द्वारसमुद्र पर आक्रमण कर दिया। वीर बल्लाल फौरन लौट कर आया और उसकी प्रार्थना पर वीर पांड्य ने भी अपनी एक सेना उसकी सहायता के लिए भेजी। परन्तु राजधानी के संकट से हतोत्साह होकर अपने सरदारों की सलाह के विरुद्ध वीर बल्लाल तृतीय ने छुटपुट के युद्ध के पश्चात् सन्धि करना स्वीकार कर लिया। उसने अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार कर ली, वार्षिक कर देना स्वीकार किया और काफूर को हाथी, घोड़े और अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति अर्पित कर दी। वीर बल्लाल स्वयं काफूर के सम्मुख उपस्थित हुआ और उसने उसे पांड्य राज्य पर आक्रमण करने के मार्ग को बताने का भी आश्वासन दिया।

**4. पांड्य**

पांड्य राज्य में वीर पांड्य और सुन्दर पांड्य में सिंहासन के लिए झगड़ा हुआ था और अपने भाई से पराजित होकर सुन्दर पांड्य ने सम्भवतया अलाउद्दीन से दिल्ली जाकर अथवा काफूर से जो उस समय दक्षिण में ही था, सहायता माँगी थी। यद्यपि डॉ. बी. पी. सक्सेना इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार काफूर ने दोनों भाइयों के विरुद्ध अभियान किया था। काफूर के आक्रमण का उद्देश्य भी सुदूर-दक्षिण तक पहुँचना था। इस कारण होयसल राज्य में कुछ दिन रहकर वह पांड्य राज्य की सीमाओं पर पहुँच गया। वीर पांड्य अधिक कुशल सिद्ध हुआ। उसने किले में बन्द रहकर युद्ध करना ठीक नहीं समझा और न उसने सामने से शत्रु की शक्तिशाली सेना का मुकाबला किसी एक बड़े युद्ध में किया। उसने शत्रु से छिपकर और स्थान-स्थान पर छुटपुट युद्ध करने की नीति अपनायी। परिणामस्वरूप काफूर को वीर पांड्य से कोई बड़ा युद्ध नहीं करना पड़ा। काफूर ने मार्च 1311 ई. में पांड्य राज्य की सीमा में प्रवेश किया। उसने वीर पांड्य के प्रमुख स्थान 'वीरधूल' पर आक्रमण किया जहाँ उसने लूट-मार की और यहीं वीर पांड्य के 20,000 मुसलमान सैनिक भी उससे मिल गये परन्तु वीर पांड्य वहाँ से जा चुका था। काफूर उसको तलाश करता हुआ कुण्डूर पहुँचा जहाँ उसे खजाना और 120 हाथी तो मिले परन्तु वीर पांड्य वहाँ से भी निकल चुका था। वहाँ से उसने बरमतपुती (ब्रह्मपुरी

या आधुनिक चिदम्बरम) पर आक्रमण किया और 'लिंग महादेव' सोने के मन्दिर को लूटा और बरबाद किया। यहाँ उसे 250 हाथी प्राप्त हुए। काफूर ने श्रीरंगम और कुण्डूर के मन्दिरों को भी लूटा और बरबाद किया। उसके पश्चात् उसने पांड्य राज्य की राजधानी मदुरा पर आक्रमण किया और वहाँ पर भी मन्दिरों को नष्ट किया तथा सम्पत्ति को लूटा। परन्तु वीर पांड्य उसके हाथ नहीं लगा। वीर पांड्य को पकड़ने के काफूर के सभी प्रयत्न असफल हुए। इस कारण पांड्य राज्य ने अलाउद्दीन की अधीनता को स्वीकार नहीं किया। परन्तु काफूर ने बहुत बड़ी मात्रा में सम्पत्ति एकत्र कर ली थी। वीर पांड्य को पकड़ने के प्रयत्न और उसकी असफलता के कारण काफूर ने पांड्य राज्य में अत्यधिक लूट-मार की, बहुत बड़ी मात्रा में जन-संहार किया तथा अनेक मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट किया। सम्भवतया, काफूर रामेश्वरम तक भी गया था परन्तु इसके विषय में कुछ मतभेद हैं। इसामी और बरनी ने इस विषय में कुछ नहीं लिखा है परन्तु अमीर खुसरव ने अपनी पुस्तक 'आशिक' में यह संकेत दिया है कि काफूर ने रामेश्वर के हिन्दू मन्दिर को नष्ट करके वहाँ एक मस्जिद खड़ी की। अप्रैल 1311 ई. में काफूर अपार सम्पत्ति लेकर उत्तरी भारत वापस पहुँचा। धन की दृष्टि से यह आक्रमण काफूर का सबसे सफल आक्रमण था। उस अवसर पर होयसल राजा वीर बल्लाल भी दिल्ली गया जिसे अलाउद्दीन ने धन और सम्मान सहित वापस भेज दिया।

### देवगिरि पर दूसरा आक्रमण

1312 ई. में रामचन्द्रदेव की मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र शंकरदेव (सिंहनदेव द्वितीय) देवगिरि के सिंहासन पर बैठा। सिंहनदेव सर्वदा से दिल्ली के आधिपत्य को मानने के विरुद्ध था और शासक बनते ही उसने दिल्ली से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया तथा एक स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार करने लगा। तैलंगाना के राजा प्रतापरुद्रदेव ने भी अलाउद्दीन से प्रार्थना की कि वह अपने प्रतिनिधि को उससे वार्षिक कर लेने के लिए देवगिरि भेज दे। दिल्ली में अलाउद्दीन की पत्नी 'मलिका-ए-जहान' और उसके भाई अलपखाँ ने काफूर के प्रभाव को कम करने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये थे। इस कारण काफूर स्वयं दक्षिण जाने के लिए उत्सुक था। 1313 ई. में अलाउद्दीन ने उसे देवगिरि पर पुनः आक्रमण करने के लिए भेजा। शंकरदेव (सिंहनदेव) ने काफूर का मुकाबला किया परन्तु युद्ध में मारा गया। इस बार देवगिरि के अधिकांश भाग को दिल्ली राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। क़ाफूर ने वहाँ से तैलंगाना तथा होयसल राज्य के कुछ नगरों और क्षेत्रों पर आक्रमण करके दक्षिण में मुसलमानों के प्रभुत्व और आतंक को स्थापित किया। 1315 ई. में अलाउद्दीन ने काफूर को दिल्ली बुला लिया।

अलाउद्दीन की दक्षिण-विजय न पूर्ण थी और न स्थायी। अलाउद्दीन ने दक्षिण के राज्यों को अपने राज्य में मिलाने की नीति नहीं अपनायी थी। वह उनसे केवल अपने आधिपत्य को स्वीकार कराकर वार्षिक कर चाहता था। इसमें भी उसकी सफलता पूर्ण नहीं थी। देवगिरि और होयसल राज्यों ने निस्सन्देह, उसकी सत्ता को मान लिया परन्तु तैलंगाना के शासक प्रतापरुद्रदेव का व्यवहार सर्वदा शंकापूर्ण रहा और पांड्य शासक वीर पांड्य ने अन्त तक उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की। अलाउद्दीन की विजय स्थायी भी नहीं मानी जा सकती। मलिक काफूर को देवगिरि

पर दुबारा आक्रमण करके शंकरदेव (सिंहनदेव) से युद्ध करना पड़ा, तैलंगाना और कर्नाटक पर आक्रमण करने पड़े और देवगिरि को अपनी सैनिक छावनी बनाना पड़ा। इससे यह स्पष्ट होता है कि दक्षिण के राज्य विजेता के हटते ही दिल्ली सल्तनत के प्रभाव से मुक्त होने की चेष्टा आरम्भ कर देते थे। बाद के समय में मुबारकशाह खलजी और मुहम्मद तुगलक को भी दक्षिण को अपने अधीन रखने के लिए प्रयत्न करने पड़े। अतः यह माना जा सकता है कि अलाउद्दीन के समय की दक्षिणी भारत की विजय अस्थिर थी।

परन्तु तब भी अलाउद्दीन की दक्षिण-नीति सफल थी। उसकी नीति के प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति हो गयी। दक्षिण के अधिकांश राज्यों को दिल्ली की अधीनता स्वीकार करने और वार्षिक कर देने के लिए बाध्य किया गया और उन सभी को पददलित किया गया। अलाउद्दीन दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसकी सेनाओं ने सुदूर-दक्षिण तक आक्रमण किये और सफलता प्राप्त की। दक्षिणी भारत के अनेक ग्रन्थ यह बताते हैं कि हिन्दुओं ने कई स्थानों पर मुसलमानों को परास्त किया परन्तु इन युद्धों से जो परिणाम निकला उससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि हिन्दुओं ने अनेक स्थानों पर मुसलमानों का कड़ा मुकाबला किया परन्तु अन्तिम सफलता मुसलमानों को ही प्राप्त हुई। इस कारण सैनिक दृष्टि से मुसलमानों और उनके सेनापति मलिक काफूर की सफलता अद्वितीय थी। 'वसाफ' ने लिखा है कि "दक्षिण में काफूर की शानदार सफलताओं ने महमूद गजनी की हिन्दुस्तान की विजयों को ढक दिया।"[1] इसके अतिरिक्त काफूर दक्षिणी भारत से इतना अधिक धन लूटकर ले गया कि उसकी तुलना किसी भी लूट से नहीं की जा सकती। अलाउद्दीन का एक लक्ष्य दक्षिणी भारत की संचित सम्पत्ति को लूटना था और वह उसमें पूर्णतया सफल हुआ।

जहाँ तक अलाउद्दीन की दक्षिण-नीति के परिणाम का प्रश्न है, यह कहा गया है कि उसने दक्षिण-भारत में मुस्लिम-सभ्यता के प्रसार में सहायता दी क्योंकि वहाँ एक बड़ी संख्या में व्यक्तियों ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया। यह विचार पर्याप्त मात्रा में उचित है। परन्तु इसी सम्बन्ध में एक अन्य मत भी प्रकट किया गया है। यह कहा गया है कि उसने दक्षिण-भारत में मुसलमानों और इस्लाम के प्रति तीव्र असन्तोष को जन्म दिया। डॉ. मजूमदार ने लिखा है : "उस समय उनके (हिन्दुओं) के पास आक्रमणकारी की विशाल शक्ति के सम्मुख झुकने के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं था परन्तु उनके हृदय में तीव्र असन्तोष व्याप्त हो गया जिसने राजनीतिक दृष्टि से विजयनगर-साम्राज्य का निर्माण करके अभिव्यक्ति प्राप्त की।"[2]

दक्षिण-भारत में काफूर की विजयों के प्रायः वही कारण थे जो उत्तरी भारत में मुसलमानों की सफलता के कारण बने थे। दक्षिण-भारत में एक शक्तिशाली राज्य

---

1 'The brilliant achievements of Kafur in the Deccan eclipsed the victories of Mahmud of Ghazni in Hindustan." —Vassaf.

2 "They (The Hindus) at that time had no alternative except to surrender before the mighty power of the invader but resentment was deeply entrenched in their hearts which, finally, found its political expression in the form of establishment of the Vijayanagara empire." —Dr. R. C. Majumdar.

के स्थान पर चार राज्य थे और उनमें परस्पर शत्रुता थी। वीर पांड्य द्वारा वीर बल्लाल को सैनिक सहायता भेजना ही एकमात्र ऐसा उदाहरण है जबकि दक्षिणी भारत में इन शासकों ने एक-दूसरे की सहायता का ध्यान किया था अन्यथा वे एक दूसरे के विरुद्ध मुसलमानों के सहायक बने थे। जब अलाउद्दीन ने 1296 ई. में देवगिरि पर आक्रमण किया था उस समय राजकुमार शंकरदेव (सिंहनदेव) तीर्थ-यात्रा पर नहीं गया हुआ था बल्कि सेना के अधिकांश भाग को लेकर होयसल राज्य से युद्ध करने के लिए गया हुआ था। जिस समय काफूर ने होयसल राज्य पर आक्रमण किया उस समय वीर बल्लाल पांड्य राज्य पर आक्रमण करने के लिए गया हुआ था और जब काफूर ने पांड्य राज्य पर आक्रमण किया तब सुन्दर पांड्य अपने भाई वीर पांड्य के विरुद्ध काफूर की सहायता कर रहा था। इसके अतिरिक्त रामचन्द्रदेव ने काफूर को तैलंगाना और होयसल राज्य के विरुद्ध सहायता प्रदान की तथा होयसल शासक वीर बल्लाल ने काफूर को वीर पांड्य के विरुद्ध सहायता दी। उत्तरी भारत की भाँति दक्षिण भारत में भी पारस्परिक एकता और मुसलमानी आक्रमणों के अभाव को ठीक प्रकार समझने का सर्वथा अभाव था। उत्तरी भारत के विनाश से दक्षिणी भारत के राज्यों ने कोई सबक नहीं लिया था। गुप्तचर-विभाग की दुर्बलता, सीमाओं की सुरक्षा के प्रति उदासीनता, शत्रु की गतिविधि की सूचना न रखना, किलों में रहकर सुरक्षात्मक युद्ध लड़ना, एक ही युद्ध में अपने राज्य के भाग्य का निर्णय कर डालना आदि उत्तरी भारत के राजपूत शासकों के द्वारा की गयी भूलों की पुनरावृत्ति दक्षिण के शासकों ने भी की। वीर पांड्य के अतिरिक्त रामचन्द्रदेव, प्रतापरुद्रदेव और वीर बल्लाल मलिक काफूर के आक्रमणों के प्रति पूर्णतया असावधान रहे और वे युद्ध के लिए उसी समय तत्पर हुए जबकि काफूर ने उनकी राजधानियों के फाटक खटखटाये। लूट का लालच और इस्लाम धर्म के आधार पर हुई एकता और समानता की भावना भी मुसलमानों की सफलता का कारण बनी, इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु मुसलमानों की सफलता का एक मुख्य कारण अलाउद्दीन की श्रेष्ठ सेना और काफूर का योग्य नेतृत्व था। अलाउद्दीन का सैन्य-संगठन, शस्त्र, अनुभव, युद्ध-नीति आदि सभी दृष्टियों से श्रेष्ठ थी। जिस सेना ने मंगोलों के निरन्तर होने वाले आक्रमणों को विफल कर दिया था, वह श्रेष्ठ थी इसमें सन्देह करने का कोई भी कारण नहीं है। अलाउद्दीन की घुड़सवार सेना तो निश्चय ही बहुत अच्छी थी जिसके बारे में डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "उसकी घुड़सवार सेना की गतिशीलता आश्चर्यजनक थी। उसने दिल्ली से देवगिरि तक की दूरी को प्रायः समाप्त कर दिया था।"[1] मलिक काफूर अपने समय का एक योग्यतम सेनापति सिद्ध हुआ और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अलाउद्दीन के समय में हुई दक्षिणी भारत की विजय का श्रेय बहुत कुछ उसकी योग्यता को ही था।

इस प्रकार अलाउद्दीन ने एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। उत्तर-पश्चिम में सिन्धु नदी उसके राज्य की सीमा थी परन्तु 1306 ई. के पश्चात् काबुल और गजनी तक का क्षेत्र उसके प्रभाव में आ गया था। पूर्व में उसका राज्य अवध तक था। उड़ीसा तथा सम्भवतया (क्योंकि वह विवादपूर्ण है) बंगाल और बिहार उसके राज्य में न थे और न उनकी विजयों का कोई वर्णन प्राप्त होता है। उत्तर में

---

1 "The mobility of his cavalry was staggering; it had almost annihilated the distance between Delhi and Devagiri."
—Dr. K. S. Lal.

कश्मीर उसके राज्य में न था परन्तु पंजाब से लेकर दक्षिण में विन्ध्याचल तक का क्षेत्र उसके राज्य में सम्मिलित था। राजस्थान के शासक उसके अधीन शासक थे और उनके महत्वपूर्ण किलों पर अलाउद्दीन का अधिकार था। गुजरात उसके अधीन
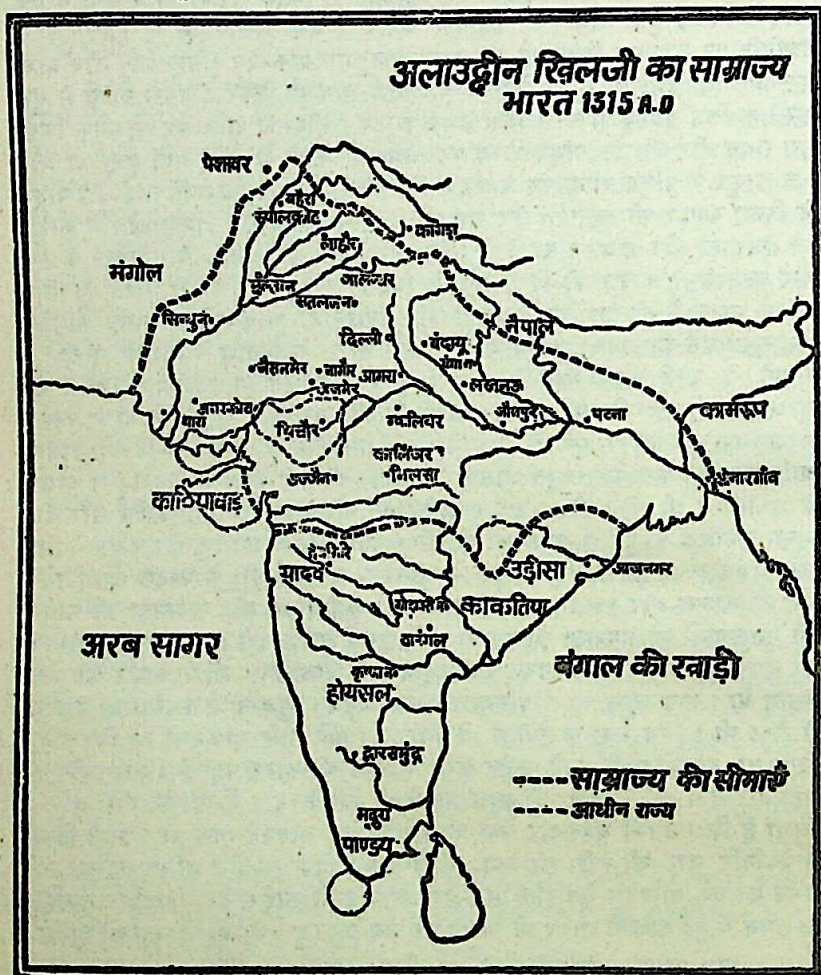
था। दक्षिण में पांड्य राज्य के अतिरिक्त अन्य राज्यों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत को अपने अधिकार में न रखते हुए भी उसने उस समय तक के तुर्की सुल्तानों की तुलना में सबसे अधिक विस्तृत राज्य स्थापित किया था।

## [ 3 ]

## मंगोल-आक्रमण और उत्तर-पश्चिम सीमा-नीति

अलाउद्दीन के समय में भारत की उत्तर-पश्चिम-सीमा से मंगोलों के निरन्तर

आक्रमण हुए। मंगोलों का दबाव सिन्ध और पंजाब पर निरन्तर बढ़ता गया था और ममलूक-सुल्तानों के समय में उनकी सीमाएँ रावी नदी तक हो गयी थीं। गजनी और काबुल उनके अधीन थे जो उनके आक्रमणों के लिए आधार बने हुए थे। जब सुल्तान जलालुद्दीन खलजी के समय में मंगोलों का आक्रमण हुआ था तब भी दिल्ली सुल्तान ने उसमें कोई गौरवपूर्ण भाग नहीं लिया था। अलाउद्दीन के समय में भी कुछ अन्तिम वर्षों को छोड़कर भारत पर मंगोलों के आक्रमण का भय सर्वदा बना रहा।

यद्यपि चंगेजखाँ की मृत्यु के पश्चात् मंगोल-साम्राज्य के विभाजन और उनके नेताओं के पारस्परिक युद्धों के कारण मंगोलों की शक्ति पहले की अपेक्षा दुर्बल हो गयी थी परन्तु तब भी एशिया में मंगोल उस समय तक एक महान् शक्ति थे। इसके अतिरिक्त इस समय में मंगोल-आक्रमणों का उद्देश्य पहले से भिन्न था। जबकि पहले मंगोलों के आक्रमणों का उद्देश्य लूट-मार और अपने प्रभाव का विस्तार मात्र था, अलाउद्दीन के समय में हुए उनके आक्रमणों का उद्देश्य भारत-विजय अथवा प्रतिशोध की भावना थी। मंगोलों की विभिन्न शाखाओं में से पर्शिया (ईरान) के इल-खानों और ट्रान्स-ऑक्सियाना के चगताइयों ने इस समय में भारत पर आक्रमण किये। परन्तु भाग्यवश इन दोनों मंगोल शाखाओं में भी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता थी और दोनों मध्य एशिया में ही नहीं बल्कि भारत में भी एक दूसरे के विरुद्ध साम्राज्य-विस्तार की लालसा करती थीं। मंगोलों के आक्रमण के समय अफगान तथा खोक्खर जातियाँ भी लूट-मार की लालसा से उनके साथ मिल जाती थीं। दिल्ली सुल्तानों से असन्तुष्ट भारतीय अमीर भी कभी-कभी मंगोलों से मिल जाते थे। इस कारण मंगोलों के आक्रमण भारत के लिए एक स्थायी खतरा बने हुए थे।

1297-1298 ई. में ट्रान्स-ऑक्सियाना के शासक दवाखाँ ने एक लाख की सेना कादर के नेतृत्व में भारत पर आक्रमण करने के लिए भेजी। पंजाब में प्रवेश करके उन्होंने लाहौर के समीपवर्ती क्षेत्रों को लूटना आरम्भ किया। अलाउद्दीन ने जफरखाँ और उलुगखाँ को उनके विरुद्ध भेजा जिन्होंने मंगोलों को जालन्धर के निकट परास्त कर दिया। प्रायः 20,000 मंगोल युद्ध में मारे गये, उनके बहुत-से अफसर पकड़कर कत्ल कर दिये गये और बहुत बड़ी संख्या में मंगोल स्त्रियों और बच्चों को गुलाम बनाकर बेच दिया गया।

1299 ई. में सलदी के नेतृत्व में मंगोलों का दूसरा आक्रमण हुआ। सलदी दवाखाँ का भाई था। उसने सेहवान (सिविस्तान) पर अधिकार कर लिया। परन्तु जफरखाँ ने उसे परास्त किया और सेहवान उससे छीन लिया। सलदी और अनेक मंगोल स्त्री-पुरुषों को बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया गया। जफरखाँ की इस विजय से अलाउद्दीन उसकी तरफ से शंकित हो गया। यह विश्वास किया जाता है कि वह उसे दिल्ली बुलाना चाहने लगा अथवा उसे जहर देकर मरवा देने के लिए भी उत्सुक हो गया। अलाउद्दीन का भाई उलुगखाँ भी जफरखाँ से ईर्ष्या करने लगा क्योंकि जफरखाँ की इस विजय ने उसके गुजरात की विजय के यश को ढक दिया। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि मंगोलों के विरुद्ध अगले युद्ध में जफरखाँ की मृत्यु का कारण अलाउद्दीन और उलुगखाँ की ईर्ष्या भी थी।

1299 ई. के अन्त में दवाखाँ ने अपने पुत्र कुतलुग ख्वाजा के नेतृत्व में दो लाख मंगोलों की एक शक्तिशाली सेना को सलदीखाँ की पराजय और मृत्यु का बदला

लेने तथा भारत को विजय करने के लक्ष्य से भेजा। मार्ग में मुल्तान और समाना के सूबेदार ने उन्हें तंग किया परन्तु वे बिना किसी बड़े युद्ध को किये हुए दिल्ली के निकट पहुँच गये। अलाउद्दीन के सामने बड़ी कठिनाई थी। मंगोल दिल्ली के फाटक को खड़खड़ा रहे थे और दिल्ली-सुल्तान से एक बड़ा युद्ध करने के लिए कटिबद्ध थे। उन्होंने छुट-पुट युद्धों में अपनी शक्ति अपव्यय नहीं की थी तथा वे पर्याप्त मात्रा में रसद एकत्र करके दिल्ली पहुँचे थे। इस अवसर पर अलाउद्दीन ने एक योग्य शासक और दृढ़ योद्धा होने का परिचय दिया और उसने अपने मित्र अला-उल-मुल्क की सलाह को भी नहीं माना जिसने सुल्तान को उचित अवसर तक युद्ध न करने की और मंगोलों को तंग करके दुर्बल बनाने की सलाह दी। अलाउद्दीन ने कहा कि "वह दिल्ली की संप्रभुता को किस प्रकार सुरक्षित रख सकता है यदि वह आक्रमणकारी का मुकाबला करने से भयभीत होगा? उसके समकालीन शासक और उसके शत्रु जो दो हज़ार कोस से उससे युद्ध करने आये हैं उसके बारे में क्या कहेंगे यदि वह एक ऊँट की पीठ के पीछे छिपेगा? भविष्य की पीढ़ियाँ उसके बारे में क्या कहेंगी? यदि वह कायरता का अपराधी होगा और मंगोलों को कूटनीति अथवा वार्तालाप से परास्त करने का प्रयत्न करेगा तो वह किसी को अपनी शक्ल दिखाने का अथवा हरम (जनानखाने) में प्रवेश करने का साहस कैसे करेगा? ....जो भी हो, कल मैं कीली के मैदान में जाने के लिए दृढ़-निश्चय हूँ जहाँ मैं कुतलुग ख्वाजा से युद्ध करूँगा।"[1] दूसरे दिन अलाउद्दीन अपनी सेना लेकर कीली के मैदान में पहुँच गया। स्वयं सुल्तान और नसरतखाँ सेना के मध्य भाग में, उलुगखाँ वाम पक्ष पर और जफरखाँ दाहिने पक्ष पर था। जफरखाँ मंगोलों से युद्ध करने के लिए बेचैन था और उसने कुतलुग ख्वाजा को द्वन्द्व-युद्ध की चुनौती दी थी। उसे मंगोलों के वाम पक्ष पर आक्रमण करने के लिए तत्पर होने का आदेश मिला ही था कि उसने आक्रमण कर दिया। उसके पुत्र दिलेरखाँ ने भी मंगोलों पर भीषण हमला किया। केन्द्र पर हुए मंगोलों के आक्रमण को सुल्तान ने विफल कर दिया। परन्तु इस बीच में जफरखाँ के आक्रमण से मंगोलों का वाम पक्ष टूट गया और वे भाग खड़े हुए। थोड़े समय पश्चात् मंगोलों ने जफरखाँ पर भीषण आक्रमण किया और जफरखाँ ने उनका मुकाबला ही नहीं किया बल्कि उनको भागने पर मजबूर किया। जफरखाँ ने 18 कोस तक मंगोलों का पीछा किया परन्तु जब वह उन्हें भगाकर केवल एक हज़ार सैनिकों के साथ वापस लौटा तो तार्गी के नेतृत्व में मंगोलों ने उसे घेर लिया। मंगोलों की संख्या प्रायः दस हज़ार थी परन्तु तब भी बचकर भागने के स्थान पर जफरखाँ ने उनसे भयंकर युद्ध किया और वह तथा उसका एक-एक सैनिक और सरदार उस युद्ध में मारा गया। इस सम्पूर्ण युद्ध

---

1 "How could he hold the sovereignty of Delhi if he shuddered to encounter the invaders? What would his contemporaries and those adversaries who had marched two thousand 'kos' to fight him say. 'when hid himself behind a camel's back'? And what verdict posterity would pronounce on him. How could he dare to show his face to anybody, or even enter the royal 'haram' if he was guilty of cowardice and endeavoured to repel the Mongols with diplomacy and negotiations?...Come what may, I am bent upon marching tomorrow to the plain of Kili where I propose joining in battle with Qutlugh Khwaja." —Alauddin Khalji.

में जफरखाँ की सहायता के लिए न तो अलाउद्दीन गया और न उलुगखाँ। अपने अत्यधिक जोश और सुल्तान अथवा उलुगखाँ से कोई सहायता प्राप्त न होने के कारण जफरखाँ मारा गया तो अपने समय का एक श्रेष्ठ और साहसी सेनापति था। जफरखाँ के शौर्य और भारतीय सेना की दृढ़ता से मंगोल इतने प्रभावित हुए कि वे उसी रात्रि को 30 कोस पीछे हट गये और फिर वापस चले गये। जफरखाँ के शौर्य से मंगोल इतने प्रभावित हुए थे कि बाद में भी यदि मंगोलों के घोड़े पानी पीने से इन्कार करते थे तो मंगोल उनसे यही कहते थे कि क्या तुमने जफरखाँ को देख लिया है जो तुम पानी पीने से इन्कार करते हो ?

मंगोलों का चौथा आक्रमण उस समय हुआ जबकि अलाउद्दीन चित्तौड़ के घेरे से वापस लौटकर दिल्ली पहुँचा ही था। उसकी दिल्ली की सेना अपर्याप्त और दुर्बल स्थिति में थी और एक बड़ी सेना तैलंगाना के आक्रमण (1303 ई.) पर जा चुकी थी। मंगोल नेता तार्गी ने 1,20,000 घुड़सवार लेकर बड़ी शीघ्रता से दिल्ली पर आक्रमण किया। अलाउद्दीन मंगोलों से खुला युद्ध करने की स्थिति में न था। उसने सीरी के किले में अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध किया। मंगोलों ने अलाउद्दीन की सहायता के लिए उत्तर-पश्चिम से आने वाली तथा मलिक जूना और छज्जू के नेतृत्व मे पूर्व से आने वाली सेना के मार्ग को बन्द कर दिया। परन्तु मंगोल घेरा डालकर किलों को जीतने की कला में दक्ष न थे और, सम्भवतया, वे इसके लिए तत्पर होकर भी नहीं आये थे। मध्य-एशिया की राजनीति के कारण वे अधिक समय तक भारत में रह भी नही सकते थे। इन कारणों से दो माह के घेरे के पश्चात् सीरी के किले को जीतने में असफल होकर वे दिल्ली की सड़कों और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों को लूटकर वापस चले गये।

तार्गी के आक्रमण ने अलाउद्दीन को सचेत कर दिया। उसने सीरी के किले को दृढ़ किया, दिल्ली के किले की मरम्मत करायी, सीरी को अपनी राजधानी बनाया, उत्तर-पश्चिम सीमा के पुराने किलों की मरम्मत करायी, कुछ नवीन किले बनवाये, उन किलों में स्थायी सेना रखी, सीमान्त प्रदेश की रक्षा के लिए एक पृथक् सेना और एक सूबेदार (सीमारक्षक) की नियुक्ति की तथा अपनी सेना की संख्या और युद्ध-कुशलता में वृद्धि की।

1305 ई. में अलीबेग और तार्ताक के नेतृत्व में 50,000 की मंगोल सेना ने पुन: आक्रमण किया। पिछले आक्रमण का नेता तार्गी भी उनके साथ सम्मिलित हो गया। सीमा के किलो से बचकर मंगोल अमरोहा तक पहुँच गये। अलाउद्दीन ने मलिक काफूर और गाजी को उनके विरुद्ध भेजा जिन्होंने वापस जाती हुई मंगोल सेना को घेरकर परास्त कर दिया। अलीबेग और तार्ताक कैद करके दिल्ली लाये गये जहाँ उन्हें कत्ल कर दिया गया और उनके सिरों को सीरी के किले की दीवार में चिनवा दिया गया। तार्गी अमरोहा पहुँचने से पहले ही एक युद्ध में मारा जा चुका था। इस युद्ध के पश्चात् गाजी मलिक तुगलक को पंजाब का सूबेदार और सीमारक्षक तथा अलपखाँ को गुजरात का सूबेदार बनाया गया।

1306 ई. अलीबेग और तार्ताक की मृत्यु का बदला लेने के लिए मंगोलों ने पुन: आक्रमण किया। उनकी एक सेना कबक के नेतृत्व में मुल्तान होती हुई रावी नदी की ओर बढ़ी तथा एक अन्य सेना इकबालमन्द और तई-बू के नेतृत्व में नागौर की

तरफ बढ़ी। अलाउद्दीन ने मलिक काफूर और गाजी मलिक तुगलक को उनके विरुद्ध भेजा। मलिक काफूर ने कबक को रावी के तट पर परास्त करके कैद कर लिया और नागौर की ओर बढ़ा। मंगोलों पर अचानक आक्रमण किया गया और वे पराजित होकर भाग गये। कबक के साथ-साथ प्रायः पचास हजार मंगोलों को बन्दी बनाकर दिल्ली लाया गया। सभी मंगोल पुरुषों को हाथियों से कुचलवा कर उनके सिरों की एक मीनार बदायूँ-दरवाजे पर बनायी गयी तथा स्त्री एवं बच्चों को गुलाम बनाकर विभिन्न स्थानों पर बेच दिया गया।

जियाउद्दीन बरनी के अनुसार कन्क, इकबालमन्द और एक अन्य मंगोल नेता ने अलाउद्दीन के समय में विभिन्न अवसरों पर आक्रमण किये थे और इसी कारण मंगोलों के आक्रमण 1306 ई. के पश्चात् भी हुए परन्तु अमीर खुसरव और इसामी के अनुसार 1306 ई. में हुआ मंगोलों का उपर्युक्त आक्रमण अलाउद्दीन के समय का अन्तिम आक्रमण था। डॉ. के. एस. लाल और डॉ. राय भी उसे अन्तिम आक्रमण मानते हैं।

इस प्रकार अलाउद्दीन के समय में मंगोलों के सबसे अधिक और सबसे भयंकर आक्रमण हुए। इसके बावजूद भी अलाउद्दीन ने उनके विरुद्ध सफलता प्राप्त की। भारत पर मंगोल आक्रमण उसके अन्तिम वर्षों में नहीं हुए। यही नहीं बल्कि फरिश्ता और बरनी के कथनानुसार सीमारक्षक गाजी मलिक तुगलक ने काबुल, गजनी और कन्धार तक आक्रमण किये और मंगोलों की सीमा के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में लूट-मार की तथा कर वसूल किया। इसी अग्रगामी नीति के कारण मंगोलों की आक्रमण-कारी शक्ति प्रायः नष्ट हो गयी।

## [ 4 ]

## अलाउद्दीन के अन्तिम दिन तथा मृत्यु

अलाउद्दीन के अन्तिम दिन कष्ट में व्यतीत हुए। अलाउद्दीन 'नवीन मुसल-मानों' (इस्लाम धर्म में परिवर्तित मंगोलों) से असन्तुष्ट था। उसने उन्हें सभी सरकारी पदों से पृथक कर दिया। उन्होंने अलाउद्दीन को कत्ल करने का षड्यन्त्र किया परन्तु उसकी सूचना सुल्तान को मिल गयी। उसने प्रायः 20 या 30 हजार मंगोल पुरुषों का वध करा दिया और उनके बीवी-बच्चों तथा सम्पत्ति को उनके वध करने वालों में बाँट दिया। उस कत्लेआम में अनेक निरपराध व्यक्ति मारे गये।

परन्तु यह अलाउद्दीन की असंयत बुद्धि का एक उदाहरण मात्र था। अथक परिश्रम और बढ़ती हुई आयु ने उसके शरीर और बुद्धि को नष्ट करना आरम्भ कर दिया था। उसने सन्देह के कारण अपने सभी योग्य सरदारों को राजधानी से दूर भेज दिया था और स्वयं अपने परिवार को अपने नियन्त्रण में रखने में असमर्थ ही रहा था। उसका सबसे बड़ा पुत्र खिज्रखाँ भोग-विलासी था, उसकी पत्नी मलिका-ए-जहान उससे उदासीन होकर अपने विलास में मस्त थी और अपने भाई अलपखाँ के साथ मिलकर नाइब काफूर की शक्ति तोड़ने में लगी हुई थी। फरवरी 1312 ई. में खिज्रखाँ का विवाह अलपखाँ की एक पुत्री से कर दिया गया और खिज्रखाँ को सिंहासन का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया गया। 1313 ई. में काफूर देवगिरि के द्वितीय आक्रमण पर चला गया जिसके कारण मलिका-ए-जहान ने अपने दूसरे पुत्र शादीखाँ का विवाह अलपखाँ की दूसरी पुत्री से कर दिया और खिज्रखाँ का विवाह

राजा कर्ण की पुत्री देवलदेवी से कर दिया गया। इस बीच में अलाउद्दीन का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया और जब उसने पाया कि उसकी पत्नी और उसका पुत्र उसकी परवाह नहीं करते तब 1315 ई. में उसने मलिक काफूर को दक्षिण भारत से बुला लिया। परन्तु मलिक काफूर ने सुल्तान की मृत्यु को निकट जानकर स्वयं अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने सुल्तान को विश्वास दिला दिया कि खिज्रखाँ, मलिका-ए-जहान और अलपखाँ उसके शत्रु हैं। इसके पश्चात् जबकि अलाउद्दीन अपने बिस्तर पर बीमार पड़ा हुआ था, मलिक काफूर ने अलपखाँ को महल में ही मार दिया। मलिका-ए-जहान को कैद कर दिया गया तथा खिज्रखाँ को पहले अमरोहा भेजा गया और बाद में ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया। मलिक काफूर राज्य का सर्वेसर्वा बन गया और अलाउद्दीन कुछ न कर सका। ऐसी स्थिति में गुजरात में अलपखाँ की सेना ने विद्रोह कर दिया। जो सेना कमालुद्दीन गुर्ग के नेतृत्व में उसे दबाने के लिए भेजी गयी वह असफल हुई तथा कमालुद्दीन मारा गया। उसी प्रकार चित्तौड़ में हम्मीरदेव ने मालदेव को चुनौती दी तथा देवगिरि में रामचन्द्रदेव के दामाद हरपालदेव ने तुर्कों को बाहर निकालकर अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। ऐसी स्थिति में जबकि अलाउद्दीन का ऐश्वर्य और सत्ता भंग हो रही थी, 5 जनवरी, 1316 ई. को उसकी मृत्यु हो गयी।

## [ 5 ]

## अलाउद्दीन का मूल्यांकन

मध्य-युग के शासकों में अलाउद्दीन एक महत्वपूर्ण शासक था। वह 30 वर्ष की आयु में सिंहासन पर बैठा और 15 वर्ष में ही भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली सुल्तान बन गया। अपने जीवन में शासन और साम्राज्य-विस्तार में अलाउद्दीन की सफलता अद्वितीय थी। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "एक नगण्य स्थिति से उठकर वह मध्य-युग के महान् शासकों में से एक बन गया।"[1]

व्यक्तिगत दृष्टि से अलाउद्दीन स्वार्थी और क्रूर था। वह प्रेम और नैतिकता से रहित था। उसका एकमात्र लक्ष्य सफलता था और उसकी प्राप्ति के लिए वह किसी भी साधन का प्रयोग कर सकता था। 'साध्य से ही साधन का औचित्य सिद्ध होता है', यह उसका विश्वास था। अपने संरक्षक चाचा जलालुद्दीन का वध करके वह सिंहासन पर बैठा तथा उसके पुत्र को उसने अन्धा करके मरवा दिया। जब तक जलाली-सरदार उसके लिए उपयोगी थे, उसने उसे प्रसन्न रखा परन्तु जैसे ही उनकी उपयोगिता नष्ट हो गयी, उसने उन्हें क्रूरता से नष्ट कर दिया। विद्रोही सरदारों के बीबी-बच्चों का वध करने की परम्परा उसी ने आरम्भ की। असहाय मंगोल स्त्रियों और बच्चों का उसने क्रूरता से वध कराया और मंगोलों के सिरों को उसने सीरी के किले की दीवारों में चिनवा दिया। उसकी दण्ड-व्यवस्था बर्बरता के निकट थी। उसने सन्देह मात्र के कारण 'नवीन मुसलमानों' का हजारों की संख्या में वध करा दिया और उनके बीबी-बच्चों तथा सम्पत्ति को उनके वध करने वालों में वितरित कर दिया। अलाउद्दीन को न अपनी पत्नियों से प्रेम था और न अपने बच्चों से

---

1 "From nothingness, the rose to be one of the greatest rulers of medieval Indian." — Dr. K. S. Lal.

जिनकी शिक्षा के प्रति वह सर्वदा उदासीन रहा। अलाउद्दीन के जीवन में दया, क्षमा, सहिष्णुता और उदारता के लिए कोई स्थान न था। यदि वह किसी व्यक्ति से असन्तुष्ट हो जाता था तो उसे नष्ट कर देता था। वह ईर्ष्यालु था और किसी भी व्यक्ति की शक्ति और सम्मान में वृद्धि नहीं होने देता था। वह किसी के प्रभाव में न था और केवल उसके मित्र अला-उल-मुल्क के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति उसे स्पष्ट सलाह देने का साहस नहीं कर पाता था। अलाउद्दीन का विश्वास आतंक, भय, रक्तपात, कठोरता तथा अनुशासन में था और इन्हीं के आधार पर उसने अपनी सत्ता और शासन की नींव रखी। इस कारण इतिहासकार स्मिथ उसको एक क्रूर और अन्यायी शासकों में स्थान देते हैं। वह लिखते हैं कि "वस्तुतः वह (अलाउद्दीन) एक बर्बर और अत्याचारी शासक था जिसके हृदय में न्याय के लिए बहुत कम स्थान था। उसका शासन गुजरात की विजय के समान अन्य अनेक सफल आक्रमणों तथा दो दृढ़ किलों को नष्ट करने वाला होते हुए भी कई दृष्टियों से लज्जापूर्ण था।"[1]

परन्तु अलाउद्दीन एक कर्मठ सैनिक, श्रेष्ठ सेनापति, कुशल कूटनीतिज्ञ, महान् शासन-प्रबन्धक, महान् विजेता तथा शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी सुल्तान था। सफलता उसका उद्देश्य था और वह अपने जीवनपर्यन्त सफल रहा। एलफिन्स्टन ने उसके बारे में लिखा है कि "उसका शासन-काल गौरवपूर्ण था और अनेक मूर्खतापूर्ण तथा क्रूर नियमों के बावजूद भी वह एक सफल शासक था और उसने उचित रूप से अपनी शक्तियों का प्रयोग किया।"[2] अलाउद्दीन ने भिलसा और देवगिरि पर आक्रमण करके अपने चाचा के समय में ही अपनी सैनिक और सेनापति की प्रतिभा का परिचय दिया। दूरस्थ और अनजान राज्य देवगिरि पर आक्रमण करके सफलता प्राप्त करना सैनिक इतिहास में एक अद्वितीय घटना मानी जाती है। यह भी कहना भूल है कि उसके समय की विजयों का श्रेय जफरखाँ, नसरतखाँ, अलपखाँ, उलुगखाँ और मलिक काफूर जैसे उसके सेनापतियों को ही था। निस्सन्देह वे सभी सेनापति महान् थे परन्तु अलाउद्दीन किसी भी प्रकार उनसे कम न था। वे सभी सेनापति उसकी आज्ञा का पालन करते रहे, इसी से यह सिद्ध होता है कि वह सेनापतियों का सेनापति होने की योग्यता रखता था। इसके अतिरिक्त राजपूताने के सभी महत्वपूर्ण युद्धों में स्वयं अलाउद्दीन ने नेतृत्व किया था। रणथम्भौर में जहाँ नसरतखाँ और उलुगखाँ असफल हुए वहाँ सुल्तान स्वयं गया। इसी प्रकार चित्तौड़-विजय का श्रेय भी उसी को था। अलाउद्दीन के व्यक्तिगत साहस और दृढ़ता का परिचय इस उदाहरण से भी स्पष्ट होता है कि जब 1299 ई. में मंगोल नेता कुतलुग ख्वाजा ने युद्ध के लिए दिल्ली के निकट अपने खम्भे गाढ़ दिये तो अलाउद्दीन ने अला-उल-मुल्क की सलाह के विरुद्ध उससे युद्ध करने का निश्चय किया। कीली के युद्ध की विजय का श्रेय जफरखाँ के

---

1 "In reality he (Ala-ud-din) was a particularly savage tyrant with very little regard for justice and his reign though marked by the conquest of Gujrat and many successful raids, like the storming of the two great fortresses, was exceedingly disgraceful in many respects." —V. A. Smith.

2 "His reign was glorious, and inspite of many absurd and oppressive measures he was, on the whole a successful monarch and exhibited a just exercise of his powers." —Elphinstone.

शौर्य को था परन्तु अलाउद्दीन की दृढ़ता और उसका सेनापतित्व भी बहुत कुछ उसके लिए उत्तरदायी था। मंगोलों के चौथे आक्रमण के समय अपने सीमित साधनों से सीरी के किले की सुरक्षा करना भी अलाउद्दीन के सेनापतित्व और नेतृत्व करने की योग्यता का प्रमाण था।

(3) अलाउद्दीन साम्राज्यवादी था। उसने अपने राज्य की सीमाओं का अधिकतम विस्तार किया और जहाँ राज्य-विस्तार नहीं किया वहाँ के शासकों को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। उस परिस्थिति में जबकि मंगोल भारत को विजय और पददलित करने के उद्देश्य से निरन्तर आक्रमण कर रहे थे, अलाउद्दीन की भारत-विजय अद्वितीय थी। उस समय तक दिल्ली का कोई भी सुल्तान इस कार्य को नहीं कर सका था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "अलाउद्दीन ने सफलता से इस दोमुखी कार्य की पूर्ति की। इस खलजी शासक की केवल यह एक सफलता ही पर्याप्त है जिसके कारण उसे 13वीं शताब्दी के अपने सभी पूर्वाधिकारियों के मुकाबले उच्च स्थान मिलना चाहिए। इसलिए उसे भारत का पहला तुर्की सम्राट कहना सर्वथा उचित है।"[1] अलाउद्दीन ने उत्तरी भारत में ही एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना नहीं की बल्कि उसने दक्षिणी भारत के अधिकांश राज्यों को भी अपनी अधीनता मानने के लिए बाध्य किया। इस विस्तृत भूप्रदेश में आक्रमणकारी नीति की सफलता अलाउद्दीन की महान् सफलता थी। दिल्ली सल्तनत का कोई भी सुल्तान इस कार्य की पूर्ति नहीं कर सका था और बाद के यशस्वी मुगल बादशाह बहुत कठिनाई से और एक लम्बे समय में इस कार्य की पूर्ति कर सके।

अलाउद्दीन एक शक्ति-सम्पन्न शासक था। उसने सुल्तान की निरंकुशता को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। उसके मन्त्री, सरदार, सेनापति और शासनाधिकारी उसके सेवक थे, उसके समय में उसका कोई भी सूबेदार विद्रोह नहीं कर सका, उसने सरदारों के प्रभाव को शासन से पूर्णतया नष्ट कर दिया, उसने सरदारों की शक्ति के आधारों को नष्ट करके उनकी विद्रोह करने की क्षमता और उसके साधनों को समाप्त कर दिया, उसके समय में उसकी हिन्दू प्रजा विद्रोह करने में पूर्णतया असमर्थ थी और उसके राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत उसकी आज्ञाओं का निर्विवाद पालन किया जाता था। एक शासक की दृष्टि से वह अपनी प्रजा को शान्ति और सुरक्षा प्रदान कर सका। फरिश्ता ने लिखा है कि "न्याय इतना कठोर था कि चोरी और डकैती जिनका पहले देश में बोलबाला था, अब सुनने को भी नहीं मिलती थी। राजमार्गों पर यात्री निश्चित होकर सोते थे और व्यापारी पूर्ण सुरक्षा के साथ अपना सामान बंगाल के समुद्र से काबुल तक और तैलंगाना से कश्मीर तक ले जा सकते थे।"[2] इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने धर्म को

---

1 "Ala-ud-din successfully accomplished this two-fold task. This alone entitles this Khalji ruler to a place higher than that occupied by any of his predecessors in the thirteenth century. He may, therefore, rightly be called the first Turkish emperor of India."
—Dr. A. L. Srivastava.

2 "Justice was executed with such rigour that robber and theft, formerly so common, were not heard of in the land. The traveller slept secure on the highway and the merchant carried his

राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करने दिया। अलाउद्दीन उलेमा-वर्ग के प्रभाव से मुक्त रहा। निस्सन्देह, उसकी नीति हिन्दुओं के प्रति कठोरता की थी परन्तु इसका कारण धर्म से अधिक राजनीति था। हिन्दुओं को निर्धन और शक्तिहीन किये बिना उनके विद्रोहों को समाप्त करना असम्भव था। इस कारण यह कहा जा सकता है कि हिन्दुओं के प्रति अलाउद्दीन की नीति दिल्ली के अन्य सुल्तानों के समान ही रही थी।

(2) अलाउद्दीन एक महान् शासन-प्रबन्धक था। उसे शासन में नवीन कार्यों और नवीन पद्धतियों को आरम्भ करने का श्रेय है। इस कार्य में उसने किसी से सहायता नहीं ली। निस्सन्देह, वह समय-समय पर अपने सरदारों से सलाह किया करता था परन्तु उनमें से कोई भी उसकी शासन सम्बन्धी नीतियों के लिए उत्तरदायी न था। एकमात्र अला-उल-मुल्क ऐसा था जिसकी सलाह का वह सम्मान करता था, किन्तु अला-उल-मुल्क अलाउद्दीन द्वारा शासन में नवीन प्रयोगों के आरम्भ किये जाने से पहले ही मर चुका था। अलाउद्दीन ने एक शक्तिशाली सेना का संगठन किया। केन्द्र पर एक विशाल स्थायी सेना की नियुक्ति, घोड़ों को दागने की प्रथा, सैनिकों का हुलिया रखा जाना आदि उसकी नवीन विशेषताएँ थीं। भूमि की पैमाइश कराकर सरकारी कर्मचारियों द्वारा लगान वसूल करने की व्यवस्था भी सर्वप्रथम उसी ने आरम्भ की। बाजार-नियन्त्रण तो एकमात्र उसी के शासन की विशेषता रही। सम्पूर्ण शासन को एक सूत्र में बाँधने का श्रेय भी अलाउद्दीन को है। उसके शासन-प्रबन्ध की सफलता पर दृष्टिपात करते हुए डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "सल्तनत के समय में अलाउद्दीन अपने पूर्वाधिकारियों अथवा उत्तराधिकारियों दोनों से श्रेष्ठ है।"[1]

(1) अलाउद्दीन महत्वाकांक्षी था परन्तु व्यावहारिक और कूटनीतिज्ञ भी था। इस कारण वह सफल रहा। उसकी महत्वाकांक्षाओं ने उसे प्रेरणा और दृढ़ता प्रदान की और उसकी व्यावहारिकता ने उसकी महत्वाकांक्षाओं को सीमा में बाँधकर रखा। नवीन धर्म को आरम्भ करने और संसार को विजय करने के स्वप्न को उसने त्याग दिया, दक्षिण के राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित करना उसने व्यावहारिक समझा और रामचन्द्रदेव तथा वीर बल्लाल के प्रति उसके कूटनीतिक व्यवहार ने उसे उसकी दक्षिण-विजय के लिए अच्छे सहयोगी प्रदान किये। किस अवसर पर छल अथवा कूटनीति तथा किस अवसर पर शौर्य और शक्ति हितकर होगी, इसका उसे ज्ञान था। यदि ऐसा न होता तो अलाउद्दीन सफल किस प्रकार होता?

धार्मिक → व्यक्तिगत दृष्टि से अलाउद्दीन मुसलमान था। धर्म में उसकी आस्था थी और वह धार्मिक व्यक्तियों का सम्मान करता था। शेख निजामउद्दीन औलिया और मुहम्मद शमसुद्दीन तुर्क का उसने सर्वदा सम्मान किया यद्यपि वह न कभी रोजे (व्रत) रखता था और न शुक्रवार की सामूहिक नमाज में सम्मिलित होता था। अशिक्षित होते हुए भी अलाउद्दीन विद्वानों का सम्मान करता था और ललित-कलाओं को उसने संरक्षण प्रदान किया। उसके दरबार में विभिन्न विद्वान थे, जिनमें अमीर

---

commodities with safety from the Sea of Bengal to the mountains of Kabul and from Telingana to Kashmir." —Ferishta.

1 "Ala-ud-din stands head and shoulder above his predecessors or successors in the Sultanate." —Dr. K. S. Lal.

खुसरव और अमीर हसन देहलवी जैसे प्रख्यात विद्वान भी सम्मिलित थे। उसने सीरी का किला, हजारखम्भा महल तथा अनेक तालाब और सरायें बनवायीं तथा कुतुब-मीनार के निकट उसके द्वारा बनवाया गया 'अलाई-दरवाजा' प्रारम्भिक तुर्की कला का एक श्रेष्ठ नमूना माना गया है।

परन्तु अलाउद्दीन की मुख्य दुर्बलता यह थी कि उसका शासन और राज्य शक्ति एवं आतंक पर आधारित था। इस कारण वह उसकी मृत्यु के पश्चात् तुरन्त नष्ट हो गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् न तो उसकी विशाल सेना रही, न उसकी बाजार-व्यवस्था और न ही उसकी लगान-व्यवस्था। यही नहीं बल्कि नागरिक और सरदार उसकी मृत्यु और शासन की समाप्ति से प्रसन्न हुए तथा स्थायित्व के गुणों के अभाव के कारण उसका राजवंश भी कुछ ही वर्षों में नष्ट हो गया। परन्तु तब भी यह कहा जा सकता है कि इसका उत्तरदायित्व यदि अलाउद्दीन पर था तो उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों पर भी था। अलाउद्दीन की तो बात क्या, किसी भी प्रकार की शासन-व्यवस्था दुर्बल सुल्तानों के संरक्षण में सफल नहीं हो सकती थी। इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन के शासन के सिद्धान्त तो उसकी मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहे। आगे होने वाले शासकों में से कई ने उसके विभिन्न शासन-सिद्धान्तों, मुख्यतया उसके सैनिक सुधारों को अपनाया और लाभ प्राप्त किया।

इस कारण उसके शासन और राजवंश की अस्थिरता उसके दोषों को प्रकट करतीं हुई भी इतिहास में उसके स्थान को गिरा नहीं सकती। मध्य-युग के शासकों में अलाउद्दीन का एक श्रेष्ठ स्थान है। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "यदि अलाउद्दीन के कार्यों तथा सफलताओं की निष्पक्ष दृष्टिकोण से समीक्षा की जाय तो कहना पड़ेगा कि दिल्ली के मध्ययुगीन शासकों में उसका उच्च स्थान है।"[1] हैवेल ने लिखा है कि "अलाउद्दीन अपने युग से बहुत आगे था। उसके बीस वर्ष के शासन-काल में कई ऐसी बातें हैं जिनकी समता हम अपने आधुनिक समय से कर सकते हैं।"[2] डॉ. एस. रॉय जिन्होंने उसके व्यक्तित्व और चरित्र की समीक्षा करना कठिन बताया है, लिखते हैं कि "अलाउद्दीन प्रथम मुस्लिम साम्राज्यवादी और भारत का प्रथम महान् मुसलमान शासन-प्रबन्धक था। भारत में मुस्लिम साम्राज्य और मुस्लिम शासन का इतिहास वस्तुतः उसी से आरम्भ होता है।"[3]

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. "अलाउद्दीन के शासन-काल में शासन का केन्द्रीकरण और निरंकुशता अपनी

---

1 "A balanced view of Ala-ud-din's work and achievement must give him a high place among the rulers of Delhi during the medieval age." —Dr. A. L. Srivastava.

2 "Ala-ud-din was for advanced of his age. In his reign of twenty years, there are many parallels with the evnts of our own time." —E. B. Havell.

3 "Ala-ud-din was the first Muslim imperialist and the first Muslim administrator of India. The history of the Muslim empire and Muslim administration in India really begins with him." —Dr. S. Roy.

चरम सीमा पर पहुँच गयी।" उपर्युक्त कथन के आधार पर अलाउद्दीन के राजस्व सिद्धान्त और उसके व्यावहारिक प्रयोग का वर्णन कीजिए।

2. अलाउद्दीन के प्रारम्भिक समय के विद्रोहों का वर्णन कीजिए। विद्रोहों को समाप्त करने के लिए अलाउद्दीन ने क्या उपाय किये? वे उपाय कहाँ तक सफल हुए?
3. अलाउद्दीन की राजस्व तथा लगान-व्यवस्था का वर्णन कीजिए। वह कहाँ तक सफल रही?
4. "गाँवों में दो वर्गों के परस्पर झगड़ों का लाभ उठाते हुए अलाउद्दीन ने जान-बूझकर शक्तिशाली के विरुद्ध दुर्बल का समर्थन करके पूर्णतः न्यायोचित कार्य किया।" अलाउद्दीन की लगान-व्यवस्था पर दृष्टिपात करते हुए क्या हम इस निर्णय को स्वीकार कर सकते हैं?
5. अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था क्या थी? वह कहाँ तक सफल रही?
6. अलाउद्दीन का उद्देश्य व्यापारी-वर्ग द्वारा चालाकी के विभिन्न साधनों के प्रयोग से वस्तुओं के मूल्यों में हो रही वृद्धि को रोकना था, न कि सामान्यतया प्रचलित मूल्यों में कमी करना।" उपर्युक्त कथन के आधार पर अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था के कारणों पर प्रकाश डालिये। उसने मूल्य-वृद्धि को रोकने के लिए क्या प्रयत्न किये और वे कहाँ तक सफल हुए?
7. अलाउद्दीन के चित्तौड़ पर आक्रमण करने का क्या कारण था? क्या 'पद्मावत्' पर आधारित पद्मिनी की कहानी को सत्य स्वीकार किया जा सकता है?
8. अलाउद्दीन की दक्षिण-नीति क्या थी? वह कहाँ तक सफल रही?
9. अलाउद्दीन की दक्षिण-नीति के क्या उद्देश्य थे? क्या वह उनकी पूर्ति में सफल रहा?
10. अलाउद्दीन के शासन-काल में हुए मंगोल-आक्रमणों और उनके परिणामों पर विचार कीजिए?

# 10
# कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी और खलजी-वंश का पतन

[ 1 ]

## कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी (1316-1320 ई. )

मलिक काफूर के प्रभाव के कारण अपनी मृत्यु के अवसर पर अलाउद्दीन ने अपने बड़े पुत्र खिज्रखाँ को राज्याधिकार से वंचित करके अपने पाँच या छः वर्ष के छोटे पुत्र शिहाबुद्दीन उमर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। मलिक काफूर ने उस अल्पायु बच्चे को सिंहासन पर बैठा दिया, स्वयं उसका संरक्षक बन गया और राज्य की सम्पूर्ण शक्ति हस्तगत कर ली। उसने शिहाबुद्दीन की माँ से विवाह कर लिया जो देवगिरि के शासक रामचन्द्रदेव की पुत्री थी। परन्तु उसने शीघ्र ही उसको (अपनी नव-विवाहित पत्नी की) धन-सम्पत्ति को छीनकर उसे कारागार में डलवा दिया। उसने खिज्रखाँ और शादीखाँ को ग्वालियर के किले में कैद करके अन्धा करा दिया। अलाउद्दीन के अन्य पुत्र भी कारागार में डाल दिये गये। सम्भवतया, काफूर का लक्ष्य अलाउद्दीन के सभी पुत्रों को समाप्त करके शीघ्र ही सिंहासन को हस्तगत कर लेने का था।

परन्तु काफूर 35 दिन से अधिक शासन-सत्ता का उपभोग न कर सका। उसके व्यवहार और शक्ति के दुरुपयोग से अधिकांश सरदार उससे असन्तुष्ट हो गये। मलिक काफूर खलजी-वंश के प्रति वफादार सरदारों को भी समाप्त करना चाहता था। इससे वे सरदार अपनी सुरक्षा के लिए चिन्तित हो उठे। सरदारों की तरफ से असावधान काफूर ने कुछ सैनिकों को अलाउद्दीन के तीसरे पुत्र मुबारकखाँ को अन्धा करने के लिए भेजा। मुबारक ने अपना हीरों का हार उन्हें भेंट में दिया और साथ ही उन्हें खलजी-वंश के प्रति वफादाइ रहने के उत्तरदायित्व की याद दिलायी। धन के लालच और भावना से प्रेरित होकर वे पैदल सैनिक और उनके नेता काफूर के पास पहुँचे और उसका कत्ल कर दिया। मुबारकखाँ को कारागार से छुड़ाकर शिहाबुद्दीन का संरक्षक बनाया गया। दो माह में सरदारों को अपने पक्ष में करके मुबारकखाँ ने अपनी स्थिति दृढ़ कर ली, शिहाबुद्दीन को अन्धा करके ग्वालियर के किले में कैद करा दिया और 19 अप्रैल, 1316 को वह कुतुबुद्दीन मुबारक के नाम से दिल्ली का सुल्तान बन गया।

जिन सैनिकों और उनके सरदारों ने काफूर का कत्ल किया था उन्होंने राज्य में हस्तक्षेप करना चाहा और उच्च पदों की लालसा प्रकट की। इसके कारण उनके नेताओं का वध कर दिया गया और उनके सैनिकों को छोटी-छोटी टुकड़ियों में

बाँटकर सूबों में भेज दिया गया। इस घटना के अतिरिक्त मुबारक का शासन उदारता से आरम्भ हुआ। जिस दिन वह सिंहासन पर बैठा, उसी दिन करीब 17 या 18 हजार कैदी कारागार से मुक्त कर दिये गये और धीरे-धीरे अलाउद्दीन के समय के सभी कठोर कानून समाप्त कर दिये गये। जिन व्यक्तियों को राजधानी से बाहर भेज दिया गया था, उन्हें वापस आने की आज्ञा मिल गयी, सैनिकों को छः माह का अग्रिम वेतन दिया गया, सरदारों और विद्वानों के वेतन एवं जागीरों में वृद्धि की गयी, अनेक व्यक्तियों को उनसे छीनी गयी जागीरें वापस कर दी गयीं, कठोर दण्ड-व्यवस्था व कर समाप्त कर दिये गये, शासन की कठोरता और गुप्तचर-विभाग का कठोर अनुशासन समाप्त कर दिया गया और यद्यपि शराब के कानून को समाप्त नहीं किया गया परन्तु उनका व्यावहारिक प्रयोग समाप्त हो गया। इस प्रकार अलाउद्दीन के समय के सब कठोर कानून समाप्त हो गये तथा प्रजा और सरदारों ने चैन की साँस ली। परन्तु इन कानूनों की समाप्ति से दुष्परिणाम भी निकले। सभी वस्तुओं के मूल्य बढ़ गये, व्यापारियों ने अधिकतम लाभ प्राप्त करना आरम्भ कर दिया, शासन में शिथिलता आ गयी और क्योंकि सुल्तान स्वयं ऐशपसन्द था अतः सरदार और नागरिक भी ऐशोआराम की ओर झुक गये।

### गुजरात के विद्रोह की समाप्ति

अलाउद्दीन के अन्तिम समय में अलपखाँ के कत्ल के पश्चात् उसके वफादार सैनिकों और सरदारों ने दिल्ली से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था। मलिक काफूर ने आईन-उल-मुल्क को उस विद्रोह को दबाने के लिए भेजा था परन्तु काफूर की शीघ्र ही हत्या हो जाने के कारण आईन-उन-मुल्क राजपूताना में रुक गया। मुबारक ने गाजी मलिक तुगलक को उसकी सहायता के लिए भेजा और गुजरात के विद्रोह को समाप्त करने की आज्ञा दी। आईन-उल-मुल्क ने गुजराती सैनिकों और सरदारों में फूट डलवा दी और अन्त में एक युद्ध में उन्हें परास्त करके गुजरात पर अधिकार कर लिया। मुबारक ने अपने श्वसुर जफरखाँ (मलिक दीनार) को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया।

### देवगिरि की पुनर्विजय

मलिक काफूर की मृत्यु होते ही देवगिरि राज्य दिल्ली की अधीनता से मुक्त हो गया और रामचन्द्रदेव के दामाद हरपालदेव ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। 1318 ई. में मुबारक स्वयं एक बड़ी सेना को लेकर देवगिरि गया। हरपालदेव भाग खड़ा हुआ परन्तु कुछ छोटे युद्धों के पश्चात् पकड़ा गया और उसका वध कर दिया गया। देवगिरि में एक सूबेदार को नियुक्त करके तथा खुसरव को तैलंगाना और सुदूर-दक्षिण तक आक्रमण करने की आज्ञा देकर सुल्तान दिल्ली की ओर वापस लौटा।

### षड्यन्त्र और विद्रोहियों का दमन

जिस समय मुबारक दिल्ली वापस लौट रहा था उस समय उसके चचेरे भाई असदउद्दीन ने उसे कत्ल करने का प्रयत्न किया। उस षड्यन्त्र में दिल्ली के कुछ सरदार भी अवश्य सम्मिलित थे। यह निश्चित नहीं है कि षड्यन्त्रकारियों का उद्देश्य असदउद्दीन अथवा मुबारक द्वारा दिल्ली की रक्षा हेतु छोड़े गये संरक्षक वफा मलिक अथवा खिज्रखाँ के दसवर्षीय पुत्र को सुल्तान बनाने का था। परन्तु इस षड्यन्त्र का

पता लग गया और मुबारक ने असदउद्दीन तथा उनके सहयोगी षड्यन्त्रकारियों को पकड़कर कत्ल करा दिया। मार्ग में ही उसने असदउद्दीन के सभी सम्बन्धियों तथा अपने भाई खिज्रखाँ, शादीखाँ और शिहाबुद्दीन को भी कत्ल करने के आदेश दे दिये। वे सभी मारे गये और दिल्ली पहुँचकर मुबारक ने वफा मलिक को तथा गुजरात से जफरखाँ को बुलाकर उन्हें भी कत्ल करा दिया।

जफरखाँ ने गुजरात से चले जाने के पश्चात् हिसामउद्दीन को वहाँ का सूबेदार बनाया गया। उसने विद्रोह किया परन्तु गुजरात के सरदारों ने उस विद्रोह को समाप्त करके हिसामउद्दीन को पकड़कर दिल्ली भेज दिया। वह मुबारक के कृपापात्र खुसरवखाँ का भाई था, इस कारण उसे माफ कर दिया गया।

इसी समय देवगिरि के सूबेदार ने विद्रोह किया और शमसुद्दीन के नाम से स्वतन्त्र सुल्तान बन गया। परन्तु दिल्ली से भेजी गयी एक सेना ने विद्रोह को दबा दिया और शमसुद्दीन को दिल्ली भेज दिया गया जहाँ उसके नाक-कान काट दिये गये। साथ ही उसके समर्थकों को भी कठोर दण्ड दिये गये।

इस बीच खुसरव ने तैलंगाना के प्रतापरुद्रदेव को परास्त करके अधीनता मानने और धन देने के लिए बाध्य किया था। उसके पश्चात् वह सुदूर दक्षिण में मलाबार प्रदेश में गया। वहाँ उसे कोई बड़ा युद्ध तो नहीं करना पड़ा परन्तु उसे सन्धि करने वाला कोई शासक भी प्राप्त नहीं हुआ। खुसरव को दक्षिणी भारत में बहुत सम्पत्ति मिली और वह मालाबार में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के स्वप्न देखने लगा। इसकी सूचना कुछ वफादार सरदारों ने सुल्तान को दी और सुल्तान ने खुसरव को दिल्ली बुला लिया। परन्तु सुल्तान खुसरव से इतना अधिक प्रभावित था कि उसने उसे दण्ड देने के स्थान पर उन सरदारों को दण्ड दिया जिन्होंने खुसरव की लालसाओं की सूचना सुल्तान को दी थी।

## मुबारक का कत्ल

प्रारम्भिक सफलता और मुख्यतया देवगिरि के अभियान ने मुबारक की बुद्धि पलट दी और असदउद्दीन के षड्यन्त्र ने उसे सन्देही बना दिया। वह शासन के प्रति उदासीन और व्यवहार में क्रूर हो गया। उसने सन्देह में अपने भाई और कुछ योग्य सरदारों का वध करा दिया तथा खुसरव के प्रभाव में आकर कुछ वफादार सरदारों को दण्डित किया। वह सुल्तान की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल भोग-विलास में लिप्त हो गया। उसने अपने भाई खिज्रखाँ की विधवा पत्नी देवलदेवी से विवाह कर लिया। उसे नग्न स्त्री-पुरुषों की संगत पसन्द थी। वह अत्यधिक शराब पीने लगा तथा स्त्रियों के वस्त्र पहनकर दरबार में आने लगा। बरनी के कथनानुसार "वह कभी-कभी नग्न होकर अपने दरबारियों के बीच में दौड़ा करता था।" दरबार में स्त्रियों, वेश्याओं और चाटुकारों का प्रभाव हो गया तथा प्रतिष्ठित सरदारों का सम्मान कम होने लगा। ऐसी स्थिति में भी भय के कारण कोई सरदार सुल्तान को सलाह भी न दे सका। परन्तु मुबारक की सबसे बड़ी भूल खुसरवखाँ से मोह करना तथा उस पर अत्यधिक विश्वास करना था। उसने उसे वजीर का पद दिया। खुसरव ने सुल्तान से अपने गुजराती सैनिकों की सेना तैयार करने की आज्ञा प्राप्त कर ली जिसकी संख्या 40,000 हो गयी। उसने अपने सम्बन्धियों और मित्रों को महल के निकट रहने तथा रात्रि में उसके लिए महल में प्रवेश करने की आज्ञा भी प्राप्त करली। अपने

एक अध्यापक काजी जियाउद्दीन के द्वारा स्पष्ट रूप से समझाये जाने पर भी मुबारक ने खुसरव पर सन्देह नहीं किया बल्कि काजी का ही अपमान किया। 15 अप्रैल, 1320 ई. की रात्रि को खुसरव के सैनिकों ने महल में अचानक प्रवेश करके सुल्तान के शरीर-रक्षकों का कत्ल कर दिया। सुल्तान ने कुछ शोरगुल होने पर खुसरव से पूछा कि इसका क्या कारण है। खुसरव के यह कहने पर कि छूटे हुए घोड़ों को पकड़ने के कारण शोरगुल हो रहा है, सुल्तान सन्तुष्ट हो गया। इतने में ही खुसरव के आदमी सुल्तान के कमरे के निकट पहुँच गये। उस समय सुल्तान को वास्तविकता का ज्ञान हुआ और प्राण-रक्षा हेतु जनानखाने की ओर भागा। खुसरव ने उसके बाल पकड़ लिये परन्तु सुल्तान उसे गिराकर उसकी छाती पर बैठ गया। तभी वहाँ हत्यारे पहुँच गये और उन्होंने सुल्तान को कत्ल कर दिया तथा उसके सिर को काटकर चौक में फेंक दिया। इस प्रकार सुल्तान मुबारक का अन्त हुआ।

मुबारक अपने योग्य पिता का अयोग्य पुत्र था। विलासप्रियता और दम्भ ने उसकी बुद्धि और विवेक को नष्ट कर दिया था। वह अपनी मूर्खता के कारण स्वयं के और अपने वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ। अपने पिता से उसने एक शक्तिशाली, विस्तृत और समृद्धिशाली साम्राज्य प्राप्त किया परन्तु उसने बहुत शीघ्र ही उसे खो दिया। उसने स्वयं को खलीफा घोषित किया था और 'अल-इमाम', 'उल-इजाम', 'खलीफत-उल-लह' आदि की उपाधियाँ ग्रहण की थीं जिनके वह सर्वथा अयोग्य था। मुबारक न तो योग्य शासक था और न ही योग्य व्यक्ति। उसे अपने कार्यों के अनुकूल मृत्यु प्राप्त हुई।

[ 2 ]

## नासिरुद्दीन खुसरवशाह (15 अप्रैल—7 सितम्बर, 1320 ई.)

खुसरवशाह हिन्दू धर्म से परिवर्तित मुसलमान था और उसे गुजराती हिन्दू सैनिकों का समर्थन प्राप्त था। यही उसका सबसे बड़ा दोष बना। यद्यपि वह बचपन में मुसलमान बन गया था, उसने दक्षिण के युद्धों में इस्लामी जोश का परिचय दिया था, अपने नाम से खुतबा पढ़वाया था और 'पैगम्बर का सेनापति' की उपाधि ग्रहण की थी परन्तु तब भी उसके शत्रुओं ने उसके विरुद्ध 'इस्लाम का शत्रु' और 'इस्लाम खतरे में है' के नारे लगाये। अमीर खुसरव और गियासुद्दीन बरनी द्वारा उस पर इस्लाम के विरुद्ध कार्य करने के आरोपों का कोई आधार नहीं है। यह भी प्रमाणित नहीं है कि वह नीच कुल में उत्पन्न था। उसका जन्म उच्च कुल में नहीं हुआ था यह सत्य है। परन्तु यह माना जाता है कि गुजरात की किसी एक बहादुर जाति में उसका जन्म हुआ था। यह अन्य बात है कि वह जाति किसी राजवंश से सम्बन्धित न थी। बचपन में ही मुसलमान बनाये जाने के बाद वह अन्त तक मुसलमान रहा, इसमें भी सन्देह नहीं किया जा सकता।

सुल्तान बनने के पश्चात् खुसरव ने उन सरदारों का वध करा दिया जो खलजी-वंश के प्रति अत्यधिक वफादार थे। उसने अपने सिंहासन की सुरक्षा के लिए अलाउद्दीन के बचे हुए पुत्रों का भी वध करा दिया और मुबारकशाह की विधवा (सम्भवतया पहले खिज्रखाँ की विधवा देवलदेवी) से विवाह कर लिया। उसने अन्य सभी सरदारों को सम्मान और पद देकर अपने पक्ष में कर लिया तथा निजामुद्दीन औलिया जैसे धार्मिक व्यक्तियों का नैतिक समर्थन भी प्राप्त कर लिया।

परन्तु कुछ सरदार उससे असन्तुष्ट रहे। यह वे सरदार थे जो तुर्कों की जातीय श्रेष्ठता में विश्वास करते थे तथा एक भारतीय मुसलमान का सुल्तान बनना बर्दाश्त न कर सके। गाजी मलिक तुगलक ने इसका लाभ उठाना चाहा। वह दिपालपुर का सूबेदार और सीमा-रक्षक था। वह स्वयं महत्वाकांक्षी था और उसका पुत्र जूनाखाँ दिल्ली के तुर्की सरदारों में प्रभावशाली था। गाजी मलिक ने पहले आईन-उल-मुल्क तथा सिबिस्तान, मुल्तान और समाना के सूबेदारों को विद्रोह के लिए आमन्त्रित किया परन्तु जब उनमें से कोई भी उनके साथ नहीं हुआ तो उसने छोटे अधिकारियों और उन प्रदेशों की जनता को इस्लाम के नाम से विद्रोह के लिए उकसाया। मुस्लिम जनता और सीमाप्रान्त के निम्न सैनिक अधिकारी उसके साथ हो गये तथा उसका पुत्र जूनाखाँ चुपके से भागकर उसके साथ मिल गया इसके पश्चात् गाजी मलिक तुगलक दिल्ली की ओर बढ़ा। मार्ग में समाना के सूबेदार मलिक यकलाकी ने उसका मुकाबला किया परन्तु वह परास्त हो गया। सिरसा के निकट खुसरवशाह के भाई हिसामुद्दीन ने उसका मुकाबला किया परन्तु वह भी परास्त हुआ और भाग खड़ा हुआ। दिल्ली के बाहर इन्द्रप्रस्थ के निकट स्वयं खुसरवशाह ने उसका मुकाबला किया। उस अवसर पर 'आईन-उल-मुल्क' अपनी सेना को लेकर मालवा की तरफ चला गया। युद्ध में खुसरवशाह ने साहस और बहादुरी का परिचय दिया परन्तु उसकी पराजय हुई और वह भाग खड़ा हुआ। तिलपट के निकट उसे पकड़ लिया गया तथा वहीं उसका वध कर दिया गया। 7 सितम्बर को गाजी मलिक ने अलाउद्दीन के हजार स्तम्भों वाले महल में प्रवेश किया और बहाने के तौर पर यह पता लगाया कि खलजी-वंश का कोई उत्तराधिकारी तो जीवित न था। 8 सितम्बर, 1320 ई. को वह गियासुद्दीन तुगलक के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा।

इस प्रकार खुसरवशाह के 4½ माह के शासन का अन्त हुआ। खुसरव भ्रष्ट था, अपने मालिक के प्रति उसने वेबफाई की थी और उसने उसे और उसके वंश को नष्ट किया था। एक योग्य शासक के गुणों का भी उसमें अभाव था। परन्तु इस्लाम के विरुद्ध कार्य करने का आरोप उस पर नहीं लगाया जा सकता। वह असफल हुआ परन्तु उसकी असफलता का कारण उसका इस्लाम के विरुद्ध कार्य करना था बल्कि गाजी मलिक तुगलक की महत्वाकांक्षा, उसका श्रेष्ठ तुर्की नस्ल का दावा और उसकी सैनिक शक्ति थी।

## [ 3 ]
## खलजी-वंश के पतन के कारण

जलालुद्दीन और अलाउद्दीन रक्तपात के द्वारा गद्दी पर बैठे थे और रक्तपात के द्वारा ही उनके वंश का नाश हुआ। मुख्यतया अलाउद्दीन ने शक्ति और आतंक के आधार पर शासन किया था और शक्ति के आधार पर ही उस शासन की सुरक्षा सम्भव थी। उसके शासन से सरदार और नागरिक भयभीत थे परन्तु सन्तुष्ट कोई न था। इस कारण स्थायित्व के तत्वों का उसमें सर्वथा अभाव था। कुतुबुद्दीन मुबारक अयोग्य था परन्तु अलाउद्दीन जैसा शासक सर्वदा सिंहासन पर नहीं हो सकता था। शासन के प्रति प्रेम, श्रद्धा और स्थायी बफादारी प्राप्त करना ही शासन को स्थायित्व प्रदान करने वाले तत्व हो सकते थे। अलाउद्दीन ने यह कार्य नहीं किया। अतएव उसका कठोर शासन उसके वंश के पतन के लिए उत्तरदायी था। परन्तु उससे भी

अधिक उसका उत्तराधिकारी मुबारक अपने वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ। मुबारक अयोग्य और विलासी ही नहीं वल्कि मूर्ख भी सिद्ध हुआ। ऐसे शासक और उसके वंश का पतन मध्य-युग में पूर्णतया स्वाभाविक था।

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी के शासनकाल पर दृष्टिपात करते हुए खलजी-वंश के पतन के कारणों पर प्रकाश डालिए।

# 11

# गियासुद्दीन तुगलक : 1320-1325 ई.

गियासुद्दीन तुगलक ने एक नवीन राजवंश की नींव डाली परन्तु यह कहना भूल है कि 'तुगलक' किसी नस्ल अथवा वंश का नाम था। गियासुद्दीन का नाम गाजी तुगलक अथवा गाजी बेग तुगलक था। इस कारण इतिहास में उसके उत्तराधिकारियों को भी 'तुगलक' पुकारा जाने लगा और उसका वंश तुगलक-वंश कहलाया अन्यथा उसके पुत्र मुहम्मद ने अपने को मुहम्मद बिन-तुगलक (तुगलक का पुत्र) पुकारा और उसके किसी अन्य उत्तराधिकारी ने अपने नाम के साथ 'तुगलक' शब्द का प्रयोग नहीं किया। इब्न-बतूता ने तुगलकों को तुर्कों की 'कराना' शाखा का बताया। मलिक ने उनको मिश्रित रक्त का बताया। अमीर खुसरव ने लिखा है कि स्वयं सुल्तान गियासुद्दीन ने अपने बारे में कहा था कि वह एक साधारण वंश का व्यक्ति है। इस कारण फरिश्ता की धारणा सत्य के अधिक निकट प्रतीत होती है। फरिश्ता के अनुसार उसका पिता मलिक तुगलक बलबन का एक तुर्की गुलाम था जिसने एक हिन्दू जाट स्त्री से विवाह किया था। उनका पुत्र गाजी तुगलक था जो गियासुद्दीन तुगलक के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। गाजी तुगलक ने अपने पिता की भाँति दिल्ली के सुल्तानों की सेवा की थी और जलालुद्दीन खलजी के समय में वह सैनिक सेवा में था। अपनी योग्यता से वह प्रगति करता गया और 1305 ई. में अलाउद्दीन ने उसे दिपालपुर का सूबेदार और सीमा-रक्षक नियुक्त किया था। उसने मंगोल-आक्रमणों के विरुद्ध सफलता प्राप्त की, काबुल और गजनी तक आक्रमण किये तथा मंगोलों की सीमा के अन्तर्गत क्षेत्रों से राजस्व वसूल किया। खुसरवशाह के समय में वह अपने उसी पद पर कायम रहा। उसके पश्चात् खुसरवशाह को समाप्त करके उसने दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार कर लिया तथा 8 सितम्बर, 1320 ई. को सुल्तान बन गया। सिंहासन पर बैठने से पहले उसने पता लगवाया कि खलजी-वंश का कोई उत्तराधिकारी जीवित है या नहीं ? ऐसा कोई व्यक्ति प्राप्त न होने पर सभी सरदारों की सम्मति से उसने सिंहासन स्वीकार किया जो इस्लामी प्रथा के पूर्ण अनुकूल माना गया।

**कठिनाइयाँ**

सुल्तान मुबारक खलजी और खुसरवशाह ने दिल्ली सल्तनत की व्यवस्था और सम्मान को नष्ट कर दिया था। इस कारण सिंहासन पर बैठते ही गियासुद्दीन को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अलाउद्दीन के द्वारा स्थापित की गयी

शासन-व्यवस्था नष्ट हो गयी थी और उसके बाद किसी नवीन व्यवस्था को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया था। सरदारों और दरबारियों में धन-लोलुपता, विलासिता और अकर्मण्यता आ गयी थी, नागरिकों में सुल्तान का सम्मान कम हो गया तथा मुबारक और खुसरव के द्वारा सरदारों एवं नागरिकों में अत्यधिक धन का वितरण करने से शाही खजाना रिक्त हो गया था। परन्तु इससे भी अधिक बड़ी समस्या सूबेदारों और अधीन शासकों को दिल्ली की अधीनता में रखने की थी। सिन्ध में अमर ने थट्टा और निचले सिन्ध पर अधिकार करके अपने को प्रायः स्वतन्त्र कर लिया था, गुजरात में आइन-उल-मुल्क की वापसी के पश्चात् से ही अव्यवस्था थी, राजस्थान में चित्तौड़, नागौर और जालौर पर राजपूतों के आक्रमण बढ़ गये थे, बंगाल पहले ही स्वतन्त्र था, दक्षिणी भारत में तेलंगाना और होयसल राज्य के शासक स्वतन्त्रता से व्यवहार कर रहे थे तथा सुदूर-दक्षिण में तुर्की प्रभाव को नष्ट कर दिया गया था। इस प्रकार गियासुद्दीन तुगलक के सम्मुख आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की समस्याएँ थीं।

**आन्तरिक व्यवस्था**

गियासुद्दीन ने नस्ल के आधार पर तुर्की अमीरों का समर्थन प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की थी। परन्तु उसने खुसरव के समर्थकों को भी उनके पदों पर रहने दिया जिससे वे सन्तुष्ट रहे। उसने अलाउद्दीन के वंश की लड़कियों के विवाह तो कराये परंतु कट्टर खलजी समर्थकों से उसने उनकी जागीरें छीन लीं और उन्हें उनके पद से पृथक् कर दिया। अलाउद्दीन के समय में जिन व्यक्तियों से उनकी जागीरें छीन ली गयी थीं वे उन्हें वापस कर दी गयीं। इस प्रकार उसने उदारता और कठोरता का समन्वय करके सभी सरदारों और नागरिकों को सन्तुष्ट किया तथा किसी ने उसके सुल्तान बनने का विरोध नहीं किया। गियासुद्दीन ने खुसरव द्वारा अनावश्यक रूप से वितरित किये गये धन को वापस लेने का प्रयत्न किया। इस कार्य में वह काफी सफल रहा परन्तु उसे कठिनाई भी हुई। वह सम्पूर्ण धन को वापस न ले सका। शेख निजा-मुद्दीन औलिया ने तो उसकी धन की माँग का उत्तर देने की आवश्यकता नहीं समझी। एक अन्य विचार के अनुसार उसने सुल्तान से कहलवा दिया कि "उसने उस धन को बाँट दिया है और अब उसके पास वापस करने के लिए धन नहीं है।"

राज्य की आर्थिक स्थिति को ठीक करने के लिए गियासुद्दीन ने लगान-व्यवस्था की ओर ध्यान दिया। किसानों की स्थिति में सुधार करना और कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि करना उसके दो प्रमुख उद्देश्य थे। अलाउद्दीन की व्यवस्था नष्ट हो गयी थी। इसे पुनः स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। सम्भवतया, किसानों से पहले की भाँति पैदावार का $\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{3}$ भाग लगान के रूप से वसूल किया जाने लगा। इसके अतिरिक्त उसने आदेश दिये कि वे एक वर्ष में एक इक्ता (सूबा) के राजस्व में $\frac{1}{11}$, $\frac{1}{10}$% से अधिक वृद्धि नहीं की जानी चाहिए। अकाल के अवसर पर किसानों को कर से मुक्त कर दिया जाता था। मोरलैण्ड ने लिखा है कि खेती के नष्ट हो जाने पर अथवा नवीन कृषि-भूमि पर पर्याप्त उत्पादन न होने पर किसानों से लगान नहीं लिया जाता था। इसके अतिरिक्त, किसानों से लगान उसी भूमि का लिया जाता था जिस पर कृषि की गयी थी। जिस भूमि पर खेती नहीं की गयी थी, उससे लगान नहीं लिया जाता था। पुराने हिन्दू लगान-अधिकारियों के विशेषाधिकार

उन्हें पुनः दे दिये गये। गियासुद्दीन ने लगान वसूल करने में उनके स्थान को महत्वपूर्ण समझा। इस कारण उनकी भूमियों और चरागाहों को कर से मुक्त कर दिया यद्यपि सरकारी कर्मचारियों को यह आदेश भी दिये गये कि वे इस बात का ध्यान रखें कि वे अधिक धनवान न हो जायें। सरकारी कर्मचारियों को राजस्व वसूली में हिस्सा नहीं दिया गया बल्कि उन्हें जागीरें दी गयीं जो कर से मुक्त रखी गयीं। भूमि की पैमाइश करके लगान निश्चित करने के तरीके को पुनः आरम्भ नहीं किया गया बल्कि 'नस्क' और 'बँटाई' की प्रथा चलती रही। सरकारी कर्मचारियों को आदेश दिये गये कि वे किसानों की भलाई का प्रयत्न करें और उनके साथ कठोरता न करें। यदि कोई अधिकारी किसानों से बहुत अधिक कर वसूल कर लेता था तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था परन्तु साधारण कठोरता करने पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। अपनी इस मध्यम मार्ग की नीति से गियासुद्दीन ने किसानों, लगान-अधिकारियों और सरकारी कर्मचारियों को सन्तुष्ट और सुखी बनाये रखने का प्रयत्न किया। इसमें उसे सफलता मिली। किसानों की स्थिति में सुधार हुआ तथा कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि हुई। गियासुद्दीन सरकारी और लगान-अधिकारियों की ईमानदारी पर भी बहुत बल देता था। उसने सिंचाई की भी अच्छी व्यवस्था की और बहुत-से बाग लगवाये। इससे किसानों और राज्य की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ।

गियासुद्दीन ने सड़कें ठीक करायीं तथा पुलों और नहरों का निर्माण कराया। इससे यातायात में सुविधा हुई। उसकी डाक-व्यवस्था श्रेष्ठ थी और शीघ्रता करने के लिए प्रत्येक $\frac{2}{3}$ मील पर डाक लाने वाले कर्मचारी अथवा घुड़सवार नियुक्त किये गये थे। उसने न्याय-व्यवस्था को ठीक किया। अलाउद्दीन के समय की कठोर दण्ड-व्यवस्था समाप्त कर दी गयी परन्तु चोरों, कर न देने वालों और सरकारी धन की बेईमानी करने वालों को अवश्य दण्ड दिये गये। बरनी ने लिखा है कि "तुगलकशाह की न्याय-व्यवस्था के कारण एक भेड़िया भी एक भेड़ की तरफ नहीं देख सकता था।" इसके अतिरिक्त, गियासुद्दीन ने जुआ खेलना, शराब पीना आदि को भी रोकने का प्रयत्न किया।

गियासुद्दीन एक कुशल सेनापति था और बरनी के कथनानुसार वह अपने सैनिकों को पुत्रवत् प्रेम करता था। इस कारण उसने सैनिक-व्यवस्था की ओर पूर्ण ध्यान दिया। वह अपने सैनिकों को सुविधाएँ देता था और इस बात की स्वयं देखभाल करता था कि उन्हें उचित वेतन मिले। परन्तु वह सैनिक अनुशासन में कठोर था। उसने 'हुलिया' और 'दाग' की प्रथाओं को कठोरतापूर्वक लागू किया। सिंहासन पर बैठने के बाद दो वर्ष में ही उसने सेना को शक्तिशाली बनाने में सफलता प्राप्त की।

हिन्दुओं के प्रति गियासुद्दीन की नीति कठोर रही। हिन्दुओं के बारे में उसने अपने अधिकारियों को आदेश दिये थे कि "वे न तो इतने धनवान बनें कि विद्रोह करने को तत्पर हो जायें और न इतने निर्धन हो जायें कि कृषि छोड़कर भाग जायें।" इस प्रकार गियासुद्दीन की हिन्दुओं के प्रति नीति अलाउद्दीन की नीति के निकट ही थी। इसी प्रकार हिन्दुओं के प्रति अपनायी गयी उसकी नीति का आधार भी राजनीतिक था। डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है : "यदि उसने हिन्दुओं के प्रति दमन-

नीति को अपनाया तो उसका कारण धार्मिक कट्टरता नहीं अपितु राजनीतिक आवश्यकता थी।"[1]

**विद्रोहों का दमन और साम्राज्य-विस्तार**

गियासुद्दीन पूर्णतया साम्राज्यवादी था। इस दृष्टिकोण से वह अलाउद्दीन से भी आगे था। अलाउद्दीन ने दक्षिण के राज्यों को अपनी अधीनता स्वीकार कराने के पश्चात् स्वतन्त्र छोड़ दिया। उसने देवगिरि को तभी अपने राज्य में सम्मिलित किया था जबकि शंकरदेव (सिंहनदेव द्वितीय) ने उसकी अधीनता को मानने से इन्कार कर दिया था। परन्तु गियासुद्दीन ने विद्रोही और अधीनस्थ राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित करने की नीति अपनायी। उसके समय में जिस राज्य को पराजित किया गया और जिस स्थान के विद्रोह को दबाया गया उस राज्य और उस स्थान को दिल्ली सल्तनत में सम्मिलित कर लिया गया।

तैलंगाना के शासक प्रतापरुद्रदेव ने दिल्ली-सल्तमत की अव्यवस्था का लाभ उठाकर दिल्ली के सुल्तान को कर भेजना बन्द कर दिया और एक स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार करना शुरू कर दिया। परन्तु उसने अपनी स्वतन्त्रता का सदुपयोग हिन्दू राज्यों के संगठन और सहयोग के लिए नहीं किया बल्कि अपने पड़ोसी हिन्दू राज्यों से युद्ध करके उसका दुरुपयोग किया। गियासुद्दीन उसके इस व्यवहार को पसन्द नहीं कर सका। उसने 1321 ई. में अपने सबसे बड़े पुत्र जूनाखाँ उर्फ उलुगखाँ (उपाधि —जो उसे दी गयी थी) को तैलंगाना पर आक्रमण करने के लिए भेजा। उलुगखाँ ने अत्यधिक शीघ्रता से आक्रमण किया और बिना किसी विरोध के वारंगल के किले के सामने पहुँच गया। प्रायः छः माह तक किले का घेरा पड़ा रहा और अन्त में प्रतापरुद्रदेव अधीनता स्वीकार करने और राजस्व देने को तैयार हो गया। परन्तु उलुगखाँ उससे बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण करना चाहता था। इस कारण कोई सन्धि न हो सकी। हिन्दुओं ने उलुगखाँ के आवागमन के मार्गों को बन्द कर दिया और दिल्ली से समाचार आना अथवा वहाँ समाचार पहुँचना असम्भव हो गया। थोड़े समय पश्चात् उलुगखाँ को घेरा उठाने के लिए बाध्य होना पड़ा और वह देवगिरि वापस लौट गया जहाँ उसके छोटे भाई महमूदखाँ ने उसका स्वागत किया। इब्न-बतूता ने लिखा है कि उलुगखाँ विद्रोह करने के लिए तत्पर था और उसने जानबूझकर अपने मित्र उबैद द्वारा अफवाह फैला दी कि सुल्तान गियासुद्दीन की मृत्यु हो गयी है जिससे सेना और सरदार उसके साथ हो जायें। परन्तु इसका परिणाम उल्टा हुआ। अनेक सरदार अपनी-अपनी सेनाओं को लेकर उलुगखाँ का साथ छोड़ गये और उसे बाध्य होकर किले का घेरा उठाना पड़ा। परन्तु इसामी और बरनी का कथन इसके विपरीत है। वह कहते हैं कि शाहजादे की विद्रोह की कोई इच्छा न थी और सुल्तान की मृत्यु की अफवाह फैलाने में भी उसका कोई हाथ न था बल्कि इसामी के अनुसार उबैदी स्वयं पूर्णतया इसके लिए उत्तरदायी था और बरनी के अनुसार उबैदी और दमिश्की इसके लिए उत्तरदायी थे। आधुनिक इतिहासकारों में से सर वूल्जले हेग और कुछ अन्य इतिहासकारों ने इब्न-बतूता के कथन को ठीक माना है परन्तु डॉ.

---

1 "If he pursued oppression against the Hindus, it was not because of religious bigotry but the result of political necessity."
—Dr. Ishwari Prasad.

ईश्वरीप्रसाद, डॉ. मेहदी हुसैन, डॉ. बी. पी. सक्सैना आदि ने इसामी और बरनी के कथन को ही सही माना है। कारण कुछ भी हो परन्तु उलुगखाँ घेरा उठाकर देवगिरि होता हुआ दिल्ली वापस पहुँच गया।

गियासुद्दीन ने उलुगखाँ के विद्रोही सरदारों को मृत्यु-दण्ड दिया परन्तु उलुगखाँ को माफ करके उसे एक अन्य सेना के साथ तैलंगाना पर पुनः आक्रमण करने के लिए भेजा। 1323 ई. में उलुगखाँ ने वारंगल पर आक्रमण किया। मार्ग में उसने बीदर तथा अन्य किलों को जीता और यातायात के मार्गों को सुरक्षित किया। वारंगल के किले को पाँच माह के पश्चात् जीत लिया गया और प्रतापरुद्रदेव तथा उसके सभी सम्बन्धियों को कैद कर लिया गया। प्रतापरुद्रदेव को दिल्ली भेज दिया गया। डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सैना के अनुसार या तो प्रतापरुद्रदेव की मृत्यु कारागार में हुई अथवा उसने आत्महत्या कर ली। डॉ. आर. सी. मजूमदार के अनुसार प्रतापरुद्रदेव को छोड़ दिया गया था और उसने या तो एक साधारण अधीन शासक के रूप में अपना जीवन समाप्त किया अथवा एक स्वतन्त्र शासक के रूप में उसकी मृत्यु हुई। तैलंगाना की राजधानी वारंगल का नाम सुल्तानपुर रख दिया गया और तैलंगाना को दिल्ली राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

सम्भवतया वारंगल की विजय के पश्चात् उलुगखाँ ने सुदूर-दक्षिण के मलाबार तट पर आक्रमण किया और मदुरा को जीत कर (1323 ई.) उसे दिल्ली राज्य के अधीन कर दिया। परन्तु तत्कालीन मुसलमान इतिहासकारों ने इस आक्रमण के बारे में कुछ नहीं लिखा है। उलुगखाँ ने उड़ीसा (जाजनगर) पर भी आक्रमण किया। उड़ीसा पर उसकी विजय पूर्ण नहीं थी और, सम्भवतया, एक युद्ध के पश्चात् लूट-मार करके अथवा आक्रमण में असफल होकर उलुगखाँ दिल्ली वापस पहुँच गया।

दक्षिण के युद्ध से छुटकारा हुआ ही था कि भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर मंगोलों ने आक्रमण किया परन्तु दिल्ली से भेजी एक सेना ने उन्हें परास्त कर दिया। सम्भवतया, गुजरात में भी इसी समय एक विद्रोह हुआ जिसे शीघ्र ही दबा दिया गया।

बलबन की मृत्यु के पश्चात् से ही बंगाल स्वतन्त्र हो गया था। उसके पश्चात् दिल्ली के किसी सुल्तान ने उसे अपनी अधीनता में लेने का प्रयत्न नहीं किया था। इस समय गियासुद्दीन बहादुर, शिहाबुद्दीन और नासिरुद्दीन नामक तीनों भाइयों में गद्दी के लिए संघर्ष चल रहा था। गियासुद्दीन बहादुर ने अपने भाइयों को पराजित करके बंगाल को अपने अधीन कर लिया। नासिरुद्दीन ने भागकर सुल्तान गियासुद्दीन से सहायता माँगी। सुल्तान स्वयं बंगाल की ओर बढ़ा और तिरहुत के निकट नासिरुद्दीन भी उससे आ मिला। सुल्तान ने जफरखाँ को बंगाल पर आक्रमण करने के लिए भेजा और उसने गियासुद्दीन बहादुर को पराजित करके बन्दी बना लिया। उत्तरी बंगाल में नासिरुद्दीन को दिल्ली की अधीनता में शासक बना दिया गया जिसकी राजधानी लखनौती थी। दक्षिणी और पूर्वी बंगाल को दिल्ली राज्य में सम्मिलित कर लिया गया और सुल्तान ने बहरामखाँ को वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया।

इसामी के कथनानुसार सुल्तान ने बंगाल से वापस आते हुए तिरहुत (मिथिला) पर आक्रमण किया। राजा हरसिंहदेव को नेपाल की सीमाओं में जाकर रहना पड़ा और तिरहुत पर दिल्ली सुल्तान का अधिकार हो गया (1324-25 ई.) परन्तु सुल्तान उससे पहले ही दिल्ली के लिए वापस चल दिया था।

## गियासुद्दीन की मृत्यु

गियासुद्दीन की मृत्यु के बारे में इतिहासकारों में मतभेद है। डॉ. मेहदी हुसैन और डॉ. बी. पी. सक्सैना सुल्तान की मृत्यु को एक दुर्घटना मानते हैं जबकि डॉ. ईश्वरीप्रसाद और वूल्जले हेग उसकी मृत्यु का कारण उसके पुत्र उलुगखाँ (जूनाखाँ) के षड्यन्त्र को मानते हैं। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव और डॉ. आर. सी. मजूमदार भी डॉ. ईश्वरीप्रसाद के मत का समर्थन करते हैं। तत्कालीन इतिहासकारों में से इब्न-बतूता और इसामी ने उलुगखाँ को इसके लिए दोषी ठहराया है जबकि बरनी का कथन काफी संक्षिप्त और अनिर्णयात्मक है।

इब्न-बतूता के अनुसार जब सुल्तान गियासुद्दीन बंगाल में था तभी से उलुगखाँ के चिन्ताजनक व्यवहार के समाचार प्राप्त हुए। उसे सूचना मिली कि वह अपने समर्थकों की संख्या बढ़ा रहा है और शेख निजामुद्दीन औलिया का शिष्य बन गया है। इस शेख से सुल्तान के सम्बन्ध अच्छे न थे। सुल्तान ने उलुगखाँ और निजामुद्दीन औलिया को दिल्ली पहुँचने पर दण्ड देने की धमकी दी जिसके बारे में औलिया ने कहा कि "दिल्ली अभी बहुत दूर है।" सुल्तान शीघ्रता से बंगाल से वापस लौटा और उलुगखाँ ने उसके स्वागत के लिए नवीन राजधानी तुगलकाबाद से तीन या चार मील दूर अफगानपुर नामक गाँव में एक लकड़ी का महल बनवाया। वह महल अहमद ऐयाज (जिसे बाद में उलुगखाँ उर्फ सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने अपना वजीर बनाया) ने इस प्रकार बनवाया कि हाथियों के द्वारा एक विशेष स्थान पर धक्का लगने से वह गिर सकता था। भोजन के पश्चात् उलुगखाँ ने सुल्तान से बंगाल से लाये गये हाथियों का प्रदर्शन देखने की प्रार्थना की। सुल्तान की आज्ञा से वे हाथी प्रदर्शित किये गये और उनका धक्का महल को लगा तो वह गिर गया और सुल्तान तथा उसका छोटा पुत्र महमूद उसमें दबकर मर गये। उलुगखाँ ने मलवा हटवाने में भी जान-बूझकर देर की और जब सुल्तान और उसके पुत्र की लाशें उसमें से निकलीं तो सुल्तान अपने पुत्र पर इस प्रकार झुका हुआ पाया गया जैसे वह अपने पुत्र की रक्षा करना चाहता था। इब्न-बतूता को इस घटना के बारे में शेख रुकनुद्दीन ने बताया था जो उस समय महल में था और जिसे उलुगखाँ ने नमाज पढ़ने के बहाने उस समय उस स्थान से हटा दिया था।

आधुनिक इतिहासकारों में से डॉ. मेहदी हुसैन ने उलुगखाँ उर्फ मुहम्मद तुगलक को पिता की हत्या के दोष से मुक्त करते हुए अपने पक्ष में निम्न तर्क दिये हैं।

1. बरनी के कथनानुसार बिजली गिरने से महल गिरा जिससे सुल्तान की मृत्यु हुई। दुर्घटना जुलाई के माह में हुई जो सम्भव है क्योंकि उस माह में ऐसी दुर्घटनाएँ अक्सर होती रहती हैं।

2. बरनी मुहम्मद तुगलक की अनेक स्थलों पर बुराई करता है परन्तु उसने उसे पितृघाती नहीं बताया है।

3. फरिश्ता भी बरनी के कथन का समर्थन करता है।

4. इब्न-बतूता मुहम्मद तुगलक से चिढ़ा हुआ था। इस कारण उसका कथन विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

5. मुहम्मद तुगलक चरित्रवान व्यक्ति था। वह ऐसा कार्य नहीं कर सकता था।

इस मत के विपरीत डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने मुहम्मद तुगलक को अपने पिता की मृत्यु के लिए दोषी बताया है। उन्होंने अपने पक्ष में निम्न तर्क दिये हैं :

1. इब्न-बतूता मुहम्मद तुगलक को उसके पिता की मृत्यु के लिए दोषी ठहराता है। उसे इसकी सूचना शेख रुकनुद्दीन से प्राप्त हुई थी जो दुर्घटना के अवसर पर उपस्थित था।

2. बरनी का बिजली गिरने की घटना का विवरण स्पष्ट नहीं है। उसके कथन का यह भी अर्थ हो सकता है कि सुल्तान की मृत्यु की घटना बिजली गिरने की दुर्घटना के समान थी।

3. निजामउद्दीन अहमद, बदायूँनी और अबुलफजल बिजली गिरने की घटना को स्वीकार नहीं करते।

4. यदि जूनाखाँ के हृदय में कोई कुचक्र न होता तो वह राजधानी के निकट नवीन महल न बनवाता और न सभी लोगों के बाहर जाने के पश्चात् ही हाथियों का प्रदर्शन कराता।

5. जूनाखाँ महत्वाकांक्षी था। वह पहले भी विद्रोह का प्रयत्न कर चुका था। इस कारण वह सुल्तान को मारने का प्रयत्न कर सकता था, इसकी सम्भावना अधिक है।

6. अहमद आयाज को, जिसने वह महल बनवाया था, कोई दण्ड नहीं दिया गया बल्कि उसे वजीर का पद और ख्वाजा की उपाधि दी गयी। ऐसा किसी विशेष सेवा के इनाम के रूप में ही किया जा सकता था।

डॉ. ईश्वरी प्रसाद के तर्कों को अधिक उपयुक्त स्वीकार किया जाता है। इस कारण, आधुनिक इतिहासकारों में से अधिकांश मुहम्मद तुगलक को पिता की मृत्यु के लिए दोषी मानते हैं।

### गियासुद्दीन का मूल्यांकन

तत्कालीन इतिहासकारों ने सुल्तान गियासुद्दीन को एक आदर्श मुसलमान सुल्तान माना। इसका मुख्य कारण यह था कि उसने मंगोल-आक्रमणों से इस्लाम की रक्षा की थी और खुशरवशाह को समाप्त करके इस्लाम की प्रतिष्ठा को स्थापित किया था। परन्तु उपर्युक्त आधारों पर तो सुल्तान को इस्लाम का रक्षक माना जा सकता है। कुछ अन्य कारण ऐसे हैं जिनसे उसे दिल्ली के सुल्तानों में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त होता है।

व्यक्तिगत दृष्टि से सुल्तान का चरित्र अच्छा था। वह न शराब का शौकीन था और न स्त्री का बल्कि उसने अलाउद्दीन की भाँति शराबबन्दी का प्रयत्न किया था। वह इस्लाम के नियमों का पालन करता था और धार्मिक व्यक्तियों का सम्मान करता था। हिन्दुओं के प्रति उसकी नीति यदि उदार न थी तो बहुत कठोर भी न थी। परन्तु गियासुद्दीन की सफलता चरित्र की दृष्टि से नहीं बल्कि उसके कार्यों की दृष्टि से थी। वह एक योग्य सेनापति था। सुल्तान बनने से पहले और सुल्तान बनने के पश्चात् भी उसने इस योग्यता का परिचय दिया था। उसके सैनिक अनुशासन के कारण दिल्ली की सेना एक बार पुनः शक्तिशाली बन गयी। इसी कारण उसने

अपने साम्राज्य का विस्तार किया। उसने सम्पूर्ण दक्षिणी भारत को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया और उसके समय में बंगाल की विजय भी हुई। उसका साम्राज्य अलाउद्दीन के साम्राज्य से अधिक विस्तृत था। जिन राज्यों को अलाउद्दीन ने केवल अपनी अधीनता स्वीकार कराने के पश्चात् स्वतन्त्र छोड़ दिया था, उन राज्यों को उसने अपने शासन के अधीन किया। एक शासक की दृष्टि से भी वह सफल रहा। उसने अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न हुई अव्यवस्था को ठीक किया। उसने शासन से भ्रष्टाचार को समाप्त किया, कृषकों की भलाई की, कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि की, यातायात और डाक-व्यवस्था को ठीक किया, पुल और नहरें बनवायीं, बाग लगवाये, सरकारी कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की, लगान-अधिकारियों को प्राप्त होने वाली सुविधाएँ उन्हें पुनः प्रदान कीं तथा शाही खजाने को परिपूर्ण कर दिया। गियासुद्दीन एक न्यायप्रिय शासक था और प्रति दिन सुबह और शाम वह न्याय के लिए दरबार करता था। वह पहला दिल्ली-सुल्तान था, जिसने कृषकों की भलाई के लिए प्रयत्न किया और अपने कर्मचारियों को आदेश दिये कि वे लगान में वृद्धि करने के स्थान पर कृषि-योग्य भूमि और उत्पादन वृद्धि के लिए प्रयत्न करें। उसने विद्वानों को दरबार में संरक्षण प्रदान किया। उसने तुग़लकाबाद नामक शहर की नींव डाली और वहाँ कई इमारतें बनवायीं। उसका महल इतनी चमकदार ईंटों का बनवाया गया था कि सूर्य की रोशनी में उसे टकटकी लगाकर देखना असम्भव था। इस प्रकार अपनी विजयों और सफल शासन द्वारा उसने सुल्तान और राज्य-सिंहासन की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की। गियासुद्दीन न केवल नवीन नीतियों और सिद्धान्तों को जन्म देने वाला था बल्कि एक व्यवस्थापिका और राज्य के संगठनकर्ता की दृष्टि से भी उसका स्थान महत्वपूर्ण रहा। यद्यपि वह एक साधारण स्थिति से उठकर सुल्तान के पद पर पहुँचा था परन्तु सुल्तान बनने के पश्चात् उसने बलबन की भाँति अपनी सहायता के लिए श्रेष्ठ तुर्की नस्ल का सहारा नहीं लिया। उसने न तो कभी स्वयं श्रेष्ठ नस्ल का वंशज होने का दावा किया और न ही शुद्ध तुर्की नस्ल के व्यक्तियों की वफादारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार यद्यपि वह अलाउद्दीन के समय की क्रूर परम्पराओं में पनपा था परन्तु उसने कभी भी क्रूरता को अपने शासन का आधार नहीं बनाया। गियासुद्दीन अन्य व्यक्तियों में योग्यता की खोज करता था और स्वयं अपनी योग्यता में विश्वास करता था। अतः उसे न तो श्रेष्ठ नस्ल की सहायता की आवश्यकता हुई और न क्रूरता की। तब भी वह सफल रहा। बरनी ने लिखा है कि "साम्राज्य के सभी शहरों में अपने शासन को स्थापित करने के लिए वह सभी कुछ जो सुल्तान अलाउद्दीन ने इतने अधिक रक्तपात, कुटिल नीति, अत्याचार और हिंसा से किया, सुल्तान तुगलकशाह ने चार वर्षों में बिना किसी कुटिलता, कठोरता अथवा रक्तपात के कर दिया।"[1]

---

1 "All that Sultan Ala-ud-din did with so much shedding of blood, and crooked policy and oppression, and great violence in order that he might establish his rule throughout the cities of the empire, Sultan Tughlaq Shah in the space of four years accomplished without any contention of fraud or hardness of slaughter."

—Barani.

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. "गियासुद्दीन तुगलक खलजी शासकों से भी अधिक साम्राज्यवादी सिद्ध हुआ।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं?
2. गियासुद्दीन तुगलक की मृत्यु के सम्बन्ध में इतिहासकारों के मतभेद को स्पष्ट कीजिए।

# 12

## मुहम्मद बिन-तुगलक : 1325-1351 ई.

अपने पिता की मृत्यु के तीन दिन पश्चात् फरवरी अथवा मार्च 1325 ई. में उलुगखाँ (जूनाखाँ) मुहम्मद बिन-तुगलक के नाम से सुल्तान बना। साधारणतया उसे मुहम्मद तुगलक के नाम से पुकारा जाता है। 40 दिन तक वह तुगलकाबाद में रहा। तत्पश्चात् उसने दिल्ली में प्रवेश किया। उस अवसर पर सभी ने उसका स्वागत किया। उसने भी उदारतापूर्वक अपनी प्रजा में सोने और चाँदी को बिखेरा तथा सरदारों में पदों का वितरण किया। अपने पिता की मृत्यु में मुहम्मद तुगलक का कुछ भी हाथ रहा हो अथवा न रहा हो परन्तु उसके सिंहासन पर बैठने का विरोध किसी ने नहीं किया।

मध्य-युग के शासकों में चरित्र और कार्यों की दृष्टि से अन्य कोई शासक इतना विवादपूर्ण नहीं है जितना मुहम्मद तुगलक। ऐसा नहीं है कि मुहम्मद तुगलक का कोई समकालीन इतिहासकार न था। इसके विपरीत, मुहम्मद तुगलक के समय में एक नहीं बल्कि तीन विख्यात विद्वान (इसामी, बरनी और इब्न-बतूता) थे और तीनों ने उसके समय के इतिहास के बारे में विस्तृत वर्णन दिया है। परन्तु तब भी यह आश्चर्य की बात है कि इस सुल्तान के चरित्र, कार्यों के उद्देश्य और विभिन्न कार्यों की तारीखों व उनके क्रम के बारे में निश्चित धारणा नहीं है।

मुहम्मद तुगलक का चरित्र और उसके कार्य रोचक हैं। उसकी महत्वाकांक्षाएँ और योजनाएँ तथा उसकी सफलता अथवा असफलता प्रत्येक प्रकार से आकर्षक और आश्चर्यजनक हैं। मुहम्मद तुगलक ने अपने पिता से एक विस्तृत साम्राज्य प्राप्त किया और उसने अपने समय में उसमें और अधिक वृद्धि की। दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों में से किसी ने भी इतने विस्तृत साम्राज्य पर शासन नहीं किया। परन्तु दस वर्षों में ही वह साम्राज्य खण्डित हो गया और उसने जो अपने पिता से प्राप्त किया था उसे भी खो दिया। मुहम्मद तुगलक ने अपने पिता से भरपूर खजाना प्राप्त किया था। बरनी के कथनानुसार उसके समय के समान राजस्व कभी भी दिल्ली में एकत्रित नहीं हुआ परन्तु तब भी मुहम्मद तुगलक को आर्थिक संकट का मुकाबला करना पड़ा। चीन, ईरान, मिस्र आदि दूरस्थ विदेशी राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करना उसकी अपनी ही विशेषता थी, नस्ल और वर्ग-विभेद को समाप्त करके योग्यता के आधार पर अधिकारियों की नियुक्ति करने की नीति उसके समय में अपनी पूर्णता पर पहुँच गयी थी, धार्मिक दृष्टि से वह अपने समय से आगे था और उसने अपने समय में विभिन्न

नवीन योजनाओं को जन्म दिया, परन्तु तब भी उसके नागरिक उससे असन्तुष्ट हुए, उसके समय में अधिकतम विद्रोह हुए और अन्त में मुहम्मद तुगलक असफल हुआ।

## [ 1 ]

## राजत्व-सिद्धान्त और धार्मिक विचार

मुहम्मद तुगलक का राजत्व-सिद्धान्त दैवी सिद्धान्त की भाँति था। उसका विश्वास था कि सुल्तान बनना ईश्वर की इच्छा है। उसने अपने सिक्कों पर 'अल सुल्तान जिल्ली अलाह' (सुल्तान ईश्वर की छाया है), 'ईश्वर सुल्तान का समर्थक है', आदि वाक्यों को अंकित कराया था। उसका विश्वास सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सुल्तान में था। वह प्रत्येक प्रकार से अपनी प्रजा की वफादारी प्राप्त करना और उसको अपनी आज्ञा-पालन के लिए बाध्य करना अपना अधिकार मानता था। इस प्रकार वह एक निरंकुश सुल्तान था। उसने बरनी से कहा था कि "मैं सन्देह, विद्रोह, अव्यवस्था और षड्यन्त्र की आशंका के आधार पर कठोर दण्ड देता हूँ। मैं आज्ञा की लेशमात्र भी अवज्ञा होने पर उन्हें मृत्यु-दण्ड देता हूँ और मैं तब तक इसी प्रकार कठोर दण्ड देता रहूँगा जब तक या तो मैं स्वयं नष्ट नहीं हो जाता अथवा प्रजा ठीक नहीं हो जाती और विद्रोह और आज्ञा की अवहेलना करना नहीं छोड़ देती।"[1]

अलाउद्दीन की भाँति मुहम्मद तुगलक भी शासन में किसी व्यक्ति अथवा वर्ग के हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करता था। उसके मन्त्री और अधिकारी उसके अनुगामी और कर्मचारी थे। उनमें से कोई भी शासन-सत्ता में भाग लेने वाला नहीं बन सकता था। उसने समय-समय पर विद्वान बरनी से सलाह ली परन्तु कार्य अपनी इच्छानुसार ही किया। इसी प्रकार उसने उलेमा वर्ग को शासन में हस्तक्षेप नहीं करने दिया और अपने आरम्भिक काल में उसने न तो अपने सुल्तान के पद के लिए खलीफा से स्वीकृति ली और न ही अपने सिक्कों पर किसी खलीफा का नाम अंकित कराया। उसका अभिप्राय इस्लाम और इस्लाम धर्म के कानूनों की उपेक्षा करना नहीं था परन्तु वह शासन में धर्म अथवा धार्मिक-वर्ग के प्रभाव को स्वीकार करने के लिए तत्पर न था। न्याय-विभाग पर उलेमा-वर्ग का एकाधिपत्य था। उसने उसे नष्ट कर दिया। उसने अन्य व्यक्तियों को भी काजी का पद प्रदान किया और काजी के जिस निर्णय को वह ठीक नहीं मानता था उसे बदल देता था। यदि किसी धार्मिक व्यक्ति पर भी विद्रोह या सरकारी धन की बेईमानी करने का अपराध सिद्ध हो जाता था तो वह उसे दण्डित करता था। राज्य के कानून से कोई भी मुक्त न था। इसी कारण मुसलमान धार्मिक-वर्ग मुहम्मद तुगलक का विरोधी हो गया और उसके विरुद्ध असन्तोष का कारण बना। अपने बाद के समय में मुहम्मद तुगलक ने इस वर्ग से समझौता कर लिया। इस कारण उसने अपने सिक्कों पर खलीफा का नाम अंकित कराया, अपने सुल्तान के पद की स्वीकृति के लिए प्रार्थना की और 1304 ई. में मिस्र के खलीफा के

---

1 "I inflict capital punishments on the basis of suspicion and presumption of rebellion, disorder and conspiracy. I put people to death for every slight disobedience that I see in them and I will keep inflicting capital punishments in this way till either I perish or the people are set right and give up rebellion and disobedience." —Muhammad Tughluq.

वंशज गियासुद्दीन मुहम्मद को, जिसकी स्थिति एक भिखारी के समान थी, दिल्ली बुलाया, उसका अत्यधिक सम्मान किया, स्वयं अनुरोध करके अपनी गर्दन पर उसका पैर रखवाया और उसे अमूल्य वस्तुएँ एवं जागीरें भेंट में दीं।

मुहम्मद तुगलक दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने उत्तरी और दक्षिणी भारत की प्रशासकीय एवं सांस्कृतिक एकता के लिए प्रयत्न किये। सम्भवतया, देवगिरि को राजधानी बनाने में उसका यही आशय था। मुहम्मद तुगलक ने राज्य की सेवाओं में योग्यता को प्राथमिकता प्रदान की। वह दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने राज्य के उच्च पद हिन्दुओं को ही नहीं अपितु साधारण परिवार और निम्न जाति के व्यक्तियों को भी प्रदान किये। डॉ. इरफान हबीब ने विचार व्यक्त किया है कि "मुहम्मद तुगलक के सरदारों में न केवल उच्च परिवारों के ही व्यक्ति थे अपितु अन्य वर्गों जैसे मंगोल, विदेशी मुसलमान आदि के व्यक्ति भी सम्मिलित थे।" मुहम्मद तुगलक की एक विशेषता यह भी रही कि उसने कई विदेशी राज्यों जैसे चीन, इराक, सीरिया, आदि से सम्बन्ध बनाये और उनमें से कुछ से राजदूतों का आदान-प्रदान भी किया। इस प्रकार मुहम्मद तुगलक ने विभिन्न क्षेत्रों में नवीन अन्वेषण किये, यह अलग बात है कि वह उन्हें कितना सफल बना सका।

मुहम्मद तुगलक ने अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के साथ सहिष्णुता का व्यवहार किया। दिल्ली के सुल्तानों में वह प्रथम सुल्तान था जिसने योग्यता के आधार पर पद देना आरम्भ किया और भारतीय मुसलमानों तथा हिन्दुओं को भी सम्मानित पद प्रदान किये। इस दृष्टि से वह अपने समय से आगे था। सम्भवतया, तत्कालीन इतिहासकारों द्वारा उसकी निन्दा किये जाने का एक कारण यह भी था। परन्तु मुहम्मद तुगलक सहिष्णु होते हुए भी अपनी प्रजा की सद्भावना प्राप्त न कर सका। इसका कारण उसकी कठोर नीति और विभिन्न योजनाओं की असफलता थी, न कि उसके विचार।

## [ 2 ]
## आन्तरिक शासन : विभिन्न योजनाएँ

मुहम्मद तुगलक नवीन अन्वेषण करने वाला एक महत्वाकांक्षी सुल्तान था। अपनी बाह्य नीति के अन्तर्गत उसने सम्पूर्ण भारत को विजय करने की लालसा की, सुदूर-दक्षिण ही नहीं अपितु हिमालय के पर्वतीय राज्यों पर भी अधिकार करने की आकांक्षा की और भारत से बाहर खुरासान विजय तक की योजना बनायी। परन्तु उसकी अन्वेषण बुद्धि का प्रभाव मुख्यतया उसके आन्तरिक शासन पर पड़ा जिससे उसने कई नवीन योजनाओं को जन्म दिया।

### 1. राजस्व-सुधार

सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि "विस्तृत रूप से शासन की देखभाल करने में मुहम्मद तुगलक की तुलना स्पेन के शासक फिलिप द्वितीय से की जा सकती है।" उसने राजस्व-व्यवस्था में सुधार करने के लिए अनेक कानून बनाये। सर्वप्रथम उसने सूबों की आय और व्यय का हिसाब रखने के लिए एक रजिस्टर तैयार कराया और सभी सूबेदारों को इस सम्बन्ध में अपने-अपने सूबों का हिसाब भेजने के आदेश दिये। उसका उद्देश्य था कि साम्राज्य के सभी प्रदेशों में एक समान लगान-व्यवस्था लागू की

जा सके और कोई भी गाँव लगान देने से मुक्त न रह जाय। परन्तु यह पता नहीं लगता कि इस रजिस्टर का क्या लाभ हुआ और सुल्तान ने विभिन्न श्रेणी की भूमियों के उत्पादन और विभिन्न स्थानों पर मूल्यों के अन्तर का ध्यान किस प्रकार रखा था ?

**2. दोआब में कर-वृद्धि (1325-1327 ई.)**

अपने शासन-काल के आरम्भ में सुल्तान ने दोआब में कर-वृद्धि की। बरनी के कथनानुसार कर दस या बीस गुना अधिक कर दिया गया। फरिश्ता के अनुसार यह कर तीन या चार गुना अधिक किया गया। गार्डनर ब्राउन के अनुसार यह कर-वृद्धि बहुत साधारण थी। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार सुल्तान अपनी आय में 5% से 10% तक वृद्धि करना चाहता था और उसने भूमि-कर में वृद्धि नहीं की बल्कि मकानों तथा चरागाहों, आदि पर कर लगाया। वास्तविकता कुछ भी हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कर में वृद्धि की गयी थी। जिस समय दोआब में कर-वृद्धि की गयी उस समय वहाँ सूखा और अकाल पड़ रहा था। अतएव किसानों ने कृषि छोड़कर चोरी-डकैती का पेशा अपना लिया। लगान-अधिकारियों ने बहुत कठोरता से कर वसूल किया जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न स्थानों पर विद्रोह हो गये। सुल्तान ने बड़ी कठोरता से विद्रोह को दबाया और बरनी के शब्दों में "हजारों व्यक्ति मारे गये और जब उन्होंने बचने का प्रयत्न किया तब सुल्तान ने विभिन्न स्थानों पर आक्रमण किये तथा जंगली जानवरों की भाँति उन्हें अपना शिकार बनाया।"[1] गार्डनर ब्राउन बरनी के इस कथन से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार नागरिकोंके कष्ट का कारण कर नहीं बल्कि वर्षा की कमी से उत्पन्न अकाल था। डॉ. मेहदी हुसैन ने एक नवीन विचार प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार सुल्तान की सेना से निकाले गये सैनिकों ने कृषि करना आरम्भ कर दिया था और जब कर बढ़ाया गया तो उन्होंने कर देने के स्थानपर डकैती करना आरम्भ कर दिया तथा लगान-अधिकारियों को मार डाला। इस कारण सुल्तान ने उनके विद्रोह को कठोरतापूर्वक दबाया। कारण कुछ भी रहा हो, परन्तु यह स्पष्ट है कि करों में वृद्धि की गयी थी, अकाल की स्थिति में कठोरता से लगान का वसूल किया जाना विद्रोह का प्रमुख कारण था और सुल्तान ने उस विद्रोह को अत्यधिक कठोरता से दबाया। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "बाद में सुल्तान ने किसानों को बीज, बैल आदि दिये तथा सिंचाई के लिए कुएँ और नहरें खुदवायीं परन्तु उनसे कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि ये सहायता-कार्य काफी देर से किये गये तथा इस सहायता का प्रयोग किसानों ने क्षुधापूर्ति से लिए किया। इसके अतिरिक्त मकान तथा चरागाह-कर जो अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् त्याग दिये गये थे, सर्वदा ही घृणा के पात्र थे।" सुल्तान की इस नीति से उसकी आय में कोई वृद्धि नहीं हुई और वह अपनी प्रजा में अत्यधिक बदनाम हुआ।

**3. कृषि की उन्नति का प्रयत्न**

मुहम्मद तुगलक ने कृषि की उन्नति के लिए नवीन विभाग खोला और एक नवीन मन्त्री 'अमीर-ए-कोही' नियुक्त किया। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार,

---

1 "Thousands of people perished and when they tried to escape, the Sultan led punitive expedition to variou splaces and hunted them like wild beasts." —Barani.

"60 वर्ग मील का एक भू-क्षेत्र चुना गया जहाँ सरकारी कर्मचारियों की देखभाल में किसानों से खेती करने के लिए कहा गया।" उसके सम्बन्ध में मोरलैण्ड ने लिखा। "भारतीय इतिहास में पहली बार यह स्पष्ट किया गया कि कृषि, कृषि-उत्पादन के तरीकों में उन्नति और कृषि-उत्पादन में वृद्धि किये जाने वाले साधनों में उन्नति राज्य का उत्तरदायित्व है। अन्य शब्दों में, भारत में यह प्रथम उदाहरण था जबकि सल्तनत ने न केवल कृषि-सुधारों पर बल दिया अपितु उसके लिए राज्य के खजाने से एक बड़ी धन-राशि भी व्यय की गयी।"[1] वहाँ बारी-बारी से विभिन्न फसलें बोयी गयीं और प्रायः तीन वर्ष में 70 लाख टंका (अथवा रुपया) व्यय किये गये। यह एक प्रकार से राजकीय कृषि-फार्म की भाँति था। परन्तु यह योजना सफल न हो सकी। सरकारी कर्मचारियों के भ्रष्टाचार, किसानों की उदासीनता, भूमि का अच्छा न होना और समय की कमी इस योजना की असफलता के कारण बने। तीन वर्ष के पश्चात् इस योजना को त्याग दिया गया।

**4. राजधानी-परिवर्तन (1326-1327 ई.)**

डॉ. के. ए. निजामी के अनुसार, 'सुल्तान कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी ने देवगिरि का नाम कुतबाबाद रख दिया था और सुल्तान तुगलक ने उसका नाम दौलताबाद रखा।"[2] मुहम्मद तुगलक के द्वारा दिल्ली के स्थान पर देवगिरि को राजधानी बनाये जाने के विभिन्न कारण बताये गये हैं। बरनी के अनुसार साम्राज्य के केन्द्र में होने के कारण देवगिरि को राजधानी बनाया गया। इब्न-बतूता के अनुसार सुल्तान को दिल्ली के नागरिक असम्मानपूर्ण पत्र लिखते थे। अतः उन्हें दण्ड देने के लिए उसने देवगिरि को राजधानी बनाने का निर्णय किया। सर वूल्जले हेग ने इब्न-बतूता के मत को स्वीकार किया है। इसामी ने लिखा है कि वह दिल्ली के नागरिकों की शक्ति को तोड़ने के लिए उन्हें दक्षिण भारत ले जाना चाहता था। इस प्रकार वह भी इब्न-बतूता के कथन का समर्थन करता है। प्रो. हबीबुल्ला ने लिखा है कि वह दक्षिणी भारत में मुस्लिम संस्कृति के विकास तथा दक्षिण की सम्पन्नता और शासन की सुविधा की दृष्टि से देवगिरि को राजधानी बनाना चाहता था। डॉ. मेहदी हुसैन का कहना है कि वह दौलताबाद को मुस्लिम संस्कृति का केन्द्र बनाने के लिए उसे राजधानी बनाना चाहता था। डॉ. मेहदी हुसैन और डॉ. के. ए. निजामी के अनुसार मुहम्मद तुगलक का इरादा दो राजधानियाँ—दिल्ली और दौलताबाद—बनाने का था, परन्तु अधिकांश इतिहासकार इस विचार से सहमत नहीं हैं। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार मंगोल-आक्रमणों से सुरक्षा दक्षिणी भारत में दृढ़ व्यवस्था की आवश्यकता और दक्षिणी भारत का सम्पन्न होना इस राजधानी-परिवर्तन के कारण थे। उपर्युक्त मतों के आधार पर यह माना जाता है कि देवगिरि का साम्राज्य

---

1 Moreland wrote about it : "In Indian history, it was made clear for the first time that agriculture, improvement in the technique of agriculture and enhancement of resources for the growth of agriculture was the responsibility of the state. In other words, it was the first instance in India when the Sultanate not only emphasized on agricultural reforms but also spent a large amount of money from the state-treasury for it."

2 *The Delhi Sultanate ; A Comprehensive History of India.*

के केन्द्र में होना, उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत के शासन और संगठन पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता, मंगोल-आक्रमणों से सुरक्षा अथवा उनके आक्रमणों के भय का कम हो जाना, दक्षिणी भारत की समृद्धि का लालच और, सम्भवतया, वहाँ पर मुस्लिम संस्कृति को स्थापित करने की लालसा मुहम्मद तुगलक के राजधानी-परिवर्तन के कारण रहे।

तत्कालीन इतिहासकारों के अनुसार दिल्ली की सम्पूर्ण जनता को दौलताबाद जाने के आदेश दिये गये और दिल्ली बरबाद हो गयी। बरनी ने लिखा है कि "सभी कुछ बरबाद कर दिया गया। तबाही इतनी पूर्ण थी कि शहर की इमारतों, उसके महलों और उसके आस-पास के क्षेत्रों में एक बिल्ली अथवा कुत्ता भी दिखायी नहीं देता था।"[1] इसी प्रकार इब्न-बतूता ने लिखा है कि "सुल्तान के आदेश पर खोज करने पर उसके गुलामों को एक लंगड़ा और एक अन्धा व्यक्ति प्राप्त हुआ। लंगड़े को मार दिया गया और अन्धे को घसीटकर दौलताबाद ले जाया गया जहाँ उसकी केवल एक टाँग ही पहुँच सकी।" उसने लिखा है कि "रात्रि को सुल्तान ने अपने महल की छत पर चढ़कर दिल्ली को देखा और जब उसे एक भी रोशनी या धुआँ अथवा चिराग दिखायी नहीं दिया तब उसने कहा कि अब मेरा हृदय प्रसन्न है और मेरी आत्मा को शान्ति है।"[2] उसी प्रकार, इतिहासकार इसामी ने लिखा है कि "(मुहम्मद तुगलक ने) शहर (दिल्ली) को जला देने और सभी जनता को उससे बाहर निकाल देने की आज्ञा दी।"[3] आधुनिक समय में कुछ इतिहासकार यह नहीं मानते। डॉ. मेहदी हुसैन का कहना है कि "दिल्ली राजधानी न रही हो, ऐसा कभी नहीं हुआ और इस कारण वह न कभी आबादी-रहित हुई और न निर्जन।"[4] इसी प्रकार डॉ. के. ए. निजामी का भी कहना है कि सम्पूर्ण जनता को जाने के आदेश नहीं दिये गये थे बल्कि केवल सरदार, शेख, उलेमा और उच्च-वर्ग के व्यक्तियों को ही दौलताबाद जाने के आदेश दिये गये थे। परन्तु डॉ. आर. सी. मजूमदार, डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव, डॉ. ईश्वरीप्रसाद सदृश आधुनिक समय के अधिकांश इतिहासकारों का कहना है कि तत्कालीन इतिहासकारों ने इस बात को चाहे बहुत बढ़ा-चढ़ाकर ही कहा हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दिल्ली की सम्पूर्ण जनता को दौलताबाद जाने के आदेश दिये गये थे।

मार्ग में सुल्तान ने जनता की सुविधा के लिए सभी सम्भव कार्य किये। दिल्ली से दौलताबाद तक 700 मील लम्बी सड़क पर छायादार वृक्ष लगाये गये,

---

1 "All was destroyed. So complete was the ruin that not a cat or a dog was left among the buildings of the city and its suburbs."
—Barani.

2 "In the night the Sultan mounted the roof of his palace and looked round Delhi. When, neither a light nor even a smoke or a lamp came into sight he remarked, 'Now my heart is pleased and my soul is at rest'." —Ibn Batutah.

3 "(Muhammad Tughlaq) ordered that the city (Delhi) should be set on fire and all the populace should be turned out of it."
—Isami.

4 "The city of Delhi never ceased to be the capital, and as such, was never depopulated or deserted." —Dr. M. Hussain.

प्रत्येक दो मील के पश्चात् जनता के रुकने और खाने-पीने की व्यवस्था की गयी, सभी को यातायात सुलभ किया गया, सभी को अपनी छोड़ी हुई सम्पत्ति का मुआवजा दिया गया तथा सभी के लिए दौलताबाद में मुफ्त रहने और खाने की व्यवस्था की गयी। परन्तु इन सभी सुविधाओं के होते हुए भी दिल्ली से दौलताबाद की 40 दिन की यात्रा दिल्ली के नागरिकों के लिए अत्यन्त कष्टदायक रही होगी, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

मुहम्मद तुगलक की यह योजना असफल रही। इसामी के अनुसार दिल्ली 14 वर्ष के पश्चात् बसी परन्तु सम्भवतया 1335 ई. में ही सुल्तान ने व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार दिल्ली वापस जाने की आज्ञा दे दी थी। इस योजना की असफलता के विभिन्न कारण थे। सुल्तान को केवल अपने दरबारियों को दौलताबाद ले जाना चाहिए था, न कि जनता को। साधारण नागरिक अपने घरों को छोड़कर अनजान और दूरस्थ दौलताबाद को जाने के लिए तैयार न थे और न उन्हें वहाँ ले जाने की कोई आवश्यकता थी। सुल्तान का यह सोचना भी भूल थी कि दौलताबाद एक उपयुक्त राजधानी होगी। मंगोलों के आक्रमणों से सुरक्षा के लिए और उत्तरी भारत के पूर्ण संगठित राज्य की सुरक्षा तथा व्यवस्था के लिए दिल्ली अधिक उपयुक्त स्थान था। अव्यवस्थित दक्षिणी भारत की तुलना में संगठित उत्तरी भारत दिल्ली सल्तनत के लिए अधिक महत्वपूर्ण था।

### 5. सांकेतिक मुद्रा (ताँबे या पीतल के सिक्कों) का चलाना (1329-1330 ई.)

मुहम्मद तुगलक ने अपने समय में विभिन्न प्रकार के सुन्दर सिक्के चलाये और उन सभी का ठीक मूल्य निश्चित किया परन्तु सांकेतिक मुद्रा का चलाना उसकी एक विशिष्टता रही। बरनी के कथनानुसार खजाने में धन की कमी और साम्राज्य-विस्तार की नीति को कार्य-रूप में परिणत करने के कारण मुहम्मद तुगलक को सांकेतिक मुद्रा चलानी पड़ी। ईरान में कैरवातू खाँ के समय में सांकेतिक मुद्रा चलायी गयी थी यद्यपि वहाँ वह प्रयोग असफल हुआ था। परन्तु चीन में कुबलाई खाँ के समय में सांकेतिक मुद्रा का प्रयोग सफलतापूर्वक किया गया था। सम्भवतया नवीन अन्वेषणों का प्रयोग करने वाले मुहम्मद तुगलक ने उन देशों से प्रेरणा प्राप्त की। आधुनिक इतिहासकारों का यह भी कहना है कि उसके समय में सम्पूर्ण विश्व में चाँदी की कमी हो गयी थी और भारत में तो बहुत ही कमी थी। इस कारण उसने यह सांकेतिक मुद्रा चलायी।

बरनी के अनुसार सुल्तान ने चाँदी के सिक्के चलाये और फरिश्ता के अनुसार ये सिक्के पीतल के थे। सम्भवतया दोनों ही धातुओं के सिक्के चलाये गये थे। सुल्तान ने इनका मूल्य चाँदी के 'टंका' के समतुल्य कर दिया। पहले ताँबे के सिक्के को 'जीतल' पुकारते थे, अब 'टंका' भी ताँबे अथवा पीतल का होने लगा।

परन्तु सुल्तान की यह योजना असफल हुई। डॉ. मेहदी हुसैन के अनुसार, "यह योजना पूर्णतया उपयुक्त और कूटनीतिक थी।" यद्यपि उन्होंने यह विचार भी व्यक्त किया है कि सुल्तान ने उन साधनों को नहीं अपनाया जो उस अन्वेषण को सफल बना पाते। प्रो. मुहम्मद हबीब के अनुसार इस योजना की असफलता का दोष नागरिकों पर था जिन्होंने उन नवीन सिक्कों की धातु को परखने का उसी प्रकार प्रयत्न नहीं किया जिस तरह वे चाँदी और सोने के सिक्कों को परखते थे और इसके

फलस्वरूप वे असली और नकली सिक्कों में अन्तर न कर सके। परन्तु अन्य इतिहासकार इसका मूल दोष मुहम्मद तुगलक को देते हैं। उनके अनुसार सुल्तान की यह भूल रही कि उसने ये सिक्के ऐसे नहीं बनवाये जिनकी नकल करना सम्भव न होता। वास्तव में इस असफलता का उत्तरदायित्व दोनों पर ही था। सुल्तान ने उन सिक्कों की नकल न किये जाने की व्यवस्था नहीं की और नागरिकों ने इसका लाभ उठाकर नकली सिक्के बनाने आरम्भ कर दिये। बरनी के अनुसार, "प्रत्येक हिन्दू का घर टकसाल बन गया।" परन्तु हिन्दू ही क्यों, मुसलमान भी इस लोभ से वंचित नहीं रहे होंगे और जो भी नकली सिक्के बना सकता था, उसने उन्हें बनाया। प्रजा ने पीतल और ताँबे के सिक्कों में कर और लगान दिया तथा अपने घरों में चाँदी व सोने के सिक्के एकत्र करना आरम्भ कर दिया। व्यापार में भी व्यक्ति चाँदी और सोने के सिक्के लेना चाहते थे तथा ताँबे और पीतल के सिक्के देना चाहते थे। इससे व्यापार और मुख्यतया विदेशी व्यापार नष्ट होने लगा।

वे सिक्के अधिक से अधिक तीन या चार वर्ष चले। सुल्तान ने इस योजना की असफलता को देखकर सभी सांकेतिक मुद्रा को वापस ले लिया और व्यक्तियों को उनके बदले में चाँदी और सोने के सिक्के दे दिये। यह सुल्तान की बहुत बड़ी उदारता थी। सरकारी टकसालों के सम्मुख ताँबे और पीतल के सिक्कों के ढेर लग गये परन्तु सुल्तान ने सभी सिक्के बदलवा दिये।

इस प्रकार मुहम्मद तुगलक अपनी सभी योजनाओं में असफल रहा। यह कहा जा सकता है कि उसके सुधार समय से आगे थे, उसकी प्रजा और उसके अधिकारी उन योजनाओं को न तो समझ सके और न उन्होंने उसके साथ सहयोग किया। परन्तु इतना कहने से उसकी योजनाओं की असफलता के मुख्य कारणों पर प्रकाश नहीं पड़ता। सुल्तान की योजनाओं की असफलता बहुत कुछ स्वयं उसके कारण थी। सुल्तान में कल्पना-बुद्धि तो थी परन्तु व्यावहारिकता की कमी थी। वह नवीन योजनाएँ तो निकाल सकता था और वे सम्भवतया, सिद्धान्त के आधार पर ठीक भी होती थीं परन्तु उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने की जो आवश्यकताएँ थीं उनकी पूर्ति सुल्तान नहीं कर पाता था। वह बहुत उग्र और बेसब्र था। तनिक-सी असफलता उसे क्रुद्ध कर देती थी और शीघ्र सफलता न मिलने के कारण वह अपनी योजनाओं को त्याग देता था। उसे अपने नागरिकों और अधिकारियों की योग्यता एवं क्षमता से लाभ उठाना तथा उनका सहयोग प्राप्त करना नहीं आता था। उसमें एक सुल्तान की दृष्टि से परिस्थितियों और व्यक्तियों के चरित्र को परखने की योग्यता का अभाव था। इस प्रकार उसमें एक व्यक्ति-समूह का नेता होने के गुणों का अभाव था। मुहम्मद तुगलक की असफलताओं का मुख्य कारण यही थे। इस कारण स्वयं सुल्तान और उसका चरित्र ही उसकी और उसकी योजनाओं की असफलता का कारण बने।

[ 3 ]

## मंगोल-आक्रमण

मुहम्मद तुगलक के समय में मंगोलों का केवल एक आक्रमण हुआ। 1327 ई. के लगभग ट्रान्स-ऑक्सियाना के मंगोल नेता अलाउद्दीन तार्माशीरीन ने एक बड़ी सेना लेकर भारत पर आक्रमण किया। डॉ. मेहदी हुसैन का कहना है कि तार्माशीरीन गजनी के निकट अमीर चोबन से परास्त होकर एक शरणार्थी की भाँति भारत में

भागकर आया था और मुहम्मद तुगलक ने उसे 5,000 दीनार की सहायता देकर वापस भेज दिया। परन्तु अधिकांश इतिहासकार उनके इस मत से सहमत नहीं हैं। उनकी राय के अनुसार मंगोल आक्रमणकारी के रूप में आये और उन्होंने मुल्तान तथा लाहौर से लेकर बदायूँ और मेरठ तक लूट-मार की। परन्तु सुल्तान ने उनके साथ क्या व्यवहार किया, इसके बारे में इन इतिहासकारों में भी मतभेद है। इसामी के अनुसार सुल्तान की एक सेना ने मेरठ के निकट मंगोलों को परास्त किया और उन्हें वापस जाने के लिए बाध्य किया। सर वूल्जले हेग ने इसी बात का समर्थन किया है। परन्तु फरिश्ता के अनुसार मंगोलों के दिल्ली के निकट पहुँचने पर सुल्तान ने उन्हें बहुमूल्य भेंटें देकर वापस किया। डॉ. ईश्वरीप्रसाद और डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव इस मत का समर्थन करते हैं। मंगोलों के निर्विघ्न दिल्ली के निकट तक पहुँच जाने और बिना किसी बड़े युद्ध के वापस चले जाने के कारण उनका यह मत सत्य भी जान पड़ता है। इतनी बात अवश्य है कि जब मंगोल वापस चले गये तब सुल्तान ने अपनी उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा की ओर ध्यान दिया। इसामी के अनुसार सुल्तान ने कलनूर (पंजाब में) तथा पेशावर को अपने अधिकार में कर लिया और वहाँ सुरक्षा की व्यवस्था की।

## [ 4 ]

## साम्राज्य-विस्तार

मुहम्मद तुगलक के समय में दिल्ली सल्तनत का सबसे अधिक विस्तार हुआ। गियासुद्दीन तुगलक के समय में ही विजित राज्यों को दिल्ली राज्य में सम्मिलित करने की नीति का पालन किया गया था। मुहम्मद तुगलक ने उसी नीति का अनुकरण किया। इसामी के अनुसार मंगोलों के वापस चले जाने के बाद उसने पेशावर और कलनूर को अपने आधिपत्य में ले लिया था।

### 1. खुरासान तथा इराक की विजय-योजना

मंगोलों के वापस चले जाने के पश्चात् सुल्तान ने खुरासान तथा इराक को विजय करने की योजना बनायी और इसके लिए उसने प्राय: 3,70,000 सैनिकों की एक बड़ी सेना एकत्र की तथा उसे एक वर्ष का अग्रिम वेतन भी दे दिया। मध्य-एशिया और ईरान (पर्शिया) की अव्यवस्थित परिस्थितियाँ और सुल्तान के दरबार में इराक तथा खुरासान से भागकर आये हुए अमीरों का प्रोत्साहन इस योजना के निर्माण का कारण था। परन्तु यह योजना कार्य-रूप में परिणत न की जा सकी और सुल्तान ने इस सेना को भंग कर दिया। मध्य-एशिया की परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया था और सुल्तान बहुत लम्बे अरसे तक इतनी बड़ी सेना का व्यय नहीं उठा सकता था। इस कारण इस योजना से हानि हुई। इससे सुल्तान की आर्थिक स्थिति दुर्बल हुई और सेना से निकाले गये सैनिकों ने असन्तोष का वातावरण उत्पन्न किया। योजना मूल आधार पर भी दोषपूर्ण थी। इतने दूरस्थ प्रदेश को जीतना सम्भव न था और यदि जीत भी लिया जाता तो उसे अपने अधिकार में रखना कठिन था।

### 2. नगरकोट की विजय (1337 ई.)

पंजाब के कांगड़ा जिले में स्थित नगरकोट का किला एक हिन्दू राजा के

अधीन था। उस समय तक किसी भी मुसलमान शासक ने उसे विजय नहीं किया था। मुहम्मद तुगलक ने उसे जीत लिया परन्तु अपनी अधीनता को स्वीकार कराने के पश्चात् उसे वहीं के राजा को वापस कर दिया।

**3. कराजल पर आक्रमण (1337-1338 ई.)**

इतिहासकारों ने कराजल को 'कराचिल', 'कुमाचल', आदि नामों से भी पुकारा है। यह राज्य हिमालय की तराई में स्थित आधुनिक कुमायूँ जिले में था। फरिश्ता के अनुसार सुल्तान का लक्ष्य कराजल की विजय नहीं बल्कि चीन की विजय था। बरनी के अनुसार यह इराक और खुरासान को जीतने का प्रथम चरण था। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इनमें से किसी भी मत को सत्य नहीं मानते। इनके अनुसार मुहम्मद तुगलक का उद्देश्य उन पहाड़ी राज्यों को अपनी अधीनता में लाना था जहाँ अधिकांश विद्रोहियों को शरण प्राप्त होती थी। इससे उसकी उत्तरी सीमाएँ भी सुरक्षित हो जाती थीं। इब्न-बतूता के अनुसार वहाँ आक्रमण के लिए एक लाख घुड़सवार और बड़ी संख्या में पैदलों की एक बड़ी सेना को भेजा गया। खुसरो मलिक को इस सेना का नेतृत्व सौंपा गया। इस सेना ने जिदया शहर को जीत लिया। डॉ. के. ए. निजामी के अनुसार सुल्तान की आज्ञा को न मानकर जब खुसरो मलिक तिब्बत की ओर बढ़ा तो उसे भी बख्तियार खलजी की भाँति निराश होना पड़ा। उसकी सेना नष्ट हो गयी। इब्न-बतूता के अनुसार सेना के केवल तीन अफसर जीवित वापस आ सके। परन्तु तराई के भाग में पहाड़ के नागरिक कृषि करते थे। इस कारण उन्होंने सुल्तान से सन्धि कर ली और उसे कर देना स्वीकार कर लिया। परन्तु इस आक्रमण से सुल्तान की सैनिक शक्ति दुर्बल हुई।

**4. दक्षिणी भारत**

अपने पिता के समय में मुहम्मद तुगलक तैलंगाना और सुदूर-दक्षिण के मलाबार-तट (पाण्ड्य राज्य) के अधिकांश भाग पर अधिकार कर चुका था। अपने शासन-काल के आरम्भ में अलाउद्दीन गुर्शास्प के विद्रोह ने उसे दक्षिण के अन्य भागों को विजय करने का अवसर दे दिया। गुर्शास्प ने कम्पिली के एक छोटे राज्य में शरण ली। वहाँ का राजा किसी समय में देवगिरि के अधीन था परन्तु अलाउद्दीन के समय में देवगिरि को दिल्ली राज्य में सम्मिलित किये जाने के पश्चात् उसने स्वयं को स्वतन्त्र कर लिया था। उसने अपनी सीमाओं और प्रतिष्ठा में वृद्धि करने में सफलता प्राप्त की थी। उस समय तक उस राज्य को मुसलमानों ने विजय नहीं किया था। तत्कालीन शासक कम्पिलदेव ने गुर्शास्प को अपने यहाँ शरण दी और दिल्ली की सेनाओं से युद्ध करता हुआ मारा गया। परन्तु उससे पहले उसने गुर्शास्प को वीर बल्लाल की शरण में भेजने का प्रबन्ध कर दिया था। राजा की मृत्यु के पश्चात् कम्पिली को दिल्ली में सम्मिलित कर लिया गया।

वीर बल्लाल ने गुर्शास्प की रक्षा करने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहा। उसकी पराजय हुई और उसने गुर्शास्प को दिल्ली सुल्तान को सौंप दिया तथा स्वयं उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इस अवसर पर उससे उसके राज्य (द्वारसमुद्र) का अधिकांश भाग छीन लिया गया।

डॉ. के. ए. निजामी के अनुसार राजधानी-परिवर्तन के पश्चात् मुहम्मद तुग-

लक ने देवगिरि के निकट के कोंढन (सिंहगढ़) को नाग नायक से छीन लिया। सम्भवतया, कोंढन उस समय तक स्वतन्त्र था। अतः कोंढन की विजय भी मुहम्मद तुगलक की एक नवीन विजय मानी जा सकती है।

इन विजयों ने दक्षिणी भारत की विजय की पूर्ति कर दी। दक्षिण के कुछ भाग को छोड़कर शेष सभी प्रदेश पर मुहम्मद तुगलक का अधिकार हो गया। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने लिखा है कि "इन सभी विजयों का श्रेय जिन्होंने इस्लाम की विजय पूर्ण कर दी और जिनसे ऐसा प्रतीत हुआ कि दक्षिण में हिन्दू स्वतन्त्रता पूर्णतया नष्ट हो गयी, युवराज अथवा सुल्तान के रूप में मुहम्मद बिन-तुगलक को था।"[1]

**5. राजस्थान**

केवल राजस्थान में मुहम्मद तुगलक को सफलता नहीं मिली। मालदेव के पुत्र जयजा को मेवाड़ छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा और राणा हम्मीरदेव ने सम्पूर्ण मेवाड़ पर अपना अधिकार कर लिया। राणा हम्मीरदेव ने मुहम्मद तुगलक द्वारा भेजी गयी एक सेना को परास्त करने में सफलता प्राप्त की थी, इसके भी प्रमाण प्राप्त होते हैं। उसके पश्चात् दिल्ली के सुल्तानों ने राजस्थान में अधिक हस्तक्षेप नहीं किया और राजस्थान में मेवाड़ का राज्य सबसे अधिक प्रतिष्ठित बन गया।

इस प्रकार, मुहम्मद तुगलक ने साम्राज्य-विस्तार करने में सफलता प्राप्त की। दिल्ली के सुल्तानों में सबसे अधिक बड़ा राज्य उसी का था। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने लिखा है कि "कश्मीर, उड़ीसा, राजस्थान और मलाबार-तट के कुछ भाग को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में सुल्तान की सत्ता स्वीकार की जाती थी और इस विस्तृत साम्राज्य पर उसने एक आधिपत्यपूर्ण शासन-व्यवस्था स्थापित की।"[2] परन्तु मुहम्मद तुगलक की यह सफलता स्थायी नहीं रही। दस वर्षों के पश्चात् उसके विस्तृत साम्राज्य का विघटन आरम्भ हो गया। उसके समय में अनेक विद्रोह हुए। उनमें से अधिकांश को कठोरता से दबा दिया गया परन्तु अन्त में उनमें से कुछ सफल हुए और भारत के दूरस्थ प्रदेशों में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। उसके अन्तिम समय में उसके राज्य की सीमाएँ अलाउद्दीन के राज्य की सीमाओं से अधिक न रहीं। इस प्रकार मुहम्मद तुगलक राज्य-विस्तार करने में तो सफल रहा परन्तु उस राज्य को अधिक समय तक अपने काबू में न रख सका। भारत का एक विस्तृत भू-प्रदेश होना, यातायात की असुविधाएँ और एक लम्बे समय से राजनीतिक एकता का अभाव मुहम्मद तुगलक की असफलता के कारण थे। परन्तु उसकी आन्तरिक योजनाओं की असफलता, खुरासान की विजय-योजना, कराजल का आक्रमण और दक्षिण में प्लेग के अवसर पर उसकी श्रेष्ठ सेना का नष्ट हो जाना भी उसकी असफलता के कारण थे।

---

1 "To Muhammad Bin Tughluq, either as Crown prince, or as Sultan, belongs the credit of all these conquests which completed the triumph of Islam and seemed to have finally put an end to Hindu independence in South." —Dr. R. C. Mazumdar.

2 "The authority of the Sultan was acknowledged all over India, save Kashmir, Orrisa, Rajasthan and a strip of Malabar coast, and he established an effective system of administration over his vast empire." —Dr. R. C. Mazumdar.

मुहम्मद तुगलक ने विदेशी राज्यों से भी सम्बन्ध स्थापित किये। भारत में विदेशी मुसलमान काफी बड़ी संख्या में पहले भी आये और उसके समय में भी आये। परन्तु मुहम्मद तुगलक ने, सम्भवतया, मिस्र से अपने राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। इसके अतिरिक्त 1341 ई. में चीन के सम्राट तोगन तिमूर ने अपना एक राजदूत उसके दरबार में भेजा था और उसने 1342 ई. में इब्न-बतूता को अपना राजदूत बनाकर चीन भेजा जो 1347 ई. में भारत वापस आया। इन सम्बन्धों से भारत को चाहे बहुत अधिक लाभ न हुआ हो परन्तु वे मुहम्मद तुगलक के विस्तृत दृष्टिकोण का प्रतीक अवश्य थे।

## [ 5 ]
## विद्रोह और साम्राज्य का विघटन

मुहम्मद तुगलक के समय में अनेक विद्रोह हुए। उनमें से कुछ विद्रोह महत्वाकांक्षी सरदारों ने किये परन्तु अधिकांश उसकी दमन-नीति के विरोध में अथवा उसकी दुर्बल परिस्थितियों से लाभ उठाने के उद्देश्य से किये गये। उनमें से कुछ विद्रोह सफल हुए और उन्होंने साम्राज्य के विघटन में भाग लिया।

(1) 1326-1327 ई. में उसके पिता की बहिन के पुत्र तथा गुलबर्गा के निकट सागर के जागीरदार बहाबुद्दीन गुर्शास्प ने विद्रोह किया। उसने बहुत-सी सम्पत्ति संचय कर ली थी। उसने सुल्तान के वफादार जागीरदारों पर आक्रमण किया। 1327 ई. में सुल्तान की सेना ने उसे देवगिरि के निकट परास्त किया और सागर तक उसका पीछा किया। गुर्शास्प वहाँ से भागकर कम्पिली के हिन्दू शासक की शरण में चला गया। सुल्तान ने कम्पिली पर आक्रमण करने के लिए एक बड़ी सेना भेजी। कम्पिलीदेव ने उसका मुकाबला किया। अन्त में अपनी स्थिति को दुर्बल देखकर उसने गुर्शास्प को द्वारसमुद्र के होयसल शासक वीर बल्लाल की शरण में भेज दिया, स्त्रियों को 'जौहर' की आज्ञा दे दी और स्वयं युद्ध लड़ता हुआ मारा गया। वीर बल्लाल ने आरम्भ में दिल्ली की सेना का मुकाबला किया परन्तु अपनी स्थिति को दुर्बल देखकर उसने गुर्शास्प को शाही सेना को सौंप दिया। उस समय मुहम्मद तुगलक ने अपनी क्रूर प्रकृति का परिचय दिया। उसने गुर्शास्प की खाल में भूसा भरवा कर उसे साम्राज्य के सभी महत्वपूर्ण शहरों में दिखलाया और उसके शरीर के माँस को चावल के साथ पकाकर उसकी बीबी और बच्चों के पास खाने के लिए भेजा।

(2) 1327-28 ई. में उच्छ, सिन्ध और मुल्तान के सूबेदार बहराम आईबा उर्फ किश्लूखाँ ने विद्रोह किया। वह गियासुद्दीन तुगलक का मित्र था। सुल्तान मुहम्मद उसका सम्मान करता था। वह सीमा का रक्षक भी था। इस कारण उसका विद्रोह राज्य के लिए एक बड़ा खतरा था। सम्भवतया इस विद्रोह का मुख्य कारण यह था कि उसने दौलताबाद जाने से इन्कार कर दिया और जिस व्यक्ति ने उसे सुल्तान के आदेश दिये उसने उसके साथ दुर्व्यवहार किया जिसके कारण उसने उसका वध कर दिया। बहराम आईबा के विद्रोह की सूचना पाकर सुल्तान दक्षिण से स्वयं उत्तर में गया और उसे परास्त कर दिया। बहराम आईबा भाग खड़ा हुआ परन्तु पकड़ा गया और उसका वध कर दिया गया।

(3) 1327-28 ई. में बंगाल में विद्रोह हुआ। गियासुद्दीन तुगलक गियासुद्दीन बहादुर को बंगाल से कैद करके दिल्ली ले आया था। मुहम्मद तुगलक ने उसे

छोड़ दिया था और उसे अपनी अधीनता में सोनारगाँव में शासन करने की आज्ञा दे दी थी। परन्तु प्रायः तीन वर्ष के पश्चात् उसने विद्रोह कर दिया। सुल्तान के सौतेले भाई बहरामखाँ ने उसे परास्त कर दिया और उसकी खाल में भूसा भरवाकर सुल्तान के पास भेज दिया।

परन्तु बहरामखाँ की शीघ्र मृत्यु हो गयी और उसके पश्चात् विभिन्न सरदारों में पारस्परिक झगड़े हो गये। अन्त में, एक वफादार सरदार अली मुबारक ने लखनौती पर अधिकार करके सुल्तान से किसी सूबेदार को भेजने की माँग की। परन्तु जब ऐसी कोई व्यवस्था नहीं हो सकी तो उसने स्वयं को सुल्तान अलाउद्दीन के नाम से स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। बाद में मलिक हाजी इलियास नामक एक अन्य सरदार ने उसका वध करके लखनौती पर अधिकार कर लिया और सुल्तान शमशुद्दीन के नाम से स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। सोनारगाँव पर भी उसने शीघ्र अधिकार कर लिया। मुहम्मद तुगलक बंगाल की ओर ध्यान दे न सका और वहाँ शमशुद्दीन का स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गया (1340-41 ई.)। उसके पश्चात् बंगाल कभी भी दिल्ली के सुल्तानों के अधीन नहीं हुआ।

(4) सुनम और समाना में किसान-जागीरदारों ने विद्रोह किया परन्तु सुल्तान ने उन्हें परास्त कर दिया और उनके नेताओं को दिल्ली ले जाकर मुसलमान बना लिया।

(5) 1338 ई. में कड़ा के सूबेदार निजाम माई ने विद्रोह किया और सुल्तान अलाउद्दीन की उपाधि ग्रहण करके स्वतन्त्र शासक बन गया। परन्तु अवध के सूबेदार आईन-उल-मुल्क ने उसे परास्त करके पकड़ लिया और उसकी खाल में भूसा भरवा कर सुल्तान के पास भिजवा दिया।

(6) 1338-39 ई. में बीदर के सूबेदार नसरतखाँ ने विद्रोह किया। वह सुल्तान को अपने वायदे के अनुसार कर नहीं दे सका था। परन्तु उसकी पराजय हुई और उसने आत्मसमर्पण कर दिया।

(7) 1339-40 ई. में गुलबर्गा में अलीशाह ने विद्रोह किया परन्तु वह पराजित हुआ और उसे गजनी भेज दिया गया। वहाँ से वापस आने पर उसका वध कर दिया गया।

(8) 1340-41 ई. में अवध के सूबेदार आईन-उल-मुल्क ने विद्रोह किया। सुल्तान ने उसे दौलताबाद का सूबेदार नियुक्त किया था। इससे उसे सन्देह हुआ कि सुल्तान उसे बरबाद करना चाहता है। इस कारण उसने आदेश का पालन करने के स्थान पर विद्रोह कर दिया। परन्तु वह पराजित हुआ। उसको अपमानित किया गया परन्तु बाद में उसकी योग्यता और वफादारी का ध्यान रखते हुए सुल्तान ने उसे माफ कर दिया और उसे महल के बगीचे की देखभाल के लिए नियुक्त कर दिया।

(9) मुल्तान में शाहू अफगान ने सूबेदार को कत्ल करके विद्रोह किया परन्तु सुल्तान के पहुँचने पर वह पहाड़ों में भाग गया।

(10) 1334-35 ई. में सैयद अहसन शाह ने मलाबार में विद्रोह किया। वह मुहम्मद तुगलक का सुदूर-दक्षिण का सूबेदार था जिसकी राजधानी मदुरा थी। सुल्तान ने जो सेना विद्रोहियों को दबाने के लिए भेजी वह उसके साथ मिल गयी।

बाद में सुल्तान स्वयं दक्षिणी भारत गया। परन्तु उसी समय वारंगल में प्लेग अथवा हैजा फैल गया जिसका शिकार स्वयं सुल्तान भी हुआ। उसी समय लाहौर में विद्रोह हो गया तथा दिल्ली और मालवा में अकाल पड़ गया। इस कारण सुल्तान को वापस आना पड़ा और अहसान शाह ने मदुरा में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की।

(11) जब सुल्तान मलाबार के विद्रोह को दबाने न जा सका बल्कि वारंगल से ही वापस लौट गया तब वहाँ के हिन्दुओं को भी सुअवसर प्राप्त हुआ। हिन्दू उससे पहले भी तैलंगाना में स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। मुस्लिम आक्रमणों ने तैलंगाना के राजवंश को नष्ट कर दिया था परन्तु विभिन्न स्थानों पर हिन्दू सामन्त उस समय भी प्रभावशाली थे। उन्हीं में से एक प्रोलय नायक ने हिन्दुओं का नेतृत्व किया। उसे प्रोलय वेम और भक्तिराज जैसे व्यक्तियों से सहायता प्राप्त हुई जिन्होंने स्वयं भी दक्षिणी भारत में अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। प्रोलय नायक ने विभिन्न स्थानों पर मुसलमान सेनाओं को परास्त किया और अन्त में पूर्वी गोदावरी जिले में एकपल्ली नामक स्थान पर अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। परन्तु 1330-35 ई. के बीच उसकी मृत्यु हो गयी। उसका उत्तराधिकारी काप्य नायक (कृष्ण नायक) हुआ। मलाबार के विद्रोह की सफलता ने उसे प्रोत्साहन दिया। उसने होयसल राज्य के शासक वीर बल्लाल से सहायता ली और तैलंगाना पर आक्रमण किया। उस आक्रमण में उसे सफलता मिली। तैलंगाना की राजधानी वारंगल में नियुक्त दिल्ली का सूबेदार मलिक मकबूल भाग खड़ा हुआ और इस प्रकार 1335 ई. में काप्य नायक ने सम्पूर्ण तैलंगाना में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की। उसने तथा वीर बल्लाल ने मिलकर मदुरा के नवीन स्वतन्त्रता-प्राप्त मुसलमानी राज्य पर भी आक्रमण किया और उसके कुछ भाग पर अधिकार करके काँची में हिन्दू राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की।

(12) इसी प्रकार का हिन्दुओं का आन्दोलन कृष्णा नदी के दक्षिण में भारत के पश्चिमी तट पर भी चल रहा था। वहाँ के हिन्दू आन्दोलन का नेतृत्व चालुक्य सोमदेव कर रहा था। उसे पूर्वी तट के हिन्दू नेताओं, जैसे प्रोलय वेम की सहायता प्राप्त हुई और उसने मुसलमानों को परास्त करके कई किलों को जीत लिया। उसने कम्पिली से मुसलमान सूबेदार मलिक मुहम्मद को निकालकर उस पर अधिकार कर लिया (कम्पिली पर मुहम्मद तुगलक ने गुर्शास्प के विद्रोह के समय में अधिकार किया था।) उस अवसर पर मुहम्मद तुगलक ने हरिहर और बुक्का (वे कम्पिली के राजा कम्पिलीदेव के मन्त्री थे और कम्पिली की विजय के पश्चात् उन्हें दिल्ली ले जाकर मुसलमान बनने के लिए बाध्य किया गया था) को कम्पिली का सूबेदार और नायब-सूबेदार बनाकर भेजा। परन्तु उनकी पराजय हुई और वे शरणार्थी के रूप में इधर-उधर भटकने लगे। बाद में कम्पिली पर मुसलमानों का अधिकार हो गया परन्तु हिन्दू उसे स्वतन्त्र करने का प्रयत्न करते रहे। अन्त में, हरीहर और बुक्का ने एक सन्त विद्यारण्य के प्रभाव में आकर पुनः हिन्दू धर्म को स्वीकार कर लिया और हिन्दुओं के आन्दोलन का नेतृत्व किया। अन्त में, उन्होंने 1336 ई. में विजयनगर के हिन्दू राज्य की नींव डाली और कृष्णा नदी के दक्षिण का पश्चिमी तट भी मुहम्मद तुगलक के हाथों से निकल गया।

(13) 1347 ई. में महाराष्ट्र (पिछले देवगिरि राज्य का प्रदेश) में एक

नवीन स्वतन्त्र मुसलमानी राज्य—बहमनी राज्य—की नींव पड़ी। सुल्तान ने कुतुलुगखाँ को दौलताबाद से हटा दिया था और अजीज हिमार को मालवा का सूबेदार बनाया था। यह उसकी दो भूलें रहीं। कुतलुगखाँ एक योग्य सूबेदार था और दौलताबाद से उसको हटाया जाना हानिकारक हुआ। इधर अजीज हिमार ने सुल्तान की इच्छा को जानकर विदेशी मुसलमानों में से अनेक का वध करा दिया। इस कारण गुजरात के विदेशी अमीरों ने विद्रोह किया। परन्तु उसे दबा दिया गया। तत्पश्चात् दौलताबाद में विद्रोह हुआ और वहाँ विद्रोहियों ने इस्माइल नामक एक सरदार को नासिरुद्दीन के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। सुल्तान जो गुजरात जा रहा था, पहले दौलताबाद गया और विद्रोहियों को परास्त करने के पश्चात् उसने उस पर अधिकार कर लिया। परन्तु उसी समय तागी के नेतृत्व में गुजरात में पुनः विद्रोह हुआ। सुल्तान उस विद्रोह को दबाने के लिए गुजरात गया। परन्तु दौलताबाद से उसके हटते ही विद्रोहियों ने उसे पुनः जीत लिया और इस बार हसन अबुल मुजफ्फर अलाउद्दीन बहमनशाह के नाम से सुल्तान बना और उसने एक स्वतन्त्र राज्य—बहमनी राज्य—की नींव डाली। गुजरात के विद्रोह के कारण सुल्तान को दक्षिणी भारत की ओर ध्यान देने का अवसर न मिल सका।

(14) गुजरात में विदेशी अमीरों ने विद्रोह किया था। उसी के परिणामस्वरूप मालवा, बरार और दौलताबाद में विद्रोह हुए थे। आरम्भ में नायब वजीर ने उस विद्रोह को दबाने में सफलता प्राप्त थी। परन्तु जब सुल्तान दौलताबाद में था तब तागी के नेतृत्व में गुजरात में एक बड़ा विद्रोह हो गया। सुल्तान स्वयं उस विद्रोह को दबाने के लिए गुजरात गया। तागी एक स्थान से दूसरे स्थान पर बिना कोई बड़ा युद्ध किये हुए घूमता रहा परन्तु अन्त में उसकी पराजय हुई और वह भागकर सिन्ध चला गया जहाँ पर भी विद्रोह हो रहा था। सुल्तान ने गुजरात में शान्ति स्थापित की, शासन को व्यवस्थित किया और तत्पश्चात् तागी को समाप्त करने व सिन्ध के विद्रोह को दबाने के लिए सिन्ध गया।

**मृत्यु**

मार्ग में सुल्तान बीमार हो गया और जबकि वह थट्टा के निकट ही था कि 20 मार्च, 1351 ई. को उसकी मृत्यु हो गयी। बदायूँनी ने लिखा है कि "सुल्तान को उसकी प्रजा से और प्रजा को अपने सुल्तान से मुक्ति मिल गयी।"[1]

मुहम्मद तुगलक के सिंहासन पर बैठने के एक वर्ष पश्चात् ही विद्रोह आरम्भ हो गये थे और वह अन्त तक उन विभिन्न विद्रोहों को दबाने में लगा रहा, यहाँ तक कि उसकी मृत्यु भी विद्रोह को दबाने को प्रयत्न करते हुए हुई। सम्भवतया, इतने अधिक विद्रोह किसी अन्य सुल्तान के शासन-काल में नहीं हुए। परन्तु उनमें से अनेक का कारण स्वयं सुल्तान की गलत नीतियाँ अथवा भूलें थीं। सुल्तान ने उनमें से अधिकांश विद्रोहों को दबाने में सफलता प्राप्त की परन्तु बाद में धन की कमी और विभिन्न युद्धों में सैनिक-शक्ति के अपव्यय किये जाने के कारण वह उनमें से अनेक को दबाने में असफल भी रहा। इस कारण बंगाल और सम्पूर्ण दक्षिणी भारत उसके हाथ से

---

1 "The king was freed from his people and they from their king."
—Budauni.

निकल गया और वहाँ स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। मुहम्मद तुगलक का समय साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि से सबसे अधिक ऐश्वर्य का था परन्तु वही समय तुगलक-साम्राज्य के विघटन का भी रहा। इस दृष्टि से मुहम्मद तुगलक तुगलक-साम्राज्य की दुर्बलता के लिए उत्तरदायी हुआ तथा तुगलक-वंश के पतन का कारण बना।
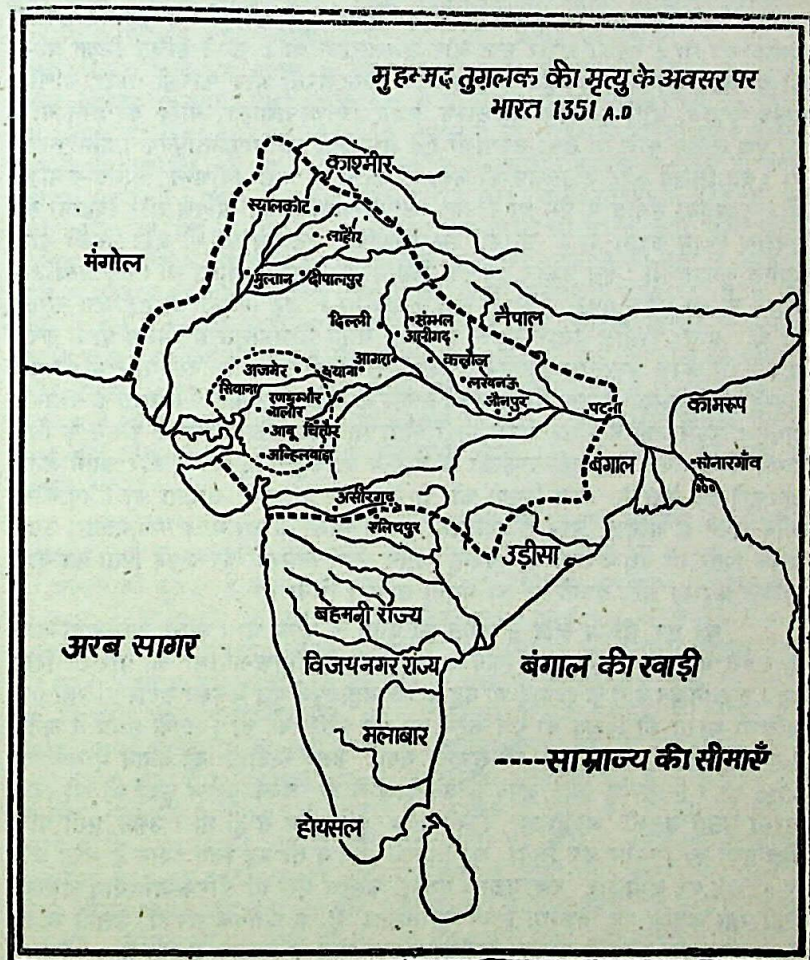
[ 6 ]

## मुहम्मद तुगलक का चरित्र और मूल्यांकन

मध्य-युग के इतिहास में मुहम्मद तुगलक का चरित्र और उसके कार्य अन्य सभी शासकों की तुलना में सर्वाधिक विवादपूर्ण रहे हैं। सम्भवतया, इस विवाद का एक कारण यह है कि तत्कालीन इतिहासकारों ने भी उसके बारे में कोई निश्चित

मत प्रकट नहीं किया। ऐसा नहीं है कि मुहम्मद तुगलक का सम्पूर्ण चरित्र विवादपूर्ण है। मुख्य विवाद उसके चरित्र की क्रूरता, उसके दुराग्रह और उसके कार्यों की असफलता में उसके उत्तरदायित्व के बारे में है अन्यथा अनेक बातें ऐसी भी हैं जिनके सम्बन्ध में इतिहासकार सहमत हैं।

सभी इतिहासकार सहमत हैं कि व्यक्तिगत गुणों की दृष्टि से मुहम्मद तुगलक असाधारण था। उसका शरीर पुष्ट और शक्तिशाली था। उसने उचित शिक्षा प्राप्त की थी और उसका ज्ञान बहुत विस्तृत था। उसे अरबी और फारसी भाषा, गणित, नक्षत्र-विज्ञान, भौतिक-शास्त्र, तर्कशास्त्र, दर्शन, चिकित्साशास्त्र, आदि का ज्ञान था। वह एक अच्छा कवि था तथा उपमाओं एवं अलंकारों का सफलतापूर्वक प्रयोग करता था। वह लिखने और वार्तालाप की कला में पटु था। उसे विभिन्न ललित-कलाओं और मुख्यतया संगीत से प्रेम था। वह ललित-कलाओं को पोषण और विद्वानों को संरक्षण प्रदान करता था। उसकी स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी थी और उसकी बुद्धि पर्याप्त कुशाग्र थी। इस प्रकार वह एक विद्वान और सुसभ्य व्यक्ति था। वह अत्यधिक उदार भी था। वह मुक्त हृदय से दान करता था। वह निर्धनों की सहायता करता था और प्राय: चालीस हजार व्यक्ति प्रतिदिन शाही भोजनालय से भोजन प्राप्त करते थे। उसने अनेक अस्पताल बनवाये थे और राज्य की तरफ से दान-दक्षिणा का पूर्ण प्रबन्ध था। उसका नैतिक जीवन बहुत अच्छा था और मध्य-युग के शासकों के सामान्य अवगुण उसमें नहीं थे। वह शराब नहीं पीता था और शराब पीने को रोकने के लिए उसने प्रयत्न किये थे। स्त्री-सम्बन्धों के बारे में वह बहुत कट्टर था और उसने अनेक अवसरों पर सेना के साथ स्त्रियों को ले जाने पर प्रतिबन्ध लगाया था। वह योग्य और अपने से अधिक आयु के व्यक्तियों का सम्मान करता था। सम्भवतया, उसने अपने पिता का वध कराया था परन्तु उसने अपने सिक्कों पर अपने पिता का नाम अंकित कराया और अपनी माँ का सर्वदा सम्मान किया।

वह एक सैनिक और सेनापति की दृष्टि से योग्य था। अपने शाहजादा-काल में उसने मंगोलों से अनेक युद्ध किये थे और अपनी सैनिक-प्रतिभा का परिचय दिया था। सुल्तान बन जाने के पश्चात् भी वह प्रत्येक महत्वपूर्ण युद्ध में स्वयं उपस्थित रहा था। दक्षिणी भारत की विजय को पूर्ण करने का श्रेय उसी को था। उसके समय में अनेक विद्रोह हुए परन्तु जहाँ-जहाँ भी सुल्तान गया; उसने विद्रोहों को दबाने में सफलता प्राप्त की। निस्सन्देह उसने अपने जीवन-काल में ही अनेक दूरस्थ सूबों को खो दिया परन्तु उसमें उसकी असहायता किसी अन्य दृष्टिकोण से ही थी। उसने ऐसी परिस्थितियों का निर्माण कर लिया था जिनकी ओर न तो वह स्वयं ध्यान दे सका और न ही उन पर अधिकार रख सका। परन्तु उसका एक भी सैनिक-अभियान असफल नहीं रहा जबकि यह विश्वास किया जा सकता है कि आर्थिक संकटों, उत्तरी भारत के अकाल और दक्षिणी भारत के हैजा अथवा प्लेग के कारण उसकी सेना दुर्बल हो गयी थी। उसके सैनिक-अभियानों की सफलता यह भी सिद्ध करती है कि उसे वफादार और योग्य व्यक्तियों की सेवाएँ प्राप्त हुई थीं। यह भी महत्वपूर्ण है कि दिल्ली के सुल्तानों में किसी ने भी मुहम्मद तुगलक के बराबर अपने जीवन का समय सैनिक-अभियानों में व्यतीत नहीं किया।

मुहम्मद तुगलक शासन की दृष्टि से अत्यधिक परिश्रमी था। उसने राज्य के पदों को प्राप्त करने का अधिकार योग्यता रखा और उसमें धर्म, जाति, नस्ल

के आधार पर कोई अन्तर नहीं किया। परन्तु वह असफल हुआ। अपने 26 वर्ष के शासन-काल में वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हुआ। उसकी आन्तरिक योजनाओं से में प्रत्येक असफल हुई। उनमें से प्रत्येक ने राज्य की आर्थिक हानि की, जन-साधारण को कष्ट और असन्तोष प्रदान किया तथा सुल्तान की प्रतिष्ठा में कमी की। बाह्य दृष्टि से उसकी खुरासान की विजय-योजना त्याग दी गयी, कराजल-आक्रमण से लाभ कम और सैनिक हानि अधिक हुई, बंगाल स्वतन्त्र हो गया, सम्पूर्ण दक्षिणी भारत में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये और गुजरात तथा सिन्ध में उसका प्रभाव अस्थिर हो गया। उसने अपने पिता से प्राप्त एक शक्तिशाली राज्य को दुर्बल और छोटा कर दिया तथा यह माना जा सकता है कि तुगलक-वंश का पतन उसके समय से ही आरम्भ हो गया। इस दृष्टिकोण से सुल्तान के पक्ष में केवल दो बातें कही जा सकती हैं। प्रथम, उन सभी कठिनाइयों और असफलताओं के होते हुए भी किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह ने सुल्तान का वध करने का प्रयत्न नहीं किया जैसा सल्तनत के अधिकांश शासकों के बारे में हुआ। द्वितीय, सुल्तान की मृत्यु के पश्चात् सिन्ध में सुल्तान की सेना दो दिन तक बिना किसी सुल्तान के पड़ी रही। तब भी किसी सरदार ने सुल्तान बनने का प्रयत्न नहीं किया और फीरोज तुगलक निर्विवाद सुल्तान चुना गया। परिस्थितियाँ उसके लिए उत्तरदायी हों, यह माना जा सकता है परन्तु यह बातें सुल्तान मुहम्मद तुगलक के पक्ष में अवश्य जाती हैं। परन्तु तब भी निर्णय यही किया जाता है कि मुहम्मद तुगलक परिश्रमी, जनता की भलाई चाहने वाला और समय-समय पर अत्यधिक न्यायप्रिय होते हुए भी शासक की दृष्टि से असफल हुआ।

उपर्युक्त बातों पर सहमत होने के बावजूद भी मुहम्मद तुगलक का दोमुखी व्यक्तित्व, चरित्र, व्यवहार और कार्य इतिहासकारों में विवाद का कारण बन गये हैं। शासक की दृष्टि से उसकी असफलताओं पर विचार करते हुए इतिहासकार यह कहते हैं कि उसकी असफलताओं का श्रेय उसके समय की परिस्थितियों और जनता के असहयोग को था। परन्तु अधिकांश इतिहासकार इस बात से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार सुल्तान का उत्तेजक चरित्र, दुराग्रह, व्यावहारिक बुद्धि की कमी, धैर्य की कमी और मानव-व्यवहार तथा परिस्थितियों को समझने की क्षमता का अभाव उसकी असफलता के मुख्य कारण थे। इतिहासकारों का यही मत अधिक तर्क-संगत प्रतीत होता है। मुहम्मद तुगलक काल्पनिक योजनाएँ तो बना लिया करता था और, सम्भवतया, सिद्धान्त के आधार पर वे ठीक भी होती थीं, परन्तु उन्हें सफल बनाने के लिए वह उचित साधन नहीं खोज पाता था और न उसमें पर्याप्त मात्रा में धैर्य ही था। इस कारण उसकी योजनाएँ असफल होती थीं। फलस्वरूप, सुल्तान संयम खोकर कठोर दण्ड देता था और परिस्थितियों से बाध्य होकर वह उन्हें त्याग भी देता था। सुल्तान की यह कमी भी थी कि वह अपनी प्रजा और अपने अधिकारियों का सहयोग प्राप्त करने में असफल हो जाता था और फिर क्रुद्ध होकर सभी को नीच और बेईमान मान लेता था। अतः अपनी असफलता का मूल कारण तो वह स्वयं ही था।

तत्कालीन इतिहासकार इसामी और बरनी ने सुल्तान पर 'काफिर' होने का आरोप लगाया है। परन्तु यह सर्वथा गलत है। सुल्तान दिल्ली के सुल्तानों में अत्य-धिक सहिष्णु शासक था। वह दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने योग्यता को सर-

कारी सेवाओं में स्थान प्राप्त करने का मुख्य आधार माना। उसने निम्न कुल में उत्पन्न व्यक्तियों को भी राज्य में प्रतिष्ठित पद प्रदान किये। वह सभी धर्मों के विद्वानों का सम्मान करता था। जैन विद्वान और सन्त जिनप्रभू सूरी को उसने दरबार में बुलाकर सम्मान प्रदान किया था। वह सभी सूफी, शेख और अन्य विभिन्न सम्प्रदायों के सन्तों के सम्पर्क में आया था। अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति उसका व्यवहार सहिष्णुतापूर्ण था। नगरकोट पर आक्रमण के अवसर पर उसने ज्वालामुखी देवी के मन्दिर को नष्ट नहीं किया। दक्षिण-भारत में मधुकेश्वर-मन्दिर की हानि होने पर उसकी पूर्ति उसके अधिकारियों ने की थी। हिन्दुओं को उसने सम्मानित पदों पर नियुक्त किया था। सम्भवतया, वह दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने हिन्दुओं के त्यौहारों मुख्यतया, होली में भाग लिया। इसके अतिरिक्त उसने उलेमा-वर्ग को उनके विशेष अधिकारों से वंचित किया था और अनेक अवसरों पर उसने उन्हें कठोर दण्ड दिये थे। अत: कट्टर मुसलमान और उलेमा-वर्ग उससे असन्तुष्ट हो गये और उन्होंने उस पर गलत आरोप लगाये। अन्त में, सुल्तान को उन्हें सन्तुष्ट करने लिए खलीफा की स्वीकृति लेने और खलीफा के एक वंशज गियासुद्दीन मुहम्मद का सम्मान करने के लिए बाध्य होना पड़ा। वैसे मुहम्मद तुगलक इस्लाम और उसके सम्मान की सुरक्षा में विश्वास करता था। वह इस्लाम के विरुद्ध कार्य करने वालों को मृत्यु-दण्ड देता था। अपने व्यक्तिगत जीवन में भी वह इस्लाम के नियमों का पालन करता था। अत: यह माना जाता है कि वह एक सहिष्णु मुसलमान शासक था।

परन्तु, मुहम्मद तुगलक के विषय में मुख्य विवाद उसकी क्रूर और आत्म-विरोधी प्रकृति के कारण है। इब्न-बतूता ने लिखा है कि "मुहम्मद तुगलक एक ऐसा व्यक्ति है जो उपहार देने पर रक्त बहाने में अन्य सभी से अधिक रुचि रखता है। उसके द्वार पर किसी निर्धन को धनवान बनते हुए अथवा जीवित व्यक्ति को मृत्यु के मुख में जाते हुए किसी भी समय देखा जा सकता है।" इसी प्रकार, इतिहासकार बरनी ने लिखा है कि "सुल्तान ने निरपराध मुसलमानों का रक्त इतनी क्रूरता से बहाया कि सर्वदा उसके महल के दरवाजे से बहता हुआ खून का दरिया देखा जाता था।"[1] इस आधार पर इन इतिहासकारों ने उसे रक्त-पिपासु बताया। सम्भवतया इन तत्कालीन इतिहासकारों की राय के आधार पर ही एलफिन्स्टन ने यह मत व्यक्त किया कि 'मुहम्मद तुगलक में पागलपन का कुछ अंश था।' उन्होंने लिखा है कि "प्रत्येक प्रकार से यह स्वीकार किया जाता है कि वह अपने युग का एक शक्तिशाली और योग्य शासक था.......परन्तु ये सभी अनुपम प्रतिभाएँ और योग्यताएँ उसे निरर्थक ही प्रदान की गयी थीं। इन सभी के साथ निर्णय का औचित्य सम्मिलित था जो निरंकुश शक्ति के मद को ध्यान में रखने के बाद भी हमें यह सन्देह प्रदान करता है कि क्या उसमें पागलपन का कुछ अंश विद्यमान न था?"[2] कुछ अन्य यूरोपीय इति-

---

1 "(The Sultan) wanted only to shed the blood of innocent Muslims, so much so indeed that a stream of blood was always seen flowing before the threshold of the palace." —Barani.

2 "It is admitted on all hands that he was most eloquent and accomplished prince of his age···yet the whole of these splendid talents and accomplishments were given to him in vain, they were accompanied by a perversion of judgment which after every

हासकारों ने भी इसी मत को स्वीकार कर लिया है। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस मत को स्वीकार नहीं करते। निस्सन्देह, मुहम्मद तुगलक अपराधियों, विरोधियों और विद्रोहियों को कठोरतम दण्ड देता था जो अमानवीय और नृशंस भी बन जाते थे। इब्न-बतूता जो एक विदेशी यात्री था, अनेक ऐसे उदाहरण देता है जबकि सुल्तान ने अमानुषिक दण्ड दिये थे। फीरोज तुगलक का अपने समय में मुहम्मद तुगलक द्वारा दण्डित अनेक व्यक्तियों को भेंट, दान आदि देकर सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करना भी यह संकेत देता है कि सुल्तान क्रूर था। अतः कतिपय इतिहासकारों द्वारा उसे क्रूरता के दोष से मुक्त करने का प्रयत्न तो सफल नहीं माना जा सकता। परन्तु इसी आधार पर सुल्तान को रक्त-पिपासु अथवा पागल कहना भी सर्वथा अनुपयुक्त है। डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है कि "कुछ इतिहासकार उस पर पागलपन का आरोप लगाते हैं परन्तु इब्न-बतूता के लेखों तथा बरनी के इतिहास में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं किया गया है।"[1] वह पुनः लिखते हैं : "मुहम्मद तुगलक पर पागल होने का आरोप मुल्लाओं ने लगाया था जिनके प्रति सुल्तान का व्यवहार निस्सन्देह तिरस्कारपूर्ण था।"[2] इसी प्रकार डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव भी उसे पागलपन के दोष से सर्वथा मुक्त मानते हैं। वह लिखते हैं कि "मुहम्मद साधारण अपराधों के लिए मृत्यु-दण्ड इसलिए नहीं दिया करता था कि वह पागल था बल्कि इसलिए कि उसमें साधारण और भीषण अपराधों में अन्तर समझने की विवेकपूर्ण बुद्धि न थी। उसकी गलतियों का कारण उसका पागलपन नहीं बल्कि सन्तुलन का अभाव था।"[3] इसी प्रकार, अन्य अधिकांश आधुनिक इतिहासकार भी मुहम्मद तुगलक को पागलपन के दोषों से सर्वथा मुक्त कर देते हैं।

मुहम्मद तुगलक के बारे में एक अन्य विवाद यह है कि उसमें विरोधी तत्वों का मिश्रण था या नहीं?' स्मिथ ने लिखा था कि "वह विरोधी तत्वों का मिश्रण था जैसा कि बाद के समय में जहाँगीर हुआ।"[4] परन्तु डॉ. ईश्वरीप्रसाद इस विचार से सहमत नहीं हैं। वह लिखते हैं कि "केवल सरसरी दृष्टि से देखने पर ही हमें मुहम्मद 'आश्चर्यजनक विरोधी तत्वों का मिश्रण' प्रतीत होता है अन्यथा वास्तविकता में वह

---

allowance for intoxication of absolute power, leaves us in doubt whether he was not affected by some degree of insanity."
—Elphinstone.

1 "Some historians lay the charge of madness on him but neither in the pages of Ibn Batuta nor in the history of Barani there is any mention of it." —Dr. Ishwari Prasad.

2 "The charge that Muhammad Tughluq was mad was prepared by the *Mullas* towards whom the behaviour of the Sultan was definitely contemptuous."

3 "Muhammad inflicted the punishment of death for petty offences not because he was mad but because he could make no discrimination between crime and crime. The mistake was due to the lack of a sense of proportion rather than to mental insanity." —Dr. A. L. Srivastava.

4 "He was a mixture of opposites, as Jahangir was in his later age." —V. A. Smith.

ऐसा नहीं था ।"[1] वह उसका मुख्य दोष उसमें शासन-प्रबन्ध के उच्च आदर्शों के साथ-साथ 'दुराग्रह की प्रवृत्ति' को बताते हैं। डॉ. के. ए. निजामी भी उसे विरोधी तत्वों का मिश्रण मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनके अनुसार मुहम्मद तुगलक के बारे में इस प्रकार की धारणा बनने का कारण बरनी है जो भावावेश में कभी सुल्तान की बहुत प्रशंसा करता है तो कभी अत्यधिक बुराई। वह लिखते हैं कि "जब बरनी वर्तमान में है तब उसे मुहम्मद बिन-तुगलक से प्रेम है। जब वह भूतकाल में है तो उसके पास उसके लिए घृणा के अतिरिक्त कुछ नहीं है।"[2] वह लिखते हैं कि सुल्तान में विरोधी तत्वों का मिश्रण न था बल्कि स्वयं बरनी के विचारों में ही विरोध था जिसके कारण सुल्तान के बारे में इस प्रकार की धारणा बना ली गयी है। डॉ. मेहदी हुसैन भी लिखते हैं कि "मुहम्मद तुगलक के विरोधी गुण उसके जीवन के विभिन्न अवसरों पर प्रकट हुए और उसके लिए स्पष्ट कारण भी थे। अतः उसे विरोधी तत्वों का मिश्रण स्वीकार नहीं किया जा सकता।" परन्तु अन्य कुछ आधुनिक इतिहासकार ऐसे भी हैं जो मुहम्मद तुगलक में विरोधी तत्वों का मिश्रण मानते हैं। मुहम्मद तुगलक के कार्यों को देखते हुए जब उसके चरित्र की व्याख्या की जाती है तब यह स्पष्ट होता है कि, निस्सन्देह, उसके चरित्र में विरोधी तत्व थे। मुहम्मद तुगलक में अत्यधिक नम्रता थी परन्तु दम्भ भी कम नहीं था। खलीफा के दरिद्र वंशज गियासुद्दीन मुहम्मद से स्वयं अनुरोध करके उसके पैर को उसने अपनी गर्दन पर रखवाया। यह उसकी नम्रता थी। परन्तु इसके विपरीत दूसरी ओर वह यह सुनने को तैयार न था कि सम्पूर्ण पृथ्वी पर ऐसा भी कोई भू-प्रदेश है जिस पर उसका आधिपत्य नहीं है। यह उसका दम्भ था। एक अवसर पर सुल्तान एक साधारण व्यक्ति की भाँति काजी के न्यायालय में उपस्थित होता है, उसे पहले से ही आदेश भेज देता है कि न्यायालय में वह उसके साथ एक साधारण व्यक्ति की भाँति ही व्यवहार करे और काजी के निर्णय को शिरोधार्य करता है। इसी प्रकार, एक अन्य अवसर पर वह अपने एक अधिकारी के पुत्र से 21 बेंत खाता है। वही सुल्तान अनेक अवसरों पर साधारण से साधारण अपराधों के लिए मृत्यु-दण्ड देता है अथवा दण्ड देने में क्रूरता और बर्बरता का परिचय देता है। इसे न्याय का औचित्य नहीं माना जा सकता। इससे सिद्ध होता है कि साधारणतया मुहम्मद तुगलक शान्त और संयमी था परन्तु क्रोध में उसके मस्तिष्क का सम्पूर्ण सन्तुलन नष्ट हो जाता था। इसी प्रकार, कभी सुल्तान बहुत उदार और कभी ऐसी संकुचित प्रवृत्ति का बन जाता था जिसमें तर्क के लिए कोई स्थान न रहता था। सर वूल्जले हेग ने उसके बारे में लिखा है कि एक शासक की दृष्टि से "उसके कुछ प्रशासकीय कार्य और अधिकांश सैनिक-कार्य श्रेष्ठतम योग्यता का प्रमाण देते हैं परन्तु अन्य कार्य पागलपन के कार्य हैं।"[3] ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना पड़ता है कि मुहम्मद

---

1 "Only when viewed superficially Muhammad appears to be an amazing compound of contradiction, but he was not really so."
—Dr. Ishwari Prasad.

2 "When Barani is in the present, he has love for Muhammad bin Tughluq; but when he is in the past, he has nothing but hatred for him."
—Dr. K. A. Nizami.

3 "Some of his administrative and most of his military measures give evidence of abilities of the highest order; others are the acts of madness."
—Sir Wolseley Haig.

तुगलक में विरोधी तत्वों का मिश्रण था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव यह मानते हैं कि उसमें विरोधी तत्वों का मिश्रण था। इस सम्बन्ध में डॉ. आर. सी. मजूमदार ने भी लिखा है कि "वह न रक्त-पिपासु दैत्य था और न पागल, जैसा कुछ व्यक्तियों ने कहा है। लेकिन उनमें विरोधी तत्वों का मिश्रण था, इसमें सन्देह नहीं है क्योंकि असहनीय क्रूरता, अत्यधिक परिवर्तनशीलता और परिस्थितियों को समझने का अपना ही दृढ़ विश्वास आदि हृदय और मस्तिष्क के अनेक गुण उसमें ऐसे थे जो उसके चरित्र के कुछ दोषों के पूर्ण विरोध में दिखायी देते हैं।"[1] इस प्रकार, मुहम्मद तुगलक पागल तो न था परन्तु उसमें विरोधी तत्वों का मिश्रण अवश्य था।

मुहम्मद तुगलक की विभिन्न असफलताओं के होते हुए भी उसे इतिहास में एक प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है। गार्डनर ब्राउन ने मुहम्मद तुगलक को सभी अपवादों से मुक्त करके उसकी अत्यधिक प्रशंसा की है। डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने उसके बारे में लिखा है कि "मध्य-युग में राजमुकुट धारण करने वालों में मुहम्मद तुगलक, निस्सन्देह, योग्यतम व्यक्ति था। मुस्लिम शासन की स्थापना के पश्चात् दिल्ली के सिंहासन को सुशोभित करने वाले शासकों में वह सर्वाधिक विद्वान एवं सुसंस्कृत शासक था।"[2] सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि "दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाले असाधारण शासकों में से वह एक था।"[3] उपर्युक्त इतिहासकारों के कथन में बहुत कुछ सत्य है। शिक्षा, ज्ञान, नैतिक चरित्र, व्यक्तिगत साहस और सैन्य-संचालन की दृष्टि से मुहम्मद तुगलक अद्वितीय था। यह भी ठीक है कि उससे अधिक विद्वान और सच्चरित्र शासक दिल्ली के सुल्तानों में से कोई नहीं हुआ। उसका व्यक्तित्व और चरित्र आकर्षक था। परन्तु एक शासक की दृष्टि से मुहम्मद तुगलक पूर्णतया असफल रहा, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। उसकी सद्भावनाओं और योग्यता का अन्तिम परिणाम सफलता नहीं बल्कि असफलता था। वह न तो अपने राज्य की सुरक्षा कर सका, न अपनी प्रजा की भलाई और न ही अपनी प्रतिष्ठा की सुरक्षा। इस कारण इतिहास में मुहम्मद तुगलक का स्थान एक योग्य और सफल शासक के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसकी विद्वता, काल्पनिक शक्ति, व्यक्तिगत साहस और धार्मिक सहिष्णुता उसकी श्रेष्ठता में थी। कई क्षेत्रों में उसने नवीन अन्वेषण किया। उनमें उसे सफलता नहीं मिली परन्तु उसकी शक्ति उसके सिद्धान्तों के औचित्य, उनकी पूर्ति के लिए अनवरत प्रयत्न और अपनी असफलता को स्वीकार

---

1 "He was not a monster or a lunatic, as has been suggested by some, but there is no doubt he was a mixture of opposites, for his many good qualities of head and heart seem to be quite incompatible with certain traits of vices in his character such as revolting cruelty, frivolous caprice, and an inordinate belief in his own view of things." —Dr. R. C. Mazumdar.

2 "Muhammad Tughluq was unquestionably the ablest man among the crowned heads of the middle ages. Of all the kings who sat on the throne of Delhi since Muslim conquest, he was undoubtedly the most learned and accomplished ruler." —Dr. Ishwari Prasad.

3 "He was one of the most extraordinary monarchs who ever sat upon a throne." —Sir Wolseley Haig.

करने में थी। इस कारण मुहम्मद तुगलक की श्रेष्ठता उसकी सफलता अथवा असफलताओं के कारण नहीं है बल्कि उसकी विद्वता और चरित्र के कुछ विशेष सद्गुणों के कारण है।

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मुहम्मद तुगलक की आन्तरिक सुधार योजनाओं का वर्णन कीजिए। उनकी असफलता के क्या कारण थे?
2. मुहम्मद तुगलक की निम्न आन्तरिक योजनाओं में से किन्हीं दो पर विस्तार से टिप्पणी कीजिए :
   (अ) दोआब में कर-वृद्धि,
   (ब) राजधानी-परिवर्तन,
   (स) सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन।
3. मुहम्मद तुगलक के समय में हुए विद्रोहों ने किस प्रकार तुगलक-साम्राज्य के विघटन मे भाग लिया?
4. मुहम्मद तुगलक के चरित्र और व्यक्तित्व पर एक टिप्पणी लिखिए।
5. "मुहम्मद तुगलक में विरोधी तत्वों का मिश्रण था।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं?

# 13

## फीरोजशाह (तुगलक) : 1351-1388 ई.

फीरोज सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक के छोटे भाई रज्जब का पुत्र था। रज्जब का विवाह एक राजपूत राजा रनमल पर दबाव डालकर उसकी पुत्री से किया गया था। उसी का पुत्र फीरोज था जिसका जन्म 1309 ई. में हुआ। फीरोज की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया गया परन्तु, सम्भवतया, वह योग्य न बन सका। उसने अपने जीवन में न किसी सफल सैनिक-अभियान में भाग लिया और न उसने अच्छे शासन-प्रबन्धक की योग्यता का परिचय ही दिया। परन्तु मुहम्मद तुगलक अपने इस भाई से विशेष प्रेम करता था। सम्भवतया, फीरोज का सबसे बड़ा गुण अपने भाई की आज्ञा का पालन करना था। इस कारण फीरोज को शासन में महत्वपूर्ण पद प्राप्त होते रहे। जिस समय मुहम्मद तुगलक की मृत्यु हुई उस अवसर पर फीरोज उसके साथ था। सरदारों के कहने से 23 मार्च 1351 ई. को फीरोज ने सिंहासन पर बैठना स्वीकार कर लिया और सुल्तान बना।

फीरोज के सिंहासन पर बैठने के विषय में दो बातें विचारणीय हैं। प्रथम, फीरोज स्वयं सिंहासन पर बैठने के लिए उत्सुक था अथवा नहीं? साधारणतया यह मत प्रचलित है कि वह स्वयं सिंहासन पर बैठने के लिए उत्सुक नहीं था बल्कि सरदारों के कहने से बाध्य होकर उसने सिंहासन को स्वीकार किया था। आधुनिक समय में इसके बारे में कुछ शंका प्रकट की गयी है। डॉ. यू. एन. डे ने अपने एक लेख[1] में यह सिद्ध किया है कि फीरोज बहुत सच्चरित्र न था। वह आरम्भ से ही शराब पीता था और नाच-गाने, मुख्यतया गाना सुनने का उसे शौक था। ऐसा भी नहीं माना जा सकता कि वह महत्वाकांक्षाओं से रहित था बल्कि सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन के उत्तराधिकारी के समर्थन में बने हुए विभिन्न गुटों में से एक गुट में वह भी था। प्रभावशाली उलेमा-वर्ग और इस्लाम के समर्थक साधु-सन्त तथा सरदार जो मुहम्मद तुगलक की नीति से असन्तुष्ट होकर उस नीति में परिवर्तन चाहते थे, फीरोज के समर्थक बने और स्वयं फीरोज निरन्तर उनसे सम्पर्क बनाता रहा, बड़ी सावधानी से उनका समर्थन प्राप्त करता रहा तथा उस गुट के प्रभाव को बढ़ने का अवसर देता रहा। थट्टा से दिल्ली तक के मार्ग में वह सभी सुन्नी सन्तों के मजारों पर होता हुआ गया, सभी जीवित धर्माधिकारियों को वह सम्मान प्रदान करता गया और उसने सर्वदा कट्टर सुन्नी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में विश्वास प्रकट किया। जिस समय उसे सिंहासन पर बैठने के लिए आमन्त्रित किया गया, उस अवसर पर यद्यपि उसके समर्थकों की

1 'Significance of the Accession of Firuz Shah Tughlaq.'

संख्या अधिक थी परन्तु तब भी उसकी स्थिति सुनिश्चित न थी। यही उसके संकोच का कारण रहा था अन्यथा उसने कट्टर सुन्नी-वर्ग का समर्थन प्राप्त करके सिंहासन को प्राप्त करने की लालसा की थी। इसी कारण डॉ. डे ने लिखा है कि "उसकी अरुचि और संकोच का कारण राज्य के सभी वर्गों में अपने लिए समर्थन प्राप्त करने की अनिश्चितता का परिणाम था।"[1] वह पुनः लिखते हैं कि "उसे सुल्तान बनने की पूर्ण इच्छा थी और उसने इस प्रकार कार्य किया कि उसे सफलता प्राप्त हो जाय।"[2] डॉ. डे ने अपने समर्थन में बदायूँनी का एक विवरण भी दिया है जिसमें बदायूँनी ने लिखा था कि "सुल्तान मुहम्मद के एक पुत्र था जो उस समय शिकार पर गया हुआ था और जिसका फीरोज ने अमीरों की सहायता से वध कराकर सिंहासन पर अधिकार कर लिया।" डॉ. डे के अनुसार अफीफ और बरनी के कथनों को आधुनिक इतिहासकारों ने आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है जबकि वे दोनों ही फीरोज की कृपा के इच्छुक थे और ऐसी स्थिति में फीरोज के विरुद्ध कुछ भी लिखने को तैयार न थे। डॉ. डे का कथन अत्यधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। फीरोज में सैनिक प्रतिभा नहीं थी, फिर भी अमीरों ने उस संकट के अवसर पर उसे ही सुल्तान चुना। बाद के समय में भी वह निरन्तर उलेमा-वर्ग पर निर्भर करता रहा और उसकी धार्मिक नीति कठोर रही। ये सभी बातें इस ओर संकेत करती हैं कि फीरोज ने धार्मिक-वर्ग और मुहम्मद तुगलक की नीतियों से असन्तुष्ट वर्ग से गठबन्धन करके सिंहासन प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उसमें सफल हुआ। बरनी और अफीफ ने लिखा है कि सुल्तान मुहम्मद ने फीरोज को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था परन्तु इस बात के अन्य कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होते। यह बात अवश्य मानी जाती है कि सिन्ध के विद्रोहियों और मंगोलों के शाही खेमों तक धावा करने के कारण ऐसी परिस्थिति बन गयी थी जिसमें सुल्तान का शीघ्र चुनाव करना आवश्यक था और राज्य की परिस्थितियाँ यह भी माँग कर रही थीं कि एक बच्चे के स्थान पर एक वयस्क और सर्वमान्य व्यक्ति को सिंहासन प्राप्त होना चाहिए। उन परिस्थितियों में फीरोज ने कुशलता से कार्य किया और बहुसंख्यकों का समर्थन प्राप्त करके सुल्तान बनने में सफलता प्राप्त की।

द्वितीय विचारणीय बात यह है कि क्या फीरोज सिंहासन का अपहरणकर्ता था अथवा सिंहासन पर उसका न्यायोचित अधिकार न था? सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि वजीर ख्वाजा-ए-जहाँ ने जिस बच्चे को दिल्ली सुल्तान घोषित किया वह मुहम्मद तुगलक का जायज पुत्र था। इस कारण सिंहासन पर अधिकार उसी का था। ऐसी स्थिति में उस बच्चे को सिंहासन से हटाकर स्वयं सुल्तान बनना न्यायपूर्ण न था। अतः फीरोज अपहरणकर्ता था। आधुनिक इतिहासकारों में से एक डॉ. आर. सी. जौहरी फीरोज को सिंहासन का अपहरणकर्ता मानते हैं। उनका तर्क है कि बरनी के अतिरिक्त अन्य किसी भी तत्कालीन इतिहासकार ने यह नहीं लिखा है कि मुहम्मद तुगलक ने फीरोज को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था और यदि मुहम्मद ने

---

1 "His reluctance or hesitation was the result of his uncertainty regarding the support that he would get from all sections of his kingdom."
—Dr. U. N. Dey.

2 "He was very much interested in becoming a Sultan and did manage things in such a way as to achieve success."
—Dr. U. N. Dey.

फीरोज को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया होता तो मुहम्मद की बहिन, खुदा-बन्दजादा ने अपने पुत्र दवार मलिक को सिंहासन के दावेदार के रूप में प्रस्तुत नहीं किया होता और सरदारों द्वारा सुल्तानों के चुने जाने की आवश्यकता नहीं होती। इस पक्ष के तर्क में यह भी कहा गया है कि बदायूँनी ने यह लिखा था कि मुहम्मद के एक पुत्र था। ऐसी स्थिति में सिंहासन पर उसका ही कानूनी अधिकार था। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी और डॉ. एस. आर. शर्मा ने भी फीरोज को अपहरणकर्ता स्वीकार किया है। परन्तु अधिकांश आधुनिक इतिहासकार इस मत को स्वीकार नहीं करते। प्रथम, वह बच्चा मुहम्मद तुगलक का ही बच्चा था, इसके स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं होते। सभी तत्कालीन और बाद के भी इतिहासकारों, जिनमें 'खुलासात-उत-तवारीख' का लेखक सुजान राय भंडारी भी सम्मिलित है, यह विचार व्यक्त किया है कि मृत सुल्तान का कोई भी पुरुष उत्तराधिकारी न था। याहिया बिन अहमद, फरिश्ता और निजामउद्दीन अहमद ने लिखा है कि वजीर के द्वारा प्रस्तुत बच्चा किसी अनजाने परिवार का था। आधुनिक इतिहासकारों में से डॉ. ईश्वरीप्रसाद और डॉ. ए. सी. बनर्जी ने उस बच्चे को मुहम्मद तुगलक का पुत्र मानने से इन्कार किया है। द्वितीय, मुसलमानों में शासकों के लिए वंशानुगत अधिकार मान्य नहीं था। अनेक बार मुसलमान सुल्तान निर्वाचित किये गये थे। इस्लामी कानून और परम्परा भी सुल्तान के निर्वाचन के विरुद्ध नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में फीरोज का निर्वाचन नियम के विरुद्ध नहीं था और इस कारण उसे सिंहासन का अपहरणकर्ता स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त, डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी के अनुसार, फीरोज के सिंहासन पर बैठने से सुल्तान को निर्वाचित करने की परम्परा पुनर्जीवित हुई तथा सुल्तान से निकट रक्त-सम्बन्ध होने के स्थान से योग्यता के सिद्धान्त पर अधिक बल पड़ा। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार इस घटना से दो नवीन सिद्धान्तों का भी जन्म हुआ। प्रथम, यह आवश्यक नहीं रहा कि सुल्तान का योग्य सेनापति होना आवश्यक है। द्वितीय, विवाह से पूर्व जो स्त्री हिन्दू धर्म की मतावलम्बी थी, उसके पुत्र का भी सिंहासन पर अधिकार हो सकता था क्योंकि फीरोज की माँ विवाह से पूर्व हिन्दू थी।

फीरोज का सिंहासनारोहण निर्विवाद न था। जिस समय सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु हुई थी उस समय उसका एक भाई, तीन चचेरे भाई, एक भानजा, उसकी पुत्री के दो पुत्र और, सम्भवतया, उसका एक अल्पवयस्क पुत्र जीवित था। इनमें से उसकी बहिन खुदाबन्दजादा ने अपने पुत्र के अधिकार का दावा किया परन्तु सरदारों ने उसे अयोग्य मानकर उसके अधिकार को अस्वीकार कर दिया और फीरोज को थट्टा के निकट सुल्तान घोषित कर दिया। सेना को व्यवस्थित करके और विद्रोहियों के संकट को दूर करके फीरोज दिल्ली की ओर बढ़ा। मार्ग में उसे विद्रोहियों के नेता तागी की मृत्यु की सूचना मिली जिससे वह प्रसन्न हुआ। मार्ग में ही उसे यह सूचना भी मिली कि वजीर ख्वाजा-ए-जहाँ ने एक बच्चे को मुहम्मद तुगलक के पुत्र के नाम से दिल्ली में सुल्तान घोषित कर दिया है। परन्तु सरदारों ने उस बच्चे को मुहम्मद तुगलक का पुत्र मानने से इन्कार कर दिया और ख्वाजा-ए-जहाँ ने आत्मसमर्पण कर दिया। वजीर को माफ कर दिया गया और उसे समाना जाने की आज्ञा प्रदान की गयी। परन्तु मार्ग में फीरोज की मौन स्वीकृति से उसका वध कर दिया गया। अगस्त

1351 ई. में फीरोज ने दिल्ली में पुनः अपना राज्याभिषेक किया और इस प्रकार सुल्तान मुहम्मद के राज्य का स्वामी बन गया।

## [ 1 ]

## आन्तरिक शासन

फीरोज ने आन्तरिक शासन की ओर पूर्ण ध्यान दिया। मुहम्मद तुगलक के अन्तिम समय में शासन अव्यवस्थित हो गया था, नागरिकों में तीव्र असन्तोष था, अधिकांश मुस्लिम-वर्ग सुल्तान की धार्मिक नीति और व्यवहार से उसके विरोध में हो गया था और सबसे बड़ी समस्या राज्य की गिरती हुई आर्थिक स्थिति थी। फीरोज का लक्ष्य इस नीति को सुधारने का रहा। जो सूबे दिल्ली की अधीनता से मुक्त हो गये थे उन्हें पुनः अधीनता में लाने का न तो उसका उद्देश्य था और न उसके लिए उसमें पर्याप्त योग्यता थी। इस कारण राज्य की जो भी सीमाएँ शेष रह गयी थीं उनकी सुरक्षा करना, राज्य के नागरिको में सन्तोष उत्पन्न करना, उसके लिए तथा राज्य की भलाई के लिए आर्थिक सम्पन्नता का प्रयत्न करना और मुस्लिम धार्मिक-वर्ग को सन्तुष्ट करके अपनी मुसलमान प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करना फीरोज के प्रमुख उद्देश्य रहे। फीरोज ने इन कार्यों में सफलता प्राप्त की। इस कारण वह लोकप्रिय हुआ। परन्तु सुल्तान स्वयं अच्छा शासन-प्रबन्धक न था। वह आराम-पसन्द भी था। उसकी सफलता का श्रेय उसके शासनाधिकारियों को था जिनमें प्रमुख नाम उसके वजीर मलिक-ए-मकबूल (खानेजहाँ) का आता है जो तैलंगाना का एक ब्राह्मण था और कुछ समय पहले ही मुसलमान बना था। सुल्तान के पक्ष में एक बात कही जा सकती है कि उसमें योग्य व्यक्तियों को तलाश करने की क्षमता थी, वह उनमें विश्वास करता था, उन्हें अधिकार प्रदान करता था और उनसे वफादारी तथा विश्वास प्राप्त करता था। अतः फीरोज का 37 वर्ष का शासन आन्तरिक दृष्टि से सफलता और सम्पन्नता का रहा तथा दिल्ली के सुल्तानों में उसे एक ऐसा शासक माना गया जिसने अपनी प्रजा की भलाई का प्रयत्न किया। इस दृष्टि से फीरोज का केवल एक अपवाद रहा। विभिन्न दृष्टिकोणों से अपने समय से आगे होते हुए और सार्वजनिक भलाई का प्रयत्न करते हुए भी उसका आदर्श एक आदर्श मुसलमान सुल्तान बनना रहा। इस कारण उसकी धार्मिक नीति कट्टर सुन्नी मुसलमानो के समर्थन, उलेमा-वर्ग के प्रभाव से परिपूर्ण और अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के लिए असहिष्णुता की रही।

फीरोज ने उदारता और सभी सरदारों को प्रसन्न करने की नीति से अपना शासन आरम्भ किया। उसने राज्यवंश के सभी व्यक्तियां को सुरक्षा का आश्वासन दिया, राज्य के कर्जे को चुका दिया, पिछले वजीर ख्वाजा-ए-जहाँ ने अपने पक्ष को दृढ़ करने के लिए जिस सम्पत्ति को विभिन्न व्यक्तियों को दिया था, उसे उनसे छीनने का प्रयत्न नहीं किया और इस्लाम के कानूनों के अनुसार शासन करने का आश्वासन दिया।

### 1. राजस्व-व्यवस्था

फीरोज ने इस्लामी कानूनों द्वारा स्वीकृत केवल चार कर लगाये—खराज (लगान), खम्स (युद्ध में लूटे धन का 1/5 भाग), जजिया (हिन्दुओं पर धार्मिक कर) और जकात (आय का $2\frac{1}{2}\%$ जो मुसलमानों से लिया जाता था और उन्हीं की भलाई के लिए व्यय कर दिया जाता था)। खम्स को उसने उतना ही लिया जितना उसका

अधिकार बनता था जबकि पिछले अनेक सुल्तान लूट का अधिकांश भाग स्वयं रख लेते थे। जजिया उसने हिन्दू ब्राह्मणों से भी लिया जिसे पहले सुल्तानों ने उदारमानता अथवा व्यावहारिकता के कारण नहीं लिया था। इनके अतिरिक्त उसने उलेमा-वर्ग की स्वीकृति के पश्चात् सिंचाई-कर भी लगाया। उन किसानों को जो सिंचाई के लिए शाही नहरों का पानी प्रयोग में लाते थे, अपनी पैदावार का 1/10 भाग सरकार को देना पड़ता था। इन करों के अतिरिक्त अन्य सभी कर हटा दिये गये। फीरोज ने अपने समय में प्राय: 24 कष्टदायक करों को समाप्त किया। सरकारी कर्मचारियों को आदेश दिये गये कि वे उचित कर से अधिक की माँग न करें।

सम्भवतया उसके समय में लगान पैदावार का 1/5 से ⅓ भाग था। उसका मुख्य कार्य सम्पूर्ण राज्य के लगान को अनुमान के आधार पर निश्चित करना था जिससे राज्य की आय निश्चित हो गयी। ख्वाजा हिसामुद्दीन ने विभिन्न सूबों का दौरा करके छ: वर्ष के परिश्रम के पश्चात् खालसा भूमि (केन्द्रीय सरकार की भूमि) में छ: करोड़ पचासी लाख टंका का लगान निश्चित किया। फीरोज के सम्पूर्ण काल में लगान से राज्य को प्राय: यही आय प्राप्त होती रही। यह आय भूमि की नाप-तौल और उपज के आधार पर निश्चित नहीं की गयी थी। इसका आधार लगान-विभाग के पुराने लेखा-जोखा थे। इस कारण फीरोज की लगान-व्यवस्था का आधार दोषपूर्ण था परन्तु तब भी राज्य की आय निश्चित हो जाने से व्यय पर नियन्त्रण सम्भव था। अत: यह सुधार राज्य के लिए लाभदायक रहा। सुल्तान ने प्राय: 1,200 फलों के बाग लगवाये जिनसे राज्य की आय बढ़ी। उसने सिंचाई की भी पर्याप्त व्यवस्था की जिससे कृषि के उत्पादन और कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि हुई।

फीरोज ने कर्मचारियों के वेतनों में वृद्धि की, उन्हें उनके कार्य के बदले में जागीरें दीं, उन्हें या सूबेदारों को यातनाएँ देकर उनसे ठीक हिसाब लेने की प्रथा को समाप्त कर दिया और सुल्तान को भेंट देने की प्रथा को भी समाप्त कर दिया जिससे वे किसानों पर भार न डालें। किसानों को राज्य से लिये गये तकावी ऋण से भी मुक्त कर दिया गया।

फीरोज ने विभिन्न आन्तरिक व्यापारिक करों को भी समाप्त कर दिया जिससे वस्तुओं के मूल्यों में कमी हुई और व्यापार की प्रगति हुई।

फीरोज के राजस्व सम्बन्धी सुधार लाभदायक हुए। उनसे राज्य और प्रजा दोनों को ही लाभ हुआ और राज्य मे सम्पन्नता आ गयी। फीरोज के समय में कोई अकाल नहीं पड़ा, जनता धनवान हुई और वस्तुओं के मूल्य कम रहे। सभी तत्कालीन इतिहासकारों ने राज्य और जनता की समृद्धि का वर्णन किया है। इतिहासकार शम्से-शिराज अफीफ ने लिखा है कि "जीवन की आवश्यकताएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थीं और फीरोज के सम्पूर्ण शासन-काल में बिना किसी प्रयत्न के अनाज के मूल्य अलाउद्दीन खलजी की भाँति सस्ते रहे।"[1]

परन्तु फीरोज की व्यवस्था में दो मूल दोष रहे—जागीरदारी-प्रथा और भूमि को ठेके पर दिया जाना। जागीरदारों से किसानों की भलाई करने की आशा नहीं की

---

1 "The necessaries of life were abundant and grain continued cheap throughout the reign of Firuz, as in that of 'Ala-ud-din Khalji, but without any effort." —Afif.

जा सकती थी जबकि जागीरें केवल राज्य के बड़े पदाधिकारियों को ही नहीं बल्कि सभी महत्वपूर्ण सैनिक और असैनिक पदाधिकारियों को भी दी गयी थीं। भूमि को ठेके पर लेने वाले पेशेवर व्यक्ति भी किसानों से अधिकाधिक धन वसूल करते रहते थे, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। परन्तु इन दोषों के होते हुए भी फीरोज के समय में राज्य और प्रजा सम्पन्न रहे, यह विश्वसनीय है।

**2. सिंचाई-व्यवस्था**

सिंचाई की सुविधा के लिए फीरोज ने पाँच बड़ी नहरों का निर्माण कराया। इनमें से एक 150 मील लम्बी नहर यमुना नदी से हिसार तक बनायी गयी थी। दूसरी 96 मील लम्बी नहर सतलज से घग्घर तक जाती थी। तीसरी नहर सिरमौर की पहाड़ियों के निकट से आरम्भ होकर हाँसी तक जाती थी। चौथी नहर घग्घर से फीरोजाबाद शहर तक और पाँचवीं यमुना से फीरोजाबाद तक जाती थी। इन नहरों के कारण कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि हुई, व्यापारिक सुविधाएँ बढ़ीं और सिंचाई-कर के रूप में राज्य की आय में वृद्धि हुई। फीरोज ने सिंचाई और यात्रियों की सुविधा के लिए 150 कुएँ खुदवाये। फरिश्ता के अनुसार फीरोज ने सिंचाई की सुविधा के लिए विभिन्न नदियों पर 50 बाँध और 30 झील अथवा जल को संग्रह करने के लिए तालाबों का निर्माण कराया था।

**3. नहर और सार्वजनिक निर्माण-कार्य**

कहा जाता है कि फीरोज ने 300 नवीन नगरों का निर्माण कराया। इसमें, सम्भवतया, वे गाँव भी सम्मिलित थे जो पहले उजड़ गये थे परन्तु फीरोज के समय में कृषि की सुविधा के कारण पुनः बस गये थे। उसके द्वारा बसाये गये नगरों में फतेहाबाद, हिसार, फीरोजपुर, जौनपुर और फीरोजाबाद प्रमुख थे। यमुना नदी के तट पर बसाया गया दिल्ली के लाल किले के निकट आधुनिक फीरोज कोटला कहलाने वाला फीरोजाबाद नगर फीरोज को बहुत प्रिय था और वह अक्सर वहाँ रहता था। फरिश्ता ने लिखा है कि "फीरोज ने 40 मस्जिदें, 30 विद्यालय, 20 महल, 100 सराएँ, 200 नगर, 100 अस्पताल, 5 मकबरे, 100 सार्वजनिक स्नान-गृह, 10 स्तम्भ, 150 पुल तथा अनेक बाग एवं सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों का निर्माण कराया था। उसने अशोक के दो स्तम्भों को भी दिल्ली मँगवाया। इनमें से एक खिज्रबाद से और दूसरा मेरठ के निकट से लाया गया था।"

फीरोज ने नवीन इमारतों की सुरक्षा और मरम्मत की व्यवस्था की। इसके अतिरिक्त उसने अनेक पुरानी ऐतिहासिक इमारतों की मरम्मत करायी। 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' में उसने दावा किया है कि उसने दिल्ली की जामा-मस्जिद, कुतुब-मीनार, शम्सी-तालाब, अलाई-तालाब, जहाँन-पनाह, इल्तुतमिश का मदरसा, सुल्तान इल्तुतमिश, सुल्तान बहरामशाह, सुल्तान रुकुनुद्दीन फीरोजशाह, सुल्तान जलालुद्दीन और सुल्तान अलाउद्दीन के मकबरों तथा ताजुद्दीन कफूरी और शेख निजामुद्दीन औलिया की समाधियों की मरम्मत करायी।

**4. परोपकार के कार्य**

फीरोज मुसलमान सन्तों और धार्मिक व्यक्तियों को जागीरें व सम्पत्ति दान करता था। उसने एक रोजगार का दफ्तर स्थापित किया था जो बेकार व्यक्तियों को

कार्य दिलाता था अथवा उन्हें आर्थिक सहायता देता था। उसने एक विभाग 'दीवान-ए-खैरात' स्थापित किया था जो मुसलमान अनाथ स्त्रियों और विधवाओं को आर्थिक सहायता देता था और निर्धन मुसलमान लड़कियों के विवाह की व्यवस्था करता था। उसने दिल्ली के निकट एक खैराती अस्पताल भी बनवाया था।

### 5. न्याय

फीरोज की न्याय-व्यवस्था इस्लाम के कानूनों पर आधारित थी। काजियों को उसने पुनः उनके विशेषाधिकार वापस कर दिये। स्वयं फीरोज भी न्याय करता था और वह कठोर दण्ड नहीं देता था। मुहम्मद तुगलक के समय में सचाई को जानने के लिए व्यक्तियों को जो यातनाएँ दी जाती थीं, उन्हें उसने समाप्त कर दिया।

### 6. शिक्षा

फीरोज स्वयं विद्वान था और विद्वानों का सम्मान करता था। जियाउद्दीन बरनी और शम्से-शिराज अफीफ ने उससे संरक्षण प्राप्त किया। बरनी ने 'फतवा-ए-जहाँदारी' और 'तारीख-ए-फीरोजशाही' को लिखा। शम्से-शिराज अफीफ ने भी 'तारीख-ए-फीरोजशाही' को लिखा। एक अन्य विद्वान ने 'सीरत-ए-फीरोजशाही' की रचना की। फीरोज ने स्वयं अपनी आत्मकथा 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' लिखी। फीरोज को इतिहास और चिकित्सा-शास्त्र में भी रुचि थी। इसके अतिरिक्त उसने इस्लामी कानून और धर्मशास्त्रों की शिक्षा में भी रुचि दिखायी। उसने प्रायः 13 मदरसे स्थापित किये जिनमें से तीन श्रेष्ठ स्तर के विद्यालय थे। राज्य के सभी स्थानों पर विद्वानों को संरक्षण दिया जाता था तथा सभी विद्वानों को जागीरें और भेंटें प्रदान की जाती थीं। ज्वालामुखी के मन्दिर के पुस्तकालय में उसे संस्कृत में लिखे गये 1,300 ग्रन्थ प्राप्त हुए और उनमें से कुछ का उसने फारसी में अनुवाद कराया। उनमें से एक का नाम 'दलायले-फीरोजशाही' रखा गया जो दर्शन और नक्षत्र-विज्ञान से सम्बन्धित ग्रन्थ था। अफीफ के कथनानुसार सुल्तान विद्वानों को सहायता के रूप में 36 लाख टंका देता था। इस प्रकार फीरोज ने शिक्षा के लिए समुचित प्रबन्ध किया परन्तु उसके समय का साहित्य इस्लाम धर्म से प्रभावित होने के कारण संकुचित धारणाओं से परिपूर्ण रहा था।

### 7. दास

फीरोज को दासों का बहुत शौक था और उसके दासों की संख्या प्रायः 1,80,000 तक पहुँच गयी थी। उनकी देखभाल के लिए उसने एक पृथक् विभाग और एक पृथक् अधिकारी की नियुक्ति की। उन दासों की शिक्षा का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। सभी सरदारों और सूबेदारों को यह आदेश दिये गये थे कि वे अपने दासों से पुत्रवत् व्यवहार करें। फीरोज का यह शौक राज्य के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। इससे शाही व्यय में अनावश्यक वृद्धि हुई और बाद में इन दासों ने राजनीति में हस्तक्षेप किया जो तुगलक-वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ।

### 8. सैन्य-संगठन

फीरोज का सैनिक-संगठन दुर्बल रहा। केन्द्र पर एक बड़ी स्थायी सेना न थी। अधिकांश सैनिकों को जागीरों के रूप में वेतन दिया जाने लगा। उसने सैनिक-सेवा

वंशानुगत कर दी। एक व्यक्ति के पश्चात् उसका पुत्र, दामाद अथवा गुलाम सेना में स्थान प्राप्त करने का अधिकार रखता था। ऐसी स्थिति में सैनिक-सेवा में योग्यता का स्थान प्रमुख न रहा। सम्भवतया केन्द्र में 80 या 90 हज़ार की घुड़सवार-सेना थी और शेष के लिए सुल्तान अपने अमीरों अथवा सरदारों की सेना पर निर्भर करता था। सेना में कठोर अनुशासन अथवा नियन्त्रण नहीं रखा गया था। एक अवसर पर स्वयं सुल्तान ने एक सैनिक को इसलिए एक टंका दिया कि वह उसे रिश्वत के रूप में सैनिक-विभाग के एक अधिकारी को देकर अपने घोड़े की स्वीकृति करा ले। ऐसी स्थिति में सेना के शक्तिशाली होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

**9. धार्मिक नीति**

**दिल्ली के सुल्तानों में फीरोज पहला सुल्तान हुआ जिसने इस्लाम के कानूनों और उलेमा-वर्ग को राज्य के शासन में प्रधानता प्रदान की।** अन्य शासकों ने इस्लाम धर्म का समर्थन किया और अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति असहिष्णुता की नीति अपनायी परन्तु उन्होंने इसे स्पष्ट रूप से शासन के सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया। परन्तु फीरोज ने कट्टर सुन्नी-वर्ग का समर्थन प्राप्त करने के लिए इस्लाम के सिद्धान्तों को अपने राज्य की नीति का आधार बनाया तथा प्रत्येक अवसर पर उलेमा-वर्ग से सलाह और सहायता ली। इस दृष्टि से उसका सिद्धान्त बाद के मुगल बादशाह औरंगजेब की भाँति रहा। उनमें केवल एक अन्तर रहा कि जहाँ औरंगजेब स्वयं अपने ही इस्लामी कानूनों में पारंगत मानता था, फीरोज इसके लिए उलेमा-वर्ग की सलाह पर निर्भर करता था। इस प्रकार **फीरोज की धार्मिक नीति धर्मान्धता और असहिष्णुता की रही।**

सुल्तान शिया, सूफी, मुल्हीदियों, महदवियों, आदि मुसलमान-वर्गों के प्रति असहिष्णु था क्योंकि वे कट्टर सुन्नी मत के समर्थक न थे। शियाओं को उसने दण्डित किया था और उनकी धार्मिक पुस्तकों को जलवा दिया था, यह उसने स्वयं अपनी आत्म-कथा में लिखा है।

**फीरोज अपनी बहुसंख्य हिन्दू प्रजा के प्रति अत्यधिक कठोर रहा।** उसने इस्लाम के प्रचार को अपना प्रमुख कर्तव्य माना और हिन्दुओं को मुसलमान बनने के लिए अनेक प्रोत्साहन दिये। अपनी आत्म-कथा 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' में जो कुछ भी उसने लिखा है उससे स्पष्ट होता है कि वह अपने को मुसलमानों का एकमात्र शासक मानता था और हिन्दुओं को 'जिम्मी' कहता था। उसने लिखा है कि "मैंने अपनी काफिर प्रजा को पैगम्बर का धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य किया और यह घोषणा की कि जो भी अपने धर्म को छोड़कर मुसलमान बन जायेगा उसे जजिया से मुक्त कर दिया जायेगा।"[1] अनेक स्थलों पर उसने हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करने, हिन्दू मेलों को भंग करने, हिन्दुओं को मुसलमान बनाने अथवा उनका वध करने का वर्णन किया है। जाजनगर पर आक्रमण करने में उसका मूल उद्देश्य वहाँ के हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करना था जिससे वह महमूद की भाँति मूर्तिभंजक कहलाने का यश पा सके।

---

1. "I encouraged my infidel subjects to embrace the religion of the Prophet, and I proclaimed that every one who left his creed and became a Musalman should be exempted from the Jizya."

—Firuz Shah.

ज्वालामुखी के मन्दिर की मूर्तियों को भी उसने नष्ट किया यह विश्वसनीय है। उसने एक हिन्दू ब्राह्मण का वध कराया क्योंकि वह मुसलमानों को हिन्दू बनने के लिए प्रोत्साहित करता था। उसने हिन्दू ब्राह्मणों पर जजिया लगाया जिन्हें पिछले सुल्तानों ने इस कर से मुक्त कर रखा था अथवा व्यावहारिक रूप से उसने यह कर वसूल करना वे टाल देते थे। जब दिल्ली और उसके निकट के क्षेत्रों के ब्राह्मणों ने सुल्तान के महल के सम्मुख आत्मदाह करने की धमकी दी तब भी फीरोज ने उन्हें इस कर से मुक्त नहीं किया। इस प्रकार यह सत्य है कि फीरोज ने हिन्दुओं के प्रति कठोर धार्मिक नीति का पालन किया। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने लिखा है कि "फीरोज इस युग का सबसे महान् धर्मान्ध (सुल्तान) और इस क्षेत्र में सिकन्दर लोदी तथा औरंगजेब का अग्रसर था।"[1]

फीरोज ने खलीफा से दो बार अपने सुल्तान के पद की स्वीकृति ली, अपने को खलीफा का 'नाइब' पुकारा और अपने सिक्कों पर खलीफा का नाम अंकित कराया। इस सभी में उसका उद्देश्य कट्टर मुसलमानों और उलेमा-वर्ग की सहानुभूति प्राप्त करना था जिसके समर्थन से वह सुल्तान बना था।

फीरोज की धर्मान्धता की नीति राज्य के लिए हानिकारक और सिद्धान्त के आधार पर प्रतिक्रियावादी थी। बहुसंख्य हिन्दू प्रजा उससे असन्तुष्ट हुई और अलाउद्दीन तथा मुहम्मद तुगलक के समय में आरम्भ की गयी धर्म और राज्य को पृथक् करने की चेष्टा बेकार हो गयी। तुगलक-वंश के पतन में उसका योगदान रहा।

फीरोज एक शासक की दृष्टि से न कुशल था और न परिश्रमी। परन्तु उसके योग्य अधिकारियों ने उसकी इन कमियों की पूर्ति की और उसकी धार्मिक नीति ने उसे कट्टर इस्लामी समर्थकों का सहयोग प्रदान किया। उसकी दास-प्रथा और सैनिक व्यवस्था दुर्बल और राज्य के लिए हानिकारक रही। परन्तु फीरोज के आर्थिक, लोकहितकारी और सार्वजनिक निर्माण के कार्य सफल हुए। उससे प्रजा सम्पन्न और सुखी हुई और शासन की अव्यवस्था समाप्त हो गयी। मुहम्मद तुगलक ने राज्य की प्रजा को जो घाव लगाये थे, उनको फीरोज ने भर दिया। इस क्षेत्र में वह सफल रहा। डॉ. आर. सी मजूमदार ने लिखा है कि "उसके अनेक विचार उदार थे जो अपने युग से बहुत आगे थे और सम्भवतया वह भारत का पहला मुस्लिम शासक था जो युद्धों और विजयों की तुलना में प्रजा की भौतिक उन्नति करना अपना अधिक महत्वपूर्ण कर्तव्य मानता था।"[2]

[ 2 ]

## युद्ध, आक्रमण और विद्रोह

मुहम्मद तुगलक के समय में बंगाल और सम्पूर्ण दक्षिणी भारत दिल्ली सल्तनत

---

1 "Firuz was the greatest bigot of this age and the precursor of Sikandar Lodi and Aurangzeb in this respect."
—Dr. R. C. Mazumdar.

2 "He held many liberal views, which were far in advance of his age, and was probably the first Muslim ruler in India, who regarded the promotion of material welfare of subjects as a more important duty of the king that wars and conquests."
—Dr. R. C. Mazumdar.

की अधीनता से मुक्त हो गया था। फीरोज ने दक्षिण भारत को जीतने का प्रयत्न नहीं किया और सरदारों के आग्रह को यह कहकर टाल दिया कि वह मुसलमानों का रक्त वहाने के लिए तैयार नहीं है। उसने बंगाल को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। उसने राजस्थान को जीतने अथवा उसे अपने प्रभाव में लेने का प्रयत्न नहीं किया। इस प्रकार फीरोज की नीति साम्राज्य-विस्तार की नहीं बल्कि राज्य के संगठन की थी। इस दृष्टि से वह दिल्ली के सुल्तान की प्रतिष्ठा के प्रति भी उदासीन रहा। फीरोज में सैनिक-प्रतिभा नहीं थी और न कभी वह एक योग्य सेनापति सिद्ध हुआ। मुहम्मद तुगलक के समय में दिल्ली की सेना की शक्ति दुर्बल हो गयी थी। फीरोज ने उसे पुनः शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न नहीं किया यद्यपि उसके पास धन का अभाव न रहा था। इस कारण फीरोज की बाह्य नीति दुर्बल रही। उसके समय में कोई भी महत्वपूर्ण विजय नहीं की गयी।

**1. बंगाल**

बंगाल में हाजी इलियास ने शमसुद्दीन इलियासशाह के नाम से अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। उसने दिल्ली राज्य के अधीन तिरहुत पर आक्रमण किया। इस कारण 1353 ई. में फीरोज ने बंगाल पर आक्रमण किया। इलियास ने अपनी राजधानी पाँडुआ को छोड़कर इकदाला के किले में शरण ली। फीरोज किले को जीतने में असमर्थ रहा और उसने वापस लौटने का दिखावा किया। इलियास ने उसका पीछा किया परन्तु परास्त हुआ तथा फिर किले में शरण लेने हेतु बाध्य हुआ। अन्त में, फीरोज ने युद्ध बन्द कर दिया और एक सन्धि करके 1355 ई. में वापस आ गया।

1359 ई. में फीरोज ने बंगाल पर पुनः आक्रमण किया। पूर्वी बंगाल के एक दिवंगत सुल्तान के दामाद जफरखाँ ने उससे सहायता माँगी। फीरोज ने उसे आक्रमण का बहाना बना लिया। उस समय तक शमसुद्दीन इलियास की मृत्यु हो चुकी थी और उसका पुत्र सिकन्दर सुल्तान था। सिकन्दर ने भी इकदाला के किले में शरण ली। फीरोज उस किले को जीतने में असमर्थ रहा और दिल्ली वापस आ गया। इस प्रकार बंगाल को दिल्ली सल्तनत में सम्मिलित करने के दोनों प्रयत्न असफल हुए।

**2. उड़ीसा अथवा जाजनगर**

1360 ई. के अन्तिम समय में फीरोज ने जाजनगर पर आक्रमण किया। सुल्तान बंगाल से वापस आकर जौनपुर में ठहरा हुआ था। वहाँ से उसने अचानक जाजनगर पर आक्रमण करने की योजना बनायी। उसका मुख्य उद्देश्य पुरी के प्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर को ध्वस्त करना था। मार्ग में जनता के विरोध को समाप्त करता हुआ फीरोज कटक तक पहुँच गया। उड़ीसा का शासक भानुदेव तृतीय भाग गया परन्तु उसके सैनिकों ने सुल्तान का मुकाबला किया। इन्हें परास्त करके फीरोज ने पुरी के जगन्नाथ मन्दिर पर आक्रमण किया। सुल्तान ने मन्दिर और मूर्तियों को नष्ट कर दिया। तत्पश्चात् राजा के आत्मसमर्पण करने और प्रति वर्ष कुछ हाथी भेंट-स्वरूप देने के आश्वासन पर फीरोज वापस आ गया।

**3. नगरकोट**

फीरोज ने 1361 ई. में काँगड़ा में स्थित नगरकोट पर आक्रमण किया।

नगरकोट के राजा ने मुहम्मद तुगलक के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था परन्तु उसके अन्तिम दिनों में वह पुनः स्वतन्त्र हो गया था। परन्तु सम्भवतया सुल्तान का उद्देश्य ज्वालामुखी के मन्दिर को ध्वस्त करना था। छः माह के घेरे के पश्चात् राजा ने आत्मसमर्पण कर दिया। फरिश्ता के अनुसार "सुल्तान ने ज्वालामुखी की मूर्तियों को तोड़ दिया, उनके टुकड़ों को गाय के माँस में मिलाया और उनकी गन्ध के थैले बनाकर ब्राह्मणों के गले में लटकवा दिये तथा मुख्य मूर्ति को विजय-चिह्न की भाँति मदीना भेज दिया।"[1]

**4. सिन्ध**

1362 ई. में फीरोज ने सिन्ध पर आक्रमण किया। सिन्ध ने मुहम्मद तुगलक को तंग किया था और वहाँ पर विद्रोह उस समय भी क्रियाशील थे। 90,000 घुड़सवार और 480 हाथियों की एक विशाल सेना लेकर फीरोज ने उस पर आक्रमण किया। सिन्ध में जाम बाबनियाँ ने दृढ़तापूर्वक उसका मुकाबला किया, यहाँ तक कि सुल्तान को गुजरात की ओर वापस लौटना पड़ा। मार्ग में वह रन के रेगिस्तान में फँस गया और छः माह के कष्ट के पश्चात् वहाँ से निकल सका। 1363 ई. में सुल्तान गुजरात में रहा और वहाँ शान्ति स्थापित की। वहीं पर उसे बहमनी-वंश के विरोधी सरदार बहराम का दक्षिणी भारत पर आक्रमण करने का निमन्त्रण मिला। परन्तु फीरोज ने उसे अस्वीकृत कर दिया और सिन्ध पर पुनः आक्रमण किया। इस बार जाम बाबनियाँ ने फीरोज के आधिपत्य को स्वीकार करके उसे वार्षिक कर देना स्वीकार कर लिया।

**5. विद्रोह और उनका दमन**

फीरोज के आरम्भिक काल में उसकी बहिन खुदावन्दजादा ने उसका वध करने के लिए एक षड्यन्त्र रचा परन्तु वह प्रयत्न विफल रहा। पहला विद्रोह गुजरात के सूबेदार दामगानी ने किया क्योंकि वह सुल्तान को उतना राजस्व नहीं दे सका जितने का उसने वायदा किया था। वह विद्रोह असफल हुआ और दामगानी का सिर काटकर दिल्ली भेज दिया गया। दूसरा विद्रोह इटावा के जमींदारों ने किया परन्तु उसे भी दबा दिया गया। तीसरा विद्रोह कटेहर (रुहेलखण्ड) के शासक खड़कू ने किया। उसने बदायूँ के सूबेदार सैयद मुहम्मद और दो सैयद-बन्धुओं का धोखे से वध कर दिया। फीरोज स्वयं इस विद्रोह को दबाने के लिए गया। खड़कू कुमायूँ की पहाड़ियों में भाग गया। फीरोज ने उसके अपराध का बदला उसकी प्रजा से लिया। उसने हजारों हिन्दुओं का वध करा दिया और 23,000 हिन्दुओं को बन्दी बनाकर जबर्दस्ती मुसलमान बना लिया। इतने से भी सुल्तान सन्तुष्ट न हो सका। उसने अगले पाँच वर्ष तक प्रत्येक वर्ष कटेहर को उसी प्रकार बरबाद करते रहने के आदेश दिये। इस कार्य की पूर्ति के लिए उसने वहाँ एक अफगान अधिकारी की नियुक्ति की और वह स्वयं भी वहाँ प्रत्येक वर्ष यह देखने के लिए जाता रहा कि उसके आदेशों का यथोचित पालन किया जाता है अथवा नहीं।

---

1 "(Sultan) broke the idols of Jwalamukhi, mixed their fragments with the flesh of cows, and hung them in nosebags round the neck of Brahmins, and that he sent the principal idol as a trophy to Medina." —Ferishta.

इस प्रकार सिन्ध के अतिरिक्त फीरोज ने किसी अन्य महत्वपूर्ण सूबे अथवा किले को जीतने में सफलता प्राप्त नहीं की। उसका बंगाल-अभियान असफल हुआ तथा जाजनगर और नगरकोट की उसकी विजएँ साधारण थीं एवं उनसे राज्य-विस्तार भी नहीं हुआ। इस प्रकार फीरोज ने एक शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी शासक होने का परिचय नहीं दिया और वह दिल्ली सल्तनत की प्रतिष्ठा को गौरवपूर्ण नहीं बना सका।

[ 3 ]

## अन्तिम दिन और मृत्यु

फीरोज के अन्तिम दिन कष्ट में व्यतीत हुए। 1374 ई. में उसके सबसे बड़े, योग्यतम एवं राज्य के उत्तराधिकारी पुत्र फतहखाँ की मृत्यु हो गयी थी। उसके दूसरे पुत्र जफरखाँ की मृत्यु भी उसके सामने हो गयी। उसके पश्चात् उसका तीसरा पुत्र मुहम्मदखाँ उसका उत्तराधिकारी था। परन्तु सुल्तान की आयु 80 वर्ष के निकट हो गयी थी, वह अपनी शक्ति और बुद्धि खो चुका था तथा उसके नये वजीर खानेजहाँ (खानेजहाँ मकबूल का पुत्र) ने उसे अत्यधिक प्रभावित कर लिया था। खानेजहाँ ने स्वयं सिंहासन की आकांक्षा की और शाहजादा मुहम्मद को समाप्त करने का प्रयत्न किया। परन्तु उसकी योजना असफल हुई और वह मेवात के सरदार कोका चौहान के यहाँ भाग गया। बाद में वह पकड़ा गया और उसका वध कर दिया गया। 1387 ई. में शाहजादा मुहम्मद ने सुल्तान के साथ-साथ सत्ता का उपभोग करना आरम्भ कर दिया और उसे 'नासिरुद्दीन मुहम्मदशाह' की उपाधि दी गयी। परन्तु मुहम्मद विलासप्रिय था। गुजरात में विद्रोह की सूचना पाकर भी वह उसे दबाने नहीं गया बल्कि भोग-विलास में लगा रहा। उसके व्यवहार से असन्तुष्ट होकर कुछ सरदारों ने विद्रोह कर दिया और दो दिन तक दिल्ली में युद्ध होता रहा। तीसरे दिन विद्रोहियों ने महल पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की और उन्होंने वृद्ध सुल्तान फीरोज को पालकी में बैठाकर युद्ध करने वालों के बीच में ले जाकर खड़ा कर दिया। शाहजादे के सैनिक सुल्तान को देखकर उसके साथ हो गये और शाहजादा मुहम्मद भाग गया। उसके पश्चात् फीरोज ने अपने बड़े पुत्र फतहखाँ के पुत्र तुगलकशाह को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उसके थोड़े समय पश्चात् सितम्बर 1388 ई. में फीरोज की मृत्यु हो गयी।

[ 4 ]

## चरित्र, मूल्यांकन और तुगलक-वंश के पतन में फीरोज का उत्तरदायित्व

तत्कालीन इतिहासकारों, जैसे बरनी तथा अफीफ ने फीरोज के चरित्र और कार्यों की अत्यधिक प्रशंसा की है। वह उसे एक अत्यधिक उदार, दयालु और न्यायप्रिय शासक बताते हैं। आधुनिक इतिहासकारों में से हेनरी इलियट और एलफिन्स्टन ने भी उसकी प्रशंसा की है और उन्होंने उसे 'सल्तनत-युग का अकबर' पुकारा है। सर वूल्जले हेग ने उसके शासन के विभिन्न दोषों पर दृष्टिपात करते हुए लिखा है कि "फीरोज के शासन-काल से भारत में अकबर से पहले के मुस्लिम शासन के इतिहास के एक गौरवपूर्ण युग का अन्त हो जाता है।"[1] परन्तु सभी इतिहासकार इस मत से

1 "The reign of Firuz closes the most brilliant epoch to Muslim rule in India before the reign of Akbar." —Sir Wolseley Haig.

सहमत नहीं हैं। वी. ए. स्मिथ फीरोज की तुलना अकबर से करना मूर्खता मानते हैं। डॉ. ईश्वरीप्रसाद का कहना है कि "फीरोज में उस विशाल हृदय और उदार बुद्धि वाले बादशाह (अकबर) की प्रतिभा का शतांश भी नहीं था।"[1] डॉ. आर. सी. मजूमदार फीरोज को दिल्ली सल्तनत के मुख्य शासकों में से अन्तिम शासक स्वीकार करने के लिए तो सहमत हैं, परन्तु उसे कोई गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करने को तैयार नहीं हैं। निस्सन्देह, फीरोज में ऐसा कोई गुण न था और न उसका ऐसा कोई कार्य था जिसके कारण उसके शासन-काल को महानता का स्थान दिया जाय।

फीरोज में व्यक्तिगत दृष्टि से कुछ गुण थे, यह माना जाता है। फीरोज स्वयं विद्वान था और विद्वानों का सम्मान करता था। वह धर्म-परायण था और साधारणतया अपने व्यक्तिगत जीवन में इस्लाम के सिद्धान्तों का पालन करता था। वह अपनी मुस्लिम प्रजा की नैतिक उन्नति करना चाहता था। वह योग्य व्यक्तियों की खोज करता था और उसमें उनसे वफादारी प्राप्त करने की योग्यता थी। उसकी एक योग्यता परिस्थितियों को समझने और उनसे समझौता करने की भी थी। अपनी इस योग्यता के कारण वह सरदारों का बहुमत प्राप्त करके सुल्तान बन सका और इसी कारण वह प्रायः 37 वर्ष तक शान्तिपूर्वक शासन कर सका। उलेमा-वर्ग के समर्थन की उसे आवश्यकता थी और उसने उसे प्राप्त भी किया। उसे राज्य-विस्तार की इच्छा न थी और न उसमें योग्यता ही थी, अतः उसके लिए उसने प्रयत्न नहीं किये। उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता शासन-व्यवस्था को ठीक करके राज्य की आर्थिक स्थिति को सुधारने की थी। उसने उसी आवश्यकता की पूर्ति करने का प्रयत्न किया और इसमें वह सफल रहा। **इसके अतिरिक्त फीरोज न तो पूर्ण दयालु था, न पूर्ण उदार और न ही पूर्ण ईमानदार।** उसकी दयालुता और उदारता कट्टर सुन्नी मुसलमानों तक सीमित थी। अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति वह क्रूर और अनुदार था, इसे सिद्ध करने के लिए अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। स्वयं उसकी आत्मकथा 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। जो सुल्तान अपने सैनिकों को बेईमानी करने और कराने के लिए स्वयं धन दे सकता था, उसे पूर्ण ईमानदार कैसे कहा जा सकता है? फीरोज शराब पीता था, यह भी इतिहासकार स्वीकार करते हैं। उपर्युक्त परिस्थितियों में उसके चरित्र को श्रेष्ठ अथवा उज्ज्वल स्वीकार नहीं किया जा सकता। सम्भवतया उसके चरित्र के विषय में डॉ. यू. एन. डे का कथन सत्यता के सबसे अधिक निकट है। वे लिखते हैं कि "वह अपने युग की एक विशेष उपज था। वह महत्वाकांक्षी होते हुए भी उदासीनता का दिखावा करने में पर्याप्त चतुर था। अपने वास्तविक चरित्र को छिपाकर सच्चरित्रता के गुण का झूठा दिखावा करने की क्षमता रखते हुए उसने निरन्तर तत्कालीन-सुन्नी-मान्यताओं के समर्थन का दावा करते हुए एक धार्मिक जीवन व्यतीत करने का दिखावा किया।"[2]

---

1 "Firuz had not even a hundredth part of the genius of that great-hearted and broad-minded monarch (Akbar)."
—Dr. Ishwari Prasad.

2 "He was a typical product of his age, ambitious and shrewd enough to wear a mask of disinterestedness. Capable of assuming false appearance of virtue of goodness with dissimulation of real character, he posed as leading religious life with constant proclamation of his championing the cause of Sunni orthodoxy."
—Dr. U. N. Dey.

डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने भी लिखा है, "फीरोज अदृढ़ और अस्थिर चित्त का व्यक्ति था और सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होने पर भी वह उन गुणों का विकास न करसका था जिनके कारण एक सफल प्रतिभावान व्यक्ति किसी साधारण व्यक्ति से भिन्न होता है।" इसके अतिरिक्त उसमें साहस, शौर्य तथा सैनिक एवं सेनापति की प्रतिभा का अभाव था, इसे सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं।

एक शासक की दृष्टि से फीरोज की मुख्य सफलता अपने राज्य और प्रजा को सम्पन्न बनाने में थी। इस दृष्टिकोण से यह माना जाता है कि वह पहला सुल्तान था जिसने विजयों तथा युद्धों की तुलना में अपनी प्रजा की भौतिक उन्नति को श्रेष्ठ स्थान दिया। उसका यह सिद्धान्त मानवीय है और उसे इसकी पूर्ति में सफलता मिली, यह सर्वस्वीकृत है। सभी इतिहासकार यह मानते हैं कि उसके समय में राज्य सम्पन्न था और प्रजा समृद्ध थी। उसके राजस्व-कार्यों, उसकी नहरों, उसके बागों और उसकी व्यापारिक सुविधाओं ने राज्य की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ किया तथा उसकी प्रजा, निस्सन्देह, मुहम्मद तुगलक के समय के दुर्दिनों को भूल गयी होगी और उसके प्रति अभारी होगी। डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी ने लिखा है कि "जनता एक शासक की अच्छाई और बुराई का निर्णय उस भौतिक समृद्धि के आधार पर करती है जिसे वह देख सकती है और अनुभव कर सकती है।"[1] इसके अतिरिक्त फीरोज के लोक-हितकारी कार्य भी प्रशंसनीय थे। पुल, बाँध, कुएँ नगरों और इमारतों का निर्माण, ऐतिहासिक इमारतों की मरम्मत आदि उसके कार्य शासक की दृष्टि से उपयुक्त थे। बेरोजगारों की सहायता, 'दीवान-ए-खैरात' और खैराती अस्पताल की स्थापना उसके मानवोचित कार्य थे। मदरसों की स्थापना और शिक्षा की वृद्धि के लिए प्रयत्न करना भी फीरोज का महत्वपूर्ण कार्य था। यह स्पष्ट होते हुए भी कि इन कार्यों का मुख्य उद्देश्य केवल अपनी मुस्लिम प्रजा की भलाई करना था, यह माना जाता है कि फीरोज दिल्ली के सुल्तानों में पहला सुल्तान था जिसने शासक के कर्तव्यों को विस्तृत किया। विजय, शान्ति-स्थापना और राजस्व वसूल करने के अतिरिक्त प्रजा की भलाई के लिए प्रयत्न करने के उत्तरदायित्व को समझने और करने वाला वह पहला सुल्तान था। परन्तु इसके अतिरिक्त फीरोज शासक की दृष्टि से भी सफल न था। उसके शासन की सफलता का श्रेय उसके योग्य अधिकारियों को था। वह स्वयं तो अपनी विवेक-रहित उदारता के कारण उसकी दुर्बलता का कारण था। बेईमान व्यक्तियों को भी माफ कर देना एक अच्छे शासन को स्थापित करना नहीं था। वह न तो स्वयं परिश्रमी था और न स्वयं शासन की देखभाल करता था। इस कारण उसने अपने सरदारों और अधिकारियों को विस्तृत अधिकार दे दिये थे जो राज्य के अन्तिम हित में न था। सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि निस्सन्देह "अच्छी से अच्छी भाँति निर्धारित की गयी नीति भी उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के हाथों में शक्ति को सुरक्षित नहीं रख सकती थी और न उस भयंकर धक्के को बर्दाश्त कर सकती थी जो उसकी मृत्यु के दस वर्षों के अन्तर्गत ही राज्य को लगा। परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि उसकी विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था उसके योग्यतम उत्तराधिकारी को भी कठिनाई में डालने के लिए पर्याप्त थी और उसने निस्सन्देह उसके वंश के पतन की प्रगति को

---

1 "The masses judge a ruler by the material prosperity that they can see and feel."
—Dr. R. P. Tripathi.

तीव्र किया।"[1] उलेमा-वर्ग को शासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार देने और सुन्नी मुसलमान-वर्ग को विशेष संरक्षण प्रदान करने से भी शासन की क्षमता पर कुप्रभाव पड़ा था। फीरोज ने श्रेष्ठ शासन को अपना लक्ष्य नहीं बनाया था बल्कि शासन को एक विशेष वर्ग के संरक्षण और अपने लिए सार्वजनिक लोकप्रियता का साधन बनाया था। ऐसी स्थिति में शासन में दोष उत्पन्न होना स्वाभाविक था। डॉ. यू. एन. डे ने लिखा है कि "लेकिन यह सम्पूर्ण बाह्य शान्ति, आराम और समृद्धि कार्य-कुशलता की कीमत पर प्राप्त की गयी थी। उसने शासन की जड़ों को खोखला कर दिया। उसके उलेमा-वर्ग के समर्थन ने एक ऐसे सिद्धान्तहीन और स्वार्थी व्यक्तियों के वर्ग को प्रोत्साहन दिया जिन्होंने दम्भपूर्ण व्यवहार किया और मुस्लिम आत्म-नैतिकता के संरक्षक होने का दिखावा किया। इन सभी ने मिलकर ऐसी परिस्थिति का निर्माण किया जिसमें (राज्य का) विघटन आवश्यक बन गया।"[2] इस प्रकार फीरोज ने शासन को सुसंगठित नहीं किया बल्कि उसे दुर्बल और भ्रष्टाचारपूर्ण बनाया जो तुगलक-वंश के पतन का कारण बना। उसके चलाये हुए नवीन सिक्कों में चाँदी कम मात्रा में मिलायी गयी। टकसाल अधिकारी कजरखाँ इसके लिए जिम्मेदार था और वजीर मकबूल खानेजहाँ को इसका पता लग गया था तब भी कजरखाँ को सम्मानित किया गया और सुल्तान ने बाद में कजरखाँ को स्थान-परिवर्तन के अतिरिक्त कोई अन्य सजा नहीं दी। इस प्रकार का भ्रष्टाचार फीरोज के अन्य सभी शासन-विभागों में रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता और इसका मूल उत्तरदायित्व सुल्तान की विवेकरहित उदारता पर था। 'इन्शां' के लेखक आइन-ए-महस ने लिखा है कि सभी सरकारी कर्मचारी यह अभिमान व्यक्त करते थे कि उन्होंने किसी नागरिक को हानि नहीं पहुँचाई बल्कि वे केवल राज्य का धन लूटते थे। इस प्रकार फीरोज के समय में भ्रष्टाचार अपनी चरम-सीमा पर पहुँच गया था। फीरोज की दास-प्रथा राज्य के अनावश्यक व्यय और शासन में अनुचित हस्तक्षेप का कारण बनी। फीरोज की मृत्यु के पश्चात् उसके दासों ने सुल्तान को बनाने या हटाने की कुचेष्टा की। अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति फीरोज का व्यवहार उस समय तक हुए सुल्तानों की तुलना में कठोर था। वास्तव में वह पहला सुल्तान था जिसने इस्लाम धर्म को राज्य-शासन का आधार बनाया और उसका व्यावहारिक प्रयोग किया। इस प्रकार फीरोज ने दिल्ली सल्तनत की व्यवस्था को उदारता के स्थान पर प्रतिक्रिया की ओर

---

1 "No policy, however well devised, could have sustained this power under the feeble rule of his successors and the terrible blow dealt at the kingdom within ten years of his death, but his system, of decentralisation would have embarrased the ablest successors, and undoubtedly accelerated the downfall of his dynasty."
—Sir Wolseley Haig.

2 "But all this apparent peace, comfort and prosperity was at the cost of efficiency. It sapped, the root of administration. His supplication to the Ulema only encouraged a group of unscrupulous selfish people to behave arrogently and pose themselves as the custodians of Muslim conscience. All these combined to create a situation in which disintegration became inevitable."
—Dr. U. N. Dey.

मोड़ दिया जो राज्य के हित में न था। हिन्दुओं का असन्तोष भी तुगलक-वंश के पतन में सहयोग प्रदान करने वाला सिद्ध हुआ। डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है कि "फीरोज के सुधार हिन्दुओं का विश्वास प्राप्त करने में असफल हुए जिनकी भावनाएँ उनकी धार्मिक असहिष्णुता के कारण कटु बन गयी थीं। उन सभी ने मिलकर उस प्रतिक्रिया को जन्म दिया जो उस वंश के लिए घातक सिद्ध हुई जिसका वह एक अयोग्य प्रतिनिधि था।"[1] परन्तु फीरोज की सबसे बड़ी असफलता एक सुसंगठित सेना का निर्माण न करना और साम्राज्य तथा सुल्तान की खोई हुई प्रतिष्ठा को स्थापित करने में असफल होना था। मध्य-युग में एक शक्तिशाली सेना ही एक राज्य, एक शासन और एक सुल्तान तथा उसके वंश की सुरक्षा और सम्मान की स्थापना का आधार थी। फीरोज इसमें पूर्णतया असफल हुआ। उसके सैनिक-शासन की शिथिलता, पैतृक आधार पर सैनिकों का भर्ती किया जाना, बूढ़े और दुर्बल व्यक्तियों को सैनिक-सेवा से न निकालना, सैनिकों में जागीरों का वितरण और घुड़सवार-सेना का वार्षिक निरीक्षण न करना आदि ऐसे कार्य रहे जिससे दिल्ली सल्तनत की सैन्य-शक्ति नष्ट हो गयी। फीरोज खोये हुए एक भी सूबे को पुनः अपनी अधीनता में न ले सका तथा बंगाल, जाजनगर और सिन्ध पर उसके आक्रमण उसकी सैनिक दुर्बलता तथा सैन्य-संचालन की अयोग्यता को सिद्ध करने वाले थे। 'मुसलमानों का रक्त न बहे' इस आधार पर उसने युद्ध के प्रति उदासीनता प्रकट की। परन्तु वास्तव में यह उसकी अपनी अयोग्यता और सैनिक दुर्बलता को छिपाने का बहाना-मात्र था। वास्तव में सुल्तान फीरोज दिल्ली सल्तनत की सैनिक और प्रशासकीय प्रतिष्ठा को स्थापित करने में असफल हुआ, और इस कारण अपने वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने ठीक लिखा है कि "फीरोजशाह के लम्बे शासन-काल में शान्ति, समृद्धि और सन्तोष होते हुए भी कोई भी इस बात में सन्देह नहीं कर सकता कि उसकी नीति और शासन-कार्यों ने दिल्ली सल्तनत के पतन में बहुत बड़ी मात्रा में भाग लिया और विघटन की उस क्रिया को तीव्र कर दिया जो उसल पूर्वाधिकारी के शासन-काल में ही आरम्भ हो चुकी थी।"[2] ऐसी स्थिति में फीरोज को सामान्यतया एक योग्य सुल्तान तो माना जा सकता है परन्तु उसे एक श्रेष्ठ अथवा महान् शासक स्वीकार नहीं किया जा सकता। मुगल बादशाह अकबर से उसकी तुलना करने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

---

1 "The reforms of Firuz ..failed to gain confidence of Hindus whose feelings were embittered by his religious intolerance. Altogether they produced a reaction which proved fatal to the interest of dynasty of which he was by no means an unworthy representative."
—Dr. Ishwari Prasad.

2 "In spite of peace, prosperity and contentment that prevailed during the long reign of Firuz Shah, no one can possibly doubt that his policy and administrative measures contributed to a large extent to the downfall of the Delhi Sultanate, and accelerated the process of decline that had already set in during his predecessor's reign."
—Dr. R. C. Mazumdar.

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. फीरोजशाह तुगलक के सिंहासन पर बैठने के सम्बन्ध में इतिहासकारों के मतभेद को स्पष्ट कीजिए। यह भी बताइए कि क्या उसका सिंहासनारोहण निर्विवाद था?
2. "फीरोजशाह तुगलक के अनेक विचार उदार थे जो अपने युग से बहुत आगे थे और सम्भवतया वह भारत का पहला मुस्लिम शासक था जो युद्धों और विजयों की तुलना में प्रजा की भौतिक उन्नति करना अपना महत्वपूर्ण कर्तव्य मानता था।"

   उपर्युक्त कथन के आधार पर फीरोजशाह तुगलक की आन्तरिक नीति का मूल्यांकन कीजिए।
3. फीरोजशाह तुगलक के आर्थिक, लोकहितकारी और सार्वजनिक निर्माण के कार्यों का उल्लेख कीजिए। वे कहाँ तक सफल हुए?
4. फीरोजशाह तुगलक किस प्रकार और किस सीमा तक तुगलक-वंश के पतन के लिए उत्तरदायी था?

# 14

# फीरोजशाह के उत्तराधिकारी और तुगलक-वंश का पतन

[ 1 ]

## फीरोजशाह के उत्तराधिकारी (1388-1441 ई.)

सितम्बर 1388 ई. में फीरोज की मृत्यु के पश्चात् उसके बड़े पुत्र फतहखाँ का पुत्र तुगलकशाह गियासुद्दीन तुगलक द्वितीय के नाम से सुल्तान बना। फीरोज के तीसरे पुत्र शाहजादा मुहम्मद ने जो सिरमौर की पहाड़ियों में भाग गया था, सिंहासन को प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल हुआ और नगरकोट के किले में जा छिपा। गियासुद्दीन एक अयोग्य और विलासी शासक सिद्ध हुआ। उसके सरदार उससे असन्तुष्ट हो गये। फीरोज के दूसरे पुत्र जफरखाँ के पुत्र अबू बक्र ने इससे लाभ उठाया और कुछ अमीरों के साथ षड्यन्त्र करके गियासुद्दीन को सिंहासन से हटा दिया। गियासुद्दीन को मार दिया गया और फरवरी 1389 ई. में अबू बक्र सुल्तान बना। अबू बक्र को भी शाहजादा मुहम्मद के विरोध का मुक़ाबला करना पड़ा। कुछ शक्तिशाली सरदार मुहम्मद के साथ हो गये और उसने अप्रैल 1389 ई. में स्वयं को सुल्तान घोषित करके दिल्ली पर आक्रमण किया। दिल्ली के अमीरों और सूबेदारों ने खुले तौर से एक अथवा दूसरे पक्ष का साथ दिया। दो या तीन असफल प्रयत्नों के पश्चात् मुहम्मद ने अबू बक्र को दिल्ली छोड़ने के लिए बाध्य किया और अगस्त 1390 ई. में नासिरुद्दीन मुहम्मदशाह के नाम से सुल्तान बन गया। बाद में अबू बक्र को पकड़कर मिरात के किले में बन्द कर दिया गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई। राजवंश के इन शाहजादों के संघर्ष के कारण तुगलक साम्राज्य का विघटन तीव्रता से आरम्भ हो गया और विभिन्न सरदार अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए राजनीति में हस्तक्षेप करने लगे। नासिरुद्दीन ने कुछ क्रियाशीलता का परिचय दिया परन्तु विलासिता के कारण उसका स्वास्थ्य खराब हो गया जिससे जनवरी 1394 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हुमायूँ अलाउद्दीन सिकन्दरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा परन्तु छः सप्ताह के अन्तर्गत उसकी भी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् सरदारों ने उसके छोटे भाई नासिरुद्दीन महमूदशाह (1394-1412 ई.) को सुल्तान बनाया। वह तुगलक-वंश का अन्तिम शासक हुआ।

उस समय तक दिल्ली सल्तनत का राज्य बहुत सीमित रह गया था। दक्षिण खानदेश, बंगाल, गुजरात, मालवा, राजस्थान, बुन्देलखण्ड आदि सभी सूबे दिल्ली के

सुल्तान के हाथों से निकल गये थे और विभिन्न स्थानों पर स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हो गयी थी। नासिरुद्दीन महमूद के समय में यह विघटन रोका न जा सका बल्कि उसके समय में जौनपुर के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई, पंजाब का सूबेदार खिज्रखाँ स्वतन्त्र होकर दिल्ली को प्राप्त करने के प्रयत्न करने लगा और फीरोज के एक पुत्र नसरतशाह ने नासिरुद्दीन को चुनौती दी जिसके फलस्वरूप तुगलक-वंश के दो शासकों ने एक साथ ही दिल्ली के छोटे-से राज्य पर शासन किया। नासिरुद्दीन महमूद दिल्ली में शासक रहा और नसरतशाह फीरोजाबाद में तथा दोनों में से कोई भी एक-दूसरे को समाप्त न कर सका। विभिन्न सरदार कभी एक सुल्तान का पक्ष लेते थे और कभी दूसरे का। ऐसी ही परिस्थितियों में तिमूर का आक्रमण हुआ और दोनों सुल्तान भाग खड़े हुए। तिमूर के वापस चले जाने के पश्चात् नासिरुद्दीन महमूद ने अपने वजीर मल्लू इकबाल की सहायता से दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की। परन्तु उस अवसर पर वह दिल्ली और उसके कुछ निकटवर्ती जिलो का ही सुल्तान था तथा मल्लू इकबाल के हाथों में एक कठपुतली था। मल्लू इकबाल के भय के कारण सुल्तान महमूद कन्नौज भाग गया। परन्तु मल्लू इकबाल मुल्तान के सूबेदार खिज्रखाँ (तिमूर ने खिज्रखाँ को मुल्तान, लाहौर और दिपालपुर का सूबेदार नियुक्त किया था) से युद्ध करता हुआ मारा गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद दिल्ली पहुँच गया। परन्तु इस बार उसने शासन-सत्ता एक अफगान सरदार दौलतखाँ लोदी को सौंप दी। खिज्रखाँ दिल्ली को प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा परन्तु असफल रहा। 1412 ई. में नासिरुद्दीन महमूद की, जिसने कभी स्वयं शासन नहीं किया था और जो कई बार राजधानी छोड़ने के लिए बाध्य हुआ था, मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु से तुगलक-वंश का शासन समाप्त हो गया। 1413 ई. में सरदारों की सम्मति से दौलतखाँ लोदी सुल्तान बना परन्तु खिज्रखाँ ने दिल्ली पर आक्रमण किया, दौलतखाँ को परास्त करके उसे हिसार के किले में कैद कर दिया और 1414 ई. में दिल्ली के सिंहासन पर बैठकर एक नवीन राजवंश—सैय्यद-वंश—की नींव डाली।

## [ 2 ]

## तिमूर का आक्रमण (1398-1399 ई.)

तिमूर का जन्म 1336 ई. में ट्रान्स-ऑक्सियाना के कैच उर्फ 'शहर-ए-सब्ज' में हुआ। वह तुर्कों की बरलास नस्ल का था और उसका पिता कैच की छोटी जागीर का शासक था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् 1360 ई. में वह उसकी छोटी जागीर का मालिक बना। उस समय से लेकर 1405 ई. में अपनी मृत्यु के समय तक तिमूर निरन्तर युद्ध और संघर्षों में लगा रहा। मंगोलों का विस्तृत साम्राज्य उस समय तक छिन्न-भिन्न हो चुका था और मध्य-एशिया की राजनीति अस्थिर थी। अनेक कठिनाइयों और संघर्षों के पश्चात् उसने उस राजनीति को अपने काबू में किया और एक बड़े साम्राज्य को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। शक्ति और क्रूरता तिमूर के मुख्य साधन थे। परन्तु इसके अतिरिक्त वह एक महान् सेनापति, कट्टर सैनिक और कुशल राजनीतिज्ञ भी था जिसके कारण एक के बाद एक राज्य उसके सम्मुख घुटने टेकते चले गये। ट्रान्स-ऑक्सियाना, तुर्किस्तान का एक बड़ा भाग, अफगानिस्तान, पर्शिया, सीरिया, कुर्दिस्तान, एशिया माइनर का कुछ भाग, बगदाद, जार्जिया, आदि उसके साम्राज्य में सम्मिलित कर लिये गये। सम्पूर्ण दक्षिणी रूस

(Russia) को उसने लूटा, भारत में दिल्ली तक के प्रदेश को लूटने में उसने सफलता प्राप्त की और जब वह चीन पर आक्रमण करने जा रहा था, तब मार्ग में उसकी मृत्यु हो गयी। तिमूर एक नृशंस शासक था। वह जहाँ भी गया वहाँ उसने लूटमार, अग्निकाण्ड और कत्लेआम से नगर और गाँव ध्वस्त कर दिये। तबाही, आतंक और भय उसकी विजयों के साधन थे। उसने अपने जीवन में व्यवस्था और शासन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। तिमूर सिर्फ विजेता था और महान् सेनापति की भाँति उसने विजएँ कीं। एक प्रारम्भिक युद्ध के अवसर पर ही उसकी एक टाँग घायल हो गयी जिसकी वजह से जीवन भर लंगड़ाता रहा और तिमूरलंग के नाम से विख्यात हुआ। परन्तु तब भी वह एक महान् योद्धा और सेनापति सिद्ध हुआ। उसने तुर्कों के विशालतम साम्राज्य का निर्माण किया। तिमूर की विजयों का एक मुख्य कारण धन-लिप्सा रही थी। वह जहाँ-जहाँ भी गया वहाँ उसने लूटमार की और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने भारत पर भी आक्रमण किया।

भारत पर आक्रमण करने के उद्देश्यों को तिमूर ने स्वयं स्पष्ट किया था। उनमें से एक था काफिरों से युद्ध और उनका विनाश तथा दूसरा था धन की प्राप्ति। भारत में उसके व्यवहार ने यह स्पष्ट कर दिया कि धन प्राप्त करना उसका प्रमुख उद्देश्य रहा। उसके आक्रमण से पहले उसके पोते और काबूल के सूबेदार पीर मुहम्मद ने भारत पर आक्रमण कर दिया था और उच्छ को जीतकर मुल्तान का घेरा डाल रखा था। मार्च या अप्रैल 1398 ई. में तिमूर अपनी राजधानी समरकन्द से भारत पर आक्रमण करने के लिए चला। सितम्बर 1398 ई. में सिन्धु नदी को पार करके वह झेलम नदी के किनारे-किनारे आगे बढ़ा। झेलम को पार करके उसने तुलम्बा नामक स्थान पर अधिकार किया। पीर मुहम्मद भी मुल्तान को जीतकर उससे आ मिला। तिमूर ने दिपालपुर और समाना की तरफ अपनी सेना के कुछ दस्तों को रवाना किया और स्वयं भाटनेर के किले पर आक्रमण किया। यहाँ के किलेदार दुलचाद ने आत्मसमर्पण कर दिया परन्तु तब भी किले और उसके नगर को धूल में मिला दिया गया। मार्ग में लूट-मार और हत्याकाण्ड करता हुआ तिमूर दिसम्बर 1398 ई. में दिल्ली के निकट पहुँच गया। उस समय तक सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद ने तिमूर को रोकने का कोई प्रबन्ध नहीं किया था। अब उसने और उसके वजीर मल्लू इकबाल ने तिमूर की सेना के पृष्ठ-भाग पर एक आक्रमण किया परन्तु उनकी पराजय हुई और वे भाग खड़े हुए। तिमूर ने दिल्ली पर आक्रमण करने की तैयारी की और युद्ध से पहले प्रायः एक लाख हिन्दू कैदियों को नशंसतापूर्वक कत्ल करा दिया जिससे वे युद्ध के अवसर पर कोई संकट उपस्थित न कर सकें। 17 दिसम्बर, 1398 ई. को दिल्ली के बाहर एक युद्ध हुआ जिसमें नासिरुद्दीन महमूद और मल्लू इकबाल पुनः पराजित हुए। नासिरुद्दीन महमूद गुजरात भाग गया और मल्लू इकबाल बुलन्दशहर। 18 दिसम्बर को तिमूर ने राजधानी में प्रवेश किया। नागरिकों और सैनिकों में झगड़ा होने के कारण तिमूर ने कत्लेआम का आदेश दे दिया। कई दिन तक दिल्ली में लूट-मार और कत्लेआम होता रहा। हजारों व्यक्तियों का वध किया गया, हजारों व्यक्ति दास बना लिये गये और दिल्ली को निर्दयतापूर्वक लूटा गया। तिमूर दिल्ली में 15 दिन रहा तथा उसने और उसके सभी सरदारों ने यहाँ अतुल सम्पत्ति प्राप्त की। 1 जनवरी, 1399 ई. को तिमूर फीरोजाबाद, मेरठ, हरिद्वार, काँगड़ा और जम्मू होता हुआ वापस लौटा। वह मार्ग में इन सभी स्थानों को लूटता और बरबाद करता हुआ

गया। 19 मार्च, 1399 ई. को उसने सिन्धु नदी को पार किया और समरकन्द वापस चला गया। जाने से पहले उसने खिज्रखाँ को मुल्तान, लाहौर और दिपाल- पुर का सूबेदार नियुक्त किया।

तिमूर ने एक आक्रमण में भारत में जितनी बरबादी की, वह सम्भवतया उस समय तक किसी भी विदेशी आक्रमणकारी ने नहीं की थी। वह जहाँ-जहाँ भी गया, फसलों, गाँवों और नगरों को नष्ट करता हुआ गया। उसने लाखों व्यक्तियों का वध किया और प्रत्येक स्थान से सम्पूर्ण सम्पत्ति लूट ले गया। दिल्ली महीनों तक उजाड़ पड़ी रही और मृतकों की अत्यधिक संख्या के कारण वहाँ बीमारी फैल गयी। दिल्ली सल्तनत और तुगलक-वंश को भी तिमूर नष्ट करता गया। उसके आक्रमण से पहले दिल्ली सल्तनत का विनाश आरम्भ हो चुका था परन्तु उसके पश्चात् उसकी सम्पूर्ण शक्ति एवं प्रतिष्ठा नष्ट हो गयी। दूरस्थ सूबे ही स्वतन्त्र नहीं हो गये बल्कि दिल्ली के निकट के कुछ जिलों को छोड़कर दिल्ली के सुल्तान के पास कुछ बाकी न रहा। लाहौर, मुल्तान तथा दिपालपुर पर तिमूर की ओर से खिज्रखाँ ने अधिकार कर लिया और अन्त में वह दिल्ली को प्राप्त करने में भी सफल हुआ। इस प्रकार तिमूर का आक्रमण हत्याकाण्ड, लूट-मार, भुखमरी, तुगलक-वंश के पतन और दिल्ली सल्तनत की प्रतिष्ठा के नष्ट हो जाने का कारण बना।

[ 3 ]

## तुगलक-वंश के पतन के कारण

दिल्ली सल्तनत के इतिहास में तुगलक-वंश का साम्राज्य भारत में सबसे अधिक विस्तृत था। गियासुद्दीन तुगलक ने अलाउद्दीन खलजी की दक्षिण-विजय का पूर्ण लाभ उठाया और उसने उसे दिल्ली सल्तनत के अधीन कर लिया। साम्राज्य के इस विस्तार में सबसे बड़ा योगदान मुहम्मद बिन-तुगलक का रहा। शाहजादा और बाद में सुल्तान के रूप में उसने दक्षिणी भारत को दिल्ली की अधीनता में कर दिया। इस कारण उसका समय तुगलक-वंश की शक्ति की पराकाष्ठा का रहा। परन्तु उसी के समय से तुगलक-वंश का पतन और तुगलक-साम्राज्य का विघटन आरम्भ हुआ और अन्त में नासिरुद्दीन महमूद (जो इस वंश का अन्तिम शासक था) के समय में न सुल्तान की प्रतिष्ठा शेष रही और न उसका साम्राज्य। उसके बारे में कहा गया कि "संसार के स्वामी का शासन दिल्ली से पालम तक फैला हुआ है।" (पालम दिल्ली शहर से सात मील दूर एक गाँव है जहाँ आधुनिक समय में हवाई अड्डा है।) तुगलक-वंश के पतन के विभिन्न कारण निम्नलिखित थे :

**1. तुगलक शासकों का दक्षिणी भारत को अपने राज्य में सम्मिलित करना—** गियासुद्दीन तुगलक के समय से दक्षिण के राज्यों को जीतकर दिल्ली-राज्य में सम्मिलित करने की नीति अपनायी गयी थी। मुहम्मद बिन-तुगलक ने इस नीति की पूर्ति की। परन्तु वह नीति उसके लिए घातक सिद्ध हुई। मध्य-युग में इतने बड़े साम्राज्य को एक शासक के अधीन रखना असम्भव था। यातायात और सन्देशवाहनों की कमी इसका मुख्य कारण थी। सम्पूर्ण भारत को एक साम्राज्य के अन्तर्गत रखने के प्रयत्न पहले भी असफल हुए थे और बाद में भी हुए जब तक कि अँग्रेजों के शासनकाल में यातायात और सन्देशवाहनों में प्रगति नहीं कर ली गयी। मुहम्मद तुगलक के समय में ही दक्षिणी भारत दिल्ली सल्तनत से पृथक् हो गया। यही नहीं बल्कि दक्षिण ने सुल्तान के साधनों, शक्ति और प्रतिष्ठा को भी आघात पहुँचाया।

**2. मुहम्मद बिन-तुगलक की असफलताएँ**—मुहम्मद तुगलक एक सफल शासक सिद्ध नहीं हुआ। उसकी विभिन्न योजनाएँ असफल रहीं तथा उन्होंने राज्य के सम्मान और आर्थिक शक्ति को दुर्बल कर दिया। उसकी कठोर नीति और व्यवहार ने उसके विरुद्ध असन्तोष और विद्रोहों को जन्म दिया। वह अपनी सैनिक शक्ति को दृढ़ न रख सका और अपने साम्राज्य की सुरक्षा करने में असमर्थ रहा। मुहम्मद तुगलक को जो साम्राज्य अपने पिता से प्राप्त हुआ था वह न तो उसका निर्माण कर सका और न ही उसकी सीमाओं की रक्षा में समर्थ रहा। उसने फीरोज को एक संकुचित होता हुआ दिवालिया राज्य सौंपा। उसके समय ही दक्षिणी भारत और बंगाल स्वतन्त्र हो गये, गुजरात और सिन्ध पर दिल्ली सल्तनत का अधिकार अस्थिर हो गया, राजस्थान दिल्ली के सुल्तान के हस्तक्षेप में स्वतन्त्र रहा, राज्य आर्थिक दृष्टि से दुर्बल हो गया तथा नागरिकों में असन्तोष और विद्रोह की भावना जाग्रत हो गयी। इस कारण मुहम्मद तुगलक अपने वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ (मुहम्मद तुगलक की असफलताओं के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 12 देखिए।)

**3. फीरोजशाह की दुर्बल और प्रतिक्रियावादी नीति**—फीरोज की आर्थिक नीति और उसके सार्वजनिक हित के कार्य प्रशंसनीय रहे परन्तु उसकी विवेकरहित उदारता, शासन में शिथिलता, सैनिक-शक्ति की पुनःस्थापना के प्रति उदासीनता, उलेमा-वर्ग को शासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार देना, हिन्दुओं के प्रति असहिष्णुता का व्यवहार, शक्ति एवं विजय के द्वारा सुल्तान और दिल्ली सल्तनत की प्रतिष्ठा को स्थापित न करना तथा उसकी दास-प्रथा साम्राज्य की दुर्बलता और उसके पतन का कारण बनीं। (तुगलक-वंश के पतन में फीरोज के उत्तरदायित्व के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 13 देखिए।)

**4. फीरोज के अयोग्य उत्तराधिकारी**—फीरोज के उत्तराधिकारियों में से कोई भी सुल्तान बनने योग्य न था। फीरोज की मृत्यु वृद्धावस्था में हुई और उसके दो बड़े तथा योग्य पुत्रों की मृत्यु उसके जीवन-काल में ही हो गयी। उसका तीसरा पुत्र मुहम्मद अयोग्य और विलासी निकला जिसके कारण फीरोज ने उसे सिंहासन के अधिकार से वंचित करके अपने सबसे बड़े पुत्र (मृतक) के पुत्र तुगलकशाह को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। शाहजादा मुहम्मद ने अपने अधिकार को प्राप्त करने के लिए गियासुद्दीन तुगलक द्वितीय तथा अबू बक्र से संघर्ष किया। यद्यपि अन्त में वह सफल हुआ परन्तु राजपुत्रों के इस संघर्ष ने विभिन्न सरदारों को महत्वाकांक्षी और स्वार्थी बनने का अवसर प्रदान किया और सुल्तान उनकी सहायता पर निर्भर हो गये। अन्तिम शासक नासिरुद्दीन महमूद अयोग्य था और वह अपने सरदारों के हाथों में खिलौना बना रहा। उसकी मृत्यु से तुगलक-वंश समाप्त हो गया। मध्य-युग में जब कभी कुछ सुल्तान की योग्यता और सैनिक-शक्ति पर निर्भर करता था, फीरोज के उत्तराधिकारियों का अयोग्य और दुर्बल होना तुगलक-वंश के पतन का मुख्य कारण बना।

**5. सरदारों में योग्यता और नैतिकता का अभाव**—तुगलक सुल्तानों के सरदारों ने फीरोज के उत्तराधिकारियों की अयोग्यता और दुर्बलता का लाभ उठाया। उनमें से जो योग्य थे उन्होंने सूबों में अपने-अपने राज्य स्थापित कर लिये और जो अयोग्य थे वे दरबार के निकट रहकर स्वार्थी और षड्यन्त्रकारी बन गये। उनमें से

कोई योग्य नहीं हुआ और यदि योग्य हुआ तो वफादार नहीं हुआ जो दिल्ली के सुल्तान के लिए शक्ति का साधन बन पाता।

6. **तिमूर का आक्रमण**—तिमूर के आक्रमण ने केवल उस कार्य की पूर्ति में सहायता दी जो उससे पहले ही आरम्भ हो चुका था। तुगलक-वंश की शक्ति उसके आक्रमण से पहले भी नष्ट हो चुकी थी। तिमूर ने उसके सम्मान और शक्ति को अन्तिम आघात पहुँचाया।

इस प्रकार विभिन्न परिस्थितियों के कारण तुगलक-वंश का पतन हुआ। मुहम्मद तुगलक और फीरोज जैसे शासक भी इसके लिए उत्तरदायी थे परन्तु मूलतः फीरोज के उत्तराधिकारियों की अयोग्यता ही इसकी जिम्मेदार थी।

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अमीर तिमूर के भारत-आक्रमण के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।
2. तुगलक-वंश के पतन के कारणों पर प्रकाश डालिए। अमीर तिमूर के आक्रमण का उसमें क्या उत्तरदायित्व रहा ?

# 15
# विभिन्न सैय्यद सुल्तान

सैय्यद-वंश का शासन-काल केवल 37 वर्ष रहा। उसके समय में न तो खलजी-वंश के शासकों की भाँति साम्राज्य-विस्तार को साहसिक नीति अपनायी गयी और न तुगलक-वंश के शासकों की भाँति प्रशासकीय सुधारों का प्रयत्न किया गया। सैय्यद शासक किसी भी आदर्श को अपने और अपनी प्रजा के सम्मुख रखने में असमर्थ रहे जिसके कारण विभाजन और विघटन की जो प्रवृत्ति फीरोज के उत्तराधिकारियों के समय में प्रबल रही थी वह उनके समय में भी बिना किसी बाधा के प्रोत्साहन प्राप्त करती रही। सैय्यद शासकों का राजनीतिक दृष्टिकोण दिल्ली के 200 मील के घेरे तक ही सीमित रहा और अन्त में वे उस घेरे की सुरक्षा करने में भी असमर्थ रहे।

[ 1 ]

## खिज्रखाँ (1414-1421 ई.)

खिज्रखाँ सैय्यद-राजवंश का संस्थापक था। उसने अपने को पैगम्बर मुहम्मद का वंशज बताया था परन्तु इसका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। सम्भवतया, उसके पूर्वज अरब से मुल्तान में आकर बस गये थे। मुल्तान के सूबेदार मलिक मर्दान दौलत ने खिज्रखाँ के पिता मलिक सुलेमान को पुत्रवत् माना था। बाद में सुल्तान फीरोज ने अपने समय में खिज्रखाँ को मुल्तान का सूबेदार नियुक्त किया था। परन्तु 1395 ई. में मल्लू इकबाल के भाई सारंगखाँ ने उसे मुल्तान से भागने को बाध्य किया और वह मेवात चला गया। तिमूर के आक्रमण के अवसर पर वह उसके साथ हो गया और तिमूर ने भारत छोड़ने से पहले उसे मुल्तान, लाहौर और दिपालपुर की सूबेदारी प्रदान की। अन्त में, 1414 ई. में उसने दौलतखाँ लोदी से दिल्ली को छीन लिया और दिल्ली का पहला सैय्यद सुल्तान बना। परन्तु खिज्रखाँ ने सुल्तान की उपाधि ग्रहण नहीं की बल्कि 'रैयत-ए-आला' की उपाधि से ही सन्तुष्ट रहा। वह तिमूर के पुत्र शाह रुख को निरन्तर भेंट और राजस्व भेजता रहता था और इस प्रकार एक तरह से अपने को उसके अधीन मानता था यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से ऐसी कोई बात नहीं थी। उसने कई वर्षों तक खुतबा भी शाह रुख के नाम से ही पढ़वाया। उसने अपने सिक्कों पर तुगलक शासकों के ही नाम रहने दिये। सम्भवतया, इसका कारण सोने-चाँदी की कमी था। परन्तु उसका मूल उद्देश्य तुर्क और अफगान सरदारों को सन्तुष्ट रखना तथा अपनी प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करना था।

खिज्रखाँ का दिल्ली पर अधिकार हो जाने से पंजाब, मुल्तान और सिन्ध दिल्ली सल्तनत में सम्मिलित हो गये थे। परन्तु इनके अतिरिक्त दिल्ली साम्राज्य दोआब और मेवात के कुछ प्रदेशों तक ही सीमित रह गया था। खिज्रखाँ ने इन सीमाओं को विस्तृत करने का कोई प्रयत्न नहीं किया, बल्कि उसने इक्ताओं (सूबों) को 'शिकों' (जिलों की भाँति) में बाँटकर स्थानीय वफादारियों को बढ़ने का अवसर दिया। खिज्रखाँ का मुख्य कार्य दिल्ली के निकट के उपजाऊ क्षेत्र को अपने अधीन करने और प्रत्येक वर्ष सैनिक बल द्वारा अपने जागीरदारों से राजस्व वसूल करने तक ही सीमित रहा। खिज्रखाँ ने तुर्की अमीरों को सन्तुष्ट करने की नीति अपनायी और उन्हें उनकी जागीरों से वंचित नहीं किया। परन्तु वे सन्तुष्ट नहीं हुए और उस सुविधा का उपयोग उन्होंने निरन्तर विरोध और विद्रोह करने के लिए किया। खिज्रखाँ के सम्पूर्ण समय में यह स्थिति रही कि प्रत्येक वर्ष उसे या उसके सरदारों को राजस्व वसूल करने के लिए सैनिक-अभियानों पर जाना पड़ता था। विभिन्न जागीरदार या तो विरोध करने की स्थिति में न होते हुए राजस्व दे दिया करते थे अथवा अपने किले में बन्द हो जाते थे और पराजित होने के पश्चात् ही राजस्व देते थे। इस कार्य में उसके मन्त्री ताज-उल-मुल्क ने उसकी बड़ी सहायता की। परन्तु खिज्रखाँ उस विद्रोही प्रवृत्ति और उन विद्रोही जागीरदारों को स्थायी रूप से समाप्त करने में असफल हुआ और अपने जीवनपर्यन्त इन सैनिक-अभियानों में लगा रहा। उसने कटेहर, इटावा, खोर, जलेसर, ग्वालियर, बयाना, मेवात, बदायूँ आदि स्थानों पर आक्रमण किये। दूरस्थ स्थानों में से केवल नागौर ऐसा था जहाँ के शासक की सहायता के लिए वह गया। एक विद्रोही ने अपने को सारंगखाँ बताया और पंजाब में उपद्रव किया परन्तु उसे परास्त कर दिया गया। पंजाब में खोक्खरों ने भी उसे परेशान किया। मेवात और बदायूँ पर भी उसे आक्रमण करने पड़े यद्यपि उनमें उसे आशातीत सफलता न मिली। उसके समय में गुजरात, मालवा और जौनपुर के शासक दिल्ली को प्राप्त करने के इच्छुक रहे परन्तु उन्होंने कोई बड़ा आक्रमण नहीं किया।

अपने अन्तिम समय में वह मेवात पर आक्रमण करने के लिए गया और उसने कोटला के किले को बरबाद कर दिया। उसके पश्चात् उसने ग्वालियर के कुछ क्षेत्रों को लूटा और फिर इटावा गया जहाँ के नवीन राजा ने उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। वहाँ से वापस आते हुए वह बीमार हो गया और 20 मई, 1421 ई० को दिल्ली पहुँचकर उसकी मृत्यु हो गयी।

खिज्रखाँ बुद्धिमान, उदार और न्यायप्रिय शासक था। उसका व्यक्तिगत चरित्र अच्छा था। इसी कारण वह अपनी प्रजा का प्रेम प्राप्त कर सका। फरिश्ता ने लिखा था, "प्रजा उसके शासन के अन्तर्गत प्रसन्न और सन्तुष्ट थी और इस कारण जवान और वृद्ध, गुलाम तथा स्वतन्त्र नागरिक—सभी ने उसकी मृत्यु होने पर काले वस्त्र पहनकर अपना शोक प्रकट किया।"[1] परन्तु वह बहुत सफल शासक नहीं हुआ। तुगलक-वंश के पतन और तिमूर के आक्रमण के पश्चात् दिल्ली सल्तनत की जो दुर्बल स्थिति हो गयी थी, उसे वह ठीक न कर सका और उसका राज्य भारत के विभिन्न सूबों के अन्य राज्यों की तुलना में श्रेष्ठ न बन सका।

---

1 Firishta wrote : "The people were happy and satisfied under his rule and therefore, young and old, slaves and free citizens – all expressed sorrow at his death by wearing baths clothes."

[ 2 ]

## मुबारकशाह (1421-1434 ई.)

खिज्रखाँ ने अपने पुत्र मुबारकखाँ को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था और वह मुबारकशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसने शाह की उपाधि धारण की, अपने नाम से खुतबा पढ़वाया और अपने नाम के सिक्के चलवाये। इस प्रकार उसने विदेशी स्वामित्व को स्वीकार नहीं किया।

मुबारक को तीन मुख्य शत्रुओं से खतरा रहा। उत्तर-पश्चिम में खोक्खर नेता जसरथ, दक्षिण में मालवा का शासक और पूर्व में जौनपुर का शासक उसके मुख्य प्रतिद्वन्द्वी थे। उनमें से प्रत्येक दिल्ली को प्राप्त करने की लालसा करता था। परन्तु मुबारक अपने राज्य की सीमाओं की सुरक्षा करने में समर्थ रहा, यद्यपि वह राज्य-विस्तार न कर सका। झेलम और चिनाव नदी की घाटियों में खोक्खर जाति बहुत पहले से प्रभावपूर्ण थी। उस अवसर पर उनके नेता जसरथ ने सैय्यद-वंश को नष्ट करने का प्रयत्न किया। जसरथ ने कश्मीर के राजा से सहायता प्राप्त की और काबुल के सूबेदार से भी सहायता लेने का प्रयत्न किया। उसने निरन्तर सरहिन्द, जलन्धर, लाहौर आदि विभिन्न स्थानों पर आक्रमण किये परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। मुबारक ने जसरथ को दबाने हेतु अफगान सरदार बहलोल को नियुक्त किया परन्तु जसरथ ने उससे समझौता कर लिया। उसकी योजना बहलोल को साथ लेकर दिल्ली पर अधिकार करने की थी। परन्तु वह इस उद्देश्य में सफल न हो सका। मालवा के शासक हूसंगशाह ने ग्वालियर को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल हुआ और ग्वालियर का शासक मुबारक की अधीनता को स्वीकार करता रहा यद्यपि उससे राजस्व वसूल करने के लिए मुबारक को उस पर कई बार आक्रमण करने पड़े। जौनपुर के शासक इब्राहीम से मुबारक का झगड़ा मुख्यतया बयाना, कालपी और मेवात के आधिपत्य के प्रश्न पर था। इब्राहीम निरन्तर इनको अपने आधिपत्य में लेने का प्रयत्न करता रहा परन्तु सफल न हुआ। मार्च 1428 ई. में मुबारक और इब्राहीम में बयाना के निकट एक बड़ा युद्ध हुआ परन्तु यह युद्ध निर्णयात्मक न हुआ। तब भी इब्राहीम वापस चला गया और बयाना मुबारक के अधिकार में रहा। परन्तु मुबारक का वध हो जाने पर मालवा के शासक हूसंगशाह ने कालपी पर अपना अधिकार करने में सफलता प्राप्त की।

मुबारक को काबुल के नाइब सूबेदार शेख अली के आक्रमणों का भी मुकाबला करना पड़ा। शेख अली ने सरसुती, अमरोहा और तबरहिन्द के विद्रोही सूबेदार पुलाद की सहायता की और जसरथ (खोक्खर) के उपद्रवों से भी लाभ उठाना चाहा। उसने जलन्धर, फीरोजपुर, लाहौर और मुल्तान के विभिन्न क्षेत्रों को लूटने में सफलता पायी परन्तु बड़े युद्धों में वह परास्त हुआ और मुबारक की सीमाओं के अन्तर्गत किसी भी प्रदेश को अपने आधिपत्य में न कर सका।

इसके अतिरिक्त मुबारक को भी राजस्व वसूल करने के लिए अपने जागीरदारों और सरदारों के विरुद्ध—मुख्यतया बदायूँ, इटावा, कटेहर, ग्वालियर आदि पर आक्रमण करने पड़े। इससे स्पष्ट होता है कि विद्रोही सरदारों और सामन्तों को स्थायी रूप से दबाने में वह भी असफल रहा था।

19 फरवरी, 1434 ई. को उसके वजीर सरवर-उल-मुल्क ने धोखे से मुबारकशाह का वध करा दिया जबकि वह कालपी जाते हुए नवीन नगर मुबारकाबाद के निरीक्षण के लिए रुक गया था। वजीर सरवर-उल-मुल्क पहले मलिक सरूप नाम का हिन्दू था और बाद में मुसलमान बना था। खिज्रखाँ ने उसे दिल्ली का कोतवाल नियुक्त किया था परन्तु 1422 ई. में वह वजीर बनने में सफल हो गया। मुबारक उसके दम्भी व्यवहार से असन्तुष्ट था और वह उसकी कार्यक्षमता में भी विश्वास न कर सका था। इस कारण उसने उससे राजस्व के अधिकार छीनकर नायब सेनापति कमाल-उल-मुल्क को दे दिये थे। इससे सरवर-उल-मुल्क असन्तुष्ट हो गया था। अन्त में, वह कुछ हिन्दुओं की सहायता से मुबारकशाह का वध कराने में सफल हो गया।

सैय्यद सुल्तानों में मुबारकशाह योग्यतम शासक सिद्ध हुआ। वह अपने राज्य का विस्तार न कर सका परन्तु शाह की उपाधि धारण करके उसने अपने को बाह्य आधिपत्य से स्वतन्त्र घोषित किया और अपने नाम के सिक्के चलाये। उसकी मुख्य सफलता अपने राज्य को खोक्खर और काबुल के मुगल आक्रमणों से बचाना तथा जौनपुर और मालवा के शक्तिशाली शासकों के प्रभाव एवं अधिकार-क्षेत्र को बढ़ने से रोकना था। उसका प्रायः 13 वर्ष का शासन-काल अपने राज्य के विदेशी शत्रुओं और आन्तरिक विद्रोहियों से निरन्तर संघर्ष का समय था। वह इस संघर्ष में सफल हुआ। उसने इक्तादारों (सूबेदारों) के स्थान परिवर्तन करके सुल्तान की प्रतिष्ठा को भी स्थापित करने का प्रयत्न किया जिससे यह सिद्ध हो सके कि उसकी जागीर या उनका 'इक्ता' उनकी पैतृक सम्पत्ति नहीं बल्कि सुल्तान द्वारा दिया गया अधिकार है। परन्तु इससे जागीरदार और इक्तादार असन्तुष्ट हुए क्योंकि फीरोज के उत्तराधिकारियों के समय से सुल्तानों की दुर्बलता से लाभ उठाकर वे अपनी जागीरों को अपनी पैतृक सम्पत्ति मानने लगे थे। मुबारक की मुख्य असफलता योग्य एवं वफादार असैनिक अधिकारियों और दरबार के अमीरों को चुनने की रही जिसके कारण उसकी हत्या का षड्यन्त्र सफल हुआ। अन्य दृष्टिकोण से उसके प्रयत्न सराहनीय रहे। मुबारक ने यमुना नदी के तट पर एक नवीन मुबारकाबाद बनवाया और उसमें एक अच्छी मस्जिद बनवायी। उसने तत्कालीन विद्वान यहिया सरहिन्दी को संरक्षण प्रदान किया जिसने उसके समय के इतिहास 'तारीख-ए-मुबारकशाही' को लिखा। इस प्रकार मुबारकशाह सैय्यद शासकों में योग्यतम शासक सिद्ध हुआ।

[ 3 ]

## मुहम्मदशाह (1344-1445 ई.)

मुबारकशाह के पश्चात् उसके भाई का पुत्र मुहम्मद बिन फरीदखाँ मुहम्मदशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। वह अयोग्य और विलासी सिद्ध हुआ। उसने अपनी अयोग्यता से सैय्यद-वंश के पतन का मार्ग तैयार कर दिया। आरम्भ के छः माह वजीर सरवर-उल-मुल्क का शासन पर पूर्ण प्रभाव रहा। उसने अपने साथी सरदारों और मुबारक के वध में भाग लेने वाले हिन्दू सामन्तों को प्रतिष्ठित पद प्रदान किये। परन्तु नाइब सेनापति कमाल-उल-मुल्क सैय्यद-वंश के प्रति वफादार रहा और उसने वजीर को समाप्त करने के लिए सरदारों का एक पृथक् गुट बना लिया। वह चालाकी से अपनी भावनाओं को छिपाये रहा और वजीर ने उसे बयाना के विद्रोह को दबाने के लिए भेजा। सेना की शक्ति प्राप्त करके कमाल-उल-मुल्क ने अपनी योजना को सबके

सम्मुख रख दिया और अपनी सेना को लेकर दिल्ली वापस आ गया। वजीर ने इस षड्यन्त्र को देखकर सुल्तान का वध करने का प्रयत्न किया। परन्तु सुल्तान स्वयं इस षड्यन्त्र में सम्मिलित था और सावधान था। जब वजीर उसे कत्ल करने गया तब सुल्तान के अंगरक्षकों ने वजीर और उसके सहयोगियों का वध कर दिया।

मुहम्मदशाह वजीर के प्रभाव से तो मुक्त हो गया परन्तु स्वयं भी शासन की देखभाल न कर सका। नवीन वजीर कमाल-उल-मुल्क भी अधिक योग्य न था। इसके परिणामस्वरूप विद्रोहियों और बाह्य आक्रमणकारियों को अवसर मिला। मालवा के शासक महमूद ने दिल्ली पर आक्रमण किया। मुहम्मदशाह ने अपनी सहायता के लिए मुल्तान के सूबेदार बहलोल को बुलाया। दिल्ली से दस मील दूर तलपत नामक स्थान पर युद्ध हुआ परन्तु निर्णय न हो सका। मुहम्मदशाह ने महमूद के पास सन्धि का प्रस्ताव भेजा और महमूद अपनी राजधानी पर गुजरात के शासक द्वारा आक्रमण का समाचार पाकर वापस जाने को तैयार हो गया। वापस जाते हुए महमूद पर बहलोल ने आक्रमण किया तथा कुछ सामान को लूटने और सैनिकों को बन्दी बनाने में सफलता प्राप्त की।

मुहम्मदशाह ने बहलोल का सम्मान किया, उसे अपना पुत्र कहकर पुकारा और 'खान-ए-खाना' की उपाधि से विभूषित किया। पंजाब के अधिकांश भाग पर बहलोल का स्वामित्व भी स्वीकार कर लिया गया। इससे लालायित होकर बहलोल ने स्वयं 1443 ई. में दिल्ली पर आक्रमण किया। वह विफल रहा परन्तु इससे यह स्पष्ट हो गया कि सैय्यद शासकों द्वारा उत्तर-पश्चिम और पंजाब की सुरक्षा के लिए नियुक्त किये गये अफगान व लोदी सरदार शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी बन गये थे तथा उनका नेता बहलोल लोदी दिल्ली को जीतकर स्वयं सुल्तान बनने के लिए उत्सुक हो गया था।

अपने अन्तिम समय में मुहम्मदशाह न तो आन्तरिक विद्रोहों को दबा सका और न ही अपने राज्य की सीमाओं की सुरक्षा कर सका। जौनपुर के शासक ने पूर्व में उससे कुछ परगने छीन लिये, मुल्तान स्वतन्त्र हो गया, इक्तादारों ने राजस्व देना बन्द कर दिया और दिल्ली के बीस मील के दायरे में रहने वाले अमीर भी स्वतन्त्र प्रवृत्ति का परिचय देने लगे। इस प्रकार मुहम्मदशाह असफल शासक सिद्ध हुआ और उसके समय से सैय्यद-वंश का पतन आरम्भ हो गया। 1445 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

[ 4 ]

## अलाउद्दीन आलमशाह (1445-1450 ई.)

मुहम्मदशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अलाउद्दीन 'अलाउद्दीन आलमशाह' के नाम से सिंहासन पर बैठा। वह सैय्यद शासकों में सबसे अधिक अयोग्य सिद्ध हुआ। वह आरामपसन्द और विलासी था तथा अपने प्रभुत्व को बढ़ाने में स्वयं को अयोग्य पाकर और अपने वजीर हमीदखाँ से झगड़ कर वह बदायूँ चला गया और वहीं रहने लगा। 1447 ई. में बहलोल लोदी ने एक बार फिर दिल्ली पर आक्रमण किया परन्तु वह पुनः असफल रहा। अन्त में, हमीदखाँ ने बहलोल और नागौर के सूबेदार कियामखाँ को दिल्ली आमन्त्रित किया। उसका विचार था कि उनमें से जो भी दिल्ली में रहेगा, वह उसके हाथ में कठपुतली बन जायेगा। बहलोल, जो निकट था, पहले दिल्ली पहुँच गया और कियामखाँ वापस चला गया। बहलोल ने थोड़े समय पश्चात्

हमीदखाँ को मरवा दिया और 1450 ई. में उसने सम्पूर्ण शासन अपने हाथों में ले लिया। उसने अलाउद्दीन आलमशाह को दिल्ली आने का निमन्त्रण दिया परन्तु अलाउद्दीन ने अपनी दुर्बल स्थिति को देखकर बदायूँ में रहना ही ठीक समझा। उसने बहलोल को उत्तर दिया कि "क्योंकि मेरे पिता ने तुम्हें अपना पुत्र पुकारा था और मुझे अपनी थोड़ी-सी आवश्यकताओं की पूर्ति के बारे में विशेष चिन्ता नहीं है अतएव मैं बदायूँ के एक परगने से ही सन्तुष्ट हूँ और साम्राज्य तुम्हें सौंप रहा हूँ।"[1] बहलोल ने भी अलाउद्दीन को बदायूँ से अपदस्थ करने का प्रयत्न नहीं किया और अलाउद्दीन अपनी मृत्यु तक (1476 ई.) बदायूँ पर शासन करता रहा। उनके पश्चात् उसके दामाद और जौनपुर के शासक हुसैनशाह शर्की ने बदायूँ को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। डॉ. के. ए. निजामी ने लिखा है कि "इस प्रकार 37 वर्ष के नगण्य शासन के पश्चात् सैय्यद-वंश समाप्त हो गया। मुल्तान के राज्य के रूप में उसका उत्थान हुआ और बदायूँ के राज्य के रूप में वह समाप्त हुआ। भारत के मध्य-युग के इतिहास में राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टि से उसका कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं रहा यद्यपि वह दिल्ली साम्राज्य के विघटन और पुनर्निर्माण के क्रम में एक अनिवार्य कड़ी था।"[2] डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "खिज्रखाँ और मुबारकशाह ने अपने विद्रोही सरदारों को दबाने की आवश्यकता के कारण पंजाब को एक प्रकार से अफगानों को सौंप दिया था और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भी वे प्रभावशाली हो गये थे।" वे लिखते हैं कि "प्रथम दोनों सैय्यद शासकों ने अनजाने में अपने वंश की कीमत पर लोदी शक्ति को बढ़ने में सहायता दी थी।"[3] वह पुनः लिखते हैं कि "सैय्यद (सुल्तान) राजतन्त्र अथवा असैनिक शासन-व्यवस्था की पद्धति में कोई सक्रिय योगदान नहीं दे सके थे।"[4] इस प्रकार सैय्यद शासक न तो दिल्ली सल्तनत को सुरक्षित रख सके और न उसे कोई प्रशासकीय व्यवस्था अथवा सिद्धान्त प्रदान कर सके और "बहलोल लोदी को वस्तुतः न केवल नवीन राज्य का ही निर्माण करना पड़ा बल्कि एक नवीन राजत्व-सिद्धान्त को भी जन्म देना पड़ा।"

---

1 'Since my father called you his son, and I have no anxiety for the provision of my few wants, I am content with the one paragna of Badaun and am giving up the empire to you."
—Alauddin Shah to Bahlol Lodi.

2 "Thus ended the Saiyyad dynasty after an inconspicuous rule of 37 years. Emerging as the principality of Multan, it ended as the principality of Badaun. Neither politically, nor culturally did it contribute anything worthwhile to the history of medieval India. It was however, an inevitable stage in the process of dissolution and recoustruction of the Delhi empire."
—Dr. K. A. Nizami.

3 "The first two Saiyyads had unconsciously helped in the rise of the Lodi power at the expense of their own dynasty."
—Dr. K. S. Lal.

4 "The Saiyyads could nake no positive contribution to the kingship or to the system of civil administration." —Dr. K. S. Lal.

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. "भारत के मध्य-युग के इतिहास में सैय्यद-वंश का कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं रहा यद्यपि वह दिल्ली साम्राज्य के विघटन और पुनर्निर्माण के क्रम में एक अनिवार्य कड़ी था।" विवेचना कीजिए।
2. "सैय्यद सुल्तान राजतन्त्र अथवा असैनिक शासन-व्यवस्था की पद्धति में कोई सक्रिय योगदान नहीं दे सके थे।" समीक्षा कीजिए।

# 16
# विभिन्न लोदी सुल्तान

सल्तनत-युग में दिल्ली के सिंहासन पर राज्य करने वाले राजवंशों में लोदी-वंश अन्तिम था। बहलोल लोदी ने इस राजवंश की स्थापना की, सिकन्दर लोदी ने उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा में वृद्धि की तथा इब्राहीम लोदी जब इसी दिशा में प्रगति करने के लिए प्रयत्नशील था, बाबर ने भारत पर आक्रमण किया और दिल्ली की लोदी सुल्तानों की सत्ता को समाप्त करके मुगल-वंश की नींव डाली। लोदी-वंश के 75 वर्ष के शासन की मुख्य विशेषता कटु संघर्ष है। लोदी-वंश के शासकों के लिए यह संघर्ष त्रिमुखी था। उन्हें जौनपुर, मालवा, गुजरात और मेवाड़ के शक्तिशाली पड़ोसी-राज्यों से अपने अस्तित्व की सुरक्षा और शक्ति के विस्तार के लिए संघर्ष करना पड़ा। सम्भवतया, इनमें से प्रत्येक राज्य दिल्ली-राज्य की तुलना में अधिक समृद्धशाली और शक्तिशाली था। उसकी मुख्य कमी दिल्ली का उनके हाथों में न होना था जिससे वे दिल्ली का सुल्तान होने का दावा कर पाते और उससे सम्बन्धित प्रतिष्ठा तथा प्रभाव का लाभ प्राप्त कर पाते। इस कारण उनमें से प्रत्येक अपने राज्य और प्रभाव का विस्तार करने के लिए उत्सुक था और प्रत्येक का अन्तिम लक्ष्य दिल्ली को प्राप्त करना था। लोदी शासकों का दूसरा संघर्ष उन जमींदारों और अमीरों से था जो दुर्बल सुल्तानों के समय में प्रायः अर्ध स्वतन्त्र हो गये थे और जो केवल तलवार की शक्ति पर ही दिल्ली के सुल्तान की आज्ञा का पालन करने और उसे राजस्व देने के लिए बाध्य किये जा सकते थे। फीरोज तुगलक के पश्चात् से दिल्ली के सुल्तानों की दुर्बलता ने उस युग में ऐसी विकेन्द्रीकरण की स्थिति को जन्म दे दिया था, जिसमें केन्द्रीय सत्ता का भय न था और न सम्मान तथा जो एक शक्तिशाली राज्य के संगठन के पूर्ण विरोध में थी। सैय्यद शासक इस प्रवृत्ति को समाप्त करने और दिल्ली के सुल्तान की प्रतिष्ठा तथा शक्ति को स्थापित करने में असफल रहे थे। इस कारण लोदी सुल्तानों को नये सिरे से एक बड़े और केन्द्रीय राज्य के लिए प्रयत्न आरम्भ करना पड़ा और इस विकेन्द्रीकरण तथा स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति के समर्थक-अमीरों से संघर्ष करना पड़ा। परन्तु लोदी सुल्तानों का मुख्य संघर्ष अपने अफगान सरदारों से ही हुआ। वे अफगान सरदार जो उनकी शक्ति का मूल आधार थे, उनके साम्राज्य के संगठन और एक केन्द्रीय राज्य की स्थापना के मुख्य शत्रु थे। अफगानो की स्वतन्त्रता, समानता और शौर्य की प्रवृत्ति उनका मुख्य गुण थी परन्तु उनकी वही प्रवृत्ति लोदी सुल्तानों

के द्वारा एक केन्द्रीय राज्य की स्थापना हेतु किये जाने वाले प्रयत्नों के लिए सबसे अधिक घातक थी। अफगानों की स्वतन्त्र कबीलों की प्रवृत्ति उनके सुल्तानों की प्रतिष्ठा और शक्ति को सर्वोपरि स्थापित करने की नीति तथा राजनीतिक एकता की आवश्यकता के विरोध में थी। इस कारण लोदी सुल्तानों की मुख्य समस्या अपने अफगान सरदारों को अपने नियन्त्रण में रखने की थी और पर्याप्त मात्रा में वही उनके पतन के लिए उत्तरदायी हुई। अफगान सरदार एक शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य की स्थापना की आवश्यकता को समझने और उनकी स्थापना में सहयोग प्रदान करने में असफल हुए और इसी कारण मुगल शासक बाबर को भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने का अवसर मिला।

## [ 1 ]

## बहलोल लोदी (1451-1489 ई.)

बहलोल लोदी ने दिल्ली में लोदी-राजवंश की स्थापना की। वह अफगानों की एक महत्वपूर्ण शाखा, 'शाहूखेल' से सम्बन्धित था। लोदी-वंश के व्यक्ति सर्वप्रथम भारत में लमगान और मुल्तान के निकट बसे थे। उन्होंने तुर्की सुल्तानों की सेवा की और 1341 ई. में मलिक शाहू ने मुल्तान के सूबेदार का वध करके उस पर अधिकार किया परन्तु मुहम्मद तुगलक के शीघ्र आक्रमण के कारण उसकी यह सफलता बेकार हो गयी। शाहू के वंशज भारत से व्यापार करते रहे और उसका एक प्रपौत्र बहराम फीरोजशाह के समय में मुल्तान में बस गया। बहराम के सबसे बड़े पुत्र मलिक सुल्तान लोदी ने सुल्तान खिज्रखाँ की सेवा की और उसके मुख्य शत्रु मल्लू इकबालखाँ का वध करने में सफलता प्राप्त की। खिज्रखाँ ने उसे 'इस्लामखाँ' की उपाधि दी और सरहिन्द का सूबेदार नियुक्त किया। इस्लामखाँ ने मुबारकशाह के समय में खोक्खर तथा मुगलों के विरुद्ध युद्ध करने में अद्वितीय शौर्य प्रदर्शित किया। मुबारकशाह के समय में उसकी मृत्यु हुई। उसने अपनी मृत्यु से पहले अपने पुत्रों के स्थान पर अपने भतीजे और दामाद बहलोल लोदी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। बहलोल ने सुल्तान मुहम्मदशाह को प्रसन्न करके अमीर का पद प्राप्त किया था। अपने चाचा की मृत्यु के पश्चात् उसे सरहिन्द की सूबेदारी भी प्राप्त हो गयी। उसने आसपास के क्षेत्रों को जीतकर अपनी शक्ति में वृद्धि की और सुल्तान मुहम्मदशाह से भी अधिक शक्तिशाली हो गया। मुहम्मदशाह ने मालवा के शासक महमूद खलजी के आक्रमण के अवसर पर बहलोल से सहायता माँगी और महमूद खलजी के वापस चले जाने के पश्चात् उसे अपना पुत्र पुकारा तथा उसे 'खानेजहाँ' की उपाधि दी। उसके पश्चात् बहलोल ने दो बार दिल्ली को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु दोनों ही बार वह असफल रहा। जब सुल्तान अलाउद्दीन आलमशाह अपने वजीर हमीदखाँ से झगड़कर बदायूँ चला गया तब हमीदखाँ ने बहलोल को दिल्ली बुलाया। हमीदखाँ का विचार था कि बहलोल उसका समर्थक और अनुयायी बन कर रहेगा। परन्तु बहलोल इसके लिए तत्पर न था। जो कार्य वह शक्ति से न कर सका था, वह अब स्वतः ही पूरा होने वाला था। हमीदखाँ बहलोल और उसके अफगान सैनिकों पर पूर्ण विश्वास नहीं करता था। इस कारण वह उन्हें किले में प्रवेश नहीं करने देता था। बहलोल ने अपने सरदारों को जान-बूझकर असभ्यता और मूर्खता का व्यवहार करने के आदेश दिये जिससे हमीदखाँ को यह विश्वास हो गया कि अफगान मूर्ख हैं और ऐसी स्थिति में शासन-शक्ति को प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा के बारे में सोच भी नहीं सकते। इस कारण उसने बहलोल और

उसके सरदारों को दावत पर बुलाना आरम्भ किया। ऐसे ही एक अवसर पर अफगान सैनिक किले में प्रवेश कर गये और बहलोल के चचेरे भाई कुतुबखाँ ने हमीदखाँ को जंजीरों से बाँध दिया और कहा कि "राज्य की भलाई इसी में है कि आप कुछ दिन विश्राम करें।" इसी प्रकार वजीर हमीदखाँ को कैद कर दिया गया और बाद में उसका वध कर दिया गया। बहलोल ने सुल्तान अलाउद्दीन आलमशाह को बदायूँ से दिल्ली आने के लिए निमन्त्रण भेजा जिसे उसने अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार बहलोल को दिल्ली का सिंहासन बिना किसी संघर्ष के प्राप्त हो गया और 19 अप्रैल, 1451 ई. को वह 'बहलोलशाह गाजी' के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा और उसने अपने नाम से खुतवा पढ़वाया।

**कार्य**

बहलोल को सुल्तान की प्रतिष्ठा स्थापित करनी थी, अफगानों की श्रेष्ठता को स्थापित करना था, विद्रोही जमींदारों और सरदारों को दबाना था तथा शासन को व्यवस्थित करना था। वास्तव में दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करने से उसके राज्य की सीमाओं में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई थी जबकि उसका उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया था। उसने अफगान सरदारों को सन्तुष्ट करने की नीति अपनायी, उन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें दीं और उनके प्रति सम्मानजनक व्यवहार किया क्योंकि वे ही उसके राज्य और शासन का आधार थे। उसने अफगानों को भारत आने के लिए आमन्त्रित किया, मुख्यतया रोह से और उन सभी को उनकी योग्यतानुसार पद और जागीरें प्रदान कीं। परन्तु बहलोल सुल्तान की शक्ति और प्रतिष्ठा की सुरक्षा के लिए भी प्रयत्नशील था। उसने विद्रोही और उद्दण्ड सरदारों को दण्डित किया तथा उन पर सैनिक आक्रमण किये। उसने मेवात, सम्भल, कोल, इटावा, रपरी, भोगाँव और ग्वालियर पर सैनिक आक्रमण किये और वहाँ के जागीरदारों तथा राजाओं को अपना आधिपत्य स्वीकार करने और राजस्व देने के लिए बाध्य किया। वह उनकी जागीरों में कमी करके भी उनकी शक्ति को दुर्बल बनाने में सफल हुआ। परन्तु इनमें से कुछ ऐसे थे जो कभी जौनपुर के शासक के साथ और कभी उसके साथ मिल जाते थे तथा वे उसकी पूर्ण अधीनता में तभी आये जबकि बहलोल ने जौनपुर राज्य को जीतने में सफलता प्राप्त की। अपने अफगान सरदारों को भी वह अपने काबू में रख सका। उस समय की परिस्थितियों में बहलोल का उनके प्रति सम्मानित व्यवहार करना और उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें देना तो सम्भवतया आवश्यक था। परन्तु इसके साथ ही उसने उनमें अपनी श्रेष्ठता को बनाये रखने में भी सफलता प्राप्त की। बहलोल सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सुल्तान के आदर्श को तो अपने सम्मुख न रख सका और उसे परिस्थितियोंवश अफगानों की बड़ी-बड़ी जागीरें देकर उन्हें शक्तिशाली बनने का अवसर भी प्रदान करना पड़ा जो लोदी-वंश की दुर्बलता का कारण बना। परन्तु बहलोल अफगान सरदारों का सुल्तान रहा और उनकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति को अपने काबू में न रख सका इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। अफगान सरदारों को अपनी स्वतन्त्र जागीरें या राज्य बनने का अवसर बहलोल ने नहीं दिया।

बहलोल की एक मुख्य सफलता जौनपुर के राज्य को दिल्ली राज्य में सम्मिलित करने की थी। शर्की-वंश के जौनपुर के शासक महमूदशाह ने सैय्यद-वंश के अन्तिम शासक अलाउद्दीन आलमशाह की पुत्री से विवाह किया था। उसकी यह पत्नी अपने पति को दिल्ली पर आक्रमण करके बहलोल को अपदस्थ करने के लिए निरन्तर

उत्तेजित करती रहती थी। महमूदशाह अलाउद्दीन आलमशाह का दामाद होने के कारण दिल्ली पर अपना अधिकार भी मानता था और बहलोल की शक्ति को दिल्ली में जमने देने से पहले ही उखाड़ फेंकना चाहता था। इस कारण उसने बहलोल के शासन के पहले ही वर्ष में दिल्ली पर आक्रमण किया। परन्तु युद्ध से पहले ही उसका सेनापति दरियाखाँ लोदी बहलोल के पक्ष में हो गया। बहलोल जो सुल्तान की तरफ गया हुआ था, वापस पहुँच गया और उसने दिल्ली के निकट नरेला में महमूदशाह से युद्ध किया। महमूदशाह की पराजय हुई और उसे वापस लौटना पड़ा। परन्तु महमूदशाह इस पराजय को न भूला और कुछ समय पश्चात् उसने इटावा पर आक्रमण किया। इस बार भी उसे सफलता न मिली और दोनों पक्षों में सन्धि हो गयी। परन्तु शीघ्र ही दोनों में शमशाबाद के आधिपत्य के प्रश्न पर युद्ध हुआ। उसके पश्चात् भी सन्धि हो गयी और कोई निर्णय न निकला। तत्पश्चात् बहलोल ने जौनपुर पर आक्रमण किया परन्तु उससे भी कोई लाभ न निकला। 1457 ई. में महमूदशाह की मृत्यु हो गयी। महमूदशाह के पुत्र मुहम्मद ने भी युद्ध को जारी रखा परन्तु मुहम्मदशाह को गृह-युद्ध के कारण युद्ध से हटना पड़ा। उसे शीघ्र ही उसके भाई हुसैन ने युद्ध में परास्त करके मार दिया और स्वयं हुसैनशाह के नाम से जौनपुर का शासक बन गया। उसके पश्चात् चार वर्षों के लिए दोनों राज्यों में शान्ति रही। हुसैनशाह ने बहलोल के बहनोई कुतुबखाँ को मुक्त कर दिया और बहलोल ने हुसैनशाह के भाई जलालखाँ को मुक्त कर दिया। परन्तु यह एक अस्थायी समझौता था। हुसैनशाह साहसी और महत्वाकांक्षी था। उसने भी दिल्ली को जीतने का प्रयत्न किया और दिल्ली राज्य पर आक्रमण किया। उसके पश्चात् दिल्ली और जौनपुर राज्यों में एक लम्बे समय तक संघर्ष चला। बीच-बीच में दोनों में सन्धि भी हुई। परन्तु कभी कोई किसी पर आक्रमण करता रहा और कभी कोई किसी पर। दो बार बहलोल ने हुसैनशाह के रनिवास की स्त्रियों और उसकी पत्नी मलिक-ए-जहाँ को पकड़ने में भी सफलता पायी यद्यपि दोनों बार उन्हें सम्मानपूर्वक वापस कर दिया गया। अन्त में, हुसैनशाह की पराजय हुई और वह बिहार में शरण लेने के लिए बाध्य हुआ। बहलोल ने जौनपुर राज्य को अपने अधीन कर लिया और अपने पुत्र बारबकशाह को वहाँ का शासक नियुक्त किया। जौनपुर की विजय बहलोल की सबसे महत्वपूर्ण विजय थी। जौनपुर का राज्य उसके राज्य से अधिक समृद्धिशाली और शक्तिशाली था। उसकी विजय का कारण केवल उसकी सैनिक-प्रतिभा और उसका योग्य सेनापतित्व था। इस विजय से उनके राज्य और सम्मान में वृद्धि हुई। इससे न केवल दोआब के विद्रोही सरदार ही उसके अधीन हो गये बल्कि कालपी, धौलपुर और बाड़ी के शासकों ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

बहलोल का अन्तिम आक्रमण ग्वालियर पर हुआ। ग्वालियर के राजा मानसिंह ने उसे 80 लाख टंका दिये। ग्वालियर से वापस आते हुए मार्ग में बहलोल बीमार हो गया और जुलाई 1489 ई. के मध्य में उसकी मृत्यु हो गयी।

**मूल्यांकन**

लोदी शासकों में बहलोल लोदी एक योग्य शासक सिद्ध हुआ। यह उसके अथक परिश्रम और सैनिक-प्रतिभा का परिणाम था कि लोदी-वंश दिल्ली सल्तनत के इतिहास में एक स्थान पा सका और उसका पुत्र सिकन्दर लोदी लोदी-शासकों में प्रमुख स्थान प्राप्त कर सका। उसका पिता जीवित न था और उसका लालन-पालन उसके चाचा ने किया था। उसने अपने जीवन का प्रारम्भ एक साधारण स्थिति से किया।

परन्तु अपनी सैनिक-प्रतिभा के कारण उसने सुल्तान मुहम्मदशाह से 'मलिक' की उपाधि प्राप्त की और अपने चाचा से सरहिन्द की सूबेदारी। जब उसने दिल्ली का सिंहासन प्राप्त किया तब दिल्ली सल्तनत का आधिपत्य 'केवल पालम तक सीमित था।' बहलोल ने उसे वास्तविक राज्य का स्वरूप प्रदान किया। अपनी 80 वर्ष की वृद्धावस्था में जब उसकी मृत्यु हुई तब दिल्ली सल्तनत पंजाब से लेकर बिहार तक फैली हुई थी। दिल्ली, बदायूँ, बरन, सम्भल, रपरी आदि प्रमुख नगर उसके राज्य में सम्मिलित थे। राजस्थान का कुछ भाग उसकी अधीनता में था तथा ग्वालियर, धौलपुर और बाड़ी के शासक उसे राजस्व देते थे। जब तक वह सिंहासन पर आसीन रहा, दिल्ली के दुर्बल शासकों ने दिल्ली सल्तनत की शक्ति और प्रतिष्ठा का सर्वनाश कर दिया था। निकट के जागीरदार, मुख्यतया दोआब के विद्रोही उद्दण्ड बन चुके थे और जौनपुर के शर्की शासकों ने अन्तिम सैय्यद सुल्तानों को परास्त करके अपमानित किया था तथा शमसाबाद और इटावा तक अपने अधिकार-क्षेत्र का विस्तार कर लिया था। बहलोल लोदी एक योग्य सेनापति सिद्ध हुआ। **उसने विद्रोही जागीरदारों के दमन में सफलता पायी तथा जौनपुर के उस राज्य को दिल्ली राज्य में सम्मिलित कर लिया** जो 85 वर्षों से दिल्ली के सुल्तानों को चुनौती दे रहा था तथा शक्ति और साधनों में दिल्ली सल्तनत की तुलना में अधिक श्रेष्ठ था। दिल्ली राज्य को संगठित करने, उसका पुनः विस्तार करने और उसकी प्रतिष्ठा को स्थापित करने में बहलोल ने सफलता प्राप्त की।

**निस्सन्देह, बहलोल एक कट्टर सैनिक और योग्य सेनापति था।** अब्दुल्ला ने लिखा है कि जिस दिन से वह (बहलोल) सुल्तान बना, कोई भी उसके विरुद्ध विजय प्राप्त न कर सका और उसने युद्धस्थल को उस समय तक नहीं छोड़ा जब तक कि उसने युद्ध में विजय प्राप्त नहीं कर ली अथवा उसे घायल स्थिति में उठाकर युद्धक्षेत्र से बाहर नहीं ले जाया गया।"[1] अब्दुल्ला के इस कथन में अतिशयोक्ति हो सकती है परन्तु तब भी इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि बहलोल एक प्रतिभाशाली सेनापति था। **परन्तु बहलोल जहाँ अत्यधिक साहसी था वहाँ अत्यधिक चालाक भी था। युद्ध को जीतना उसका एकमात्र लक्ष्य रहता था चाहे उसके साधन कुछ भी हों।** वजीर हमीदखाँ और हुसैनशाह शर्की के प्रति उसका व्यवहार चालाकी का रहा था। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह आवश्यकतानुसार धोखेबाजी और चालाकी का सहारा लेता था। **परन्तु उसके चरित्र का यह पक्ष युद्ध तक ही सीमित था। युद्ध के पश्चात् वह विपक्षी के प्रति भी उदार था।** दो बार उसने हुसैनशाह की पत्नी को युद्ध में कैद किया परन्तु दोनों बार उसे सम्मान सहित उसके पति के पास भिजवा दिया यद्यपि वह जानता था कि वही स्त्री उसकी और हुसैनशाह की शत्रुता का एक मुख्य कारण थी। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "मध्य-युग के भारत में विजयी मुसलमान सुल्तान का यह व्यवहार अद्भुत था।"[2] पराजित हुसैनशाह को भी उसने कुछ परगनों की आय के उपभोग करने का अवसर दे दिया था।

---

1 "From the day he (Bahlul) became king, no one achieved a victory over him; nor did he once leave the field until he had gained the day, or been carried off wounded." —Abdulla.

2 "For a victorious Muslim Sultan in Medieval India, this treatment was unique." —Dr. K. S Lal.

बहलोल कूटनीतिज्ञ और परिस्थितियों को समझने वाला था। जौनपुर के अतिरिक्त उसने किसी अन्य राज्य को जीतने का प्रयत्न नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि वह अपनी शक्ति की सीमाओं को समझता था। इससे भी अधिक व्यावहारिकता का परिचय उसने अपने अफगान सरदारों के प्रति व्यवहार करते हुए दिया। उसने उनमें विश्वास उत्पन्न किया, बड़ी मात्रा में उन्हें अपनी सहायता के लिए एकत्रित किया, उन्हें सम्मान प्रदान किया, उन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें दीं, उन्हें दिल्ली से लूटी हुई सम्पत्ति में से बराबर हिस्सा दिया, उनके साथ समानता एवं मित्रता का व्यवहार किया, उनके साथ बैठकर भोजन किया, कालीन पर बैठकर दरबार किया, उनकी बीमारी अथवा उनके असन्तुष्ट होने पर उनके घर गया और इस प्रकार उन्हें सन्तुष्ट करके उन्हें अपनी शक्ति का आधार बनाया। निस्सन्देह, उसकी इस नीति और व्यवहार से हानिकारक परिणाम भी निकले। इससे सुल्तान सरदारों में से एक बड़ा सरदार मात्र रह गया। यह स्थिति अफगानों के राजत्व-सिद्धान्त के अनुकूल तो थी परन्तु इसके आधार पर एक केन्द्रीय राज्य और सुल्तान की प्रतिष्ठा का निर्माण नहीं किया जा सकता था। इससे स्वतन्त्र प्रकृति के अफगानों की महत्वाकांक्षाएँ बलवती हुईं और उनकी बड़ी-बड़ी जागीरों ने उन्हें शक्तिशाली और साधन-सम्पन्न बनाया जिसके कारण उसके उत्तराधिकारियों को कठिनाई हुई जो सुल्तान और सरदारों के संघर्ष में परिवर्तित होकर लोदी-वंश के पतन का एक मुख्य कारण बनी। परन्तु बहलोल लोदी के पास इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग न था। उसका राज्य और उसकी शक्ति उनके समर्थक अफगान सरदारों के सहयोग पर निर्भर करती थी। इक्तिदार हुसैन सिद्दीकी के मतानुसार तो बहलोल का विश्वास तुर्कों की भाँति निरंकुश राजतन्त्र में ही था। परन्तु उसे परिस्थितियोंवश अफगानों की स्वतन्त्र प्रकृति से समझौता करना पड़ा था। वास्तविकता कुछ भी हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि बहलोल ने अपने अफगान सरदारों का सहयोग प्राप्त किया और उन्हें अपने नियन्त्रण में भी रखने में सफलता प्राप्त की। भविष्य की घटनाओं को न तो यह समझ सकता था और न उन पर नियन्त्रण रख सकता था। इस कारण भविष्य की घटनाओं के लिए उसे दोषी नहीं माना जा सकता। उसके समय में उसके अफगान सरदारों ने उसे एक राज्य को स्थापित करने और उसकी प्रतिष्ठा बनाये रखने में पूर्ण सहयोग दिया। इसी में बहलोल लोदी की मुख्य सफलता थी।

एक शासक की दृष्टि से बहलोल न तो योग्य था और न ही उसे एक व्यवस्थित शासन-व्यवस्था को स्थापित करने का अवकाश मिला। इस दृष्टि से उसका केवल एक कार्य उल्लेखनीय है। उसने 'बहलोली सिक्के' को चलाया जो अकबर से पहले तक उत्तरी भारत में विनिमय का एक मुख्य साधन बना रहा। परन्तु शासक की दृष्टि से उसे न्यायप्रिय और उदार शासक माना गया है। अपनी प्रजा के प्रति वह कठोर न था, उसके कष्टों को दूर करने के लिए सदैव तत्पर रहता था और राज्य के धन का अपव्यय अपनी शान-शौकत, व्यक्तिगत व्यसन अथवा बाह्य प्रतिष्ठा के प्रदर्शन हेतु नहीं करता था।

व्यक्ति की दृष्टि से बहलोल धार्मिक, उदार, साहसी, ईमानदार, परिश्रमी और दयावान था। उसके बारे में कहा जाता है कि उसके दरवाजे से कोई भी निर्धन व्यक्ति खाली हाथ वापस नहीं लौटता था। वह सभी से मित्रवत् और सहृदयता का व्यवहार करता था। उसने सर्वदा विद्वानों और धार्मिक व्यक्तियों का सम्मान किया।

वह बहुत सादगी से रहता था। वह कुशाग्र बुद्धि और वाक्पटु भी था। एक बार जबकि मुल्ला फजीन ने अफगानों के व्यवहार की कटु आलोचना करना आरम्भ किया तो बहलोल ने मुस्कराकर सिर्फ इतना कहा कि मुल्ला फजीन शान्त हो जाओ क्योंकि हम सभी खुदा के बन्दे हैं।"[1] मुल्ला निरुत्तर होकर तुरन्त शान्त हो गया। बहलोल धर्म में आस्था रखता था। वह इस्लाम के नियमों का विधिवत् पालन करता था और व्यक्तिगत दृष्टि से उसे कोई व्यसन न था। परन्तु बहलोल धर्मान्ध न था। उसने हिन्दुओं के प्रति धार्मिक कट्टरता का व्यवहार नहीं किया बल्कि उसके सरदारों में कई प्रतिष्ठित हिन्दू सरदार थे, जैसे राय प्रतापसिंह, राय करनसिंह, राय नरसिंह, राय त्रिलोकचन्द्र और राय दाँदू।

दिल्ली सल्तनत के इतिहास में बहलोल का स्थान जौनपुर की विजय, विद्रोही सरदारों के दमन और दिल्ली सल्तनत की खोई प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना करने के कारण है। वह स्वयं बहुत कुछ कर सका और अपने पुत्र के लिए कुछ और अधिक करने के लिए मार्ग खोल गया।

[ 2 ]

## सिकन्दरशाह लोदी (1489-1517 ई.)

बहलोल ने अपनी मृत्यु से पहले अपने तीसरे पुत्र निजामखाँ को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। जो व्यवस्था उसने स्थापित की थी, उसके कारण उसके अफगान सरदारों ने राजवंश से पृथक् किसी अन्य सरदार को तो सुल्तान बनाने का विचार नहीं किया परन्तु कुछ सरदारों ने बहलोल के दूसरे पुत्र बारबकशाह (जो उस समय जौनपुर का शासक था) अथवा बहलोल के सबसे बड़े पुत्र बयाजिद (जिसकी मृत्यु हो चुकी थी) के पुत्र आजम हुमायूँ को सुल्तान बनाने का प्रयत्न किया। निजामखाँ के विरोध में होने का उनका मुख्य कारण यह था कि निजामखाँ की माँ जैबन्द एक सुनार की लड़की थी। ईसाखाँ लोदी (बहलोल का चचेरा भाई) ने निजामखाँ को दिल्ली से बुलाकर उसे धोखे से समाप्त करने का षड्यन्त्र किया परन्तु वजीर खाने आजम उमरखाँ सरवानी निजामखाँ के पक्ष में था और उसने निजामखाँ को इस खतरे की सूचना दे दी। इस कारण निजामखाँ इस षड्यन्त्र का शिकार होने से बच गया। बहलोल की मृत्यु के पश्चात् ईसाखाँ लोदी के नेतृत्व में सभी सरदारों को सुल्तान चुनने के लिए बुलाया गया। निजामखाँ की माँ ने स्वयं उपस्थित होकर अपने पुत्र के अधिकार का दावा किया जिसका उत्तर ईसाखाँ ने बड़े अपमानपूर्वक दिया। उसने कहा कि "एक सुनार की पुत्री का पुत्र सुल्तान के पद के योग्य नहीं है।"[2] और जब खानेखाना फरमूली ने उसे सुल्तान की विधवा पत्नी से सम्मानित व्यवहार करने के लिए कहा तो ईसाखाँ ने उसे भी यह कहकर डाँटा कि "सुल्तान के सेवक को राजवंश के सम्बन्धियों के मामले में बोलने का अधिकार नहीं है।" ईसाखाँ के इस व्यवहार ने उसके पक्ष को दुर्बल कर दिया। खानेखाना फरमूली ने तुरन्त

---

1 "Mulla Fazin, hold enough, for we are all servants of God."
— Sultan Bahlul.

2 "The son of the daughter of a goldsmith is not fit for kingship."
—Isa Khan.

उत्तर दिया कि "मैं केवल सुल्तान सिकन्दर (निजामखाँ) का सेवक हूँ, किसी अन्य का नहीं।"[1] खानेजहाँ लोदी भी निजामखाँ के पक्ष में हो गया। इन शक्तिशाली सरदारों ने निजामखाँ का साथ दिया और 17 जुलाई, 1489 ई. को निजामखाँ 'सुल्तान सिकन्दरशाह' के नाम से सिंहासन पर बैठ गया।

### कार्य

सिकन्दरशाह ने यह सिद्ध कर दिया कि वह अपने पिता के पुत्रों में से योग्य-तम था। उसने उन विरोधी सरदारों को जो उसे सुल्तान बनाने के विपक्ष में थे और उन दावेदारों को जो सिंहासन प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे, समाप्त किया। उसने अफगान सरदारों के प्रभाव और शक्ति को दबाकर सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित किया। उसने बारबकशाह के दिल्ली के स्वतन्त्र होने के प्रयत्नों को असफल किया और इन सभी कार्यों को सफलता से करने के साथ-साथ उसने साम्राज्य का विस्तार भी किया। बहलोल ने साम्राज्य-विस्तार के कार्य को आरम्भ किया था, सिकन्दर ने उस कार्य को आगे बढ़ाया। बहलोल ने विद्रोही सरदारों को दबाकर रखा था और अपने अफगान सरदारों से सुल्तान के अधिकारों के सम्बन्ध में समझौता कर लिया था, सिकन्दर ने विद्रोही सरदारों की शक्ति को नष्ट कर दिया और अन्य सरदारों को सुल्तान की सत्ता को मानने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार राज्य-विस्तार तथा सुल्तान की शक्ति और प्रतिष्ठा की स्थापना की दृष्टि से सिकन्दरशाह अपने पिता से आगे बढ़ गया और लोदी-वंश के शासकों में श्रेष्ठ शासक कहलाने का अधिकारी बना।

सिकन्दरशाह ने सर्वप्रथम अपने विरोधियों को समाप्त किया। उसने अपने चाचा आलमखाँ को रपरी छोड़ने के लिए बाध्य किया और जब वह ईसाखाँ की शरण में चला गया तब सिकन्दर ने उसे आश्वासन देकर अपनी ओर मिला लिया और उसे इटावा की जागीर दे दी, यद्यपि बाद में वह वहाँ से गुजरात भाग गया। उसने ईसाखाँ को एक युद्ध में परास्त किया और युद्ध में घाव लग जाने के कारण ईसाखाँ की शीघ्र मृत्यु हो गयी। उसने अपने भतीजे आजम हुमायूं को परास्त करके उससे कालपी को छीन लिया। झालरा के विरोधी सरदार तातारखाँ को भी उसने परास्त किया यद्यपि उसकी जागीर उसे वापस दे दी गयी। इस प्रकार एक वर्ष के अन्तर्गत ही सिकन्दर-शाह ने अपने विरोधी सरदारों और गद्दी के दावेदारों को समाप्त कर दिया।

अपने बड़े भाई तथा जौनपुर के शासक बारबकशाह से उसने केवल यह माँग की कि वह उसकी अधीनता को मान ले जिससे राज्य का विभाजन न हो। परन्तु जब बारबकशाह ने इस बात को मानने से इन्कार कर दिया तो सिकन्दर ने जौनपुर पर आक्रमण किया। युद्ध में बारबकशाह की पराजय हुई। सिकन्दरशाह ने जौनपुर में शासन करने का अधिकार बारबकशाह को ही दे दिया यद्यपि उसने उसके दरबार में अपने व्यक्तियों की नियुक्ति करके और वहाँ अपने सरदारों में जागीरें वितरित करके उसे अपने नियन्त्रण में रखने का प्रबन्ध किया। परन्तु बारबकशाह अयोग्य सिद्ध हुआ। जौनपुर के हिन्दू जमींदारों ने जुगा के नेतृत्व में एक विद्रोह कर दिया और वह भाग खड़ा हुआ। सिकन्दरशाह ने उस विद्रोह को दबाया, जुगा को बिहार में हुसैनशाह शर्की की शरण में भाग जाने के लिए बाध्य किया और जौनपुर में एक

---

1 "I am the servant of Sultan Sikandar, and not of any body else."
—Khan Khanan Farmuli.

बार पुनः बारबकशाह को शासक नियुक्त किया। परन्तु बारबकशाह पुनः असफल हुआ और हिन्दू जमींदारों (जो शर्की-वंश के शासक हुसैनशाह के पक्ष में थे) ने उसे भागने के लिए बाध्य किया। सिकन्दरशाह ने विद्रोह को दबा दिया। इस बार बारबकशाह को पकड़कर कारागार में डाल दिया गया और जौनपुर में एक सूबेदार की नियुक्ति कर दी गयी।

जौनपुर के विद्रोहों ने सिकन्दरशाह को बिहार को जीतने का अवसर प्रदान किया। विद्रोही जमींदारों के नेता जुगा ने भागकर हुसैनशाह शर्की के पास शरण ली थी। उस अवसर पर सिकन्दरशाह ने हुसैनशाह को बिहार भागने के लिए बाध्य किया था। हिन्दुओं के दुबारा विद्रोह करने पर सिकन्दरशाह को बहुत क्षति उठानी पड़ी। उस अवसर को उपयुक्त समझकर हुसैनशाह ने आगे बढ़कर सिकन्दरशाह पर आक्रमण किया (1494 ई.)। परन्तु बनारस के निकट एक युद्ध में सिकन्दरशाह ने उसे परास्त कर दिया। इस बार सिकन्दरशाह ने उसका पीछा किया और उसे बंगाल में शरण लेने के लिए बाध्य किया। बिहार को दिल्ली राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

वहाँ से सिकन्दर ने तिरहुत पर आक्रमण किया। वहाँ के राजा ने उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लिया।

हुसैनशाह शर्की के बंगाल भाग जाने से दिल्ली की सेना ने बंगाल की सीमा तक उसका पीछा किया। बंगाल का शासक अलाउद्दीन हुसैनशाह बिहार पर दिल्ली के अधिकार को पसन्द नहीं करता था और उसने दिल्ली की सेना की प्रगति को रोकने के लिए अपने पुत्र दानियाल के नेतृत्व में एक सेना भेजी। परन्तु बिना किसी युद्ध के दोनों पक्षों में एक समझौता हो गया जिसके अनुसार दोनों पक्षों ने एक-दूसरे की सीमाओं पर आक्रमण न करने का वायदा किया, बिहार को सिकन्दर के राज्य की सीमाओं में मान लिया गया और अलाउद्दीन हुसैनशाह ने यह भी वायदा किया कि वह दिल्ली के सुल्तान के शत्रुओं को अपने राज्य में शरण नहीं देगा।

मालवा के आन्तरिक संघर्ष के कारण सिकन्दर को उस राज्य में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला परन्तु उसने मालवा पर आक्रमण नहीं किया। चन्देरी पर उसने अवश्य अधिकार कर लिया।

राजपूत राज्यों के विरुद्ध भी सिकन्दर को कुछ सफलता मिली। उसने धौलपुर, मन्देल, उतगिरि, नरवर और नागौर को जीतने में सफलता प्राप्त की परन्तु समय-समय पर ग्वालियर के राजा को परास्त करके और उससे राजस्व वसूल करके भी वह ग्वालियर को अपने राज्य में सम्मिलित नहीं कर सका। 1504 ई. में उसने राजस्थान के शासकों पर अपने अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए आगरा का नवीन नगर बसाया।

बिहार की विजय के अतिरिक्त सिकन्दर लोदी की अन्य कोई विजय राज्य के विस्तार की दृष्टि से महत्वपूर्ण न थी। परन्तु वह जौनपुर को दिल्ली के अधीन करने में सफल हुआ और राजपूत शासकों के विरुद्ध उसकी सफलताओं ने उसे सम्मान प्रदान किया। सम्भवतया, सिकन्दर अपनी शक्ति की सीमाओं को समझता था और

मुसलमान राज्यों से संघर्ष भी नहीं करना चाहता था। निकट के बंगाल और मालवा के राज्यों के प्रति उसका व्यवहार उसकी इस नीति के प्रमाण थे।

सिकन्दर लोदी की एक मुख्य समस्या अफगान सरदारों की स्वतन्त्र और विद्रोही प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने की थी। उसने सभी सूबेदारों और जागीरदारों को
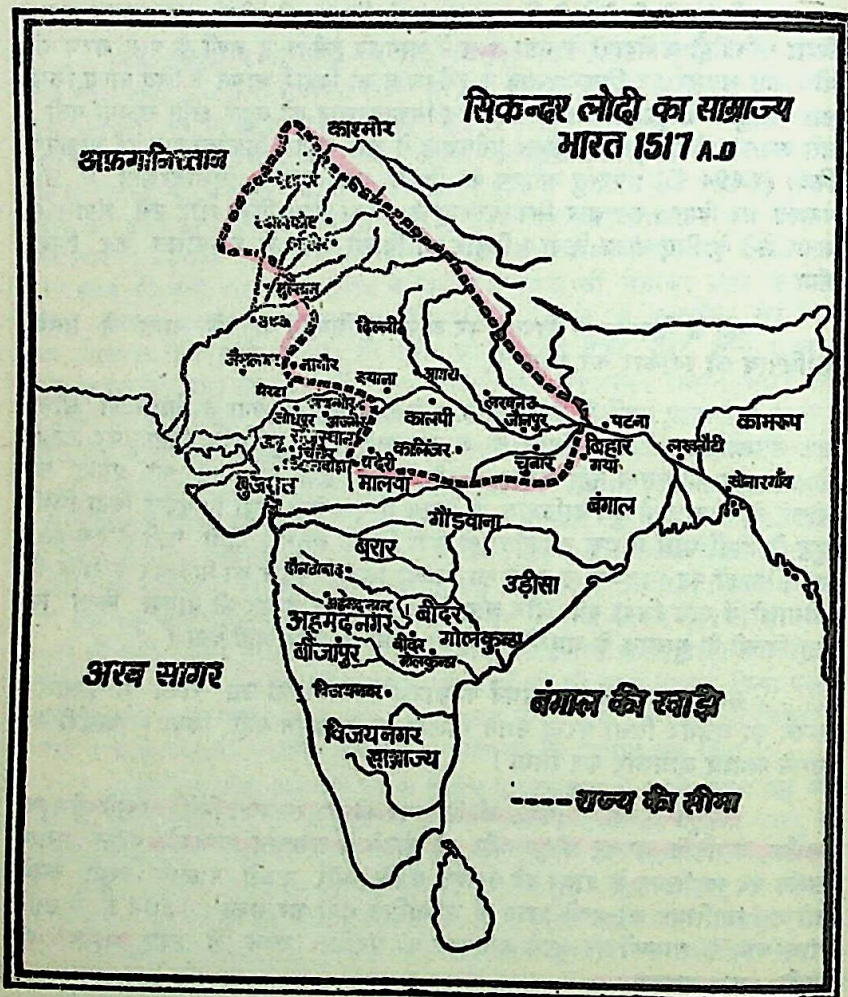
अपनी आय और व्यय का विवरण देने की आज्ञा दी। जो भी सरदार राज्यों के धन का गबन करता था, उसे उसने दण्ड दिया। जौनपुर के सूबेदारों को इसी आधार पर दण्डित किया गया और उनसे राज्यों का धन वसूल किया गया। उसने सिंहासन पर बैठना आरम्भ किया और सभी अमीरों को दरबार में अथवा दरबार के बाहर उसके

आदेशों के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए बाध्य किया। उसके आदेशों को प्राप्त करने के लिए उसके अमीर अपने स्थान से छः मील दूर से आते थे। इसी प्रकार सुल्तान के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के विभिन्न नियम बनाये गये थे और जो उन्हें तोड़ता था, उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। न्याय में वह छोटे और बड़े का कोई अन्तर नहीं करता था। इससे भी उसे सरदारों को अपने अनुशासन में रखने में सफलता मिली। परन्तु शासन और सरदारों को नियन्त्रण में रखने में उसकी सफलता का मुख्य श्रेय उसके गुप्तचर-विभाग को था। सभी स्थानों पर, यहाँ तक कि सरदारों के निवास-स्थानों तक में शाही गुप्तचर और संवाददाता नियुक्त किये गये थे जो सुल्तान को प्रतिदिन की सूचना देते थे। उसका गुप्तचर-विभाग इतना श्रेष्ठ था कि जन-साधारण यह विश्वास करता था कि सुल्तान को विभिन्न सूचनाएँ भूत-प्रेतों से प्राप्त होती हैं। इस प्रकार सिकन्दरशाह ने अपने सरदारों पर अंकुश लगाया। परन्तु सिकन्दरशाह सरदारों से सम्मान तथा अनुशासन की आशा करते हुए भी उनके प्रति क्रूर नहीं था और न उनके साथ असम्मानजनक व्यवहार करता था। वह वृद्ध और अनुभवी सरदारों का सम्मान करता था तथा अन्य सरदारों की भी व्यक्तिगत भावनाओं की परवाह करता था। उसका उद्देश्य केवल सुल्तान की श्रेष्ठता को स्थापित करना था। वह यह भी चाहता था कि वे उसे अपना सुल्तान माने और अपने को सुल्तान का पदाधिकारी। वह अपने इस कार्य में सफल हुआ। एक अवसर पर प्रायः 22 सरदारों ने षड्यन्त्र करके सिकन्दर को गद्दी से हटाकर उसके छोटे भाई फतहखाँ को सिंहासन पर बैठाने का प्रयत्न किया परन्तु फतहखाँ ने अपनी माँ और अपने धार्मिक शिक्षक की सलाह पर इसकी सूचना सिकन्दरशाह को दे दी। वे सभी सरदार मार दिये गये अथवा राज्य से निष्कासित कर दिये गये। उसके पश्चात् सिकन्दरशाह के समय में न कोई षड्यन्त्र हुआ और न कोई खुला विद्रोह।

सिकन्दरशाह अत्यधिक परिश्रमी, उदार, न्यायप्रिय और अपनी प्रजा की भलाई चाहने वाला सुल्तान था। वह प्रातःकाल से लेकर मध्य-रात्रि तक कार्य करता था। वह न्याय में पूर्णतया निष्पक्ष था और न्यायालयों में उसके प्रतिनिधि रहते थे जो यह देखते थे कि सभी व्यक्तियों को न्याय प्राप्त होता है अथवा नहीं। उसने कृषि और व्यापार की उन्नति का प्रयत्न किया। नाप के लिए एक पैमाना 'गजे सिकन्दरी' उसी के समय में आरम्भ किया गया। उसे वस्तुओं के मूल्य की सूचना प्रति-दिन दी जाती थी जिससे वह जान सके कि जन-साधारण का जीवन किस प्रकार का था। उसने आन्तरिक व्यापारिक करों को समाप्त कर दिया। उसके राज्य में शान्ति और व्यवस्था रही जिसके कारण कृषि और व्यापार की उन्नति हुई। उसने निर्धनों के लिए मुफ्त भोजन की व्यवस्था की। उसके समय में योग्य व्यक्तियों के नामों की सूची बनाकर प्रत्येक छः माह के पश्चात् उसके सामने प्रस्तुत की जाती थी जिसके अनुसार विभिन्न व्यक्तियों को उनकी योग्यतानुसार आर्थिक सहायता प्रदान की जाती थी। इस प्रकार उसका शासन शान्ति, सम्पन्नता, अनुशासन और प्रगति का रहा। फीरोज तुगलक के समय के पश्चात् से शासन में उसके समय तक जो कुर्व्यवस्था थी, उसे ठीक करने में सिकन्दर लोदी ने सफलता प्राप्त की।

धार्मिक दृष्टि से सिकन्दर लोदी असहिष्णु सिद्ध हुआ। तत्कालीन इतिहास-कारों ने भी उसकी नीति को धर्मान्धता की बताया। निजामुद्दीन अहमद ने लिखा था कि 'इस्लाम में उसकी (सिकन्दर की) धर्मान्धता इतनी अधिक थी कि वह इस

क्षेत्र में अतिशय की सीमा को भी पार कर गया था।"[1] अपनी इस धार्मिक कट्टरता का परिचय उसने अपने शाहजादा-काल में भी दिया था जबकि उसने थानेश्वर के पवित्र कुण्ड को नष्ट करने का निश्चय किया था। सुल्तान बनने के पश्चात् उसने हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करने, मूर्तियों को खण्डित करने और उनके स्थानों पर मस्जिदें खड़ी करने की नीति अपनायी। एक तत्कालीन इतिहासकार के अनुसार उसने नगरकोट के ज्वालामुखी मन्दिर की मूर्ति को तोड़कर उसके टुकड़ों को मांस तोलने के लिए कसाइयों को दे दिया। उसने मथुरा, मन्दैल, नरवर, चन्देरी, आदि स्थानों पर मन्दिरों और मूर्तियों को नष्ट किया। मथुरा में उसने हिन्दुओं को यमुना नदी में स्नान करने और अपने बाल मुंड़वाने से रोका। उसने हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिए प्रोत्साहन दिया। उसने बोधन नामक एक हिन्दू को इसलिए मृत्यु-दण्ड दिया कि वह इस्लाम और हिन्दू दोनों ही धर्मों को सत्य बताता था। सिकन्दरशाह के पक्ष में यह कहा गया है कि उसने मुसलमानों में प्रचलित कुप्रथाओं को भी रोकने का प्रयत्न किया था। उसने मुहर्रम के 'ताजिये' निकालना बन्द कर दिया था, मुसलमान स्त्रियों को 'पीरों' और सन्तों की मजारों पर जाने से रोक दिया था, क्रोध में उसने शर्की-शासकों द्वारा बनवायी गयी जौनपुर की सुन्दर मस्जिदों को भी तोड़ने के आदेश दे दिये थे, यद्यपि उलेमाओं के कहने से उसने अपना आदेश वापस ले लिया था। आधुनिक इतिहासकारों में से डॉ. के. एस. लाल ने भी उसके पक्ष में एक शक्तिशाली तर्क दिया है। उन्होंने लिखा है कि "15वीं सदी के अन्त और 16वीं सदी के आरम्भ तक भारत का धार्मिक वातावरण बदल चुका था। हिन्दू और मुसलमान धर्म एक-दूसरे के निकट आ चुके थे; भक्ति-आन्दोलन आरम्भ हो चुका था जो ईश्वर की समानता पर बल दे रहा था और धार्मिक सहिष्णुता का विचार फैल रहा था। ऐसी स्थिति में सिकन्दरशाह के धार्मिक कट्टरता के कुछेक कार्य बहुत बुरे माने गये अन्यथा उसका व्यवहार अन्य मुसलमान शासकों की तुलना में अधिक धर्मान्धता का न था।" वह पुनः लिखते हैं कि 14वीं सदी में सिकन्दर लोदी का कार्य आश्चर्यजनक न माना जाता···· परन्तु 15वीं सदी में उसकी धर्मान्धता बहुत दोषपूर्ण मानी गयी।"[2] परन्तु सिकन्दर लोदी के पक्ष में दिये गये तर्कों के पश्चात् अधिकांशतया यह माना जाता है कि वह धर्मान्ध था और मुख्यतया उसने हिन्दुओं के प्रति अधिक कठोरता की नीति अपनायी। डॉ. के. एस. लाल के तर्क को स्वीकार करते हुए भी यह कहना अनुपयुक्त नहीं है कि सिकन्दरशाह ने धर्मान्धता के कार्य किये थे। वे कार्य अपने युग की प्रवृत्ति के विरुद्ध होने के कारण अप्रिय भी समझे गये। ऐसी स्थिति में अपने युग के सहिष्णुता के वातावरण में धार्मिक कट्टरता का परिचय देना एक बड़ी भूल ही नहीं थी बल्कि एक दुराग्रह भी था। इस कारण सिकन्दरशाह को धर्मान्धता से दोष मुक्त नहीं किया जा सकता।

---

1 "His (Sikandar's) bigotry in Islam was so great in this regard he went beyond the bounds even of excess"

—Nizamuddin Ahmad.

2 "In the fourteenth century, Sikandar Lodi's attitude would have caused no surprise... But in the fifteenth century his bigotry was particularly noticeable." —Dr K. S. Lal, *Twilight of the Sultanate*.

परन्तु सिकन्दरशाह एक सफल शासक माना गया है। अपने अन्तिम दिनों में वह बयाना गया था। वहीं उसके गले में बीमारी हो गयी। वह दिल्ली वापस आ गया परन्तु उसके पश्चात् वह ठीक न हो सका और 21 नवम्बर, 1517 ई. को उसकी मृत्यु हो गयी।

**मूल्यांकन**

सिकन्दर लोदी लोदी-वंश का श्रेष्ठ शासक था। तत्कालीन इतिहासकारों ने उसे एक आदर्श शासक माना था और आधुनिक इतिहासकार भी उसे लोदी-वंश के शासकों में महानतम शासक स्वीकार करते हैं। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "सिकन्दर-शाह ने ऐश्वर्य और सफलता से 29 वर्ष शासन किया था। वह लोदी-वंश का सर्व-श्रेष्ठ शासक था और उसने अपने को अपने पिता बहलोल तथा अपने पुत्र इब्राहीम से अधिक सफल सिद्ध किया।"[1]

सिकन्दर सुन्दर, सुडौल और शक्तिशाली था। सम्भवतया अपने व्यक्तित्व को सुन्दर बनाये रखने के कारण ही वह दाढ़ी नहीं रखता था। बचपन में सिकन्दर इतना अधिक सुन्दर था कि उसका शिक्षक शेख हसन मौलवी उससे इतना अधिक प्रेम करने लगा कि शाहजादे को उसका महल में आना पसन्द न रहा। सिकन्दर शिक्षित और विद्वान था। वह फारसी भाषा का ज्ञाता था और स्वयं कविताओं की रचना करता था। शिक्षा को प्रोत्साहन देता था और विद्वानों का सम्मान करता था। उसने अफगान सरदारों के बच्चों की शिक्षा पर बहुत बल दिया जिससे वह सुसभ्य बने। प्रति छः माह पश्चात् योग्य व्यक्तियों की सूची बनाकर उसके सम्मुख प्रस्तुत की जाती थी तथा वह उनके लिए ईनाम, जागीर और आर्थिक सहायता की व्यवस्था करता था। उसने अनेक मस्जिदें बनवायी थीं तथा प्रत्येक में एक धर्म-प्रचारक, एक शिक्षक और एक मेहतर की नियुक्ति की थी। इस प्रकार उसने मस्जिदों को सरकारी संस्थाओं का स्वरूप प्रदान करके उन्हें शिक्षा के केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया था। विद्वानों को संरक्षण देने के कारण उसका दरबार विद्वानों का केन्द्र स्थल बन गया था। प्रत्येक रात्रि को 70 विद्वान उसके पलंग के निकट बैठकर विभिन्न प्रकार की चर्चाएँ करते थे। उसने मुस्लिम शिक्षा में सुधार करने के लिए तुलम्बा के विद्वान शेख अब्दुला और शेख अजीजुल्ला को बुलाया था। उसके समय में संस्कृत के कई ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। उसके स्वयं के आदेश से एक आयुर्वेदिक ग्रन्थ का फारसी में अनुवाद किया गया जिसका नाम 'फरहंगे सिकन्दरी' रखा गया। अनेक प्राचीन ग्रन्थों का संग्रह और नवीन ग्रन्थों की रचना उसके समय की विशेषता रही। चाहे सिकन्दर इसके लिए जिम्मेदार न हो परन्तु तब भी यह स्वीकार किया जाता है कि उस समय में हिन्दू और मुसलमानों में एक-दूसरे के साहित्य को पढ़ने का शौक उत्पन्न हुआ था। सम्भवतया, यह उस युग का प्रभाव था। सिकन्दर को ललित-कलाओं का भी शौक था। गान-विद्या में उसकी बड़ी रुचि थी और शहनाई सुनने का बहुत शौकीन था। उसके समय

---

1 "Sikandar Shah had ruled for twenty-nine years, full of glory. and distinction He was the greatest ruler of the Lodi dynasty. and far outshone both his father Bahlul and his son Ibrahim."

—Dr. K. S. Lal.

में गान-विद्या के एक श्रेष्ठ ग्रन्थ 'लज्जत-ए-सिकन्दरशाही' की रचना हुई। स्थापत्य-कला की दृष्टि से उसने अनेक मस्जिदें बनवायीं, दिल्ली में अपने पिता का एक स्मारक बनवाया और आगरा शहर को बसाया।

सिकन्दर चरित्रवान, दानी और साधारणतया धर्मपरायण व्यक्ति था। उसके चरित्र में स्त्री-प्रसंग का दोष न था, वह शराब चुपके-चुपके पीता था और उसकी कार्यक्षमता पर उसका कोई प्रभाव नहीं आया था। उसके समय में निर्धनों के लिए राज्य की ओर से खाने-कपड़े की व्यवस्था की जाती थी। एक मुसलमान की दृष्टि से वह इस्लाम के नियमों का पालन करता था यद्यपि वह इसमें बहुत कट्टर न था। इस कारण उसने अपनी मृत्यु के अवसर पर अपनी दाढ़ी न बनवाने और कभी-कभी रोजा और नमाज का विधिवत् पालन न करने के दोष से मुक्ति पाने के लिए बहुत-सा धन दान किया। परन्तु सिकन्दर ने अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति धर्मान्धता का व्यवहार किया। हिन्दू मन्दिरों और मूर्तियों को नष्ट करना, हिन्दुओं को मुसलमान बनने का प्रोत्साहन देना और उन्हें उनके तीर्थस्थानों पर अनेक धार्मिक कृत्यों को करने से रोकना उसकी नीति में सम्मिलित थे। वह मूर्ति-पूजा के इतने विरोध में था कि उसने उससे किसी प्रकार से भी सम्बन्धित मुसलमानों के कार्यों में भी बाधा डाली। ताजियों को निकालना और मुस्लिम स्त्रियों का पीरों की मजारों पर जाना इसी कारण रोका गया था। एक हिन्दू माँ से उत्पन्न और हिन्दू स्त्री से विवाह करने के लिए उत्सुक सुल्तान के यह कार्य अस्वाभाविक थे। परन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि सिकन्दर ने धर्मान्धता का परिचय दिया और अपने युग की धार्मिक सहिष्णुता की प्रवृत्ति के विरुद्ध किया जिसके कारण तत्कालीन मुसलमान इतिहासकारों तक ने उसे धर्मान्ध पुकारा।

एक शासक की दृष्टि से सिकन्दर परिश्रमी, न्यायप्रिय और प्रजा की भलाई चाहने वाला सुल्तान था। वह प्रातःकाल से मध्य-रात्रि तक शासन-कार्य में व्यस्त रहता था और उसने अपने सभी व्यक्तिगत शौक त्याग दिये थे। वह अपने व्यक्तिगत शौकों पर राज्य का धन व्यय करना पसन्द नहीं करता था और साधारणतया उसका जीवन सादगी का था। न्याय में उसका विश्वास था कि उसके महल में एक काजी और बारह उलेमा प्रत्येक अवसर पर न्याय करने के लिए उपस्थित रहते थे और यदि सुल्तान को मार्ग में भी कोई फरियादी मिल जाता था तो वह तुरन्त उसका न्याय करता था। न्याय करने में वह देर करना पसन्द नहीं करता था। उसका न्याय कठोर था परन्तु प्रतिहिंसा पर आधारित न था। अब्दुल्ला ने लिखा है कि "सुल्तान सिकन्दर का न्याय इतना महान् था कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की तरफ कठोरता से देख भी नहीं सकता था।"[1] अपनी प्रजा की भलाई के लिए सुल्तान ने व्यापारिक करों और गल्ले के करों में कमी कर दी थी। उसके समय में सभी वस्तुओं के मूल्य कम रहे। डॉ. एस. ए. हलीम ने लिखा है कि "वस्तुओं के मूल्य में कमी होने का कारण सोने-चाँदी की कमी और साम्राज्य में किसी समुद्र-तट के सम्मिलित न होने के कारण विदेशी व्यापार तथा विनिमय की कठिनाई थी।" परन्तु तब भी यह मानना

---

1 So great was Sultan Sikandar's justice that no man could even look sternly at another" —Abdulla.

पड़ता है कि सिकन्दर के समय जन-साधारण सुखी और सम्पन्न था तथा इसका श्रेय सुल्तान का कृषि और व्यापार को प्रोत्साहन प्रदान करना था। इस प्रकार सिकन्दर अपनी प्रजा को शान्ति, सम्पन्नता और न्याय प्रदान करने में सफल हुआ था।

सिकन्दर एक कट्टर सैनिक, योग्य सेनापति और कुशल सैनिक-संगठन करने वाला था। वह साहसी और युद्धप्रिय था, यह उसके सैनिक अभियानों से स्पष्ट होता है। वह सफल सेनापति था यह उसके साम्राज्य विस्तार से स्पष्ट होता है। उसने बिहार को विजय किया, तिरहुत के राजा ने उसके आधिपत्य को स्वीकार किया तथा बंगाल और उड़ीसा के शासकों ने उसे अपना मित्र मान लिया। उसने राजस्थान में बयाना, धौलपुर, इटावा, चाँदवार और चन्देरी को जीता तथा नागौर और ग्वालियर के शासकों से उसने राजस्व प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त उसने दोआब के हिन्दू विद्रोहियों को समाप्त कर दिया। इन विजयों के कारण उसे महान् सेनापति तो नहीं माना जा सकता परन्तु इन्होंने उसके राज्य का विस्तार किया और सुल्तान की खोई हुई प्रतिष्ठा को स्थापित कर दिया।

सिकन्दरशाह की एक मुख्य सफलता अफगान सरदारों को अपने नियन्त्रण में रखने की थी। अपने न्याय, अनुशासन, राज-दरबार के नियम, कठोरता और उदारता के समन्वय की नीति, आदि से वह उनमें सुल्तान के प्रति सम्मान की भावना जाग्रत कर सका। उसने आरम्भ में ही विरोधी सरदारों को समाप्त करने में सफलता प्राप्त की थी। वह न्याय में उसके साथ पक्षपात नहीं करता था। दरबार और दरबार से बाहर भी सुल्तान के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए उसने नियम बनाये थे जिनका पालन करना अनिवार्य था। उसने 22 षड्यन्त्रकारी सरदारों का वध करा दिया अथवा राज्य से निष्कासित कर दिया। परन्तु सिकन्दर अपने अफगान सरदारों के प्रति कठोर मात्र न था। वह उनकी व्यक्तिगत भावनाओं का सम्मान करता था, वृद्ध और अनुभवी सरदारों का आदर करता था तथा उन्हें कभी भी अनावश्यक दण्ड नहीं देता था। उसने कभी भी किसी सरदार को उसकी जागीर से वंचित नहीं किया जब तक कि उसका अपराध सिद्ध नहीं हो गया। यदि किसी को कोई गुप्त खजाना प्राप्त हो जाता था तो वह उसे उस खजाने से वंचित नहीं करता था। इसके अतिरिक्त उसने उन्हें और उनके बच्चों को शिक्षा प्रदान करके सुसभ्य बनाने का प्रयत्न किया जिससे उनकी कबाइली प्रवृत्तियाँ दब जायें। वह उन्हें परस्पर झगड़े और द्वन्द्व-युद्ध भी नहीं करने देता था बल्कि ऐसा करने वाले को दण्ड देता था। इन कार्यों से उसने अफगान सरदारों को अनुशासन में रखने में सफलता प्राप्त की। जो अफगान सरदार बहलोल लोदी के समय में सुल्तान को अपने में से ही एक सरदार मानते थे, वे अब सुल्तान को अपना सुल्तान मानने के लिए बाध्य हो गये। सिकन्दर लोदी ने स्वयं कहा था कि "यदि मैं अपने एक गुलाम को पालकी में बैठा दूँ तब भी मेरे आदेश पर मेरे सभी सरदार उसे अपने कन्धों पर उठाकर ले जायेंगे।"[1] सिकन्दर लोदी का यह कहना अतिशयोक्ति थी क्योंकि यह तो स्वीकार ही नहीं किया जा

---

1 "If order one of my slaves to be seated in a palanquin, the entire body of nobility would carry him on their shoulders at my bidding."
— Sikandar Lodi.

सकता कि सिकन्दर लोदी ने अफगान सरदारों की स्वतन्त्र प्रकृति को नष्ट कर दिया था, परन्तु यह अवश्य माना जा सकता है कि वह अपने समय में अफगानों की स्वतन्त्र व कबाइली प्रकृति पर अंकुश लगाने में सफल हुआ था और इस दृष्टि से सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित करने में वह अपने पिता बहलोल लोदी से अधिक सफल रहा था।

इस प्रकार सिकन्दर लोदी एक सफल सुल्तान था। उसने अपने पिता द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को आगे बढ़ाने में सफलता प्राप्त की। यदि बहलोल लोदी ने लोदी-वंश के दिल्ली राज्य की स्थापना की थी तो सिकन्दर लोदी ने उसे पहले की तुलना में अधिक विस्तृत और दृढ़ किया था।

[ 3 ]

## इब्राहीम लोदी (1517-1526 ई.)

सिकन्दर लोदी की मृत्यु के अवसर पर प्रायः सभी महत्वपूर्ण सरदार और पुत्र राजधानी में उपस्थित थे। सरदारों की सम्मति से यह निश्चय किया गया कि दिल्ली का सुल्तान इब्राहीम होगा और जौनपुर का सुल्तान उनका भाई (वह दोनों एक माँ के पुत्र थे) जलालखाँ होगा। इस योजना के अनुसार सिकन्दर का सबसे बड़ा पुत्र इब्राहीम लोदी दिल्ली का सुल्तान बना। इब्राहीम लोदी-वंश का अन्तिम शासक हुआ। उसका शासन अपने भाई जलालखाँ के संघर्ष से आरम्भ हुआ, ग्वालियर की विजय उसके समय की एकमात्र और यशस्वी विजय रही और मेवाड़ से संघर्ष उसके अपमान और उसकी दुर्बलता का कारण बना। परन्तु उसके समय की मुख्य विशेषता उसका अपने अफगान सरदारों से संघर्ष था। सम्भवतया, बाबर का भारत पर आक्रमण लोदी-वंश के पतन का मुख्य कारण था क्योंकि इब्राहीम लोदी का बाबर से युद्ध में जीतना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य था। परन्तु इब्राहीम का अपने अफगान सरदारों से संघर्ष भी लोदी-वंश के पतन के लिए अत्यधिक मात्रा में उत्तरदायी था जिसने बाबर के आक्रमण से पहले ही अफगानों की सैनिक-शक्ति को दुर्बल कर दिया था।

### कार्य या घटनाएँ

सुल्तान बनने के अवसर पर इब्राहीम ने सरदारों की सलाह से अपने भाई जलालखाँ को जौनपुर का शासक स्वीकार कर लिया था। जलालखाँ अपने सहयोगी सरदारों को लेकर कालपी की ओर चल दिया। इतने में ही रपरी का सूबेदार खान-ए-जहाँ नूहानी दिल्ली पहुँचा तथा उसने सरदारों और सुल्तान को साम्राज्य के इस विभाजन से होने वाले दोषों को समझाया। निस्सन्देह, साम्राज्य का विभाजन राज्य के हित में न था और, सम्भवतया, अफगान सरदारों ने सुल्तान की शक्ति को सीमित रखने के लिए इस विभाजन की योजना बनायी थी। इस कारण इब्राहीम और दिल्ली के सरदार साम्राज्य-विभाजन के विरोधी हो गये। इब्राहीम ने आरम्भ में निश्चित किये गये समझौते को भंग करके एकमात्र सुल्तान रहने का निश्चय कर लिया। जलालखाँ कालपी ही पहुँच पाया था कि इब्राहीम ने हैबतखाँ के हाथों एक सन्देश भेजकर उसे दिल्ली बुलाया। उसने जौनपुर और बिहार के सरदारों को यह आदेश भेज दिये कि वह जलालखाँ की आज्ञाओं का पालन न करें और सुरक्षा की

दृष्टि से उसने अपने अन्य भाइयों को कारागार में डाल दिया। जलालखाँ ने दिल्ली आने से इन्कार किया और जब उसे यह पता लगा कि जौनपुर के सरदारों को उसे पकड़ने के आदेश दिये गये हैं तो उसने स्वयं को कालपी में 'जलालुद्दीन' के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। इब्राहीम ने बड़ी शान-शौकत से दिसम्बर 1517 ई. में पुनः अपना राज्याभिषेक किया और तत्पश्चात् आजम हुमायूँ सरवानी को जलालखाँ (सुल्तान जलालुद्दीन) के विरुद्ध भेजा। आजम हुमायूँ सरवानी का पुत्र फतहखाँ जलालखाँ का वजीर था और जब जलालखाँ ने उससे भी सहायता का आग्रह किया तो वह उसके साथ मिल गया। उनकी सम्मिलित सेनाओं ने अवध पर आक्रमण किये और वहाँ के सूबेदार सईदखाँ को लखनऊ भागने के लिए बाध्य किया। जनवरी 1518 ई. में इब्राहीम जलालखाँ के विरुद्ध स्वयं गया। आजम हुमायूँ सरवानी और उसका पुत्र फतहखाँ भी जलालखाँ का साथ छोड़कर उसके साथ आ मिले। इससे जलालखाँ का पक्ष दुर्बल हो गया परन्तु तब भी उसने आगरा पर आक्रमण किया। शाही सेना ने कालपी पर सरलता से विजय प्राप्त कर ली परन्तु इब्राहीम की अनुपस्थिति में आगरा पर जलालखाँ का आक्रमण संकटपूर्ण बन गया। उस अवसर पर मलिक आदम काकर ने जलालखाँ को कालपी देने का आश्वासन देकर इब्राहीम को सुल्तान मानने के लिए तैयार कर लिया। जलालखाँ ने अपने सरदारों के विरोध के बावजूद भी अपना राजदण्ड और छत्र इब्राहीम के पास भेज दिये और अपनी सेना को भंग कर दिया। परन्तु इब्राहीम किसी भी शर्त को मानने के लिए तैयार न हुआ। वह जलालखाँ के पूर्ण दमन पर अड़ा रहा। जलालखाँ निराश होकर ग्वालियर भाग गया और जब इब्राहीम ने ग्वालियर पर आक्रमण किया तो वह मालवा भाग गया। जलालखाँ मालवा से गोंड राजा की शरण में चला गया जहाँ के शासक ने उसे कैद करके इब्राहीम के पास भिजवा दिया। इब्राहीम ने उसे हाँसी के किले में कैद करने के लिए भेजा परन्तु मार्ग में उसे जहर देकर मरवा दिया। इस प्रकार इब्राहीम ने अपने भाई को समाप्त करके राज्य-विभाजन को तो बचा लिया परन्तु इस संघर्ष से अनेक सरदारों में यह भावना उत्पन्न हो गयी कि इब्राहीम पर विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि दो बार इब्राहीम ने सरदारों द्वारा अपने भाई से कराये गये समझौते को ठुकरा दिया था, अपने सभी भाइयों को कैद कर दिया था और जलालखाँ को जहर देकर मरवा दिया था।

उसके पश्चात् इब्राहीम ने ग्वालियर को जीतने की योजना बनायी। ग्वालियर ने समय-समय पर दिल्ली के सुल्तान का विरोध किया था और उसे जीतने के सिकन्दरशाह के प्रयत्न असफल हुए थे। इस कारण ग्वालियर की विजय इब्राहीम की प्रतिष्ठा में वृद्धि कर सकती थी। ग्वालियर के राजा द्वारा जलालखाँ को शरण देना इस अवसर पर एक उपयुक्त बहाना भी था। आजम हुमायूँ सरवानी के नेतृत्व में एक बड़ी सेना ने ग्वालियर पर आक्रमण किया। उस समय तक ग्वालियर के राजा मानसिंह की मृत्यु हो चुकी थी और उसका पुत्र विक्रमाजीत वहाँ का राजा था। उसने साहसपूर्वक किले की सुरक्षा का प्रबन्ध किया परन्तु वह असफल हुआ और अन्त में उसने आत्मसमर्पण कर दिया। ग्वालियर पर इब्राहीम का अधिकार हो गया। परन्तु इब्राहीम ने उदारता से विक्रमाजीत को शमशाबाद की जागीर दे दी।

ग्वालियर की विजय से प्रोत्साहित होकर इब्राहीम ने मेवाड़ को जीतने की योजना बनायी। राजस्थान में मेवाड़ सबसे शक्तिशाली राज्य था और उसका शासक

संग्रामसिंह (राणा साँगा) एक महान् योद्धा था। दिल्ली सुल्तान और मेवाड़ का झगड़ा मालवा के अधिकार को लेकर था। मालवा में प्रधानमन्त्री मेदिनीराय की शक्ति प्रबल हो गयी थी तथा मालवा के सुल्तान ने असहाय होकर गुजरात और दिल्ली के शासकों से सहायता माँगी थी। सिकन्दर लोदी ने अपने समय में उसकी सहायता के लिए सेना भेजी थी। परन्तु राणा संग्रामसिंह से सहायता प्राप्त करके मेदिनीराय ने गुजरात के शासक और सिकन्दरशाह के मालवा में हस्तक्षेप करने के प्रयत्नों को असफल कर दिया। इस प्रकार राणा संग्रामसिंह धीरे-धीरे मालवा में राजपूत-प्रभाव को बढ़ाने का प्रयत्न कर रहा था जबकि दिल्ली के सुल्तान स्वयं मालवा को प्राप्त करने के लिए उत्सुक होने लगे थे। अतः इब्राहीम लोदी ने मेवाड़ को विजय करके अपने राज्य और सम्मान में वृद्धि करने का प्रयत्न किया। जलालखाँ के विद्रोह के अवसर पर राणा संग्रामसिंह ने दिल्ली सल्तनत के कुछ क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया था। अब इब्राहीम एक सेना लेकर उसके विरुद्ध गया। ग्वालियर के निकट खतौली नामक स्थान पर एक युद्ध (1517-18 ई.) हुआ जिसमें पराजित होकर इब्राहीम को वापस लौटना पड़ा। राणा संग्रामसिंह ने अपना बायाँ हाथ खो दिया और उसकी एक टाँग घायल हो गयी परन्तु विजय उसी को प्राप्त हुई। एक वर्ष पश्चात् 1518-19 ई. में इब्राहीम ने पुनः आक्रमण किया। धौलपुर के निकट हुए उस युद्ध में भी दिल्ली की सेना की पराजय हुई। उसके पश्चात् भी मेवाड़ और दिल्ली में विभिन्न युद्ध हुए परन्तु उनमें अधिकांशतया दिल्ली की सेना को ही पराजित होना पड़ा। इस प्रकार इब्राहीम के समय में दिल्ली और मेवाड़ में निरन्तर संघर्ष चलता रहा जिसमें लाभ राजपूतों को मिला और राणा ने बयाना तक अपने राज्य का विस्तार करने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार मेवाड़ से युद्ध करने में इब्राहीम को असफलता और अपमान प्राप्त हुआ तथा उसकी सैनिक-शक्ति दुर्बल हुई।

इब्राहीम के शासन-काल की मुख्य घटना सुल्तान और उसके अफगान सरदारों का संघर्ष था। इसके लिए एक तरफ सुल्तान इब्राहीम का निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना का प्रयत्न और उसकी सन्देही प्रकृति तथा दूसरी तरफ अफगान सरदारों की स्वतन्त्रता और समानता की भावना एवं सुरक्षा के लिए सुल्तान की तरफ से आशंकित होना था। इब्राहीम ने स्वेच्छाचारी तुर्की सुल्तानों के समान व्यवहार करना आरम्भ किया। उसका विश्वास था कि सुल्तान का कोई सम्बन्धी नहीं होता और राज्य के सरदार उसके सेवक मात्र होते हैं। उसने दरबार के अमीरों को अपने सम्मुख हाथ बाँधकर खड़े होने की आज्ञा दी। जलालखाँ के विद्रोह के कारण वह अमीरों की तरफ से शंकित हो गया था और उसे समाप्त करने में सफल होने के कारण वह दम्भी हो गया था। उसने अपने पिता के समय के सभी सरदारों को समाप्त करने का प्रयत्न किया जिन पर उसके राज्य की शक्ति निर्भर करती थी।। सुल्तान सिकन्दर ने सरदारों को अपने नियन्त्रण में रखने में सफलता प्राप्त की थी। उसका एक मुख्य कारण यह भी रहा था कि उसने उन्हें अपमानित नहीं किया था, उनकी व्यक्तिगत भावनाओं का सम्मान किया था और उनकी शक्ति को नष्ट करने के स्थान पर उसको अपने हित की पूर्ति में लगाया था। इब्राहीम ने अपने अफगान सरदारों को नष्ट करके अपने निरंकुश शासन की स्थापना का प्रयत्न किया। यह अफगान सरदारों की प्रकृति और सुरक्षा के विरुद्ध था जिसके कारण इब्राहीम का सम्पूर्ण समय अफगान सरदारों के विद्रोहों से भरपूर रहा।

जलालखाँ के विद्रोह के अवसर पर सुल्तान और उसके अफगान सरदारों में सन्देह के कारण उपस्थित हो गये थे। इब्राहीम ने आरम्भ में हुए साम्राज्य के विभाजन को ठुकरा दिया था। निस्सन्देह, जो सरदार उस विभाजन के पक्ष में थे और जलालखाँ के साथ चले गये थे, वे असन्तुष्ट हुए। दूसरी बार इब्राहीम ने मलिक आदम काकर द्वारा जलालखाँ से किये गये समझौते को ठुकरा दिया था। इससे यह स्पष्ट हो गया कि सुल्तान का व्यवहार विश्वसनीय न था। सुल्तान भी अपने सरदारों के प्रति शंका करने लगा। ग्वालियर के किले से जलालखाँ को मालवा भागने का अवसर मिल सका था। इब्राहीम ने उसके लिए आजम हुमायूँ सरवानी को दोषी समझा था क्योंकि उसने एक बार पहले भी जलालखाँ का साथ दिया था। इब्राहीम ने ग्वालियर के किले की विजय से पहले ही आजम हुमायूँ और उसके पुत्र फतहखाँ को आगरा बुलाया और उन्हें कारागार में डाल दिया। वास्तव में जलालखाँ के विद्रोह करने के पश्चात् इब्राहीम अपने पिता के समय के सभी सरदारों के प्रति शंकालु हो गया और उस विद्रोह की समाप्ति के पश्चात् उन सभी को समाप्त करने के लिए तत्पर हो गया। उसने अपने वजीर मियाँ भुआ को भी कारागार में डाल दिया। मियाँ भुआ सिकन्दर लोदी का वजीर रहा था और 28 वर्ष से वफादारी एवं योग्यता से लोदी सुल्तानों की सेवा कर रहा था। उसका अपराध सम्भवतया सिर्फ यह था कि वह वृद्ध हो गया था और अधिक परिश्रम से राज्य की सेवा करने में असमर्थ था। इब्राहीम ने उस जैसे प्रतिष्ठित सरदार को कारागार में बन्द करके ठीक नहीं किया और उससे भी अधिक भूल यह की कि उसी के पुत्र को अपना वजीर बना दिया। जिसका वृद्ध पिता कारागार में हो उससे वफादारी की आशा करना व्यर्थ था। अपने भाइयों के प्रति भी इब्राहीम का व्यवहार क्रूरता का रहा। जलालखाँ को जहर देकर मरवा दिया गया और, सम्भवतया, महमूद के अतिरिक्त उसके सभी भाई कारागार में मर गये। इसके अतिरिक्त इब्राहीम ने पुराने सरदारों के स्थान पर अपने प्रति वफादार नये और छोटे सरदारों को बड़े-बड़े पद प्रदान करना आरम्भ कर दिया था। उसके इन कार्यों ने अनेक सरदारों को असन्तुष्ट कर दिया। आजम हुमायूँ को कारागार में बन्द करने से यह असन्तोष फूट पड़ा। आजम हुमायूँ के दूसरे पुत्र इस्लामखाँ ने कड़ा में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। उसने सुल्तान द्वारा भेजे गये अहमदखाँ को परास्त कर दिया। आजम हुमायूँ लोदी और सईदखाँ लोदी भी सुल्तान का साथ छोड़कर इस्लामखाँ के साथ जा मिले और यह विद्रोह कड़ा से कन्नौज तक के सम्पूर्ण अवध प्रदेश में फैल गया। विद्रोहियों ने सुल्तान द्वारा भेजी गयी एक सेना पर धोखे से आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया। इब्राहीम ने अपने सरदारों को आदेश दिये कि विद्रोहियों को दण्ड दिये बिना वापस न लौटें। उसने अपने सरदारों की सहायता के लिए और अधिक सेना भेजी और फिर स्वयं भी युद्ध के लिए गया। विद्रोहियों ने प्रायः 40 हजार घुड़सवार और 500 हाथियों की एक सम्मिलित सेना एकत्र कर ली थी।- दोनों ओर की सेनाओं में प्रमुख अफगान सरदार थे, यहाँ तक कि बाप-बेटे एक-दूसरे के विरुद्ध खड़े हुए थे। स्पष्ट था कि युद्ध भयंकर होगा और अफगान परस्पर युद्ध करके निकट सम्बन्धियों तक का वध करेंगे। इस कारण तत्कालीन प्रतिष्ठित सन्त शेख यूसुफ कत्ताल ने बीच में पड़कर समझौता कराने का प्रयत्न किया। विद्रोहियों ने आजम हुमायूँ सरवानी को मुक्त कर देने की शर्त रखी जिसके लिए इब्राहीम तैयार न हुआ। परिणामस्वरूप भयंकर युद्ध हुआ। निजामउल्ला ने लिखा है कि "हिन्दुस्तान में इतना अधिक रक्तरंजित युद्ध वर्षों से नहीं लड़ा गया था—लाशों के ढेरों से युद्ध-स्थल भर गया

और मैदान में रक्त की नदियाँ बहने लगीं। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और प्रकृतिदत्त शौर्य के कारण भाई ने भाई और पिता ने पुत्र से युद्ध किया। उन्होंने तीर-कमान और भालों को त्यागकर छुरा, चाकू और तलवार से युद्ध किया।"[1] दोनों पक्षों को मिलाकर 10,000 बहादुर अफगान मारे गये। इब्राहीम की विजय हुई। इस्लामखाँ मारा गया। सईदखाँ और अनेक सरदार कैद कर लिये गये। इब्राहीम ने सरदारों की शक्ति को नष्ट करने में सफलता प्राप्त की परन्तु इस युद्ध में सेना के सर्वाधिक साहसी शूरवीर मारे गये और अफगानों की शक्ति दुर्बल हो गयी। इब्राहीम के एक हठ ने अपने शक्ति-स्तम्भों की जड़ों को खोखला कर दिया।

इस युद्ध के पश्चात् इब्राहीम और भी अधिक उद्दण्ड हो गया। आजम हुमायूँ और मियाँ भुआ की कारागार में मृत्यु हो गयी। इससे सरदारों में इब्राहीम के प्रति शंका हुई। इसी समय इब्राहीम ने हुसैनखाँ फरमूली का धोखे से चन्देरी में वध करा दिया और उसके हत्यारे को 700 सोने के सिक्के और 10 गाँव प्रदान किये। इससे अनेक अफगान सरदारों को यह विश्वास हो गया कि सुल्तान उनमें से प्रत्येक को नष्ट करने पर तुला हुआ है। जो सरदार उस समय तक सुल्तान इब्राहीम की वफादारी से सेवा कर रहे थे, वे भी उनके प्रति शंकालु हो गये। इस कारण बिहार के सूबेदार दरियाखाँ नूहानी, खान-ए-जहाँ लोदी आदि ने पूर्व में विद्रोह कर दिया। दरियाखाँ नूहानी की शीघ्र मृत्यु हो गयी और उसके पुत्र बहादुरखाँ (वहारखाँ) ने बिहार में स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित करके 'सुल्तान मुहम्मद' की उपाधि ग्रहण कर ली। गाजीपुर का सूबेदार नसीरखाँ नूहानी और अनेक असन्तुष्ट सरदार मुहम्मद से जा मिले। उसकी सेना में एक लाख घुड़सवार हो गये और उसने बिहार से लेकर सम्भल तक के सम्पूर्ण क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया। उसने कई बार इब्राहीम द्वारा भेजी गयी सेनाओं को परास्त करने में सफलता प्राप्त की। इब्राहीम ने पंजाब के सूबेदार दौलतखाँ लोदी को अपनी सहायता के लिए आगरा बुलाया। परन्तु शंकावश उसने अपने पुत्र दिलावरखाँ को आगरा भेज दिया। इब्राहीम उस समय तक अपनी कठोरता और निर्ममता की नीति के दोषों से अनभिज्ञ था। उसने दिलावरखाँ को आतंकित करने का प्रयत्न किया जिसके कारण उसने चुपके से अपने पिता के पास पहुँचकर उसे सावधान कर दिया कि इब्राहीम पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इस कारण दौलतखाँ लोदी ने सुल्तान इब्राहीम की सहायता के लिए जाने के स्थान पर काबुल के शासक बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए निमन्त्रण दिया।

उसी समय जबकि इब्राहीम की शक्ति को तोड़ने के लिए दौलतखाँ लोदी ने बाबर को निमन्त्रण दिया, इब्राहीम के चाचा आलमखाँ लोदी ने जो सिकन्दरशाह के विरुद्ध विद्रोह करने के पश्चात् से गुजरात के शासक की शरण में था, बाबर से सहायता माँगी और काबुल गया। बाबर ने जो पहले ही भारत पर आक्रमण करने

---

1 "For many years such a sanguinary action had not occurred in Hindustan...Dead bodies heap upon heap, covered the field... and streams of blood ran over the plain. Brother against brother, and father against son, urged by mutual rivalry and inborn bravery, mixed in the conflict, and restraining their hands from long arrow and spear, they contended only with dagger, sword and knife." —Niamatullah.

के लिए इच्छुक था, इसे एक सुअवसर समझा और 1524 ई. में उसने लाहौर तक आक्रमण किया तथा इब्राहीम की सेना को परास्त करने में सफलता पायी। परन्तु लाहौर में अपने सरदारों की नियुक्ति करके बाबर भारत से वापस चला गया। दौलतखाँ लोदी ने जो बाबर की ओर से शंकित हो गया था, आलमखाँ लोदी से एक समझौता करके 1525 ई. में दिल्ली पर आक्रमण किया परन्तु इब्राहीम लोदी ने उन दोनों को परास्त कर दिया।

नवम्बर 1525 ई. में बाबर अपने भारत-विजय के अभियान पर काबुल से चला। दौलतखाँ लोदी और आजमखाँ लोदी इब्राहीम से पराजित हो चुके थे। अतः पंजाब को जीतने में उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। दौलतखाँ, उसका पुत्र दिलावरखाँ और आलमखाँ उससे मिल गये। 12 अप्रैल, 1526 ई. को बाबर पानीपत के मैदान में पहुँचा। इब्राहीम लोदी की शक्ति उस समय तक काफी दुर्बल हो गयी थी। उसका सम्पूर्ण पूर्वी भारत का राज्य उसके हाथ से निकल चुका था, मेवाड़ के शासक राणा संग्रामसिंह ने उसकी शक्ति को हानि पहुँचायी थी और, सम्भवतया, उसने भी इस अवसर पर बाबर को निमन्त्रण भेजा था तथा सम्पूर्ण पंजाब को इब्राहीम ने खो दिया था। इसके अतिरिक्त मालवा और गुजरात के शासक भी इब्राहीम की पराजय के इच्छुक थे, यहाँ तक कि गुजरात का भगोड़ा शाहजादा बहादुरशाह अपने 3,000 घुड़सवारों के साथ एक दर्शक की भाँति पानीपत के युद्ध स्थल के निकट उपस्थित था। इन परिस्थितियों में 21 अप्रैल, 1526 ई. को बाबर और इब्राहीम में पानीपत का प्रथम युद्ध हुआ। इब्राहीम ने साहस और बहादुरी से युद्ध किया परन्तु बाबर के योग्य सेनापतित्व, श्रेष्ठ युद्ध-नीति और तोपखाने के कारण इब्राहीम की पराजय हुई और वह युद्ध-स्थल में ही मारा गया। इब्राहीम की मृत्यु से लोदी-वंश ही समाप्त नहीं हुआ वरन् दिल्ली सल्तनत का इतिहास भी समाप्त हो गया।

### मूल्यांकन

सुल्तान इब्राहीम एक योग्य, परिश्रमी, चरित्रवान, न्यायप्रिय और प्रजा की भलाई चाहने वाला सुल्तान था। इस दृष्टि से वह अपने पिता और पितामह से किसी भी मात्रा में कम न था तथा उसकी प्रजा प्रसन्न, सुखी और समृद्धिशाली थी। वह अत्यधिक साहसी, कट्टर सैनिक और कुशल सेनापति था। 1525 ई. में दौलतखाँ और आजमखाँ लोदी ने दिल्ली पर आक्रमण करने के अवसर पर उसकी सेना पर आक्रमण किया और उसे नष्ट कर दिया। परन्तु सुल्तान इब्राहीम अपने अंगरक्षक सैनिकों को लेकर युद्ध-स्थल पर डटा रहा तथा प्रातःकाल होते ही जबकि उसके शत्रु लूट-मार में व्यस्त थे, उसने आलमखाँ लोदी पर आक्रमण किया और उसे युद्ध-स्थल से भागने पर बाध्य किया जिससे अन्त में विजय उसी की हुई। सुल्तान के लिए यह एक असाधारण बात मानी जा सकती है। इसी प्रकार पानीपत के युद्ध में अपनी पराजय को पूर्ण मानकर भी वह युद्ध-स्थल से भागा नहीं बल्कि युद्ध करता हुआ मारा गया। फरिश्ता ने लिखा है कि "वह मृत्यु-पर्यन्त लड़ा और एक सैनिक की भाँति मारा गया।"[1] नआमतउल्ला (निमातउल्ला) ने लिखा है कि "सुल्तान इब्राहीम के अतिरिक्त भारत का अन्य कोई सुल्तान युद्धस्थल में

1 "He fought to the bitter end and died like a soldier." —Ferishta.

नहीं मारा गया।"[1] इस प्रकार साहस, शौर्य और दृढ़ निश्चय की दृष्टि से इब्राहीम अद्वितीय था। वह एक योग्य सेनापति था और उसने अनेक युद्धों में सफलता पायी थी यद्यपि यह निश्चय है कि मुगल-वंश का संस्थापक बाबर इस दृष्टि से उससे श्रेष्ठ था।

परन्तु इब्राहीम की सबसे बड़ी दुर्बलता उसका हठी स्वभाव था। उसने अपने अफगान सरदारों की शक्ति तोड़ने का निश्चय किया और अन्त तक उसके लिए कटिबद्ध रहा। वह यह न समझ सका कि उसके अफगान सरदार सुल्तान की शक्ति और सम्मान के साथ धीरे-धीरे समझौता तो कर सकते थे परन्तु अपनी स्वतन्त्र प्रकृति और आत्मसम्मान के कारण तुरन्त समझौता करने के लिए तत्पर न थे। सुल्तान को अमीरों में से ही एक अमीर मानने वाले अफगान सरदार सुल्तान सिकन्दर की कुशल नीति के कारण दब गये थे और सुल्तान का सम्मान करना सीख रहे थे। परन्तु इब्राहीम ने अपनी शंका, कठोरता और हठ से उनके सम्मान और प्रकृति को खुली चुनौती दे दी और वह समय-समय पर मिले हुए समझौते के अवसरों को खोता गया जिसके कारण सुल्तान और उसके अफगान सरदारों में प्रत्यक्ष टक्कर हो गयी। निस्सन्देह, बाबर की योग्यता, रणनीति और तोपखाना पानीपत के युद्ध में अफगानों के एक होने पर भी उसकी सफलता के लिए पर्याप्त थे परन्तु पंजाब से लेकर बिहार तक के शक्तिशाली और समृद्धिशाली सुल्तान इब्राहीम को परास्त करना बाबर के लिए सरल न होता। परन्तु ऐसा न हो सका, इब्राहीम अपने सरदारों से लड़कर अपनी शक्ति के आधार को खो चुका था, अपने राज्यों को संकुचित कर चुका था और इस कारण अपनी युद्ध-क्षमता को दुर्बल कर चुका था। ऐसी स्थिति में पानीपत का युद्ध दो असमान शत्रुओं का युद्ध था जिसमें इब्राहीम की पराजय निश्चित थी।

[ 4 ]

## अफगानों का राजत्व-सिद्धान्त और लोदी सुल्तान

अफगानों का राजत्व-सिद्धान्त (Theory of Kingship) तुर्कों के राजत्व-सिद्धान्त से भिन्न था। तुर्की सुल्तान निरंकुश और स्वेच्छाचारी होने का दावा करते थे। उनके सरदार उनके कर्मचारी, सलाहकार, समर्थक और अनुयायी थे परन्तु उनमें से कोई भी सुल्तान की बराबरी या राज्य के शासन में साझेदारी का दावा नहीं कर सकता था। सुल्तान इल्तुतमिश से लेकर सैय्यद-वंश के शासकों तक ने इस श्रेष्ठता का दावा किया था और बलबन तथा अलाउद्दीन खलजी जैसे शक्तिशाली शासक अपने में देवत्व के अंश का दावा करते थे। यह ईसाई राजाओं तथा हिन्दू राजाओं के राजत्व के सिद्धान्त (Divine Right of Kings) के निकट था। इसके विपरीत अफगान सरदार सुल्तान को अपने में से ही एक बड़ा सरदार मानते थे। वे सुल्तान में देवत्व का अंश मानने के लिए तैयार न थे। वे शक्ति, प्रभाव और राज्य के शासन में अपना हिस्सा समझते थे। अखुन्द दरवेज ने लिखा है कि "प्राचीन समय से ही अफगानों ने किसी को भी सुल्तान मानना ठीक नहीं समझा क्योंकि उनका अभिमान और दम्भ उन्हें अपने ही एक सम्बन्धी अथवा परिवार के सदस्य के सम्मुख झुकने और भूमि पर लेट कर नमस्कार करने से रोकता था। इसके अतिरिक्त वह इससे भी भयभीत थे

---

1 "No Sultan of India except Sultan Ibrahim, has been killed on the battlefield."
—Niamatullah.
('तारीख-ए-खान-ए-जहानी' का रचयिता)

कि यदि उन्होंने किसी एक को सुल्तान मान लिया तो उनकी स्थिति उसके सेवकों की भाँति हो जायेगी। इसकी अपेक्षा वह यह पसन्द करते थे कि उन सभी के साथ समानता का व्यवहार किया जाय और इस कारण सभी अफगान सरदारों को समान रूप से 'मलिक' पुकारा जाता था।"[1] इस प्रकार अफगानों का राजत्व सिद्धान्त सरदारों की समानता पर आधारित था और ऐसी स्थिति में उनकी शासन-व्यवस्था राजतन्त्रीय न होकर कुलीनतन्त्रीय थी और भारत में उस समय तक मान्य हिन्दू अथवा तुर्की शासन-व्यवस्था के प्रतिकूल थी। अफगानों की इस व्यवस्था की निम्नलिखित मुख्य विशेषताएँ मानी जा सकती थीं :

(1) उत्तराधिकार के विषय में अफगान पैतृक अधिकार अथवा उत्तराधिकारी को नामजद किये जाने के अधिकार को स्वीकार नहीं करते थे बल्कि योग्यता के आधार पर सरदारों के द्वारा सुल्तान को चुने जाने के अधिकार को मानते थे।

(2) प्रत्येक अफगान सरदार अपनी सेना का प्रधान होने का दावा करता था और वे अपनी सेनाओं को सुल्तान की सेना का अविभाज्य अंग नहीं मानते थे।

(3) सुल्तान के किसी भी अधिकार को वे विशेषाधिकार के रूप में मानने को तैयार न थे बल्कि स्वयं भी ऐसे सभी अधिकारों का उपभोग करना अपना अधिकार मानते थे।

अफगानों की इन प्रमुख विशेषताओं के कारण अफगान सरदार सुल्तान को अपनी शक्ति पर निर्भर करने के लिए बाध्य कर सकते थे, सभी सुविधाओं और अधिकारों का उपभोग कर सकते थे तथा स्वयं की बड़ी-बड़ी जागीरें और सेनाएँ रख सकते थे जिसमें असंख्य घुड़सवार और हाथी भी हो सकते थे। इसी कारण लोदी शासकों के समय में अफगान सरदारों की स्वयं की बड़ी-बड़ी जागीरें और सेनाएँ थीं जिन्हें वे सुल्तान के विरुद्ध युद्धों में प्रयोग में ला सके। विद्रोही सरदारों की इतनी शक्तिशाली सेनाएँ तुर्की शासकों के समय में प्राप्त नहीं होतीं।

बहलोल लोदी प्रथम लोदी सुल्तान था। उसके सिंहासन पर बैठने तक अफगान मुल्तान, पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में प्रभावशाली हो गये थे। बहलोल अफगान सरदारों का नेता था और वह सफलतापूर्वक उनका नेतृत्व कर सका। परन्तु उसकी शक्ति अफगान सरदारों के समर्थन और सहयोग पर निर्भर करती थी। इस कारण उसने अफगान सरदारों के स्वतन्त्रता और समानता के विचारों के साथ समझौता कर लिया। उसका कहना था कि वह अमीरों में से ही एक अमीर है। वह अपने मुख्य सरदारों के साथ कालीन पर बैठता था, अपने अमीरों को 'मसनद-ए-अली'

---

1 "Afghans had since ancient times never considered it proper to have a king, as their pride and arrogance would not let them bow and prostrate before one of their own kith and kin. Further if they agreed to call one a king, they feared than they would thereby reduce themselves to the level of servants. They would rather like all of them to be treated as equals and it was, therefore, that all Afghans were addressed as maliks."

—Akhund Darweza.

पुकारता था, अपने किसी भी अमीर के बीमार अथवा अप्रसन्न हो जाने पर उसके निवास-स्थान पर जाता था, विजय में लूटी हुई सम्पत्ति में उन्हें बराबर हिस्सा देता था, अफगान परम्परा के अनुसार व्यक्तिगत अंगरक्षक नहीं रखता था, उसका भोजन प्रत्येक दिन किसी न किसी अमीर के यहाँ से आता था और घोड़े पर सवार होते समय उसका कोई न कोई अमीर उसे अपना घोड़ा देता था। फरिश्ता के अनुसार उसका कहना था कि "इतना ही पर्याप्त है कि मेरा नाम राज्य के साथ जुड़ा हुआ है।"[1] मुश्ताकी ने लिखा है कि "वह दरबार में सिंहासन पर नहीं बैठा और उसने अमीरों को खड़ा रहने से मना कर दिया।"[2] मुश्ताकी ने पुनः लिखा है कि "यदि कोई (अमीर) सुल्तान से अप्रसन्न हो जाता था तो सुल्तान उसके घर जाता था, अपनी तलवार निकालकर उसके सामने रख देता था—यही नहीं बल्कि अपनी पगड़ी उतारकर उससे क्षमा-याचना करता था।"[3] इस प्रकार बहलोल ने अपने सरदारों से साथ सुल्तान की भाँति व्यवहार न करके उन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें एवं सम्मान प्रदान किये तथा उनकी प्रकृति एवं अफगान परम्परा के अनुसार व्यवहार करके उन्हें प्रसन्न किया और उन्हें अपना समर्थक बनाये रखने में सफलता प्राप्त की। इस कारण डॉ. के. ए. निजामी ने लिखा है कि "बहलोल का शासन 'बिरादरी' पर आधारित था और उसी आधार पर चलाया जाता था।"[4] डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है कि "अफगानों की भावनाओं और अपने पिता की परम्पराओं के अनुकूल कार्य करते हुए बहलोल ने अमीरों में से ही एक अमीर होने से अधिक का दावा नहीं किया। वह सुल्तान की उपाधि और अफगानों का नेता होने से पर्याप्त सन्तुष्ट था। उसके समय का अफगान साम्राज्य लोदी शासक के नेतृत्व में विभिन्न जातियों का एक प्रकार का संघ-राज्य था।"[5] उसी प्रकार प्रो. हमीदउद्दीन ने भी लिखा है कि अपनी मृत्यु से पहले बहलोल ने अपने राज्य को अपने सम्बन्धियों और अमीरों में बाँट दिया। वह लिखते हैं कि "इस प्रकार एक प्रकार से एक अफगान संघ-राज्य को

---

1 "It is enough if my name is associated with the kingdom." —Ferishta.

2 "He did not sit on the throne in the assembly and forbade the nobles to stand." —Mushtaqi.

3 "If any one got angry with the Sultan, he went to his house, unsheathed his sword and placed it before him, nay, he untied his turban and stood for apology." —Mustaqi.
('वाकियात-ए-मुश्ताकी' का रचयिता)

4 "The government of Bahlul was based and carried on in the spirit of a 'biradari' (clan)." —Dr. K. A. Nizami.

5 "Bahlul Lodi, in keeping with the sentiments of the Afghans and the traditions of his father, claimed to be nothing more than one among the peers. He was quite satisfied with the title of Sultan and leadership of the Afghans. In his days, the Afghan empire was a sort of confederation of tribes presided over by the Lodi king." — Dr. R. P. Tripathi.

बनाकर जुलाई 1489 ई. के मध्य में 'सकित' परगने में 'जलाली' नगर के निकट 'मलावली' नामक स्थान पर बहलोल की मृत्यु हो गयी।"[1]

परन्तु बहलोल के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये उपर्युक्त विचारों से प्रो. इक्तिदार हुसैन सिद्दीकी का गम्भीर मतभेद है। वह यह तो स्वीकार करते हैं कि बहलोल का व्यवहार अपने सरदारों के प्रति उदारता तथा शिष्टता का था, परन्तु उनके अनुसार बहलोल का यह व्यवहार समय और परिस्थितियों के कारण था। उस समय अफगान सरदारों का समर्थन उसकी शक्ति की स्थापना के लिए परम आवश्यक था। परन्तु साथ ही साथ वह कहते हैं कि पर्शियन स्रोत-ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बहलोल निरंकुश शासक था और उसने एक कठिन समय में अपनी स्थिति को दृढ़ करने में सफलता पायी थी। उन्होंने लिखा है कि "ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह मत सिद्ध नहीं होता कि उसके समय में दिल्ली सल्तनत अफगान जातियों का एक संघ-राज्य था और इस कारण इस मत को उसके समय से इतिहास को गलत पढ़ने का प्रयत्न समझकर त्याग देना चाहिए।"[2] उनका कहना है कि बहलोल ने अपनी कठिन परिस्थितियों के कारण अपने सरदारों, उलेमाओं और अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। वह आरम्भ में अपने सरदारों को सन्तुष्ट करने के अतिरिक्त कुछ कर भी नहीं सकता। परन्तु साथ ही साथ उसने अपने विरोधी सरदारों को चाहे वे अफगान ही क्यों न हों, समाप्त करने का प्रयत्न किया, जैसा कि सियालकोट, लाहौर और दिपालपुर के शक्तिशाली सरदार तातारखाँ के दमन से स्पष्ट होता है। बहलोल अपने सरदारों के इक्ताओं में भी परिवर्तन करता था। इस कारण, प्रो. सिद्दीकी के मतानुसार बहलोल ने अपने सरदारों के प्रति कूटनीतिज्ञता से व्यवहार किया तथा उसने उन्हें विभिन्न जातियों के सदस्य होने के बजाय एक 'बिरादरी' के सदस्य बनने की भावना दी और सफलतापूर्वक उन्हें अपनी शक्ति की स्थापना का साधन बनाया।

प्रो. सिद्दीकी का मत तर्कसंगत है। यह माना जा सकता है कि बहलोल का अपने सरदारों के प्रति सद्-व्यवहार का कारण उस समय की राजनीति था। परन्तु कारण कुछ भी हो, प्रो. सिद्दीकी भी यह मानते हैं कि बहलोल की नीति अपने सरदारो को सन्तुष्ट करने की थी। जहाँ तक इस बात का प्रश्न है कि बहलोल का साम्राज्य एक अफगान संघ-राज्य था अथवा नहीं, यह चाहे विवाद का प्रश्न रहे परन्तु यह स्वीकार करना पड़ता है कि बहलोल ने अफगान सरदार की स्वतन्त्र प्रकृति पर इतना अंकुश लगाने में अवश्य सफलता प्राप्त की थी कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके सरदारों ने उसी के पुत्रों में से एक को सुल्तान चुनने का निश्चय किया और अपने

---

1 "Having thus created a sort of Afghan confederacy, Bahlul died about the middle of July 1489, at a place known as Malawali near the township of Jalali in the pargana of Sakit."
—Prof. Hammid-ud-din.

2 "The view that the Sultanate of Delhi under him was a confederacy of the Afghan tribes is not borne out by historical facts and may be dismissed as an attempt to misread the history of his reign."
—Iqtidar Hussain Siddiqi.

में से किसी को भी सुल्तान बनाने का विचार तक उनके मस्तिष्क में नहीं आया। अपने अफगान सरदारों के प्रति बहलोल की यह सफलता अत्यन्त महत्वपूर्ण थी।

सिकन्दर लोदी अपने सरदारों के प्रति व्यवहार करने में अपने पिता की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र था। लोदी-वंश का राज्य विस्तृत और सुरक्षित हो गया था। अपने शासन-काल में प्रथम वर्ष में ही अपने विरोधियों को समाप्त करने में उसने जो सफलता प्राप्त की, उससे उसे अपने सरदारों को अपने अधिक नियन्त्रण में रखने के लिए प्रोत्साहन मिला। सिकन्दर लोदी की नीति कठोरता, अनुशासन और सुल्तान के विशेषाधिकारों पर बल देने की थी। उसकी नीति का उद्देश्य सुल्तान की प्रतिष्ठा और उसकी श्रेष्ठता को स्थापित करना था। परन्तु इसके लिए उसने सरदारों को अनावश्यक रूप से असम्मानित करने अथवा उन्हें नष्ट करने का विचार नहीं किया। इस प्रकार उसकी नीति में कठोरता के साथ-साथ उदारता और व्यावहारिकता सम्मिलित रही। सिकन्दर लोदी ने सिंहासन पर बैठना आरम्भ किया, सरदारों को नतमस्तक होकर नमस्कार करने के लिए बाध्य किया, दरबार और दरबार से बाहर सुल्तान के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के नियम बनाये, प्रान्तीय अमीरों को अपनी राजधानियों से छः मील दूर आकर सुल्तान के आदेशों को सम्मानपूर्वक प्राप्त करने की परम्परा प्रचलित की, न्याय में छोटे और बड़े का कोई ध्यान नहीं रखा, सरदारों के इक्ताओं और जागीरों में परिवर्तन किये, सरदारों को द्वन्द्व-युद्ध और परस्पर झगड़े करने से रोका तथा सभी को अपने आदेशों तथा नियमों का पालन करने के लिए बाध्य किया। जो सुल्तान की आज्ञा की अवहेलना करते थे, उन्हें कठोर दण्ड दिया जाता था। मुश्ताकी ने लिखा है कि "जिस किसी ने भी उसकी आज्ञा का विरोध करने का साहस किया उसका उसने (सुल्तान ने) सिर कटवा दिया अथवा उसे अपने साम्राज्य से निष्कासित कर दिया।"[1] जिन 22 सरदारों ने उसे सिंहासन से हटाकर उसके छोटे भाई फतहखाँ को सुल्तान बनाने का षड्यन्त्र किया, उन सभी का उसने वध करा दिया अथवा उन्हें साम्राज्य से निष्कासित कर दिया। अपनी सहायता के लिए सिकन्दर लोदी ने एक श्रेष्ठ गुप्त-चर विभाग का संगठन किया। इसके अतिरिक्त, उसकी नीति उदारता की भी रही। सुल्तान ने अफगान सरदारों तथा उनके बच्चों को शिक्षित और सुसभ्य बनाने का प्रयत्न किया। उसने किसी को तब तक दण्डित नहीं किया जब तक उसका अपराध सिद्ध नहीं हो गया। अनेक अवसरों पर उसने छोटे सरदारों की जागीर में कमी करने के बाद उन्हें माफ कर दिया। उसने वृद्ध अमीरों का सम्मान किया और केवल विरोधी अमीरों को हटाकर अपने प्रति वफादार अमीरों को सम्मानित पद प्रदान किये। इस प्रकार अपनी इस अनुशासनपूर्ण परन्तु व्यावहारिक नीति से सिकन्दर लोदी अफगान सरदारों की स्वतन्त्र प्रकृति पर अंकुश लगाकर सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित करने में सफल रहा। प्रो. सिद्दीकी ने लिखा है कि "सुल्तान सिकन्दर पहला अफगान सुल्तान था जिसने एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न बादशाह की भाँति व्यवहार किया और जिसने अपने सरदारों से पूर्ण आज्ञापालन और अविचलित वफादारी की माँग की। ....उसकी चतुरता, मानवता, उदारता, उच्च आदर्श, व्यक्तिगत आकर्षण और युद्ध-क्षेत्र की निरन्तर सफलताओं ने उसके सरदारों

---

1 "Anyone who turned from the path of obedience, He (the Sultan) either got his head severed off the body or expelled him from the Empire." —Mushtaqi.

का पूर्ण वफादार और सुल्तान के प्रति आज्ञाकारी बना दिया। इससे उनकी सुल्तान से समानता करने की भावना भी दब गयी।"[1]

परन्तु इब्राहीम लोदी के सुल्तान बनते ही सुल्तान और अफगान सरदारों में संघर्ष आरम्भ हो गया। सिकन्दर लोदी ने अफगान अमीरों को अनुशासन और आज्ञा-पालन अवश्य सिखा दिया था परन्तु वह उनकी समानता व स्वतन्त्रता की भावना को पूर्णतया नष्ट नहीं कर सका था। इसके अतिरिक्त, अफगान परम्परा के अनुकूल अभी तक ऐसे भी अमीर थे जिनके पास बड़े-बड़े इक्ता अथवा जागीरें थीं और जिनकी बड़ी-बड़ी सेनाएँ थीं। इस परिस्थिति में इब्राहीम लोदी को सावधानी से आगे बढ़ना चाहिए था। सिकन्दर लोदी ने सरदारों को अनुशासन में रखने में बहलोल लोदी की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त की थी। इब्राहीम लोदी उससे कुछ आगे बढ़ सकता था और इस प्रकार अफगानों के राजत्व-सिद्धान्त को नष्ट करके तुर्की राजत्व सिद्धान्त की स्थापना करने में कुछ और अधिक सफल हो सकता था। परन्तु कुछ परिस्थितियोंवश और अधिकांश अपनी हठी और शंकालु प्रवृत्ति के कारण वह बहुत शीघ्र ही अपने अफगान अमीरों के साथ प्रत्यक्ष संघर्ष में फँस गया। जलालखाँ को जौनपुर का शासक मानने से ही उसकी भूलें आरम्भ हो गयीं। उस सम्बन्ध में हुए संघर्ष ने सुल्तान और उसके अमीरों में शंका व तनाव का वातावरण उत्पन्न कर दिया जो समय के साथ बढ़ता गया। सुल्तान का अमीरों से अत्यधिक कठोर व्यवहार, उसकी अपने भाइयों के प्रति क्रूरता, आजम हुमायूँ, फतहखाँ और मियाँ भुआ को कारागार में बन्द करना तथा सभी पुराने सरदारों पर शंका करके अपने नवीन सरदारों को श्रेष्ठ पद प्रदान करने की नीति आदि ने इस्लामखाँ के विद्रोह को जन्म दिया। उस विद्रोह को दबाने के लिए जो युद्ध हुआ उसमें इब्राहीम को सफलता अवश्य मिली परन्तु 10,000 श्रेष्ठ अफगान सैनिक और सरदार उस युद्ध में मारे गये। इस विजय ने इब्राहीम को और उद्दण्ड बना दिया। कारागार में आजम हुमायूँ और मियाँ भुआ की सन्देहास्पद परिस्थितियों में मृत्यु तथा चन्देरी के सूबेदार हुसैनखाँ फरमूली की हत्या ने बिहार में दरियाखाँ और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र बहादुरखाँ के विद्रोह को जन्म दिया जिससे बिहार से सम्भल तक का सम्पूर्ण प्रदेश इब्राहीम के हाथों से निकल गया। पंजाब में दौलतखाँ लोदी ने उसकी सहायता करने के स्थान पर बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए निमन्त्रण दिया और तत्पश्चात् आलमखाँ लोदी की सहायता की। उन्हीं परिस्थितियों में इब्राहीम ने बाबर से युद्ध किया और मारा गया। इस प्रकार, इब्राहीम लोदी अपने अफगान अमीरों को दबाने अथवा नष्ट करने में ही असफल नहीं हुआ बल्कि सुल्तान और अमीरों के इस संघर्ष ने इब्राहीम को एक विदेशी आक्रमणकारी से युद्ध करने के अवसर पर दुर्बल बनाकर भी छोड़ दिया।

---

1 "Sultan Sikandar was the first Afghan king who behaved like an all-powerful monarch and demanded complete obedience as well as unwavering loyalty form his nobles···His tactfulness, humanism and generosity, high sense of purpose and personal magnetism, coupled with his unfailing success in the battlefield, made the nobility completely loyal and subservient to the sovereign and also suppressed its sentiments of equality with the Sultan."

—Iqtidar Hussain Siddiqi.

सुल्तान इब्राहीम के समय में सुल्तान और अमीरों के बीच हुए उस संघर्ष से यह स्पष्ट होता है कि उस संघर्ष में सिद्धान्त कम और व्यक्तिगत आशंकाएँ, भय एवं हठ अधिक मात्रा में सम्मिलित था तथा इब्राहीम की अकुशलता और अव्यावहारिकता इसके लिए पर्याप्त मात्रा में उत्तरदायी थी। निस्सन्देह, इब्राहीम ने अपने अमीरों से नीतिपूर्ण व्यवहार नहीं किया बल्कि सुल्तान सिकन्दर के समय जो अमीर सुल्तान की आज्ञा-पालन के लिए तत्पर हो गये थे उन्हें उसने विद्रोहियों में परिवर्तित कर दिया। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि इब्राहीम भी सिकन्दर की भाँति निरंकुश राज्यतन्त्र की एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना के लिए प्रयत्नशील था जो उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल थी। परन्तु अफगान सरदार अपनी स्वतन्त्रता, सम्मान और समानता की भावना के कारण उस लाभदायक व्यवस्था को समझने तथा अपने को उसके अनुकूल ढालने में असमर्थ रहे जिसके कारण वे सुल्तान इब्राहीम अथवा लोदी-वंश के पतन के लिए ही उत्तरदायी नहीं हुए बल्कि भारत के अफगान-साम्राज्य के स्वामी बने रहने के अधिकार से भी वंचित हो गये।

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'बहलोल लोदी लोदी-वंश का संस्थापक था।'' उपर्युक्त कथन के आधार पर बहलोल लोदी की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
2. ''सिकन्दर लोदी लोदी शासकों में सर्वश्रेष्ठ था।'' समीक्षा कीजिए।
3. ''इब्राहीम लोदी के पतन का एक कारण उसका अपने अफगान सरदारों से संघर्ष था।'' आप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं ?
4. अफगानों के राजत्व सिद्धान्त के बारे में आप क्या जानते हैं ? क्या आप समझते हैं कि वह लोदी सुल्तानों की सफलताओं में बाधक सिद्ध हुआ था ?
5. विभिन्न लोदी सुल्तान किस समय तक अपने अफगान सरदारों की स्वतन्त्र प्रकृति पर अंकुश लगाने में सफल रहे।
6. ''बहलोल लोदी ने अपने अफगान सरदारों की विभिन्न जातियों के सदस्य होने के स्थान पर एक 'बिरादरी' के सदस्य बनने की भावना दी।'' उपर्युक्त कथन के आधार पर बहलोल लोदी द्वारा अपने सरदारों के प्रति अपनायी गयी नीति का मूल्यांकन कीजिए।
7. ''सिकन्दर लोदी अपने अफगान सरदारों को नियन्त्रण में रखने में लोदी शासकों में सबसे अधिक सफल रहा।'' क्या आप इस विचार से सहमत हैं ?

## तृतीय खण्ड

# विभिन्न प्रान्तीय राज्य

# 17

# प्रान्तीय राज्य

[ 1 ]

## कश्मीर

1301 ई. में सूहादेव ने कश्मीर में एक सुदृढ़ हिन्दू राज्य की स्थापना की। परन्तु उसकी पूर्वी एवं उत्तरी सीमाओं पर शत्रुओं ने आक्रमण किये तथा 1320 ई. में पश्चिमी तिब्बत के एक सरदार के पुत्र रिनचन ने उससे कश्मीर छीन लिया। रिनचन ने अपनी सेवा में शाहमीर नामक एक मुसलमान को रखा तथा उसकी योग्यता से प्रसन्न होकर उसे अपने बच्चों और पत्नी की शिक्षा के लिए नियुक्त किया। रिनचन के पश्चात् उदयनदेव कश्मीर का शासक बना। 1338 ई. में उदयनदेव की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी कोटा ने अपने बच्चों के अल्पायु होने के कारण शासन-सत्ता अपने हाथों में ले ली। परन्तु शाहमीर ने, जो उस समय तक काफी प्रभावशाली बन चुका था, उसे और उसके बच्चों को कैद करके 1339 ई. में राज्य पर अपना अधिकार कर लिया तथा 'शमसुद्दीनशाह' के नाम से कश्मीर का प्रथम मुस्लिम शासक बना।

शमसुद्दीन ने केवल तीन वर्ष शासन किया। 1342 ई. में उसका सबसे बड़ा पुत्र जमशेद शासक बना। परन्तु उसके भाई अलाउद्दीन ने कुछ माह पश्चात् सिंहासन पर अधिकार कर लिया। अलाउद्दीन ने प्रायः 12 वर्ष शासन किया। तत्पश्चात् उसका भाई शिहाबुद्दीन सिंहासन पर बैठा। शिहाबुद्दीन ने 16 वर्ष शासन किया। उसने सभी दिशाओं में युद्ध किये और सफलता प्राप्त की। पश्चिम में उसने पेशावर तक आक्रमण किया तथा गजनी और कन्धार तक उसका नाम विख्यात हो गया। दक्षिण में उसने सतलज नदी तक आक्रमण किया। इसके अतिरिक्त तिब्बत के राजा ने उससे मित्रता कर ली। परन्तु उसने यह आक्रमण लूट-मार के लिए किये, साम्राज्य विस्तार के लिए नहीं। वह धार्मिक दृष्टि से उदार रहा और उसने कश्मीर राज्य के सम्मान में वृद्धि की। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई कुतुबुद्दीन सिंहासन पर बैठा। 1389 ई. में कुतुबुद्दीन की मृत्यु हो गयी और उसका अल्पायु पुत्र सिकन्दर सिंहासन पर बैठा। सिकन्दर के समय में भारत पर तिमूर का आक्रमण हुआ था। सिकन्दर का शासन सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टियों से गम्भीर परिवर्तनों का सिद्ध हुआ। उसके समय तक कश्मीर की बहुसंख्यक प्रजा हिन्दू थी तथा हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध अत्यधिक सहिष्णुता के थे। परन्तु सिकन्दर धर्मान्ध सिद्ध हुआ।

उसने सभी हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया और सबसे प्रबल आक्रमण ब्राह्मणों पर किया। अनेक हिन्दुओं ने जहर खा लिया, कुछ कश्मीर छोड़कर भाग गये और अन्य बहुत बड़ी संख्या में मुसलमान हो गये। हिन्दू मन्दिरों और मूर्तियों को इतनी अधिक मात्रा में नष्ट किया गया कि सिकन्दर को 'बुतशिकन' की उपाधि दी गयी। जोनराजा ने लिखा है कि "सुल्तान अपने सुल्तान के कर्तव्यों को भूल गया और दिन-रात उसे मूर्तियों को नष्ट करने में आनन्द आने लगा ......उसने मार्तण्ड, विश्य, इसाना, चक्रव्रत और त्रिपुरेश्वर की मूर्तियों को तोड़ दिया ... ऐसा कोई शहर, नगर, गाँव या जंगल बाकी न रहा जहाँ तुरुष्क सूहा (सिकन्दर) ने ईश्वर के मन्दिरों को न तोडा हो।"[1] इस प्रकार सिकन्दर ने कश्मीर की बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया और उसके समय में बाहर से भी मुसलमान बहुत बड़ी संख्या में कश्मीर गये। 1413 ई. में सिकन्दर की मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् उसका पुत्र अलीशाह सिंहासन पर बैठा। उसके समय में उसके वजीर ने धार्मिक कट्टरता की नीति को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया और सिकन्दर के बचे हुए कार्य की पूर्ति कर दी। अलीशाह अपने भाई से संघर्ष करते हुए खोक्खरों द्वारा पकड़ लिया गया और चदुरा नामक स्थान पर उसकी मृत्यु हुई।

1420 ई. में अलीशाह का भाई शाहीखाँ 'जैन-उल-अबीद्दीन' के नाम से सिंहासन पर बैठा। वह कश्मीर का सबसे महान् शासक हुआ और उसकी धार्मिक उदारता के कारण बहुत से इतिहासकारों ने उसकी तुलना मुगल बादशाह अकबर से की। उसके समय में कश्मीर राज्य का अधिकतम विस्तार हुआ। गान्धार, सिन्धु, राजपुरी, लद्दाख, लेह आदि स्थान उसके अधिकार में हो गये और उसने खोक्खर नेता जसरथ की सहायता करते हुए जम्मू के मुसलमान शासक को भी परास्त किया। उसके समय में कश्मीर की भौतिक और सांस्कृतिक उन्नति हुई। वह उदार और सुसभ्य शासक था। वह विद्वान था तथा फारसी, संस्कृत, तिब्बती और अन्य कई भाषाओं का ज्ञाता था। उसने हिन्दुओं को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की, भागे हुए हिन्दुओं को कश्मीर बुलाया, मन्दिरों के निर्माण की आज्ञा दी, ब्राह्मणों को पुरस्कार देने आरम्भ किये और इस प्रकार पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनायी। उसने विभिन्न करों को हटाया, हिन्दुओं को जजिया से मुक्त किया, व्यापारियों को उचित मूल्यों पर वस्तुएँ बेचने के लिए बाध्य किया, चोरी-डकैती को बन्द किया तथा निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था स्थापित की। उसने महाभारत और 'राजतरंगिनी' का फारसी में अनुवाद कराया, अनेक फारसी और अरबी के ग्रन्थों का स्थानीय भाषाओं में अनुवाद कराया तथा अनेक विद्वानों को अपने दरबार में आश्रय दिया। वह विदेशों में भी प्रख्यात हुआ। दिल्ली, गुजरात, ग्वालियर, मक्का, मिस्र, खुरासान आदि के शासकों से उसके सम्बन्ध रहे। 1470 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हाजीखाँ 'हैदरशाह' के नाम से सिंहासन

---

1 "The king forgot his kingly duties and took a delight day and night in breaking images···He broke the images of Martanda, Vishaya, Isana, Chakrabhrit and Tripuresvara ··There was no city, no town, no village, no wood where Suha, the Turushka left the temples of Gods unbroken." —Jonaraja.

पर बैठा। उसका शासन प्रायः एक वर्ष का रहा। वह अयोग्य था और उसने एक बार फिर धार्मिक असहिष्णुता की नीति की पुनरावृत्ति की। हैदरशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हसनशाह सिंहासन पर बैठा। उसने धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनायी परन्तु वह अपने सरदारों को काबू में न रख सका और कश्मीर राज्य का पतन आरम्भ हो गया।

दिल्ली सल्तनत के समय में कश्मीर पर किसी भी दिल्ली सुल्तान ने अधिकार नहीं किया। बाद में मुगल बादशाह अकबर ने उसे दिल्ली राज्य में सम्मिलित कर लिया।

## [ 2 ]
## जौनपुर

बनारस के उत्तर-पश्चिम में उससे 34 मील दूर जौनपुर नगर को फीरोज तुगलक ने बसाया था। जौनपुर राज्य का संस्थापक मलिक सरदार फीरोज तुगलक के पुत्र सुल्तान मुहम्मद का दास था जो अपनी योग्यता से 1389 ई. में वजीर बना। सुल्तान महमूद ने उसे 'मलिक-उस-शर्क' की उपाधि दी। 1394 ई. में उसे दोआब के विद्रोह को दबाने के लिए भेजा गया। उसने उस विद्रोह को ही नहीं दबाया बल्कि अलीगढ़ से लेकर बिहार में तिरहुत तक के सम्पूर्ण प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। वह एक स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार करता था यद्यपि उसने कभी सुल्तान का पद ग्रहण नहीं किया। तिमूर के आक्रमण के अवसर पर उसने दिल्ली सुल्तान को कोई सहायता नहीं भेजी। 1399 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पद के कारण उसका वंश शर्की-वंश कहलाया।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका गोद लिया हुआ पुत्र मुबारकशाह सिंहासन पर बैठा। उसने सुल्तान की उपाधि धारण की और अपने नाम का खुतबा पढ़वाया। सुल्तान महमूद तुगलक के शक्तिशाली वजीर मल्लू इकबालखाँ ने जौनपुर को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। 1402 ई. में मुबारकशाह की मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई इब्राहीम 'शमसुद्दीन इब्राहीमशाह' के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसके समय में दिल्ली और जौनपुर के सम्बन्धों में कटुता आ गयी। उसके सम्बन्ध महमूद तुगलक से ही नहीं वरन् सैय्यद शासक खिज्रखाँ और मुबारकशाह से भी खराब रहे जिसका मुख्य कारण दोनों राज्यों की विस्तारवादी नीति थी। परन्तु इस संघर्ष का कोई परिणाम न निकला। इब्राहीमशाह ने बंगाल को भी जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। सांस्कृतिक दृष्टि से उसका समय महत्वपूर्ण रहा। उसके समय में जौनपुर उत्तरी भारत का एक महान् सांस्कृतिक केन्द्र बन गया। उसके दरबार में अनेक विद्वान आश्रय पाते थे और उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। उसने जौनपुर को एक सुन्दर नगर बनाया तथा उसके समय में स्थापत्य-कला में एक नवीन शैली—जौनपुरी अथवा शर्की-शैली—का जन्म हुआ। 1440 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र महमूदशाह सुल्तान बना। महमूदशाह ने चुनार के किले को जीता परन्तु कालपी के किले को जीतने में असफल रहा। उसने एक आक्रमण दिल्ली राज्य पर भी किया परन्तु बहलोल लोदी ने उसे परास्त कर दिया। सुल्तान इब्राहीम के समय में चली आ रही दिल्ली तथा जौनपुर राज्यों

की प्रतिद्वन्द्विता उसके समय में तीव्र हो गयी। उसके पुत्र मुहम्मदशाह ने भी बहलोल लोदी से संघर्ष किया परन्तु कुछ लाभ न हुआ। मुहम्मदशाह के भाई ने उसका वध कर दिया और वह हुसैनशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। हुसैनशाह के समय में दिल्ली व जौनपुर में मृत्यु और जीवन का संघर्ष चला जिसमें अन्त में हुसैनशाह की पराजय (1479 ई.) हुई। वह पहले बिहार भाग गया और बाद में सिकन्दर लोदी के समय में उसे बंगाल में शरण लेने के लिए बाध्य होना पड़ा।

इस प्रकार जौनपुर का राज्य दिल्ली सल्तनत की दुर्बलता का लाभ उठाकर एक स्वतन्त्र राज्य बना था और प्रायः 75 वर्ष की स्वतन्त्र सत्ता के पश्चात् पुनः दिल्ली सल्तनत का भाग बन गया।

[ 3 ]

## बंगाल

बंगाल और बिहार को दिल्ली सल्तनत में सम्मिलित करने का श्रेय इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार खलजी को था। परन्तु बंगाल दिल्ली से इतनी अधिक दूर था कि वहाँ के शासक प्रायः स्वतन्त्र रहे। बलबन के समय में तुगरिलखाँ ने विद्रोह किया परन्तु उसे दबा दिया गया और बंगाल दिल्ली सल्तनत के अधीन हो गया। बलबन के पुत्र बुगराखाँ को वहाँ का सूबेदार बनाया गया। परन्तु बलबन की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी कैकुबाद ने अपने पिता बुगराखाँ को बंगाल में प्रायः स्वतन्त्र शासक मान लिया और बुगराखाँ ने सुल्तान नासिरुद्दीन की उपाधि ग्रहण कर ली। परन्तु दिल्ली में खलजी-वंश की स्थापना हो जाने पर उसने 1291 ई. में अपने पुत्र रुकनुद्दीन कैकोस को सिंहासन सौंप दिया। रुकनुद्दीन ने 1301 ई. तक बंगाल और बिहार पर एक स्वतन्त्र शासक की भाँति राज्य किया परन्तु बाद में बिहार के सूबेदार शमसुद्दीन फीरोजशाह ने उसे गद्दी से हटा दिया और इन सूबों पर अपना आधिपत्य कर लिया। फीरोजशाह ने इस राज्य का विस्तार किया और आसाम में सिलहट तक को जीत लिया। 1322 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके जीवन-काल में ही उसके पुत्र उससे संघर्ष कर रहे थे और जब उसकी मृत्यु हो गयी तब उसके पुत्र गियासुद्दीन बहादुरशाह ने नासिरुद्दीन और शिहाबुद्दीन को छोड़कर अपने सभी भाइयों का वध करा दिया। नासिरुद्दीन और शिहाबुद्दीन ने दिल्ली सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक से सहायता माँगी। गियासुद्दीन तुगलक ने बंगाल पर आक्रमण किया और गियासुद्दीन बहादुर को कैद करके दिल्ली ले गया। उत्तरी बंगाल को नासिरुद्दीन को दे दिया गया जिसकी राजधानी लखनौती थी तथा दक्षिणी और पूर्वी बंगाल को दिल्ली साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने गियासुद्दीन बहादुर को अपने शासन-काल के आरम्भ में छोड़ दिया और उसे अपने सूबेदार के साथ पूर्वी बंगाल का शासन करने के लिए नियुक्त कर दिया। परन्तु कुछ वर्षों के पश्चात् उसने विद्रोह किया और सम्पूर्ण बंगाल को दिल्ली राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। कुछ वर्षों तक बंगाल में शान्ति रही। परन्तु 1337-38 ई. में वहाँ पुनः विद्रोह हो गया। उस विद्रोह को फखरुद्दीन ने दबाया परन्तु जब मुहम्मद तुगलक से उसे कोई सहायता प्राप्त नहीं हुई तब उसने अपने को 'फखरुद्दीन मुबारकशाह' के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। इस प्रकार मुहम्मद तुगलक के समय में बंगाल पुनः एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। उसके पश्चात् बंगाल दिल्ली सल्तनत की अधीनता में न आ सका। 1345-46 ई. में शमसुद्दीन इलियास-

शाह ने सम्पूर्ण बंगाल को अपने अधिकार में कर लिया। फीरोज तुगलक ने दो बार बंगाल को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। इसके बाद शेरशाह सूर ने बंगाल को दिल्ली साम्राज्य का भाग बनाया और तत्पश्चात् अकबर ने उसे मुगल-साम्राज्य का अंग बनाया।

[ 4 ]

## गुजरात

अलाउद्दीन खलजी ने राजा कर्ण (रायकरण) को परास्त करके 1297 ई. में गुजरात को दिल्ली सल्तनत के अधीन किया। उसके पश्चात् 1401 ई. तक वह दिल्ली सल्तनत का एक इक्ता (सूबा) रहा। 1391 ई. में मुहम्मदशाह तुगलक ने जफरखाँ को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। उसने तिमूर के आक्रमण के पश्चात् उत्पन्न हुई दिल्ली सल्तनत की दुर्बलता से लाभ उठाकर अपने को स्वतन्त्र शासक मान लिया यहाँ तक कि जब सुल्तान महमूद तुगलक गुजरात में शरण प्राप्त करने के लिए गया तो उसने उसका यथोचित सत्कार भी नहीं किया। जफरखाँ (उसे 'मुजफ्फरखाँ' की उपाधि दी गयी थी) को उसके पुत्र तातारखाँ ने कुछ समय के लिए कारागार में डाल दिया परन्तु शीघ्र ही उसके चाचा शम्सखाँ ने उसे जहर देकर मार दिया और जफरखाँ को मुक्त कर दिया। उसके पश्चात् 1407 ई. में जफरखाँ ने अपने को 'सुल्तान मुजफ्फरशाह' के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। मुजफ्फरशाह ने मालवा के शासक हुसंगशाह को परास्त करके उसकी राजधानी धार पर अधिकार किया यद्यपि बाद में उसने उसे उसका राज्य वापस कर दिया। 1411 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र तातारखाँ का पुत्र अहमद 'अहमदशाह' के नाम से सुल्तान बना। उसने प्रायः 32 वर्ष शासन किया और गुजरात के अधीन राजाओं तथा राजपूताना, मालवा और दक्षिणी भारत में पड़ोसी राज्यों से निरन्तर संघर्ष किया। वह एक सफल शासक था और उसने नव-स्थापित अहमदाबाद नगर को अपनी राजधानी बनाया। 1443 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका सबसे बड़ा पुत्र मुहम्मदशाह द्वितीय गद्दी पर बैठा। 1451 ई. में मुहम्मदशाह द्वितीय की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् क्रमशः कुतुबुद्दीन अहमदशाह और दाऊदखाँ शासक हुए। परन्तु वे दोनों दुर्बल सिद्ध हुए। कुतुबुद्दीन ने 1451-1458 ई. तक शासन किया परन्तु दाऊदखाँ का शासन केवल कुछ दिनों का ही रहा। उसकी अयोग्यता के कारण उसके सरदारों ने उसे गद्दी से उतारकर 1458 ई. में फतहखाँ को सिंहासन पर बैठा दिया। उसने 'अबुल-फतह महमूद' की उपाधि ग्रहण की यद्यपि इतिहास में वह महमूद बेगड़ा के नाम से विख्यात हुआ।

महमूद बेगड़ा (1451-1511 ई.) अपने वंश का महानतम शासक माना गया है। उसने उन विद्रोही अमीरों का दमन किया जो उसके भाई हसनखाँ को गद्दी पर बैठाने के लिए उत्सुक थे। महमूद ने गुजरात के स्वतन्त्र और विरोधी हिन्दू राजाओं को परास्त किया, मालवा के विरुद्ध बहमनी-राज्य की सहायता की, सिन्ध के हिन्दू विद्रोहियों को दबाने में अपने नाना जामनन्दा की सहायता की, द्वारिकापुरी पर आक्रमण किया तथा अन्य अनेक विभिन्न युद्ध किये। परन्तु उसकी मुख्य विजयें चम्पानीर और गिरनार के दृढ़ किलों की थीं जिसके कारण ही वह बेगड़ा के नाम से पुकारा जाने लगा। महमूद बेगड़ा एक योद्धा, विजेता और कुशल शासक सिद्ध हुआ।

उसके समय में गुजरात एक शक्तिशाली ऐश्वर्यपूर्ण और सम्पन्न राज्य बना। उसके समय में ललित-कलाओं और साहित्य की प्रगति हुई। महमूद का केवल एक दोष रहा। वह धर्मान्ध था और अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति उसका व्यवहार असहिष्णुता का रहा। महमूद ने मिस्र के शासक के जल-बेड़े की सहायता लेकर पुर्तगालियों से युद्ध किया। परन्तु वह सफल न हुआ तथा पुर्तगाली समुद्र और गुजरात के समुद्र-तट पर प्रभावशाली रहे।

महमूद बेगड़ा की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र खलीलखाँ 'मुजफ्फरशाह द्वितीय' के नाम से गद्दी पर बैठा। उसने मेदिनीराय के विरुद्ध मालवा के शासक महमूद खलजी की सहायता की और उसकी शक्ति को माण्डू में स्थापित करने में सफलता पायी यद्यपि चन्देरी पर मेदिनीराय का अधिकार हो गया। उसका मुख्य झगड़ा मेवाड़ के शासक राणा संग्रामसिंह से रहा जो मेदिनीराय और निकट के राजपूत राजाओं की सहायता कर रहा था। परन्तु उसे राणा संग्रामसिंह के विरुद्ध कोई सफलता न मिल सकी। अप्रैल 1526 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् सिकन्दर और महमूद द्वितीय नाम के दो अयोग्य शासक हुए परन्तु उन्होंने केवल कुछ माह शासन किया। जुलाई 1526 ई. में बहादुरशाह शासक बना। उसने 1531 ई. में मालवा को जीतकर गुजरात में सम्मिलित कर लिया और चित्तौड़ को लूटा। इस प्रकार उसका समय गुजरात की शक्ति की पराकाष्ठा का रहा। परन्तु उसका झगड़ा मुगल बादशाह हुमायूँ से हुआ जिसने एक बार मालवा और गुजरात को जीतने में सफलता प्राप्त की। हुमायूँ के वापस लौट जाने पर वह मालवा और गुजरात को पुनः जीत सका परन्तु 1537 ई. में पुर्तगालियों ने उसे धोखे से मार डाला। उसके पश्चात् गुजरात में दुर्बल शासक हुए। अन्त में, 1572 ई. में मुगल बादशाह अकबर ने गुजरात को मुगल साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

[ 5 ]

## मालवा

अलाउद्दीन खलजी ने मालवा को दिल्ली सल्तनत का अंग बनाया था। 1390 ई. में फीरोज ने दिलावरखाँ को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। तिमूर के आक्रमण के अवसर पर सुल्तान महमूद तुगलक ने पहले गुजरात में और उसके पश्चात् मालवा में शरण ली। उसके वापस जाने के पश्चात् 1401 ई. में दिलावर ने अपने को पूर्ण स्वतन्त्र शासक बना लिया यद्यपि उसने सुल्तान की उपाधि ग्रहण नहीं की। 1405 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र अलपखाँ ने 'हूसंगशाह' की उपाधि ग्रहण की और अपने को सुल्तान घोषित किया। गुजरात के शासक मुजफ्फरशाह ने मालवा पर आक्रमण किया और हूसंगशाह को कैद कर लिया। परन्तु मालवा में विद्रोह हो जाने पर उसने हूसंगशाह को ही उस विद्रोह को दबाने के लिए भेजा। हूसंगशाह ने एक बार फिर मालवा पर अधिकार कर लिया और माण्डू को अपनी राजधानी बनाया जिस नगर को उसने स्वयं बसाया था। हूसंगशाह ने निरन्तर गुजरात के शासक अहमदशाह (जो मुजफ्फरशाह की मृत्यु के पश्चात् सुल्तान बना) से युद्ध किया और गुजरात पर कई आक्रमण किये। अहमदशाह ने भी अवसर पाकर मालवा पर आक्रमण किये। परन्तु मालवा और गुजरात के इन युद्धों का कोई विशेष लाभ न निकला। उसका ग्वालियर को जीतने का प्रयत्न सैय्यद-शासक मुबारकशाह के कारण असफल रहा परन्तु उसने कालपी को जीता और उड़ीसा के हिन्दू राज्यों में भी उसने

लूटमार की यद्यपि वह उन्हें जीत न सका। इस प्रकार, हूसंगशाह ने अपने समय में निरन्तर युद्ध किये। वह एक महत्वाकांक्षी शासक था परन्तु पड़ोस के शक्तिशाली राज्यों के कारण वह राज्य-विस्तार करने में असफल रहा। 1435 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी तथा उसका पुत्र गाजीखाँ 'मुहम्मदशाह' के नाम से गद्दी पर बैठा। वह एक अयोग्य शासक था और एक वर्ष पश्चात् उसके वजीर महमूदखाँ ने उसे हटाकर सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया तथा 'महमूदशाह' की उपाधि ग्रहण की।

महमूदशाह (1436-1469 ई.) ने मालवा में खलजी-वंश की नींव डाली और वह मालवा के शासकों में योग्यतम शासक सिद्ध हुआ। उसने गुजरात, दिल्ली, बहमनी राज्य और मेवाड़ के राज्यों से युद्ध किये। उसने अपने राज्य का विस्तार करने में सफलता प्राप्त की और मिस्र के खलीफा ने उसे सुल्तान स्वीकार किया। महमूदशाह एक उदार, न्यायप्रिय और विद्वान शासक था परन्तु वह धर्मान्ध था और उसने हिन्दुओं के प्रति असहिष्णुता की नीति अपनायी।

1469 ई. में महमूदशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र गियासुद्दीन सिंहासन पर बैठा। वह आरामपसन्द शासक था और उसने अपने पड़ोसी राज्यों के साथ शान्ति की नीति अपनायी। यद्यपि उसने मेवाड़ पर दो बार आक्रमण किये परन्तु दोनों ही बार असफल रहा। उसके समय में गुजरात ने चम्पानीर को जीत लिया और वह कुछ न कर सका। वह धर्म-परायण और धर्मान्ध शासक सिद्ध हुआ। सम्भवतया, 1500 ई. में उसके पुत्र ने उसको जहर देकर मरवा दिया और स्वयं 'नासिरुद्दीनशाह' के नाम से गद्दी पर बैठा। नासिरुद्दीन एक क्रूर शासक था। 1511 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा पुत्र आजम हुमायूँ 'महमूदशाह द्वितीय' के नाम से गद्दी पर बैठा। महमूदशाह द्वितीय के समय में हिन्दू और मुसलमान सरदारों में सत्ता के लिए संघर्ष हुआ तथा मेदिनीराय उनमें सबसे अधिक सफल रहा। उसे वजीर का पद प्रदान किया गया। मेदिनीराय के प्रभाव को नष्ट करने के लिए उसने गुजरात के शासक मुजफ्फर द्वितीय की सहायता ली परन्तु मेदिनीराय ने मेवाड़ के शासक राणा संग्रामसिंह से सहायता प्राप्त कर उसके प्रयत्न को विफल कर दिया। महमूद ने गुजरात के शासक बहादुरशाह से भी शत्रुता की जिसके कारण बहादुरशाह ने 1531 ई. में मालवा पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। बाद में महमूदशाह मारा गया। उस समय से मालवा गुजरात राज्य का भाग बना रहा। बादशाह अकबर ने इसे मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित किया।

[ 6 ]

## मेवाड़ (आधुनिक उदयपुर)

अलाउद्दीन खलजी ने मेवाड़ को जीतकर दिल्ली सल्तनत के अधीन किया। राणा रतनसिंह गुहिलोत राजपूत-वंश का था। उसके पश्चात् उसी वंश की एक शाखा सीसौदिया-वंश के शासक लक्ष्मणसिंह ने अपने सात पुत्रों सहित चित्तौड़ की रक्षा में जान गवाँ दी। उसका केवल एक पुत्र अजयसिंह राजवंश की सुरक्षा के लिए अरावली की पहाड़ियों में जा छिपा। 1314 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके बड़े भाई का पुत्र हम्मीरदेव उसका उत्तराधिकारी हुआ। हम्मीरदेव ने अपने साहस और कौशल से मेवाड़ राज्य की पुनः स्थापना की। हम्मीर ने अलाउद्दीन के समय में ही मेवाड़ को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु सफल न हुआ। परन्तु उसके आक्रमणों के कारण शाहजादा खिज्रखाँ मेवाड़ को छोड़ने पर बाध्य हुआ और मालदेव को मेवाड़ का

सूबेदार नियुक्त किया गया। सम्भवतया, मुहम्मद तुगलक के बाद के समय में हम्मीरदेव ने चित्तौड़ को जीत लिया और एक प्रकार से सम्पूर्ण मेवाड़ स्वतन्त्र हो गया। इतिहासकारों के बहुमत के अनुसार हम्मीर ने 64 वर्ष शासन किया। हम्मीरदेव के पश्चात् उसका पुत्र क्षेत्रसिंह (1378-1405 ई.) मेवाड़ का शासक बना। वह अपने पिता की भाँति ही योग्य था और उसने मेवाड़-राज्य का विस्तार किया। उसके पश्चात् उसका पुत्र लक्खा गद्दी पर बैठा। उसने मारवाड़ के राठौर-राजवंश की पुत्री से विवाह करके अपनी शक्ति को दृढ़ किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र मोकल (1420 ई.) गद्दी पर बैठा। उसके समय में उसके मामा रानमल ने मारवाड़ को अपने आधिपत्य में किया और नागौर को जीता। 1433 ई. में मोकल जब गुजरात के शासक के विरुद्ध युद्ध करने गया तो उसका वध करा दिया गया।

इस आन्तरिक फूट के अवसर पर मालवा और गुजरात के शासकों ने मेवाड़ पर आक्रमण किया परन्तु रानमल ने मेवाड़ में हस्तक्षेप किया, अपने प्रपौत्र और मोकल के पुत्र कुम्भकरण (राणा कुम्भा) को गद्दी पर बैठाया, मालवा और गुजरात के शासकों को वापस लाने के लिए बाध्य किया तथा विद्रोही सरदारों को दबाने में सफलता प्राप्त की। परन्तु मेवाड़ ने रानमल के प्रभुत्व से कुछ राजपूत सरदार ईर्ष्या करने लगे और उन्होंने राणा लक्खा के पुत्र चूंडा (जो बहुत पहले मालवा चला गया था) के साथ मिलकर 1438 ई. में रानमल का वध कर दिया जिसके कारण मारवाड़ और मेवाड़ की शत्रुता आरम्भ हुई। इस प्रकार राणा कुम्भा के प्रारम्भिक वर्ष बड़ी कठिनाई से गुजरे। परन्तु राणा कुम्भा यशस्वी राणा सिद्ध हुआ। उसने अधिकांश मारवाड़ को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया और अपने प्रमुख शत्रु मालवा-राज्य को भी कई युद्धों में परास्त किया। मालवा के विरुद्ध सफलता प्राप्त करने के उपलक्ष में उसने 1448 ई. में चित्तौड़ के कीर्ति-स्तम्भ का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त उसने मेवाड़ के अनेक महल, मन्दिर और किलों का निर्माण कराया। राणा कुम्भा को अनेक युद्ध करने पड़े। मारवाड़ के राठौरों के अतिरिक्त उसके मुख्य शत्रु मालवा और गुजरात के शासक थे जिन्होंने सम्मिलित होकर उसकी शक्ति को नष्ट करने का प्रयत्न किया। परन्तु वे असफल रहे। मध्य-युग के शासकों में राणा कुम्भा एक महान् शासक था। अनेक युद्धों में व्यस्त रहते हुए भी उसने साहित्य, ललित-कलाओं आदि की उन्नति की। वह स्वयं विद्वान था तथा वेद, स्मृति, मीमांसा, उपनिषद, व्याकरण, राजनीति और साहित्य का ज्ञाता था। उसने चार स्थानीय भाषाओं में चार नाटकों की रचना की थी और जयदेव कृत 'गीत-गोविन्द' की टीका लिखी थी। उसे संगीत से प्रेम था और उसने उस पर तीन पुस्तकें लिखी थीं। उसके समय में स्थापत्य-कला की अद्वितीय उन्नति हुई। उसने मेवाड़ के 84 किलों में से 32 किलों को बनवाया, चित्तौड़ के किले को दृढ़ किया तथा कुम्भलगढ़ के नवीन नगर और किले में अनेक शानदार इमारतें बनवायीं। जब उसके समय की पूर्ण जानकारी उपलब्ध हो जायेगी तब सम्भवतया, उसे मध्य-युग के महानतम शासकों में स्थान प्रदान करने में इतिहासकारों को कोई कठिनाई नहीं होगी। परन्तु राज्य के लोभ-वश उसके पुत्र उदय ने राणा कुम्भा का वध कर दिया (1473 ई.)।

सरदारों के विरोध के कारण उदय अधिक समय तक शासन न कर सका और उसके छोटे भाई रायमल ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। रायमल को मुख्यतया अपने विद्रोही सरदारों, मालवा के शासकों और आदि-जातियों से संघर्ष करना पड़ा।

रायमल ने 36 वर्ष (1473-1509 ई.) शासन किया। वह एक सफल शासक रहा परन्तु उसके अन्तिम समय में उसके पुत्रों में राजसिंहासन के लिए संघर्ष हुआ जिसके कारण वह पागल हो गया और बाद में मर गया। उसके सबसे बड़े पुत्र पृथ्वीराज को जहर देकर मारा गया था, दूसरा पुत्र जयमल एक सम्बन्धी से द्वन्द्व करते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ था तथा तीसरे पुत्र जयसिंह को सरदारों ने राणा मानने से इन्कार कर दिया। तब राणा संग्रामसिंह (राणा साँगा जो अपने भाइयों से लड़कर मालवा चला गया था) को सिंहासन पर बैठाया गया। राणा साँगा (1509-1528 ई.) एक महत्वाकांक्षी और युद्धप्रिय शासक सिद्ध हुआ। उसने पड़ौस के दिल्ली, मालवा और गुजरात के राज्यों से युद्ध किये, अपने राज्य का विस्तार किया तथा राजस्थान के प्रायः सभी राज्यों को अपनी अधीनता में कर लिया अथवा उनका समर्थन प्राप्त कर लिया। वह दिल्ली को जीतने के लिए भी उत्सुक था। उसने 1527 ई. में मुगल बादशाह बाबर से खानुआ का युद्ध किया जिसमें उसकी पराजय हुई और थोड़े समय के पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् मेवाड़ की शक्ति दुर्बल हो गयी और अन्त में जहाँगीर के समय में मेवाड़ ने मुगल आधिपत्य को स्वीकार कर लिया।

[ 7 ]

## मारवाड़ (आधुनिक जोधपुर)

मारवाड़ के राठौर प्राचीन राष्ट्रकूटों के वंशज थे। निकट के मुसलमान और राजपूत शासकों से युद्ध करते हुए अन्त में चुन्द (1394-1421 ई.) ने आधुनिक मारवाड़ राज्य की नींव डाली और आधुनिक जोधपुर को अपनी राजधानी बनाया। चुन्द ने अपनी पुत्री का विवाह मेवाड़ के वृद्ध शासक लक्खा से करके अपने प्रभाव में वृद्धि की। चुन्द का सबसे बड़ा पुत्र रानमल था परन्तु वह अपने पिता की आज्ञा मानकर अपने राज्य को छोड़कर मेवाड़ चला गया। चुन्द के पश्चात् कान्हा और कान्हा के पश्चात् सता मारवाड़ का शासक बना। सता प्रायः अन्धा था। रानमल ने सता को हटाकर मारवाड़ पर अपना अधिकार कर लिया। रानमल ने राणा कुम्भा की उसके प्रारम्भिक वर्षों में बहुत सहायता की परन्तु मेवाड़ के सरदारों ने उसका वध कर दिया। उस समय से मेवाड़ और मारवाड़ में शत्रुता प्रारम्भ हो गयी। रानमल के पुत्र जोधा को मेवाड़ से संघर्ष करना पड़ा। बाद में मालवा और गुजरात के शासकों से युद्ध करते हुए राणा कुम्भा ने भी जोधा के साथ समझौता करना उपयुक्त समझा और जोधा ने मारवाड़ पर अधिकार कर लिया। जोधा के 17 पुत्र थे। 1488 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उनमें संघर्ष हुआ। उसके जीवित रहते हुए भी उसके पुत्रों ने सातल, बीकानेर, मेड़ता आदि में अपने अर्ध-स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की थी। परन्तु अन्त में सरदारों की सम्मति से सुजा मारवाड़ का शासक बना। परन्तु जोधा के पुत्र बिका ने बीकानेर में अपने स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली और मेड़ता भी मारवाड़ के अधीन न रहा। मेड़ता के पतन के पश्चात् मारवाड़ को प्रगति का अवसर प्राप्त हुआ और वह राजपूताने का प्रमुख राज्य बन गया। शेरशाह के समय में मारवाड़ का शक्तिशाली शासक मालदेव था। अकबर के समय में मारवाड़ ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली।

[ 8 ]

## खानदेश (दक्षिणी भारत)

खानदेश के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना फीरोज तुगलक की मृत्यु के पश्चात्

सूबेदार मलिक राजा ने की। ताप्ती नदी की घाटी में स्थित खानदेश राज्य कभी भी बहुत शक्तिशाली राज्य न बन सका। निकट के बहमनी राज्य से उसका निरन्तर संघर्ष रहता था और समय-समय पर उसे मालवा और गुजरात के शासकों की सहायता लेनी पड़ती थी। अधिकांश समय खानदेश के शासकों ने गुजरात के शासकों की अधीनता को माना जिनसे उसके विवाह-सम्बन्ध भी थे। 1601 ई. में मुगल बादशाह अकबर ने उसे मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

[ 9 ]

## बहमनी राज्य (दक्षिणी भारत)

मुहम्मद तुगलक के समय में दक्षिण के विदेशी अमीरों ने विद्रोह किया और दौलताबाद पर अधिकार करके हसन नामक एक सरदार को सुल्तान चुना। वह 1347 ई. में 'अबुल हसन मुजफ्फर अलाउद्दीन बहमनशाह' के नाम से सिंहासन पर बैठा और उसने बहमनी राज्य की नींव डाली। बहमनशाह ने अपने को ईरान के इस्फन्दियार के बहादुर पुत्र बहमन का वंशज बताया था जबकि फरिश्ता के अनुसार वह आरम्भ में एक ब्राह्मण गंगू का नौकर था और अपने कृपालु मालिक का सम्मान करने के हेतु उसने शासक होने पर 'बहमनशाह' की उपाधि ग्रहण की थी। बहमनी राज्य दक्षिण का एक महत्वपूर्ण राज्य हुआ। दक्षिणी भारत के काफी बड़े भाग पर प्राय: 200 वर्ष तक उसकी सत्ता रही।

बहमनशाह एक योग्य शासक हुआ और उसने गुलबर्गा को अपनी राजधानी बनाया। उसने न केवल अपने साम्राज्य को दृढ़ किया बल्कि उसका विस्तार भी किया। उसका राज्य उत्तर में वानगंगा से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक और पश्चिम में दौलताबाद से लेकर भोंगिरी तक फैला हुआ था। उसके समय में उसके राज्य के दक्षिण-पूर्व में वारंगल और दक्षिण-पश्चिम में विजयनगर के हिन्दू राज्यों की स्थापना हुई थी। उसने वारंगल के शासक कापय नायक को वार्षिक कर देने और कौलास का किला देने के लिए बाध्य किया। बहमनशाह एक अच्छा शासन-प्रबन्धक भी था। उसने अपने राज्य को चार सूबों (तरफों) में बाँटा। गुलबर्गा, दौलताबाद, बरार और बीदर उसकी प्रान्तीय राजधानियाँ थीं। एक सुसंगठित राज्य स्थापित करने के पश्चात् 1358 ई. में बहमनशाह की मृत्यु हो गयी।

बहमनशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र मुहम्मदशाह प्रथम (1358-1375 ई.) गद्दी पर बैठा। मुहम्मदशाह के समय की मुख्य घटना वारंगल और विजयनगर के हिन्दू राजाओं से युद्ध की थी। सम्भवतया, वारंगल के शासक कापय नायक और विजयनगर के शासक बुक्का ने परस्पर कोई समझौता कर लिया था जिसके कारण कापय ने मुहम्मद से कौलास के किले की और बुक्का ने उससे कृष्णा तथा तुंगभद्रा नदियों के दोआब (रायचूर) की माँग की। मुहम्मद ने उन दोनों से युद्ध किया। वह कापय नायक के विरुद्ध अधिक सफल रहा, गोलकुण्डा का किला उससे छीन लिया और उस किले को दोनों राज्यों की सीमा मान लिया गया। परन्तु विजयनगर राज्य से एक समझौता हुआ जिसके अनुसार, सम्भवतया, यह मान लिया गया कि दोनों राज्य एक-दूसरे के युद्धबन्दियों का कत्ल नहीं करेंगे और एक-दूसरे की निःशस्त्र प्रजा को नहीं मारेंगे। मुहम्मदशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अलाउद्दीन मुजाहिद गद्दी पर बैठा। उसने निरन्तर तीन वर्ष तक विजयनगर राज्य से युद्ध

किया। एक अवसर पर वहाँ से वापस आते हुए उसके चचेरे भाई दाऊदखाँ ने उसका वध कर दिया (1378 ई.)। परन्तु विरोधी अमीरों ने एक माह में ही दाऊदखाँ का वध कर दिया और उसके एक भाई को 'मुहम्मद द्वितीय' के नाम से सिंहासन पर बैठाया। आन्तरिक संघर्ष के उस समय में विजयनगर राज्य ने बहमनी राज्य के पश्चिमी तट की कुछ सीमाओं पर अधिकार कर लिया। परन्तु मुहम्मद द्वितीय ने विजयनगर से युद्ध नहीं किया। वह शान्तिप्रिय शासक था। वह विद्वान था और उसने विद्वानों को आश्रय दिया। 1397 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् गियासुद्दीन और शमसुद्दीन शासक हुए परन्तु उन दोनों ने बहुत थोड़े समय राज्य किया। 1397 ई. में ही ताजुद्दीन फिरोजशाह गद्दी पर बैठा। उसने तीन बार विजयनगर से युद्ध किया। दो युद्धों में उसे आंशिक सफलता मिली परन्तु तीसरे युद्ध में उसकी पराजय हुई। इससे उसका सम्मान कम हो गया जिसके कारण उसके भाई अहमदशाह ने उसे गद्दी से हटा दिया और 1422 ई. में स्वयं सुल्तान बन गया। फीरोजशाह एक विद्वान शासक था। उसने फीरोजशाह नामक एक नवीन शहर बसाया था और चौल तथा दमौल के बन्दरगाहों की उन्नति की थी।

अहमदशाह (1422-1436 ई.) ने वारंगल पर आक्रमण करके उसे जीत लिया, विजयनगर राज्य में उसने लूट-मार की और मालवा पर सफल आक्रमण किया। परन्तु गुजरात के विरुद्ध उसे सफलता न मिली। 1425 ई. में उसने बीदर को अपनी राजधानी बनाया जहाँ उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र ने उसकी कब्र पर एक शानदार मकबरा बनवाया। उसके समय में भारतीय मुसलमान अमीरों और विदेशी मुसलमान अमीरों में झगड़े आरम्भ हुए। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अलाउद्दीन अहमदशाह (1436-1458 ई.) गद्दी पर बैठा। अलाउद्दीन अहमदशाह ने कोंकण के हिन्दू राज्य को जीता, खानदेश के आक्रमण को विफल किया, संगमेश्वर के हिन्दू राजा की पुत्री से विवाह किया तथा विजयनगर राज्य से युद्ध किया। उसके समय में महमूद गवाँ (जो बाद में बहमनी राज्य का विख्यात वजीर हुआ) को राज्य की सेवा में लिया गया। अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् हुमायूँ ने तीन वर्ष शासन किया। वह बहुत क्रूर शासक था जिसके कारण उसे 'जालिम' पुकारा गया। हुमायूँ की मृत्यु के पश्चात् उसका आठवर्षीय पुत्र निजामशाह शासक बना। उसकी माता ने महमूद गवाँ और ख्वाजा-जहाँ तुर्क की सहायता से शासन-कार्य सँभाला और उड़ीसा तथा मालवा के आक्रमणों को विफल किया। 1463 ई. में निजामशाह की मृत्यु हो गयी और उसका भाई मुहम्मदशाह तृतीय गद्दी पर बैठा। इस समय में ख्वाजा-जहाँ तुर्क का वध करा दिया गया क्योंकि राजमाता उस पर सन्देह करने लगी थी और महमूद गवाँ को प्रधानमन्त्री अथवा वजीर बनाया गया। महमूद गवाँ पर्शिया का रहने वाला था और एक व्यापारी के रूप में बहमनी राज्य में आया था। उसने पूरी योग्यता से राज्य की सेवा की। उसके समय में कोंकण के हिन्दू राजा का दमन किया गया, संगमेश्वर के राजा से खलना का किला छीन लिया गया, विजयनगर राज्य को लूटा गया तथा उससे गोआ का बन्दरगाह छीन लिया गया। राजमहेन्द्री तथा कोंड्वीर के किलों को जीतने तथा उड़ीसा पर आक्रमण करके वहाँ से बहुत सा धन लूटने में भी उसने सफलता पायी। एक सफल सेनापति के अतिरिक्त महमूद गवाँ एक योग्य शासन-प्रबन्धक भी था। उसने बहमनी राज्य की केन्द्रीय व्यवस्था को शक्तिशाली बनाया और शासन की सुविधा की दृष्टि से प्रान्तों की संख्या चार से बढ़ाकर आठ कर दी। उसने जागीर-

दारी-व्यवस्था को समाप्त करने का प्रयत्न किया और अपने प्रशासन-अधिकारियों को जागीरें देने के स्थान पर नकद वेतन देना प्रारम्भ किया। उसने सैनिकों के प्रशिक्षण और नियन्त्रण पर भी बल दिया जिससे राज्य की सैनिक-शक्ति में वृद्धि हुई। राज्य की आय में वृद्धि करने के लिए उसने जमीन की पैमाइश कराकर किसानों से प्रत्यक्ष रूप से लगान लेना आरम्भ किया। किसानों को यह सुविधा थी कि वे लगान नकद या वस्तु के रूप में दे सकते थे। परन्तु महमूद गवाँ की शक्ति से भारतीय मुसलमान अमीर ईर्ष्या करने लगे जिसके कारण उन्होंने सुल्तान से जबकि वह शराब के नशे में था, महमूद गवाँ के वध की आज्ञा ले ली और 5 अप्रैल, 1481 ई. को उसका वध कर दिया। महमूद गवाँ अपने समय का योग्यतम व्यक्ति था। उसने बीदर में एक विद्यालय की स्थापना की। महमूद गवाँ स्वयं भी विद्वान था। उसने स्वयं दो ग्रन्थों को लिखा था — रौजत-उल-इन्शा और दीवान-ए-असरा। परन्तु उसकी एक दुर्बलता थी। उसकी धार्मिक नीति प्रतिक्रियावादी थी। महमूद गवाँ ने बहमनी राज्य की तीन पीढ़ियों तक सेवा की। उसके पश्चात् बहमनी राज्य को एकता नष्ट होने लगी तथा भारतीय और विदेशी मुसलमानों का संघर्ष तीव्र हो गया। 1482 ई. में मुहम्मदशाह तृतीय की मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र महमूदशाह सुल्तान बना। परन्तु अल्प-वयस्क होने के कारण शासन-सत्ता हसन निजाम-उल-मुल्क (मलिक नाइब) के हाथों में रही। परन्तु महमूद गवाँ की हत्या ने विदेशी मुसलमानों को काफी असन्तुष्ट कर दिया था और वे सुल्तान की आज्ञा को मानने के लिए तैयार न थे। भारतीय मुसलमानों के साथ अबीसीनियन हब्शी भी शामिल थे जबकि विदेशी (परदेसी) मुसलमानों में तुर्क, मुगल, ईरानी और अरब सम्मिलित थे। इनमें मुख्य झगड़ा नस्ल अथवा जाति का न था वरन् शक्ति और धर्म का था। विदेशी मुसलमान बहुत बड़ी संख्या में बहमनी राज्य में आये थे और प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर रहे थे। दक्षिणी भारतीय मुसलमान उनसे ईर्ष्या करते थे। इसके अतिरिक्त, दक्षिणी भारतीय मुसलमान सुन्नी थे, जबकि अधिकांश विदेशी मुसलमान शिया थे। इस कारण दरबार में दो दल बन गये थे जो एक दूसरे को नष्ट करने पर तुल गये। निजामशाह (जो अल्पायु था) के समय से कोई भी बहमनी शासक योग्य न हुआ था। इस कारण उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा मिला था। महमूद गवाँ (जो विदेशी मुसलमान था) इन दो दलों में शक्ति-सन्तुलन बनाये हुए था परन्तु नाइब मलिक (जो दक्षिणी मुसलमान था) के षड्यन्त्र के कारण वह मारा गया। उसके वध के कारण दोनों दलों में खुला झगड़ा हो गया जिसे सुल्तान महमूदशाह समाप्त न कर सका। मलिक नाइब को अपनी जान बचाने के लिए भागना पड़ा परन्तु बीदर के सूबेदार ने उसका वध कर दिया। दक्षिणी मुसलमानों ने महल पर आक्रमण करके सुल्तान को कैद करने का प्रयत्न किया परन्तु वे सफल न हुए और उन्हें बहुत बड़ी संख्या में कत्ल कर दिया गया। उसके पश्चात् महमूदशाह शासन से उदासीन हो गया और उसने अपना शासन एक तुर्की अमीर कासिम बरीद के हाथों में सौंप दिया। परन्तु विभिन्न सूबेदार कासिम बरीद की सत्ता को मानने के लिए तत्पर न हुए। सर्वप्रथम मृतक नाइब मलिक के पुत्र मलिक अहमद निजाम-उल-मुल्क ने राज्य की आज्ञाओं को मानना बन्द किया। उसके पश्चात् 1490 ई. में अहमद ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। बीजापुर के आदिलखाँ और बीदर के इमाद-उल-मुल्क ने भी यही किया। इस प्रकार बहमनी राज्य के शक्ति-

शाली सूबेदार प्रायः स्वतन्त्र हो गये यद्यपि महमूद के समय में किसी ने भी सुल्तान की उपाधि ग्रहण नहीं की। उनकी एकता का एकमात्र आधार प्रति वर्ष विजयनगर के शासकों के विरुद्ध जिहाद (धर्म युद्ध) करना था। 1518 ई में महमूद की मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् चार दुर्बल सुल्तान हुए परन्तु वे कासिम बरीद के हाथों में कठपुतले बने रहे। वास्तव में बहमनी राज्य नष्ट हो चुका था। उसका नाममात्र का अन्तिम शासक खलीमुल्ला हुआ जिसकी मृत्यु 1538 ई. में हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् नाममात्र का बहमनी राज्य भी नष्ट हो गया और उसका स्थान पाँच स्वतन्त्र राज्यों ने ले लिया। बहमनी राज्य के खण्डों से बीजापुर के आदिलशाही राज्य, गोलकुण्डा के कुतुबशाही राज्य, अहमदनगर के निजामशाही राज्य, बीदर के बरीदशाही राज्य और बरार के इमादशाही राज्य की स्थापना हुई।

दक्षिणी भारत के इन पाँच मुसलमान राज्यों में परस्पर संघर्ष रहा परन्तु उनका मुख्य शत्रु विजयनगर राज्य रहा। 1574 ई. में बरार-राज्य को अहमदनगर ने जीत लिया और 1618-19 ई. में बीदर-राज्य को बीजापुर ने जीत लिया। मुगल बादशाह अकबर ने अहमदनगर के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया और शाहजहाँ के समय में इस राज्य का अस्तित्व नष्ट हो गया। बीजापुर और गोलकुण्डा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मुगल बादशाह औरंगजेब ने नष्ट किया।

**बहमनी राज्य का शासन-प्रबन्ध**—बहमनी राज्य के शासक नाममात्र के लिए अपने को अब्बासी खलाफाओं की अधीनता में मानते थे यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से वे पूर्णतया स्वतन्त्र शासक थे। इस राज्य के प्रथम शासक बहमनशाह को शासन की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला क्योंकि अधिकांशतया वह युद्धों मे व्यस्त रहा। मुहम्मद तुगलक ने दक्षिणी भारत की अपनी भूमि को चार प्रान्तों में बाँटा था। बहमनशाह ने उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया यद्यपि उसने सभी स्थानों पर अपने अधिकारियों की नियुक्ति कर दी। मुहम्मदशाह प्रथम ने भी राज्य को चार अतरफों (प्रान्तों) में बाँटा और प्रत्येक की राजधानियाँ निश्चित कर दीं जो दौलताबाद, बरार, बीदर और गुलबर्गा थीं। इन प्रान्तों में से प्रत्येक में तर्फदारों (सूबेदारों) की नियुक्ति की गयी जिन्हें विस्तृत सैनिक और प्रशासकीय अधिकार दिये गये। तर्फदार अपने प्रान्त में लगान एकत्रित करता था, सेना का संगठन करता था, और प्रान्त के सभी सैनिक और असैनिक अधिकारियों की नियुक्ति करता था। कभी-कभी तर्फदारों को मन्त्री का पद भी दिया जाता था। बाद के समय में जब राज्य और अधिक विस्तृत हो गया तब राज्य के वजीर महमूद गवाँ के समय में प्रान्तों की संख्या चार से बढ़ाकर आठ कर दी गयी। महमूद गवाँ ने प्रान्तीय सूबेदारों की शक्ति को कम करने का प्रयत्न किया और प्रत्येक प्रान्त में कुछ भू-क्षेत्र को सुल्तान की भूमि घोषित कर दिया जिसकी व्यवस्था सुल्तान के कर्मचारी करते थे। प्रान्त या अतरफ सरकारों में विभाजित किये गये थे और सरकार परगनों में। शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थे।

राज्य का प्रधान सुल्तान था जो राज्य में कानून बनाने, उन्हें लागू करने और न्याय का सबसे बड़ा अधिकारी था। उसकी शक्तियों की कोई सीमा न थी और कुछ सुल्तान तो अपने आपको 'पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि' पुकारते थे। परन्तु व्यवहार में सुल्तान की शक्तियाँ शक्तिशाली सरदारों और मन्त्रियों की शक्तियों और सलाह से सीमित होती थीं।

शासन में सुल्तान की सहायता के लिए मन्त्री हुआ करते थे। प्रधानमन्त्री को वकील-उस-सल्तनत, अर्थ मन्त्री को अमीर-ए-जुमला और विदेश-मन्त्री को वजीर-ए-अशरफ पुकारते थे। दो अन्य मन्त्री, वजीर-ए-कुल और पेशवा थे, परन्तु उनका उत्तरदायित्व निश्चित नहीं था। कभी-कभी प्रान्तीय तर्फदारों को भी मन्त्री का पद दे दिया जाता था। सुल्तान के पश्चात् राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश सद्र-ए-जाहर कहलाता था। वह न्याय के अतिरिक्त, राज्य की ओर से दिये जाने वाले दान और धार्मिक कार्यों की देखभाल भी करता था।

बहमनी राज्य को पड़ोसी हिन्दू राज्यों से निरन्तर संघर्ष करना पड़ता था जिसके कारण एक बड़ी स्थायी सेना रखना उसकी आवश्यकता थी। सुल्तान के पश्चात् सेना का सबसे बड़ा अधिकारी अमीर-उल-उमरा कहलाता था। सुल्तान अपने व्यक्तिगत अंगरक्षक रखता था जो खास-ए-खेल कहलाते थे। बहमनी राज्य की सेना में हाथी, घुड़सवार और पैदल सेना के अलावा तोपखाना भी था। सुल्तान शिहाबुद्दीन अहमद प्रथम ने सेना में मनसबदारी-प्रथा को आरम्भ किया था और अपने मनसबदारों को उनकी सेनाओं के व्यय के लिए उनके मनसब के अनुकूल जागीरें प्रदान की थीं। असैनिक अधिकारियों को भी उनके वेतन निश्चित करने के लिए मनसब दिये गये थे। परन्तु जागीरदार अथवा मनसबदारों को केन्द्रीय सरकार को अपनी आय और व्यय का विवरण देना पड़ता था। किलों की देखभाल करने वाले अधिकारी किलेदार भी केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी थे।

सुल्तान, मनसबदार और सरदार सभी विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे जिससे यह अनुमान होता है कि बहमनी राज्य आर्थिक दृष्टि से एक सम्पन्न राज्य था। परन्तु जन-साधारण की स्थिति क्या थी, इसके बारे में कुछ पता नहीं लगता। भारत के अन्य भागों की भाँति, सम्भवतया, साधारण व्यक्ति सादा जीवन व्यतीत करते थे।

बहमनी राज्य ने दक्षिणी भारत में मुस्लिम संस्कृति के प्रसार में सहायता दी। इस्लाम धर्म के अनुयायी एक बड़ी संख्या में विदेशों और उत्तरी भारत से जाकर वहाँ बसे। विभिन्न सुल्तानों ने मुसलमान विद्वानों और धर्म-प्रचारकों को संरक्षण प्रदान किया। बहमनी राज्य के विघटन के पश्चात् भी जो मुसलमान-राज्य इस क्षेत्र में बने उनके शासकों ने भी मुसलमान विद्वानों, सन्तों, कलाकारों आदि को संरक्षण दिया, शिक्षा के लिए मदरसों की स्थापना की तथा कलात्मक इमारतों का निर्माण कराया और इस प्रकार, दक्षिणी भारत में इस्लाम की संस्कृति को फैलाने में सहयोग दिया। हिन्दू राज्यों से संघर्ष होने के कारण भी बहमनी राज्य को दक्षिणी भारत में इस्लाम को राजनीतिक और सांस्कृतिक नेतृत्व प्रदान करना पड़ा।

इस प्रकार, बहमनी राज्य ने एक लम्बे समय तक दक्षिणी भारत की राजनीति और संस्कृति में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

## [ 10 ]

## विजयनगर राज्य (दक्षिणी भारत)

**राजनीतिक इतिहास**—भारत के दक्षिणी-पश्चिमी तट पर विजयनगर राज्य की स्थापना करने का श्रेय हरिहर और बुक्का नाम के दो भाइयों को था। ये कम्पिली

राज्य में मन्त्री थे। मुहम्मद तुगलक ने जब कम्पिली को विजय किया तब हरीहर और बुक्का को पकड़कर दिल्ली ले जाया गया और उन्हें मुसलमान बना लिया गया। कम्पिली में विद्रोह होने के अवसर पर मुहम्मद तुगलक ने उन्हें वहाँ दिल्ली की सत्ता को स्थापित करने के लिए भेजा। वे उस कार्य में सफल न हुए और अन्त में एक सन्त विद्यारण्य के प्रभाव में आकर वे मुसलमान से पुनः हिन्दू बनने के लिए तैयार हो गये। कापय नायक और वीर बल्लाल तृतीय की मुसलमानों के विरुद्ध सफलता को देखकर उन्होंने भी हिन्दू-आन्दोलन का नेतृत्व करने का निश्चय किया। विद्यारण्य ने अपने गुरु और शृंगेरी के मठाधीश विद्यातीर्थ को हिन्दू बनाने के लिए तैयार कर लिया और वे हिन्दू हो गये। 1336 ई. में हरीहर ने हम्पी-हस्तिनावती राज्य की नींव डाली। उसी वर्ष उसने विजयनगर का नवीन नगर बसाया। यही राज्य बाद में विशाल विजयनगर-राज्य बना और विजयनगर (विद्यानगर) उसकी राजधानी बना।

हरीहर प्रथम (1336-1356 ई.) इस राज्य का प्रथम शासक हुआ। उसकी पहली राजधानी अनेगोन्दी थी। सात वर्ष के पश्चात् उसने विजयनगर को अपनी राजधानी बनाया। पड़ोस के वारंगल राज्य का संस्थापक कापय नायक, उसका मित्र प्रोलय वेम और वीर बल्लाल तृतीय उसके विरुद्ध थे तथा देवगिरि का सूबेदार कुतुलुगखाँ भी उसके राज्य की स्थापना को पसन्द नहीं करता था। परन्तु हरीहर एक योग्य शासक सिद्ध हुआ। उसने बादामी, उदयगिरि और गूटी के दुर्गों को दृढ़ किया, कृषि की उन्नति का प्रयत्न किया तथा एक व्यवस्थित शासन स्थापित किया। उसके राज्य के निकट बल्लाल तृतीय का राज्य था परन्तु बल्लाल मदुरा को जीतने के प्रयत्न में लगा हुआ था जिसके कारण हरीहर ने उसकी पूर्वी सीमाओं के क्षेत्रों को जीत लिया। 1342 ई. में वीर बल्लाल को मदुरा के सुल्तान ने धोखे से मार दिया और उसका पुत्र विरुपाक्ष अथवा बल्लाल चतुर्थ अयोग्य निकला जिसके कारण हरीहर ने होयसल राज्य को अपने राज्य में मिलाने में सफलता प्राप्त की। उसके पश्चात् उसने कदम्ब राज्य को जीता और मदुरा के सुल्तान को परास्त किया। इस प्रकार हरीहर ने एक सुदृढ़ और विस्तृत राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की। उसने अपने राज्य में एक श्रेष्ठ शासन भी स्थापित किया जो अन्त तक विजयनगर राज्य के शासन का आधार बना रहा। हरीहर के पिता का नाम संगम था। इस कारण उसका राजवंश संगम-राजवंश कहलाया। 1356 ई. में हरीहर की मृत्यु हो गयी।

हरीहर की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई बुक्का सिंहासन पर बैठा। बुक्का ने अपने राज्य के सरदारों की स्वतन्त्र प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया, शासन का केन्द्रीकरण किया और तमिलनाडु राज्य को विजयनगर-राज्य में सम्मिलित कर लिया। उसने वारंगल के राजा से एक समझौता करके बहमनी शासक मुहम्मदशाह प्रथम पर दबाव डाला और उससे कृष्णा-तुंगभद्रा के दोआब की माँग की। उस समय से बहमनी और विजयनगर राज्यों का संघर्ष आरम्भ हुआ। वास्तव में दोनों राज्य दक्षिणी भारत में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करना चाहते थे। इस कारण इनमें संघर्ष स्वाभाविक था। बुक्का के समय कृष्णा नदी को बहमनी और विजयनगर राज्य की सीमा मान लिया गया। बुक्का की एक महान् विजय मदुरा के मुसलमानी राज्य की थी जिसके कारण उसका राज्य सुदूर दक्षिण में रामेश्वरम् तक फैल गया। इस प्रकार बुक्का ने हरीहर से प्राप्त राज्य को और अधिक विस्तृत किया। वह एक योग्य शासक था। धार्मिक

दृष्टि से उसने हिन्दू धर्म की सुरक्षा का दावा किया और 'वेद-मार्ग-प्रतिष्ठापक' की उपाधि ग्रहण की परन्तु उसने जैन, बौद्ध, ईसाई तथा मुसलमान आदि सभी को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता दी जो अन्त तक विजयनगर राज्य की नीति बनी रही। उसने वेद और अन्य धार्मिक ग्रन्थों की नवीन टीकाएँ लिखवायीं तथा तेलुगु साहित्य को प्रोत्साहन दिया। 1377 ई. में बुक्का की मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हरीहर द्वितीय (1377-1404 ई.) सिंहासन पर बैठा। हरीहर द्वितीय ने महाराजाधिराज की उपाधि ग्रहण की। उसने कनारा, मैसूर, त्रिचनापली, कांची आदि प्रदेशों को जीता और श्रीलंका के राजा से राजस्व वसूल किया। बहमनी राज्य से उसका भी संघर्ष हुआ। 1377 ई. में सुल्तान मुजाहिद ने उसके राज्य पर आक्रमण किया। परन्तु मुजाहिद को सफलता नहीं मिली और वापस आते हुए मार्ग में उसका वध कर दिया गया। उसकी मृत्यु से उत्पन्न अव्यवस्था से लाभ उठाकर हरीहर ने कोंकण और उत्तरी कर्नाटक पर आक्रमण किया। उसने गोआ को भी जीत लिया। बहमनी सुल्तान मुहम्मदशाह द्वितीय और तदुपरान्त सुल्तान फीरोजशाह ने विजयनगर से रायचूर दोआब को छीनने का प्रयत्न किया परन्तु सफलता न मिली। इस प्रकार हरीहर ने अपने उत्तराधिकारी के लिए एक बड़ा साम्राज्य छोड़ा। वह एक महान् योद्धा और सफल शासक सिद्ध हुआ। 1404 ई. में हरीहर द्वितीय की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में संघर्ष हुआ तथा विरुपाक्ष प्रथम और बुक्का द्वितीय ने क्रमशः सिंहासन को प्राप्त किया परन्तु अन्त में 1406 ई. में देवराय प्रथम शासक बना। देवराय प्रथम के समय में बहमनी शासक फीरोजशाह ने विजयनगर पर आक्रमण किया परन्तु कोई विशेष लाभ प्राप्त न कर सका। देवराय ने अपनी घुड़सवार-सेना को शक्तिशाली बनाया और तुर्की धनुर्धरों को अपनी सेना में भर्ती किया। उसके अन्तिम दिन शान्ति से व्यतीत हुए और विजयनगर दक्षिणी भारत में विद्या का केन्द्र बन गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् 1422 ई. में उसका पुत्र रामचन्द्र सिंहासन पर बैठा। परन्तु उसने केवल कुछ माह शासन किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई विजय गद्दी पर बैठा। उसने 1422-1430 ई. तक शासन किया परन्तु उसके समय में शासन का उत्तरदायित्व उसके पुत्र देवराय पर था जो अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् शासक बना। देवराय द्वितीय ने 1446 ई. तक राज्य किया। उसके समय में भी बहमनी-राज्य से दो बार कठिन संघर्ष हुआ परन्तु उसका कोई लाभ न निकला। परन्तु उसने आन्ध्र और उड़ीसा के शासकों को परास्त करने में सफलता प्राप्त की। उसने भी तुर्की धनुर्धरों को अपनी सेना में भर्ती किया। उसी समय में इटली का एक यात्री निकोली कोण्टी तथा ईरान का राजदूत अब्दुर रज्जाक विजयनगर आये जिन्होंने उस राज्य के वैभव और ऐश्वर्य के बारे में बहुत कुछ लिखा। देवराय द्वितीय के पश्चात् उसका भाई विजय द्वितीय (1446-1447 ई.) शासक बना परन्तु उसने शीघ्र अपने भतीजे और देवराय द्वितीय के पुत्र मल्लिकार्जुन (1446-1465 ई.) के पक्ष में सिंहासन छोड़ दिया। उसके समय में उड़ीसा और बहमनी राज्यों ने विजयनगर पर आक्रमण किया। यद्यपि मल्लिकार्जुन ने साहसपूर्वक उनका मुकाबला किया परन्तु उड़ीसा ने उससे कोण्डावीदू और उदयगिरि नामक दो महत्वपूर्ण किले छीनने में सफलता प्राप्त की। सम्भवतया, 1465 ई. में उसके चचेरे भाई वीरुपाक्ष ने उसका और राजवंश के अन्य अनेक व्यक्तियों का वध करके सिंहासन पर अधिकार कर लिया। वीरुपाक्ष

द्वितीय ने नाजायज तरीके से सिंहासन पर अधिकार किया था। इस कारण प्रान्तीय सरदारों ने उसके आधिपत्य को मानने से इन्कार कर दिया और विजयनगर-राज्य दुर्बल हो गया। उस समय बहमनी-राज्य ने विजयनगर से गोआ, कोंकण और उत्तरी कर्नाटक छीन लिया। उड़ीसा के शासक ने भी उसके राज्य के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। इन परिस्थितियों में चन्द्रगिरि के सरदार नरसिंह सालुव ने राज्य की रक्षा की। वीरूपाक्ष द्वितीय की अयोग्यता उसके वंश के पतन का कारण बनी। 1485 ई. में उसके एक पुत्र ने उसका वध कर दिया परन्तु सिंहासन उसके अपने छोटे भाई प्रोधा देवराय को दिया। परन्तु शीघ्र ही नरसिंह सालुव ने उसे हटाकर 1485 ई. में सिंहासन पर अधिकार कर लिया और सालुव-वंश के राज्य की नींव डाली।

नरसिंह सालुव अपने वंश का एकमात्र शासक हुआ। यद्यपि वह रायचूर-दोआब को बहमनी राज्य से और विजयगिरि को उड़ीसा राज्य से छीन सका परन्तु उसने प्रान्तीय सूबेदारों को अपने अधीन करके राज्य को खण्डित होने से बचा लिया। 1490 ई. में उसकी मृत्यु के अवसर पर उसके दोनों पुत्र अल्पायु थे। इस कारण उसने नरस नायक को उनका संरक्षक नियुक्त किया। नरस नायक ने उसके बड़े पुत्र तिम्मा को सिंहासन पर बैठा दिया परन्तु शासन सत्ता का स्वयं उपभोग करता रहा। 1503 ई. में नरस नायक की मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र नरसिंह ने तिम्मा को मरवा दिया और 1505 ई. में स्वयं सिंहासन पर अधिकार करके तुलुव-राजवंश की नींव डाली।

वीर नरसिंह तुलुव ने 1509 ई. तक शासन किया। यद्यपि उसका शासन-काल काफी कम रहा परन्तु तब भी उसने सेना को सुसंगठित किया, अपने नागरिकों को युद्धप्रिय बनाया, पुर्तगाली गवर्नर आल्मीडिया से उसके द्वारा लाये गये सभी घोड़ों को खरीदने के लिए एक समझौता किया, विवाह-कर हटाकर एक उदार नीति को आरम्भ किया और सफलतापूर्वक बहमनी-राज्य के आक्रमणों का मुकाबला किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई कृष्णदेवराय (1509-1529 ई.) सिंहासन पर बैठा। उसके समय में विजयनगर राज्य ऐश्वर्य और शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच गया। उस समय तक बहमनी-राज्य पाँच राज्यों में विभाजित हो गया था परन्तु वे सभी मुसलमान शासक विजयनगर के शत्रु थे। इस कारण उसका मुख्य संघर्ष उन राज्यों से हुआ। वह एक महान् योद्धा और सेनानायक था। उसके सिंहासन पर बैठते ही बहमनी शासक महमूदशाह, जिसका राज्य छोटा हो गया था परन्तु तब भी उसे बहमनी-सुल्तान माना जाता था, ने विजयनगर के विरुद्ध जिहाद (धर्म युद्ध) घोषित किया और विजयनगर पर आक्रमण किया। कृष्णदेवराय ने उसकी सेना को परास्त ही नहीं किया बल्कि दूर तक उसका पीछा भी किया। बीजापुर का शासक युसुफ आदिलखाँ इस युद्ध में मारा गया, रायचुर के किले तथा कृष्णा-तुंगभद्रा दोआब पर विजयनगर का अधिकार हो गया और बीदर के किले को भी जीत लिया गया यद्यपि महमूदशाह को पुनः बहमनी शासक बनाकर कृष्णदेवराय वापस आ गया। कृष्ण-देवराय का बीदर में महमूदशाह को सुल्तान बनाने का आशय मुसलमानी राज्यों को विभाजित करना था। उसके पश्चात् कृष्णदेवराय ने वारंगल पर अधिकार किया और उड़ीसा के राजा से उदयगिरि और कोण्डावीदू के किलों को जीत लिया। उसने

गोलकुण्डा की आक्रमणकारी सेना को परास्त किया और बीजापुर की आक्रमणकारी सेना को उसने परास्त ही नहीं किया बल्कि उसका पीछा करके उसकी राजधानी गुलबर्गा पर अधिकार कर लिया यद्यपि मुहम्मदशाह द्वितीय के सबसे बड़े पुत्र को सिंहासन देकर वह वापस आ गया। इस प्रकार उसने अपने सभी शत्रुओं को परास्त किया। उसने उनके द्वारा छीनी गयी विजयनगर की भूमि और किलों को पुनः जीता तथा साम्राज्य का विस्तार किया। कृष्णदेवराय ने जिस युद्ध में भाग लिया उसे उसने विजय किया। उसने नागल्लपुर का एक नवीन नगर बसाया, राज्य में अनेक 'मण्डप' और 'गोपुरम' बनवाये तथा विजयनगर को सुन्दर बनाया। उसके समय में ललित-कलाओं तथा साहित्य—मुख्यतया तेलुगु साहित्य—की प्रगति हुई। वह कलाकारों और विद्वानों को संरक्षण प्रदान करता था। उसके समय में विजयनगर शान्ति, व्यवस्था, शक्ति तथा समृद्धि की चरम सीमा पर पहुँच गया। बाबर ने भी अपनी आत्मकथा में कृष्णदेवराय को भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली शासक बताया था।

कृष्णदेवराय की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई अच्युतराय (1530-1542 ई.) सिंहासन पर बैठा। परन्तु वह एक दुर्बल शासक सिद्ध हुआ। उसके पश्चात् उसका भतीजा सदाशिवराय सिंहासन पर बैठा। वह भी अयोग्य था और उसके समय में शासन-सत्ता का वास्तविक प्रयोग उसका मन्त्री रामराय करता था। रामराय एक योग्य कूटनीतिज्ञ था। उसने बहमनी-राज्य के खण्डों से बने हुए पाँच मुसलमानी राज्यों में परस्पर फूट डालने और एक दूसरे के विरुद्ध सहायता देने की नीति अपनायी। परन्तु अन्त में इन मुसलमानी राज्यों ने धर्म के आधार पर एक संयुक्त मोर्चा बना लिया तथा बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा और बीदर की सम्मिलित सेनाओं ने विजयनगर पर आक्रमण किया। 23 जनवरी, 1565 ई. को तालीकोटा का युद्ध हुआ उसमें विजयनगर की सेना परास्त हुई और मुसलमानों ने विजयनगर शहर को बरबाद कर दिया।

तालीकोटा का युद्ध और विजयनगर का विध्वंस विजयनगर-राज्य के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ। परन्तु तब भी रामराय के भाई तिरुमाल ने पैनुगोंड़ा को अपनी राजधानी बनाकर विजयनगर के अस्तित्व को बनाकर रखा। 1570 ई. में उसने सदाशिव को सिंहासन से हटाकर अपने अरविंदु-वंश के शासन की नींव डाली। तिरुमाल के पश्चात् उसका पुत्र रंग द्वितीय शासक हुआ और तत्पश्चात् उसका भाई वेंकट। उसके समय में विजयनगर का राज्य नष्ट होने लगा। उसका अन्तिम शासक रंग तृतीय हुआ जिसके समय में मैसूर, बेदनूर, मदुरा, तंजौर आदि अन्तिम स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ और विजयनगर राज्य नष्ट हो गया।

**मूल्यांकन**

विजयनगर राज्य दक्षिणी भारत में मुसलमान-राज्यों के विरुद्ध हिन्दुओं के राजनीतिक संघर्ष का एक सफल परिणाम था। इस राज्य के संस्थापक हरीहर और बुक्का ने सन्त विद्यारण्य के प्रोत्साहन से हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए उसकी स्थापना की थी। इस उद्देश्य की पूर्ति में उन्हें सफलता भी मिली। निस्सन्देह, विजयनगर के शासकों ने उड़ीसा, वारंगल आदि के हिन्दू शासकों से भी युद्ध किये और इन युद्धों में उनका उद्देश्य राजनीतिक था परन्तु उनके मुख्य शत्रु बहमनी-राज्य अथवा उसके खण्डों से बने अन्य मुसलमान राज्य ही रहे। विजयनगर और बहमनी साम्राज्यों के पार-

स्परिक संघर्ष के कारण राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तीनों ही थे। राजनीतिक संघर्ष का कारण दोनों राज्यों का कृष्णा-तुंगभद्रा-दोआब पर अपना अधिकार करना था जो दोनों राज्यों की सीमा पर था। आर्थिक दृष्टि से दो नदियों से बना यह दोआब न केवल कृषि की दृष्टि से उपजाऊ था अपितु यहाँ खनिज पदार्थों में लोहा प्राप्त था तथा हीरों की खानें भी थीं। इस कारण दोनों राज्य इसे प्राप्त करने में आर्थिक लाभ मानते थे। सांस्कृतिक दृष्टि से जबकि बहमनी-राज्य इस्लाम धर्म और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करना था, विजयनगर हिन्दू धर्म और संस्कृति का केन्द्र था। इस अन्तर का लाभ भी दोनों राज्यों के शासकों ने अपने हितों की पूर्ति के लिए उठाया बल्कि इसी अन्तर को अपनी पारस्परिक शत्रुता का मुख्य कारण बना लिया। इसी कारण अर्थ और राजनीति के अतिरिक्त बहमनी और विजयनगर राज्य के लम्बे संघर्ष का एक कारण जहाँ एक तरफ मुसलमान राज्यों का हिन्दू सत्ता को दक्षिणी भारत से नष्ट कर देने का प्रयत्न था वहाँ दूसरी तरफ विजयनगर के शासकों का हिन्दू राज्य और हिन्दू संस्कृति की रक्षा करने का प्रयत्न था और एक लम्बे समय तक विजयनगर राज्य ने इस कार्य की पूर्ति करने में सफलता प्राप्त की।

शासन की दृष्टि से विजयनगर-शासकों की व्यवस्था हिन्दू परम्परा के अनुसार थी। उसमें राजा शासन का प्रधान और उसमें देवत्व का अंश माना जाता था। वह कानून-निर्माण, शासन-व्यवस्था, न्याय, सैन्य-संचालन, आदि में सभी का प्रधान था। परन्तु विजयनगर के शासक न निरंकुश थे और न स्वेच्छाचारी। उनकी सहायता के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होती थी और अनेक अवसरों पर राजा के लिए मन्त्रि-परिषद की राय मान्य होती थी। सभी शासक धर्म के अनुसार अपनी प्रजा की भलाई करना अपना प्रमुख उद्देश्य मानते थे। राजा की सहायता के लिए अन्य अनेक पदाधिकारी और शासन के विभिन्न विभाग होते थे जहाँ हजारों असैनिक अधिकारी कार्य करते थे। विजयनगर राज्य छः प्रान्तों में बँटा हुआ था जहाँ प्रान्तपति अथवा नायक प्रधान होता था। वे अधिकांशतया राजा के सम्बन्धी होते थे और उनके अधिकार विस्तृत थे। प्रान्त अन्य छोटी इकाइयों में विभक्त होते थे। प्रान्तों को मण्डलों में विभाजित किया गया था तथा मण्डलों को और छोटी इकाइयों में जिन्हें नाडू स्थल, कोट्टम आदि पुकारते थे। कुछ विद्वानों ने विजयनगर-साम्राज्य के शासन की एक मुख्य विशेषता अन्य क्षेत्रों से भिन्न जागीरदारी-व्यवस्था को बताया है। उनके अनुसार राजा अपने जागीरदारों को एक निश्चित भूमि दे देता था। उस भूमि को अमरम पुकारते थे। ऐसी भूमियों के स्वामियों अथवा जागीरदारों को अमर-नायक पुकारते थे। वे राजा को प्रति वर्ष एक निश्चित धन-राशि देते थे और युद्ध के अवसर पर उसकी सहायता के लिए अपने पास एक निश्चित संख्या में सैनिक भी रखते थे। धीरे-धीरे इन नायकों का अधिकार अपनी भूमियों पर पैतृक हो गया था। 16वीं सदी के मध्य में इनकी संख्या 2,000 के लगभग हो गयी। इनकी एक मुख्य विशेषता यह थी कि प्रान्तपतियों की तुलना में वे अपने आन्तरिक शासन में अधिक मात्रा में स्वतन्त्र थे। शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थे जहाँ पंचायतें कार्य करती थीं। यद्यपि उनके अधिकार सीमित थे। गाँव के कुछ पृथक् अधिकारी थे। गाँव के इन अधिकारियों के अधिकार पैतृक थे। सेन्तयव नामक अधिकारी गाँव की आय और व्यय की देखभाल करता था, तलरा गाँव की चौकीदारी करता था और बेगरा मजदूरों और उनके वेतन, बेरोजगार व्यक्तियों आदि की देखभाल करता था।

इसके अतिरिक्त प्रशासन के लिए विभिन्न क्षेत्रों में बारह प्रशासकीय अधिकारी नियुक्त किये गये थे जिनको सामूहिक रूप से अयागार पुकारते थे। उनको वेतन नहीं मिलता था परन्तु उनकी सेवाओं के बदले में उनको राज्य के करों से मुक्त रखा गया था। उनके प्रशासकीय अधिकार और कर्तव्य भी निश्चित कर दिये गये थे। लगान, सिंचाई-कर, चरागाह-कर, व्यापारिक-कर आदि राज्य की आय के मुख्य साधन थे। किसानों से पैदावार का 1/5 भाग अथवा उससे कुछ अधिक लगान के रूप में लिया जाता था। विजयनगर-राज्य में एक विशाल सेना थी। घुड़सवार, पैदल और हाथी उसके मुख्य अंग थे। तुर्की धनुर्धरों का प्रयोग भी उन्होंने किया था। राजाओं ने तोपखाना भी रखा था परन्तु वह बहुत श्रेष्ठ न था। सैनिक-प्रशासन के लिए एक पृथक् विभाग था। सैनिक विभाग के प्रधान को दण्डनायक या सेनापति पुकारते थे। विजयनगर के शासकों ने सोना, चाँदी, ताँबा, आदि धातुओं के सभी प्रकार से सिक्के चलाये थे। विभिन्न देवी-देवताओं की आकृतियों को भी सिक्कों पर अंकित किया गया था। विजयनगर के शासकों का दण्डविधान कठोर था। मृत्यु-दण्ड, अंग-विच्छेद और सम्पत्ति का जब्त कर लिया जाना मुख्य दण्ड थे। विजयनगर के शासक हिन्दू धर्म के वैष्णव सम्प्रदाय को मानने वाले थे परन्तु उन सभी ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पालन किया। उनके राज्य में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि सभी के प्रति समान व्यवहार किया जाता था। इस प्रकार विजयनगर के शासकों ने एक व्यवस्थित शासन की स्थापना की थी। परन्तु उनके सैनिक संगठन में दुर्बलता रही। मुख्यतया उनका तोपखाना दुर्बल रहा। इसके अतिरिक्त उनके प्रान्तीय सूबेदारों और अमर-नायकों को बहुत अधिक विस्तृत अधिकार थे जिसके कारण वे केन्द्रीय शासन के दुर्बल होने पर स्वतन्त्र हो गये।

विजयनगर राज्य में सामाजिक व्यवस्था सुगठित थी। स्त्रियों का समाज में सम्मान था। वे सभी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करती थीं और राज्य सेवा में उनको स्थान प्राप्त होता था। वे संगीत, नृत्य जैसी ललित-कलाओं के अतिरिक्त शस्त्र-विद्या में भी भाग लेती थीं। स्त्री-अंगरक्षक भी रखे जाते थे। अनेक विदुषी स्त्रियों को दरबार में स्थान प्राप्त था। परन्तु अल्पायु-विवाह, धनी व्यक्तियों में बहु-विवाह, दहेज-प्रथा, सती-प्रथा देवदासी-प्रथा आदि प्रथाएँ समाज में प्रचलित थीं। परन्तु राज्य ने स्त्रियों की स्थिति में सुधार करने का प्रयत्न किया था। इसके दो स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। बाल-विवाह के कारण समाज में दहेज-प्रथा प्रचलित हो गयी थी। इस कारण ब्राह्मणों ने राज्य से माँग की कि दहेज-प्रथा को गैर-कानूनी घोषित किया जाय। राज्य ने इसे स्वीकार कर लिया। यह 1424-25 ई. के एक अभिलेख से प्रमाणित होता है। इसी प्रकार, राज्य विवाह करने पर वर-वधू दोनों पक्षों से विवाह-कर लेता था परन्तु जब कोई व्यक्ति किसी विधवा स्त्री से विवाह करता था तो राज्य दोनों पक्षों में से किसी भी पक्ष से कर नहीं लेता था। इस प्रकार, राज्य ने विधवा-विवाह को प्रोत्साहन दिया था। राज्य ने सती-प्रथा को भी प्रोत्साहन नहीं दिया था यद्यपि उसे गैर-कानूनी भी घोषित नहीं किया था। ब्राह्मणों का समाज में सम्मान था। वे माँस नहीं खाते थे। अन्य जातियों और जन-साधारण में माँस खाना प्रचलित था। यज्ञों में बकरों और भैंसों की बलि दी जाती थी। केवल गो-माँस का निषेध था। व्यक्ति रेशमी और सूती दोनों प्रकार के वस्त्र प्रयोग में लाते थे। पुरुष धोती, कमीज, टोपी या पगड़ी और कन्धों पर दुपट्टा प्रयोग करते थे, जबकि स्त्रियाँ धोती तथा चोली का प्रयोग

करती थीं। धनवान स्त्रियाँ पेटीकोट का भी प्रयोग करती थीं। जूते केवल धनवान व्यक्ति पहनते थे। स्त्री और पुरुष दोनों गहनों का प्रयोग करते थे। राज्य स्वयं शिक्षा का प्रवन्ध नहीं करता था। यह कार्य मन्दिर और मठ करते थे। राज्य ऐसे मन्दिरों और मठों को पूर्ण आर्थिक सहायता देता था। अग्रहार ऐसे विद्यालय थे जो केवल वेदों की शिक्षा प्रदान करते थे।

आर्थिक दृष्टि से विजयनगर एक समृद्धिशाली राज्य था। विभिन्न विदेशी यात्रियों ने उसकी धन-सम्पत्ति की बड़ाई की थी। इटली-निवासी यात्री निकोली कोण्टी, पुर्तगाल-निवासी यात्री डोमिंगोस पेइज और ईरानी-यात्री अब्दुल रज्जाक ने उसकी समृद्धि की अत्यधिक प्रशंसा की। उनके अनुसार केवल राजा ही धनवान न थे बल्कि उनकी प्रजा भी धनवान थी। जन-साधारण भी कानों, गलों, हाथों और उँगलियों में आभूषण पहनते थे। सोने के अतिरिक्त हीरा, मोती जैसे जवाहरातों तथा कीमती पत्थरों के प्रयोग का बहुत अधिक प्रचलन था। खाद्य-पदार्थों से गोदाम भरे रहते थे, किसी वस्तु की कमी न थी और सभी वस्तुओं के मूल्य कम थे। विजयनगर शहर की प्रशंसा सभी यात्रियों ने की थी। निकोली कोण्टी के अनुसार "नगर का घेरा 60 मील का था जिसमें प्राय: 90 हजार व्यक्ति शस्त्र धारण करने के योग्य थे।" बारवोसा ने नगर की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि "नगर बहुत विस्तृत और सघन बसा हुआ था तथा भारतीय हीरों, पेगू के लाल, चीन और एलेक्जेण्ड्रिया की रेशम, सिन्दूर, कपूर, कस्तूरी तथा मलावार की काली मिर्च और चन्दन के व्यापार का मुख्य केन्द्र-स्थान है।"[1] साम्राज्य की एक समृद्धि के लिए विजयनगर के शासक भी उत्तरदायी थे। कृषि, व्यापार तथा उद्योग सभी में उन्नति हुई थी। सिंचाई के साधन उपलब्ध थे और कृषि-योग्य भूमि में विस्तार किया गया था। विजयनगर के शासक सभी धर्मों के प्रति बहुत उदार थे। इस कारण उन्हें सभी सम्प्रदायों का समर्थन भी प्राप्त हुआ। बारवोसा ने राजा कृष्णदेवराय की बहुत प्रशंसा की। उसने लिखा: "राजा धार्मिक मामलों में अत्यधिक उदार है। ईसाई, यहूदी, मुसलमान आदि सभी सम्प्रदायों के व्यक्ति उसके राज्य में आ-जा सकते हैं; कहीं भी निवास कर सकते हैं और स्वतन्त्रता से अपने धर्म का पालन कर सकते हैं।"[2] ईरानी यात्री, अब्दुर रज्जाक ने विजयनगर शहर के बारे में लिखा: "मैंने विजयनगर जैसा नगर न कभी देखा है और न कभी सुना है कि संसार में उसके समान कोई अन्य नगर है। शहर, सुरक्षा के लिए, एक के अन्दर एक सात दीवारों से घिरा हुआ है।"[3] पुर्तगाली यात्री, डोमिंगोस पायस ने भी उसके बारे में लिखा: "यह संसार

---

1 "(The city is) of great extent, highly populous and the seat of an active commerce in country diamonds, rubies from Pegu, silk of China and Alexandria, and cinnabar, camphor, musk, pepper and sandal from Malabar." —Barbosa.

2 "The king is extremely liberal in religious affairs. The Christians, the Yahudis, the Muslims, etc can come and go, live where-ever they like and pursue their religion freely in his kingdom." —Barbosa.

3 "I have never seen a city like Vijayanagara nor ever heard a city in the world like it. The city has been encircled by seven walls, one inside the other, for protection." —Abdur Razzaq.

का सबसे सुन्दर शहर है जहाँ गेहूँ, चावल, जौ, दालें और अन्य सभी वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं ।"[1] उसने पुनः लिखा : "राजा के पास अत्यधिक मात्रा में धन, सैनिक और हाथी हैं क्योंकि यहाँ सभी कुछ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है ......आपको यहाँ सभी देशों के नागरिक मिलेंगे क्योंकि इस नगर के व्यक्ति संसार के सभी देशों से कीमती पत्थरों, मुख्यतया, हीरों का व्यापार करते हैं ।"[2] आन्तरिक व्यापार के अतिरिक्त विजयनगर का व्यापार मलाया, वर्मा, चीन, अरब, ईरान, अफ्रीका, अबीसीनिया और पुर्तगाल से होता था । कपड़ा, चावल, शोरा, चीनी, मसाले, इत्र आदि विदेशों को भेजे जाते थे तथा घोड़े, मोती, तांबा, कोयला, पारा, रेशम आदि विदेशों से मँगाये जाते थे । व्यापार स्थल और जल (समुद्र) दोनों ही मार्गों से होता था और भारतीय पानी के जहाजों का निर्माण करते थे । अब्दुर रज्जाक के अनुसार विजयनगर राज्य में तीन सौ बन्दरगाह थे । विजयनगर राज्य का अपना एक छोटा जल-बेड़ा भी था । वस्त्र, इत्र और धातुओं के बर्तन, आदि बनाना वहाँ के मुख्य उद्योग थे । व्यापार और उद्योगों की देखभाल के लिए व्यापारिक संघ बने हुए थे । इन सभी से राज्य तथा प्रजा सुखी और समृद्ध थी ।

साहित्य और कला की दृष्टि से भी विजयनगर राज्य प्रगतिशील रहा । विभिन्न शासकों ने संस्कृत, तेलुगू, तमिल और कन्नड़ भाषाओं के साहित्य में रुचि ली । इसके प्रारम्भिक काल में ही वेदों के प्रख्यात टीकाकार सायण और उनके भाई माधव विद्यारण्य हुए थे । राजा बुक्का प्रथम ने तेलुगू साहित्य के विकास को प्रोत्साहन दिया था । उसने तेलुगू के महान् कवि नछन सोम को संरक्षण प्रदान किया था । राजा देवराय द्वितीय ने चौंतीस कवियों को संरक्षण दिया था । राजा कृष्णदेवराय ने तेलुगू भाषा को संस्कृत के प्रभाव से मुक्त किया था जिसके कारण तेलुगू भाषा की स्वतन्त्र रचना, प्रबन्ध का निर्माण हो सका । उसके राजदरबार में पेदन्ना को सम्मिलित करते हुए तेलुगू के आठ विख्यात कवि थे । तेलुगू के अतिरिक्त, उसने तमिल और कन्नड़ के विद्वानों को भी संरक्षण प्रदान किया था । इस कारण कृष्णदेवराय के समय में साहित्यिक प्रगति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी । विभिन्न विद्वानों को राज्य-दरबार में सम्मान दिया गया । स्वयं कृष्णदेवराय भी विद्वान था । इस सम्पूर्ण समय में संगीत, नृत्यकला, नाटक, व्याकरण, दर्शन, धर्म आदि सभी पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये । ललित-कलाओं की दृष्टि से चित्रकला, संगीत, नृत्य-कला और स्थापत्य-कला की अद्वितीय प्रगति हुई । विट्ठलस्वामी का मन्दिर तथा कृष्णदेवराय के द्वारा बनवाया गया हजार स्तम्भों वाला मन्दिर हिन्दू स्थापत्य-कला के अद्वितीय नमूने माने गये हैं ।

इस प्रकार विजयनगर राज्य विस्तार, शक्ति, शासन, सम्पन्नता, साहित्य और

---

1 "It is the most beautiful city of the world where wheat, rice, barley, pulses and every other article is available in abundance."
—Domingos Poes

2 "The King has enormous wealth, soldiers and elephants because everything is available here in abundance you will find citizens of every country here because the people of this city carry on trade in precious stones, particularly in diamonds, with every country of the world."
—Domingos Poes.

ललित-कला आदि की प्रगति की दृष्टि से भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका महत्व इस दृष्टि से और भी अधिक हो जाता है कि उसने दक्षिणी भारत में हिन्दू धर्म, सभ्यता और समाज को एक लम्बे समय तक सुरक्षित एवं पल्लवित होने देने में सफलता प्राप्त की। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के शब्दों में "विजयनगर साम्राज्य ने दक्षिण में मुसलमानों के आक्रमणों के विरुद्ध हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की रक्षा करके एक महान् ऐतिहासिक उद्देश्य को पूरा किया।"[1]

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. बहमनी-राज्य के उत्थान और पतन पर एक टिप्पणी लिखिए।
2. विजयनगर-राज्य के उत्थान और पतन के कारणों और परिस्थितियों पर विचार कीजिए।
3. दक्षिणी भारत के इतिहास में विजयनगर-राज्य के राजनीतिक और सांस्कृतिक महत्व को स्पष्ट कीजिए।

---

1 "The Vijyanagar empire served a high historical purpose by acting as a champion of Hindu religion and culture against the aggressions of the Muslims in southern India." —Dr. A. L. Srivastava.

चतुर्थ खण्ड

# मंगोल-आक्रमण और दिल्ली के सुल्तानों की उत्तर-पश्चिम सीमा-नीति

# 18
# उत्तर-पश्चिम सीमा-नीति

जब तक यूरोपियन जातियों ने समुद्री मार्ग से भारत में प्रवेश नहीं किया तब तक भारत की सीमाओं में प्रवेश करने के मार्ग उत्तर-पूर्व अथवा उत्तर-पश्चिम से ही थे। उत्तर पूर्व में आसाम के पहाड़ और जंगल तथा भारी वर्षाग्रस्त क्षेत्र ने भारतीय सीमाओं को बड़ी मात्रा में सुरक्षा प्रदान की। इसके अतिरिक्त तिब्बत, चीन अथवा बर्मा में किसी शक्तिशाली एवं विस्तारवादी साम्राज्य की अनुपस्थिति ने भी सम्पूर्ण मध्य-युग में भारत की उत्तरी तथा उत्तर-पूर्वी सीमाओं को विदेशी आक्रमणों से मुक्त रखा। परन्तु भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थिति इससे पृथक् रही। उत्तर-पश्चिम में हिन्दूकुश के पहाड़ों में खैबर, बोलन, कुर्रम, तोची और गोमल के दर्रे भारत को अफगानिस्तान, मध्य-एशिया तथा ईरान जैसे दूरस्थ प्रदेशों से सम्पर्क की सुविधा प्रदान करते थे। स्थल मार्ग से विदेशों से व्यापार करने के मार्ग भी यही थे और भारत पर विदेशी आक्रमणकारियों को भी यही मार्ग प्रदान करते थे। मध्य-युग तक भारत पर इसी दिशा से आक्रमण हुए। मध्य-एशिया और उससे भी दूरस्थ प्रदेशों में हुई राजनीतिक हलचलें भी इन आक्रमणों का कारण बनीं। इन प्रदेशों में समय-समय पर बर्बर, अर्द्ध-सभ्य अथवा सभ्य जातियों के शक्तिशाली साम्राज्यों का निर्माण एवं उत्थान हुआ। उसकी बढ़ती हुई शक्ति भारत की सीमाओं से भी टकराई, उन्होंने भारत पर आक्रमण किये और यहाँ की राजनीति को प्रभावित किया। ईरानी, यूनानी, हूण, शक, यूची, कुषाण, अरब, तुर्क, मंगोल, मुगल आदि सभी विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा से ही भारत में प्रवेश किया और भारतीय राजनीति को प्रभावित किया।

उन्हीं में से एक जाति मंगोल थी जिसने दिल्ली सल्तनत के युग में भारत पर निरन्तर आक्रमण किये और दिल्ली सुल्तानों की राजनीति को प्रभावित किया। मंगोल चीन के उत्तर में गोबी के रेगिस्तान के निकट घास के मैदान के निवासी थे। वह एक घूमने-फिरने वाली अर्द्ध-सभ्य जाति थी तथा उसका मुख्य पेशा घोड़ों और अन्य पशुओं का पालन था। वे बहुत गन्दे रहते थे और सभी प्रकार का माँस खाते थे। साधारणतया एक मंगोल अत्यधिक आलसी होता था परन्तु आवश्यकता होने पर वह कठिन परिश्रम कर सकता था। एक मंगोल निरन्तर 40 घण्टे तक घोड़े की पीठ पर बैठकर यात्रा कर सकता था। उनमें स्त्री-सम्बन्धी नैतिकता का सर्वथा अभाव था यद्यपि वे माँ का सम्मान करते थे। उनके मुख्य शौक घुड़सवारी, शिकार और शस्त्र-द्वन्द्व थे। वे विभिन्न कबीलों में बँटे हुए थे जिनमें परस्पर शत्रुता रहती थी। उन्हीं कबीलों में से एक

में 1163 ई. में तेमूचिन उर्फ चंगेजखाँ का जन्म हुआ जिसे 'महान्' (Chengiz, the Great) और 'श्रापित' (The Accursed) भी पुकारा गया। उसके पिता येसूगाई बहादुर ने तेमूचिन की माँ और अपनी पत्नी को एक अन्य सरदार से छीन लिया था और मंगोल परम्परा के अनुसार भी वह उसकी जायज पत्नी न थी। तेमूचिन जबकि बहुत छोटा ही था, तभी उसके पिता की मृत्यु हो गयी और उसे, उसकी माँ, भाई और एकमात्र बहिन को प्रतिदिन मजदूरी करके अपना भरण-पोषण करना पड़ा। यही तेमूचिन जिनके बारे में यह विश्वास किया गया था कि वह रक्तरंजित हाथों को लेकर पैदा हुआ था, इतिहास में चंगेजखाँ के नाम से विख्यात हुआ और उसने संसार में सबसे बड़े मंगोल-साम्राज्य की नींव डाली। चंगेजखाँ ने आलसी और असभ्य मंगोल जाति को एक राष्ट्र में संगठित कर दिया। उसने उन्हें एक शक्तिशाली सैनिक अभ्युदल में परिवर्तित किया और पहली बार उनके समाज, न्याय, दण्ड-व्यवस्था, आदि के नियम बनाये। अपने समय में ही उसने चीन के अधिकांश भाग, रूस के दक्षिणी भाग, मध्य-एशिया, टर्की, पर्शिया और अफगानिस्तान के प्रदेशों को जीतकर एक महान् साम्राज्य स्थापित किया। तुर्किस्तान का ख्वारिज्म साम्राज्य तथा बगदाद के खलीफा का राज्य और सम्मान उसके सम्मुख धूल में मिल गये। चंगेजखाँ अपने जीवन में अपराजित रहा और जहाँ-जहाँ भी वह गया, शक्तिशाली से शक्तिशाली शासक एवं राज्य उसकी शक्ति, भय और आतंक के एक झटके से ही खण्डित होते चले गये। जहाँ-जहाँ भी मंगोल गये, उन्होंने सम्पूर्ण जनता और सभ्यता के सभी चिह्नों को नष्ट कर दिया। साइक ने लिखा है कि "इतिहास में भयंकरता और गम्भीर परिणामों की दृष्टि से मंगोल-आक्रमण की तुलना किसी आक्रमण से नहीं की जा सकती।"[1] सदियों तक सम्पूर्ण एशिया और यूरोप में मंगोल-आक्रमणों का भय व आतंक व्याप्त रहा। मंगोलों की शक्ति का मुख्य आधार उनकी घुड़सवार-सेना थी। अकस्मात् आक्रमण करना, द्रुतगति से पीछे हटना, फिर पलटकर आक्रमण करना और भागते हुए घोड़ों की पीठ पर बैठे रहकर पीछा करते हुए शत्रुओं पर पीठ के पीछे भी तीव्रता से तीर चलाते रहना उनकी मुख्य विशेषता थी। मंगोलों की एक मुख्य विशेषता उनकी गतिशीलता थी। उनके साथ अधिक समान नहीं होता था और सम्पूर्ण सेना एक-एक दिन या रात्रि में 20-20 मील या उससे भी अधिक आगे या पीछे हो जाती थी। उनके मुख्य शस्त्र एक भाला, घुड़सवारों को घोड़ों की पीठ से खींचने का एक काँटा, तीर-कमान और तलवार थे। चंगेजखाँ के नेतृत्व ने उन्हें बहुत अच्छा संगठन और नेतृत्व प्रदान किया तथा विभिन्न जातियों से युद्ध करते हुए उन्होंने विभिन्न युद्ध-शैलियो का अनुभव प्राप्त कर लिया जिसके कारण चंगेजखाँ के समय में मंगोल अजेय बन गये और उसके पश्चात् भी 14वीं सदी तक एशिया और यूरोप में आतंक का कारण बने रहे। ऐसी कट्टर, युद्धप्रिय, क्रूर और विश्व-विजेता जाति से दिल्ली सल्तनत को भय हुआ। भाग्य से भारत पर मंगोलों के आक्रमण उस समय में नहीं हुए जबकि वे अपनी शक्ति की चरम सीमा पर थे अन्यथा सम्भवतया दिल्ली सल्तनत और भारत पर तुर्कों की विजय नष्ट हो जाती।

मंगोल-आक्रमण का भय सबसे पहले सुल्तान इल्तुतमिश के समय में उत्पन्न

---

1 "No invasion in historical times can compare in its accumulated horrors or in its far reaching consequence with that of Mongols."
—Sykes.

हुआ जबकि ईरान के युवराज जलालुद्दीन मंगबर्नी का पीछा करता हुआ स्वयं चंगेजखाँ सिन्धु नदी के तट तक पहुँच गया। इल्तुतमिश ने कूटनीति से काम लिया। उसने जलालुद्दीन मंगबर्नी द्वारा भेजे गये राजदूत का वध कर दिया तथा जलालुद्दीन को सहायता और शरण देने से इन्कार कर दिया। ऐसी स्थिति में चंगेजखाँ ने सिन्धु नदी को पार करके दिल्ली सल्तनत की सीमाओं में प्रवेश करने की इच्छा नहीं की और वह अपनी सेना के एक भाग को जलालुद्दीन की गतिविधियों पर नजर रखने के लिए छोड़कर वापस चला गया। सुल्ताना रजिया ने भी मंगोलों के प्रति अपने पिता द्वारा अपनायी गयी नीति का पालन किया। जलालुद्दीन द्वारा छोड़े गये गजनी और बनियान के सूबेदार मलिक हसन कार्लुग को उसने मंगोलों के विरुद्ध सहायता देने से इन्कार कर दिया और इस प्रकार मंगोलों की शत्रुता से अपने राज्य को बचाकर रखा। रजिया की मृत्यु के पश्चात्, सम्भवतया, मंगोलों और दिल्ली सल्तनत का व्यावहारिक समझौता नष्ट हो गया तथा मंगोलों ने सिन्धु नदी को पार करके पंजाब में प्रवेश किया। 1241 ई. में बहादुर ताइर के नेतृत्व में मंगोलों ने लाहौर को लूटा और ध्वस्त किया। 1247 ई. में सली बहादुर के नेतृत्व में मंगोलों ने एक आक्रमण मुल्तान पर किया। वहाँ से बहुत-सा धन लेकर उन्होंने लाहौर पर आक्रमण किया और वहाँ से भी पर्याप्त धन लूटकर वे वापस चले गये। सुल्तान नासिरुद्दीन के समय में भी मंगोलों ने विभिन्न आक्रमण किये। उस समय तक सम्पूर्ण मुल्तान, सिन्ध और पश्चिमी पंजाब मंगोलों के हाथों में चला गया था और नासिरुद्दीन अथवा उसके नाइब बलबन ने इन प्रदेशों को मंगोलों से छीनने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि मंगोल नेता हलाकू से अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया और राजदूतों का आदान-प्रदान किया।

जब बलबन स्वयं सुल्तान बना तब उसने अपनी उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा के लिए कुछ ठोस कदम उठाये। उसी समय मिस्र में हलाकू की पराजय ने मंगोल-शक्ति को एक बड़ा धक्का पहुँचाया जिसके कारण उनके आक्रमणों की भीषणता कम हो गयी। इससे बलबन को भी लाभ हुआ और उसने लाहौर को जीतने में सफलता प्राप्त की। इसके अतिरिक्त, उसने सीमा पर किलों की एक कतार बनायी, प्रत्येक किले में स्थायी रूप से एक बड़ी सेना रखी और योग्य सरदारों को सीमारक्षक के रूप में नियुक्त किया। आरम्भ में कुछ वर्षों तक उसकी सीमा की सुरक्षा का भार उसके चचेरे भाई शेरखाँ को दिया गया जिसे कुछ इतिहासकारों ने एक महान् योद्धा बताया है और उसे मंगोलों के आक्रमणों के विरुद्ध कई युद्धों में सफलता प्राप्त करने का श्रेय प्रदान किया है। परन्तु डॉ. के. ए. निजामी के अनुसार उसका नाम किसी भी महत्वपूर्ण युद्ध में नहीं आया और उसकी वफादारी सन्देहजनक थी जिसके कारण बलबन ने उसे जहर देकर मरवा दिया। शेरखाँ की मृत्यु के पश्चात् उत्तर-पश्चिमी सीमा को दो भागों में बाँट दिया गया। लाहौर, मुल्तान और दिपालपुर का क्षेत्र शाहजादा मुहम्मद को और सुनम, समाना तथा उच्छ का क्षेत्र शाहजादा बुगराखाँ की संरक्षकता में दिया गया तथा प्रत्येक शाहजादे के साथ 18 हजार घुड़सवारों की एक शक्तिशाली सेना रखी गयी। जब बुगराखाँ को बंगाल का सूबेदार बना दिया गया तब शाहजादा मुहम्मद ने सम्पूर्ण सीमा की सुरक्षा का उत्तरदायित्व लिया। शाहजादा मुहम्मद ने कई मंगोल-आक्रमणों को विफल किया परन्तु अन्त में 1286 ई. में अचानक मंगोल सेना द्वारा घिर जाने के कारण वह मारा गया। उसके पश्चात् कैकुबाद को सीमारक्षक नियुक्त किया गया। कैकुबाद योग्य न था परन्तु तब भी दो बार मंगोलों द्वारा हुए आक्रमण ने लूट-मार के अतिरिक्त दिल्ली सल्तनत को अधिक क्षति पहुँचाने में

सफलता नहीं पायी। बलबन के अन्तिम समय में जलालुद्दीन खलजी को सीमारक्षक का पद दिया गया था जो मंगोलों के साधारण आक्रमणों को रोकने में सफल रहा।

इस प्रकार, बलबन ने मंगोल-आक्रमणों के विरुद्ध कुछ ठोस कदम उठाये और सफलता प्राप्त की। सम्भवतया, इसका एक कारण मंगोलों की स्वयं की दुर्बलता थी जो मिस्र में हलाकू की पराजय के कारण उत्पन्न हुई थी। इसके अतिरिक्त, इस समय में मंगोलों के आक्रमण लूट-मार तक ही सीमित रहे। उनका उद्देश्य दिल्ली राज्य की सीमाओं को जीतने का न था। **तब भी सम्पूर्ण तथाकथित गुलाम शासकों के समय में अधिकांशतया व्यास नदी मंगोल और दिल्ली सल्तनत के राज्य की सीमा-रेखा रही।** बलबन भी लाहौर को अपने अधीन करने के अतिरिक्त मंगोल-क्षेत्र में बढ़ने का साहस नहीं कर सका।

1292 ई. में जलालुद्दीन खलजी के समय में हलाकू के एक प्रपौत्र अब्दुल्ला के नेतृत्व में मंगोलों का एक बड़ी सेना ने पंजाब पर आक्रमण किया और सुनम तक पहुँच गया। स्वयं जलालुद्दीन उसका मुकाबला करने के लिए सिन्धु नदी के तट तक गया। बरनी के कथनानुसार जलालुद्दीन ने मंगोलों को परास्त करके वापस जाने के लिए बाध्य किया। परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ था। छुटपुट के आक्रमणों में जलालुद्दीन को सफलता मिली और जब मंगोलों की एक बड़ी टुकड़ी ने सिन्धु नदी को पार करके जलालुद्दीन पर आक्रमण किया तब उसे विफल कर दिया गया और बहुत-से मंगोल पदाधिकारी कैद कर लिये गये। उसके पश्चात् सन्धि की बातचीत हुई जो जलालुद्दीन के लिए अधिक सम्मानजनक न थी। जलालुद्दीन ने मंगोलों को अपने देश में बसने की आज्ञा दे दी। चंगेजखाँ के एक वंशज उलगू ने अपने 4,000 समर्थकों के साथ भारत में रहने का निश्चय किया और उन्होने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया। मंगोल सेना वापस चली गयी। जलालुद्दीन ने अपनी एक पुत्री का विवाह उलगू के साथ कर दिया और उसे तथा उसके साथियों को दिल्ली के निकट बसने की आज्ञा दे दी। ये मंगोल 'नवीन मुसलमान' कहलाये।

**सुल्तान अलाउद्दीन खलजी** के समय में भारत पर मंगोलों के भीषणतम आक्रमण हुए। यद्यपि चंगेजखाँ की मृत्यु के पश्चात् उसके साम्राज्य का बँटवारा हो गया था और पारस्परिक युद्धों के कारण मंगोलों की शक्ति पहले की तुलना में बहुत दुर्बल हो गयी थी परन्तु तब भी मंगोल एशिया में एक बड़ी शक्ति थे। उस समय गजनी और काबुल उनके अधीन थे जिनको आधार बनाकर वे भारत पर सुविधा से आक्रमण कर सकते थे। उस समय में भारत पर विभिन्न मंगोल-आक्रमणों का कारण केवल लूट-मार तक सीमित नहीं रहा बल्कि उन्होंने भारत-विजय अथवा बदले की भावना से आक्रमण किये। 1297-1298 ई. में कादर के नेतृत्व में एक लाख की संख्या में मंगोल सेना ने पंजाब पर आक्रमण करके लाहौर के निकटवर्ती क्षेत्रों को लुटना आरम्भ किया। परन्तु अलाउद्दीन के द्वारा भेजी गयी दिल्ली की सेना ने जफरखाँ और उलगूखाँ के नेतृत्व में मंगोलों को जलन्धर के निकट परास्त किया। प्रायः 20,000 मंगोल युद्ध में मारे गये तथा अनेक पदाधिकारी, सैनिक, स्त्री और बच्चे पकड़कर दिल्ली भेज दिये गये। 1299 ई. में सलदी के नेतृत्व में मंगोलों ने दूसरा आक्रमण किया परन्तु जफरखाँ ने उन्हें परास्त कर दिया और सलदी तथा अनेक मंगोलों को बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया। 1299 ई. में ट्रांस-आक्सियाना के मंगोल शासक दवा नें अपने पुत्र कुतलुग ख्वाजा के नेतृत्व में दो लाख मंगोलों की सेना को सलदी की पराजय और मृत्यु का

बदला लेने के लिए भारत पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इस अवसर पर वे अलाउद्दीन से युद्ध करने के लिए कटिबद्ध होकर आये थे। इस कारण मार्ग में बिना समय नष्ट किये हुए वे दिल्ली के निकट पहुँच गये। कीली के मैदान में अलाउद्दीन ने उनसे युद्ध किया। अलाउद्दीन की दृढ़ता और जफरखाँ के शौर्य से पहले दिन के युद्ध में ही मंगोल प्रभावित हो गये। जफरखाँ युद्ध में मारा गया परन्तु मंगोल रात्रि को ही 30 कोस वापस लौट गये और तत्पश्चात् भारत से चले गये। मंगोलों का चौथा आक्रमण उस समय हुआ जबकि अलाउद्दीन चित्तौड़ के युद्ध से वापस ही लौटा था और उसकी एक बड़ी सेना तेलंगाना पर आक्रमण करने के लिए गयी हुई थी। मंगोल नेता तार्गी ने 1,20,000 घुड़सवार लेकर दिल्ली पर आक्रमण किया। अलाउद्दीन को सीरी के किले में शरण लेनी पड़ी और मंगोलों ने उसे घेर लिया। परन्तु दो महीने के घेरे के पश्चात् विफल होकर मंगोल दिल्ली की सड़कों और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों को लूटकर वापस चले गये। इस आक्रमण ने अलाउद्दीन को सचेत कर दिया। उसने सीरी के किले को दृढ़ किया, उसीं को अपनी राजधानी बनाया, दिल्ली के किले की मरम्मत करायी, उत्तर-पश्चिम के पुराने किलों की मरम्मत करायी, कुछ नवीन किले बनवाये, उन किलों में स्थायी सेना रखी तथा सीमान्त प्रदेश की रक्षा के लिए एक पृथक् सेना और एक पृथक् सूबेदार (सीमारक्षक) नियुक्त किया। इसके अतिरिक्त, उसने अपनी सेना की संख्या बढ़ायी और उसमें नवीन सुधार किये। 1305 ई. में अलीबेग और तार्तक के नेतृत्व में मंगोलों की सेना ने पुनः आक्रमण किया। पिछले आक्रमण का नेता तार्गी भी उनके साथ सम्मिलित हो गया। सीमा के किलों को छोड़कर मंगोल अमरोहा तक पहुँच गये। मलिक काफूर और गाजी मलिक ने वापस जाती हुई मंगोल सेना पर आक्रमण किया। तार्गी एक युद्ध में पहले ही मारा जा चुका था और इस अवसर पर अलीबेग और तार्तक को बन्दी बना लिया गया तथा उनके सिरों को काट कर सीरी के किले की दीवार में चिनवा दिया गया। इस युद्ध के पश्चात् गाजी मलिक को सीमारक्षक बनाया गया। 1306 ई. में अलीबेग और तार्तक की मृत्यु का बदला लेने के लिए मंगोलों ने पुनः आक्रमण किया। उनकी एक सेना कबक के नेतृत्व में मुल्तान होती हुई रावी नदी की ओर बढ़ी तथा एक अन्य सेना इकबालमन्द और तई-बू के नेतृत्व में नागौर की ओर बढ़ी। मलिक काफूर ने कबक को रावी तट पर परास्त करके कैद कर लिया और उसके पश्चात् नागौर की ओर बढ़ती हुई सेना पर आक्रमण किया। मंगोलों की वहाँ पर भी पराजय हुई और वे भाग गये। कबक के साथ-साथ प्रायः 50 हजार मंगोलों को पकड़कर दिल्ली लाया गया जहाँ पुरुषों को कत्ल कर दिया गया तथा स्त्री और बच्चों को गुलाम बनाकर बेच दिया गया। यह अलाउद्दीन के समय में मंगोलों का अन्तिम आक्रमण था। इस प्रकार, अलाउद्दीन ने मंगोल आक्रमणों के विरुद्ध सफलता प्राप्त की। 1307 ई. में दवाखाँ की मृत्यु हो जाने के कारण मंगोलों की आक्रमणकारी शक्ति दुर्बल हो गयी और अलाउद्दीन के अन्तिम वर्षों में भारत पर मंगोलों के आक्रमण नहीं हुए। अलाउद्दीन का सैन्य-संगठन और सीमा की सुरक्षा के लिए किये गये प्रयत्न इसके लिए बहुत बड़ी मात्रा में उत्तरदायी थे। फरिश्ता तथा बरनी के कथनानुसार सीमा-रक्षक मलिक गाजी ने काबुल, गजनी और कन्धार तक आक्रमण किये तथा मंगोलों की सीमा के अन्तर्गत क्षेत्र में लूटमार की और कर वसूल किया जिसके कारण मंगोलों की आक्रमणकारी शक्ति नष्ट हो गयी।

अलाउद्दीन के पश्चात् मंगोलों के बहुत गम्भीर आक्रमण नहीं हुए। गियासुद्दीन

तुगलक के समय में हुए एक आक्रमण को विफल कर दिया गया। मुहम्मद तुगलक के समय में 1327 ई. में मंगोल नेता तार्माशीरीन ने मुल्तान तथा लाहौर से लेकर बदायूँ और मेरठ तक लूट-मार की। इसामी के अनुसार मंगोलों को मेरठ के निकट परास्त करके वापस जाने को बाध्य किया गया परन्तु फरिश्ता के अनुसार मुहम्मद तुगलक ने मंगोलों को बहुमूल्य भेंटें देकर वापस कर दिया। उसके पश्चात् भारत पर मंगोलों के आक्रमण नहीं हुए। मध्य एशिया के मंगोलों ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया और तुर्कों के नेता तिमूर ने वहाँ एक शक्तिशाली राज्य स्थापित करके मंगोल-प्रभाव को नष्ट कर दिया। इस कारण जबकि 14वीं सदी में दिल्ली सल्तनत की स्थिति बहुत दुर्बल थी, तब भी भारत मंगोल-आक्रमणों के भय से मुक्त रहा।

इस प्रकार, दिल्ली सल्तनत के समय में हुए सभी मंगोल-आक्रमण असफल हुए और वे लूट-मार के अतिरिक्त भारत को अधिक हानि नहीं पहुँचा सके। वे भारत के किसी भी भाग पर स्थायी अधिकार करने में सर्वथा असफल रहे। मंगोलों की इस असफलता के विभिन्न कारण रहे। चंगेजखाँ ने भारत पर आक्रमण नहीं किया और उसके प्रश्चात् मंगोलों की एकता नष्ट हो गयी। मध्य-एशिया के मंगोलों ने चीन के मंगोल शासकों के विरुद्ध विद्रोह किया और अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। ऐसी स्थिति में भारत पर मंगोलों के आक्रमण उनके महान् खानों (शासकों) के द्वारा नहीं हुए बल्कि मुख्यतया ईरान के इल-खानों द्वारा अथवा ट्रान्स-आक्सियाना के चगताई-खानों के द्वारा हुए। परन्तु उनमें भी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता थी। दवाखाँ ने, जिसने भारत पर आक्रमण करने के लिए निरन्तर सेनाएँ भेजी थीं, मध्य-एशिया में प्रायः 40 युद्ध किये थे। इस कारण मंगोलों की शक्ति के विभक्त हो जाने और उनकी पारस्परिक शत्रुता ने उन्हें दुर्बल बनाया तथा भारत जैसे दूरस्थ प्रदेश में उन्हें सफलता के योग्य नहीं छोड़ा। बाद के समय में मंगोल अपनी गतिशीलता और दृढ़ता को भी खो बैठे थे। अलाउद्दीन के समय में अनेक स्त्रियों और बच्चों का युद्ध में पकड़ा जाना इस बात का प्रमाण था कि मंगोलों ने उन्हें अपने साथ युद्ध में लाना आरम्भ कर दिया था जिससे उनकी सैनिक-शक्ति पर अवश्य कुप्रभाव पड़ा होगा। इसके अतिरिक्त, भारत पर मंगोलों में सबसे अधिक भयंकर आक्रमण उस समय में हुए जबकि अलाउद्दीन खलजी यहाँ का सुल्तान था जो स्वयं एक योग्य सेनापति और सैनिक प्रबन्धक था तथा जिसने केन्द्र पर एक विशाल सेना रखी हुई थी।

मंगोल-आक्रमणों ने दिल्ली सुल्तानों की राजनीति को प्रभावित किया। उनमें से योग्य सुल्तानों जैसे बलबन और अलाउद्दीन ने बड़ी-बड़ी सेनाएँ रखीं और शक्ति के आधार पर स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन की स्थापना का प्रयत्न किया। सुल्तानों की विस्तारवादी नीति पर भी एक गम्भीर प्रभाव पड़ा। अलाउद्दीन के अतिरिक्त दिल्ली का अन्य कोई भी सुल्तान निश्चिन्त होकर भारत के विस्तृत प्रदेश को जीतकर अपनी सत्ता के अधीन करने का प्रयत्न नहीं कर सका। इस प्रकार, अप्रत्यक्ष रीति से मंगोल-आक्रमणों ने इस युग की राजनीति को प्रभावित किया।

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. दिल्ली-सुल्तानों की उत्तर-पश्चिम सीमा-नीति की समीक्षा कीजिए।
2. दिल्ली सल्तनत-काल में हुए मंगोल-आक्रमणों और उनके प्रभाव को स्पष्ट कीजिए।

पंचम खण्ड

# दिल्ली सल्तनत की शासन-व्यवस्था

# 19

# शासन-व्यवस्था

इस्लाम धर्म के अनुसार 'शरीयत' प्रधान है। खलीफा भी उसके अधीन होता है। इस कारण सभी मुसलमान शासक शरीयत के अधीन होते हैं और उसके कानूनों के अनुसार कार्य करना उनका प्रमुख कर्तव्य होता है। इस दृष्टि से खलीफा और सुल्तान धर्म के प्रधान नहीं थे बल्कि शरीयत के कानून के अधीन राजनीतिक प्रधान मात्र थे जिनका कर्तव्य धर्म के कानूनों के अनुसार शासन करने का था। दिल्ली सुल्तान भी इसी प्रकार के शासक थे। वे सभी राजनीतिक प्रधान थे। परन्तु उनका कर्तव्य इस्लाम धर्म और कुरान के कानूनों के अनुसार शासन करना था। अतएव दिल्ली सुल्तानों की नीति पर धर्म का प्रभाव रहा और कम या अधिक मात्रा में इस्लाम धर्म के कानूनों का पालन करना उनका प्रमुख कर्तव्य रहा। इसी कारण उनके शासन में (कतिपय शासकों को छोड़कर) उलेमा-वर्ग का भी प्रभाव रहा तथा इस्लाम धर्म एक राज्य-धर्म की तरह से माना जाता रहा। यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से उसका प्रयोग सम्भव न हुआ।

दिल्ली सुल्तानों में से अधिकांश शासकों ने अपने को खलीफा का 'नाइब' पुकारा। इस दृष्टि से वे अपने को अब्बासी खलीफाओं से अधीन मानते थे। केवल अलाउद्दीन ने यह कार्य नहीं किया जबकि कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी ने स्वयं खलीफा की उपाधि ग्रहण की। मुहम्मद तुगलक ने अपने आरम्भिक काल में खलीफा को कोई मान्यता नहीं दी परन्तु बाद के समय में अपने उलेमा-वर्ग को सन्तुष्ट करने के लिए उसने खलीफा को अपना प्रधान मान लिया। परन्तु दिल्ली सुल्तानों ने खलीफा को केवल नाममात्र का ही प्रधान माना था। अपने को खलीफा का नाइब पुकारने अथवा अपने सिक्कों पर खलीफाओं के नाम अंकित कराने से उनकी व्यावहारिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया था और वे वास्तविकता में स्वतन्त्र शासकों की भाँति व्यवहार करते थे। खलीफा को नाममात्र का प्रधान मानने में उनका मुख्य आशय अपनी सुन्नी प्रजा और जनता में प्रभावशाली उलेमा-वर्ग का विश्वास एवं वफादारी प्राप्त करना था।

## [ 1 ]

## केन्द्रीय शासन

### 1. सुल्तान

केन्द्रीय शासन का प्रधान सुल्तान था। दिल्ली सल्तनत के युग में उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम न था जैसा कि हम मुगल काल में पाते हैं जिसमें उत्तराधिकार पैतृक आधार पर निश्चित था अर्थात् पिता की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों

का ही सिंहासन पर अधिकार हो सकता था। परन्तु तब भी सुल्तान इल्तुतमिश के समय से एक ऐसी परम्परा बनी थी जिसके अनुसार सबसे पहले सुल्तान के पुत्र अथवा पुत्री तक को सिंहासन प्राप्त करने का अधिकार था। सुल्तान को अपने बच्चों में से किसी को भी अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अधिकार था चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष, वयस्क हो अथवा अल्पायु। इस आधार पर **पैतृक और सुल्तान के द्वारा नामजद किये जाने के अधिकार को मान्यता थी।** इस आधार पर रजिया, शिहाबुद्दीन खलजी और तुगलकशाह को सिंहासन प्राप्त हुआ। परन्तु इसमें स्त्री और अल्पायु शाहजादों के सिंहासन पर बैठने और शासन करने के प्रयोग असफल हुए। इससे यह निर्णय निकला कि पैतृक अधिकार को उसी समय स्वीकार किया जाय जबकि उत्तराधिकारी योग्य हो। **अयोग्य उत्तराधिकारी होने के अवसर पर सरदारों ने सुल्तान को चुनने की प्रणाली का प्रयोग किया।** सुल्तान इल्तुतमिश, रजिया के सभी भाई, कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी और फीरोज तुगलक सरदारों की सम्मति से चुने गये सुल्तान थे। **इसके अतिरिक्त, तलवार की शक्ति भी सिंहासन के अधिकार को निश्चित करती थी।** अलाउद्दीन खलजी, खिज्रखाँ और बहलोल लोदी ऐसे ही शासक थे।

**दिल्ली सुल्तानों ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन-व्यवस्था को स्थापित किया।** सुल्तान कानून बनाने, उन्हें लागू करने और न्याय करने में प्रधान था। राज्य की सेना का सबसे बड़ा सेनापति भी वही था। उसकी आज्ञा सर्वोपरि थी। सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति करने, हटाने, उपाधियों का वितरण करने, आदि के अधिकार उसी के थे। परन्तु ये उसके कानूनी अधिकार थे। इन अधिकारों का व्यावहारिक प्रयोग उसकी सैनिक-शक्ति पर निर्भर करता था। सुल्तान के दुर्बल होने की स्थिति में सरदारों का शासन में प्रभाव बढ़ जाता था। उलेमा-वर्ग का प्रभाव भी शासन में था। केवल अलाउद्दीन खलजी और मुबारकशाह खलजी जैसे शासक ही उसके प्रभाव से मुक्त रह सके थे। **शासन-व्यवस्था, शान्ति की स्थापना और बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा के अतिरिक्त सुल्तान का महत्वपूर्ण कार्य इस्लाम धर्म की सुरक्षा और उसका विस्तार करना था।**

**2. मन्त्री और अन्य अधिकारी**

शासन में सुल्तान की सहायता के लिए विभिन्न मन्त्री और अन्य अधिकारी होते थे। ये निम्नलिखित थे :

(i) **नाइब (नाइब-ए-मामलिकात)**—इस पद को रजिया के पश्चात् सुल्तान बहरामशाह के समय में आरम्भ किया गया था। बहरामशाह के सरदारों ने शासन-शक्ति को अपने हाथ में रखने के लिए अपने में से एक को 'नाइब' का पद दिया था। इस कारण दुर्बल सुल्तानों के समय में ही इस पद का महत्व रहा। ऐसी स्थिति में नाइब का पद सुल्तान के बाद माना जाता था और राज्य के वजीर से भी श्रेष्ठ समझा जाता था। परन्तु शक्तिशाली सुल्तानों ने इस पद को या तो रखा ही नहीं अथवा अलाउद्दीन जैसे शासकों ने इसे अपने किसी योग्य सरदार को केवल सम्मान प्रदान करने की दृष्टि से दिया।

(ii) **वजीर**—राज्य का प्रधानमन्त्री वजीर कहलाता था। वजीर मुख्यतया राजस्व-विभाग (दीवान-ए-वजारत) का प्रधान था। इस दृष्टि से वह लगान, कर-व्यवस्था, दान, सैनिक-व्यय, आदि सभी की देखभाल करता था। यदि राज्य में 'नाइब'

का पद नहीं होता था तो वही सुल्तान के पश्चात् राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी होता था। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण शासन पर नजर रखना, सुल्तान की बीमारी अथवा राजधानी से अनुपस्थित होने पर शासन का प्रबन्ध करना, विभिन्न पदाधिकारियों की नियुक्ति करना, आदि अधिकार उसे प्राप्त थे। वजीर की सहायता के लिए अनेक छोटे अधिकारियों के अतिरिक्त नाइब-वजीर, मुंसरिफ-ए-मुमालिक, मुस्तौफी-ए-मुमालिक आदि बड़े अधिकारी भी होते थे।

(iii) **अरीज-ए-मुमालिक**—यह सेना-विभाग (दीवाने-ए-अर्ज) का प्रधान था। वह सैनिकों की भर्ती, उनकी रसद की व्यवस्था, उनके निरीक्षण की व्यवस्था, घोड़ों पर दाग और सैनिकों की हुलिया रखे जाने की व्यवस्था, आदि करता था। वह राज्य का सेनापति नहीं था और सुल्तान समय-समय पर विभिन्न युद्धों के लिए अपनी इच्छानुसार सेनापति नियुक्त किया करता था।

(iv) **दबीर-ए-खास (अमीर-मुंशी)**—यह शाही पत्र-व्यवहार विभाग (दीवान-ए-इन्शा) का प्रधान था। सुल्तानों के आदेशों को राज्य के विभिन्न भागों में भेजना और सुल्तान की सभी प्रकार की डाक को देखना, उसके उत्तर तैयार करना, उसे भेजना आदि उसी का कार्य था। उसकी सहायता के लिए अनेक दबीर (लेखक) होते थे।

(v) **दीवाने-रसालत**—यह सुल्तानों की विदेशी-वार्ता और कूटनीतिक सम्बन्धों की देखभाल करता था। विदेशी पत्र-व्यवहार और राजदूतों का आवागमन तथा उनकी देखभाल उसका उत्तरदायित्व था।

(vi) **सद्र-उस-सुदूर**—यह धर्म-विभाग का प्रधान था। इस्लाम धर्म के कानूनों का प्रजा में प्रसार करना, उसका पालन कराना और मुसलमानों के विशेष हितों की सुरक्षा करना उसका उत्तरदायित्व था। 'जकात' कर से वसूल किये धन पर उसका अधिकार होता था। योग्य और धार्मिक व्यक्तियों को आर्थिक सहायता तथा जागीरें उसकी सलाह पर दी जाती थीं। मस्जिदों, मकतबों और मदरसों को आर्थिक सहायता भी वही देता था। शाही खैरात (दान) की व्यवस्था भी वही करता था।

(vii) **काजी-उल-कूजात**—यह न्याय-विभाग का प्रधान था यद्यपि उसके न्यायालय से बड़ा न्यायालय सुल्तान का था। परन्तु राज्य का मुख्य काजी होने के नाते मुकद्दमे उसकी अदालत में आरम्भ भी किये जाते थे और निम्न काजियों के निर्णयों पर भी वह पुनः विचार कर सकता था। अधिकांशतया काजी-उल-कूजात और सद्र-उस-सुदूर के पद एक ही व्यक्ति को प्रदान किये जाते थे।

(viii) **बरीद-ए-मुमालिक**—जिन सुल्तानों ने गुप्तचर-विभाग का संगठन किया था उसका प्रधान यह अधिकारी होता था। विभिन्न गुप्तचर, सन्देहवाहक और डाक-चौकियाँ उसके अधीन होती थीं।

समय-समय पर सुल्तान अपनी इच्छा से अन्य विभागों और उनके पदाधिकारियों की नियुक्ति भी करते थे जैसे मुहम्मद तुगलक ने दीवाने-अमीर-कोही (कृषि-विभाग का प्रधान) की नियुक्ति की थी। इसके अतिरिक्त, सुल्तान के व्यक्तिगत अंगरक्षक और महल के अधिकारी होते थे। इनमें से वकील-ए-दर-महल शाही कर्मचारियों की देखभाल करता था, बारबक दरबार की शान-शौकत और रस्मों की देखभाल करता था, अमीर-ए-हाजिब सुल्तान से मिलने वालों की देखभाल करता था,

अमीर-ए-शिकार शाही शिकार का प्रबन्ध करता था, अमीर-ए-मजलिस शाही उत्सवों और दावतों का प्रबन्ध करता था तथा सर-ए-जाँदार सुल्तान के अंगरक्षकों का प्रधान होता था। ये पद मन्त्रियों के पद की तुलना के तो न थे परन्तु इनमें से प्रत्येक सुल्तान की व्यक्तिगत सुरक्षा, सम्मान अथवा आराम से सम्बन्धित था। इस कारण इन पदों पर अत्यधिक विश्वासपात्र व्यक्तियों की ही नियुक्ति की जाती थी और कभी-कभी इनमें से कोई पदाधिकारी सुल्तान से व्यक्तिगत सम्पर्क होने के कारण मन्त्रियों से भी अधिक प्रभावपूर्ण हो जाता था।

[ 2 ]

## इक्ताओं (प्रान्तों) का शासन

शासन की सुविधा और परिस्थितियों की आवश्यकता के कारण राज्य को छोटी इकाइयों में बाँटा गया था। उस समय में प्रान्तों को 'इक्ता' पुकारते थे। उस युग में इक्ताओं की न तो संख्या निश्चित की जा सकी थी और न ही उनका शासन-प्रबन्ध समान हो सका था। प्रत्येक इक्ता का प्रधान मुक्ती, नाजिम, नाइब-सुल्तान अथवा वली के नाम से पुकारा जाता था। अलाउद्दीन के समय में वे इक्ता दो प्रकार के हो गये। प्रथम वे इक्ता थे जो पहले से ही दिल्ली सल्तनत के अधीन चले आ रहे थे और द्वितीय वे इक्ता थे जिनको जीतकर उसी के समय में दिल्ली सल्तनत के अधीन किया गया था। दूसरे प्रकार के इक्ताओं में मुक्ती अथवा वली को कुछ अधिक सैनिक अधिकार थे जिससे वह अपने इक्ता को दिल्ली सल्तनत के पूर्ण प्रभाव में ला सके। इनके अतिरिक्त, हिन्दुओं (दक्षिणी भारत) के वे राज्य थे जिन्होंने सुल्तान की अधीनता को स्वीकार करके उसे वार्षिक कर देना आरम्भ किया था यद्यपि अपने आन्तरिक शासन में वे स्वतन्त्र थे। अपने-अपने इक्ताओं में मुक्ती अथवा वली को वे सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त थे जो सुल्तान को केन्द्र पर प्राप्त थे और उसी प्रकार शासन का उत्तरदायित्व भी उन पर था। वे प्रत्येक वर्ष अपनी आय और व्यय की सूचना सुल्तान को देते थे और बचे हुए धन को केन्द्रीय खजाने में जमा करते थे। वे शक्तिशाली सेनाएँ रखते थे और आवश्यकता होने पर वे सुल्तान की सहायता के लिए उपस्थित होते थे। सुल्तान की आज्ञा के बिना वे राज्य विस्तार के लिए युद्ध नहीं कर सकते थे और जब वे सुल्तान की आज्ञा के पश्चात् युद्ध करते भी थे तो लूटे हुए माल में से केन्द्रीय सरकार को हिस्सा देते थे। लूटे हुए हाथियों और राज्य परिवार की स्त्रियों पर सुल्तान का एकाधिपत्य होता था। कोई भी मुक्ती राजदण्ड, छत्र और सुल्तान की उपाधि ग्रहण नहीं कर सकता था। वे सुल्तान की भाँति दरबार नहीं कर सकते थे, अपने नाम से खुतबा नहीं पढ़वा सकते थे और सिक्के नहीं चला सकते थे। परन्तु दुर्बल शासकों के समय में मुक्ती अथवा वली स्वच्छन्दता से व्यवहार कर पाते थे और लोदी शासकों के समय में तो उनके पास बड़ी-बड़ी सेनाएँ तथा हाथी भी थे जिन पर अधिकांश समय में सुल्तान का एकाधिपत्य रहा था। उस सम्पूर्ण युग में मुक्ती अथवा वली काफी शक्तिशाली रहे थे। समय-समय पर हुए विद्रोहों और राजवंशों में परिवर्तन होने का यह एक बड़ा कारण रहा। मुक्ती और वली के नीचे प्रान्तों में एक प्रान्तीय वजीर, एक प्रान्तीय अरीज और एक प्रान्तीय काजी भी होता था। प्रत्येक इक्ता में राजस्व वसूल करने के लिए अनेक अधिकारी होते थे। इनके अतिरिक्त केन्द्र के गुप्तचर तथा अन्य अधिकारी भी इक्ताओं में कार्य करते थे। इक्ताओं के शासन

की व्यवस्था बहुत कुछ मुक्ती अथवा वली की योग्यता और सुल्तान की शक्ति पर निर्भर करती थी।

13वीं सदी तक इक्ता से छोटी शासन की कोई इकाई न थी। परन्तु उस पश्चात् इक्ताओं को शिकों में विभाजित किया गया जहाँ प्रमुख अधिकारी शिकदार होता था जो एक सैनिक अधिकारी था। शिकों को परगनों में विभाजित किया गया जहाँ एक आमिल, एक मुंशरिफ (उसे अमीन अथवा मुन्सिफ भी पुकारा जाता था), एक खजांची और दो क्लर्क मुख्य अधिकारी होते थे। आमिल परगने का मुख्य अधिकारी था और मुशरिफ लगान को निश्चित करने वाला अधिकारी था। परगना शासन की एक महत्वपूर्ण इकाई समझा जाता था क्योंकि वहीं पर राज्य का प्रत्यक्ष सम्पर्क किसानों से होता था। शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थे जो स्वशासन पैतृक अधिकारियों की व्यवस्था के अन्तर्गत थे। गाँव में चौकीदार, पटवारी, चौधरी, खूत, मुकद्दम आदि पैतृक अधिकारी थे जो राज्य को लगान वसूल करने में सहायता देते थे तथा जिन्हें अलाउद्दीन के शासन-काल के अतिरिक्त सम्पूर्ण समय में कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं। इनके अतिरिक्त, गाँव में पंचायतें होती थीं जो शिक्षा, स्वच्छता, न्याय आदि सभी स्थानीय कार्यों को करती थीं।

[ 4 ]

## राजस्व (कर) व्यवस्था

दिल्ली सुल्तानों के समय में कुछ विशेष करों के अतिरिक्त निम्नलिखित पाँच कर मुख्य थे :

1. उश्र —यह मुसलमानों से लिया जाने वाला भूमि-कर था। जिस भूमि पर प्राकृतिक साधनों से सिंचाई होती थी वहाँ से पैदावार का 10% भाग और भूमि पर मनुष्यकृत साधनों से सिंचाई होती थी वहाँ से पैदावार का 6% भाग भूमि कर के रूप में लिया जाता था।

2. खराज यह गैर-मुसलमानों पर भूमि-कर था जो पैदावार का $\frac{1}{3}$ से $\frac{1}{2}$ भाग तक विभिन्न सुल्तानों ने लिया।

3. खम्स —यह लूटे हुए धन, खानों अथवा भूमि में गढ़े हुए खजानों से प्राप्त सम्पत्ति का 1/5 भाग था जिस पर सुल्तान का अधिकार था। शेष 4/5 भाग पर उसके सैनिकों, अधिकारियों अथवा खजाने को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का अधिकार होता था। परन्तु फीरोज तुगलक को छोड़कर अन्य सभी शासकों ने 4/5 हिस्सा स्वयं अपने लिये रखा। सुल्तान सिकन्दर लोदी ने गढ़े हुए खजाने में से कोई हिस्सा नहीं लिया।

4. जकात—यह मुसलमानों पर धार्मिक कर था जो केवल धनवान मुसलमानों से ही लिया जाता था और उनकी आय का $2\frac{1}{2}$% होता था। इस धन को केवल मुसलमानों के हितों के लिए व्यय किया जाता था।

5. जजिया—यह गैर-मुसलमानों पर धार्मिक कर था। इस्लाम के कानून के अनुसार गैर-मुसलमानों (जिन्हें 'जिम्मी' पुकारा जाता था) को एक मुसलमान शासक के राज्य में रहने का अधिकार न था। इस कर को देने के पश्चात् ही वे राज्य में रहकर शासक से संरक्षण और जीवन की सुरक्षा प्राप्त कर सकते थे।

इसके लिए गैर-मुसलमानों को तीन वर्गों में बाँटा गया था और प्रत्येक वर्ग को क्रमश: 12, 24 और 48 दिरहम के रूप में देने पड़ते थे। स्त्रियाँ, बच्चे, भिखारी, लँगड़े, अन्धे, साधु, पुजारी, वृद्ध पुरुष और वे व्यक्ति जिनकी आय का साधन न था, इस कर से मुक्त थे। फीरोज तुगलक ने दिल्ली के ब्राह्मणों पर भी यह कर लगाया अथवा ब्राह्मण भी इस कर से मुक्त थे। व्यावहारिक आधार पर दिल्ली सुल्तानों ने इस कर को कठोरता से वसूल नहीं किया क्योंकि उससे बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के विद्रोही हो जाने का भय था। परन्तु कानूनी तौर पर वे सभी इस कर को वसूल करते रहे थे।

डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सेना ने इस सम्बन्ध में एक अन्य विचार प्रकट किया है. उनके अनुसार मध्य युग में जजिया वह कर था जो भूमि-कर न था। बरनी, अमीर खुशरव और निजामउद्दीन. औलिया के अनुसार जजिया शब्द का प्रयोग भूमि-कर के अतिरिक्त अन्य सभी करों के लिए किया जा सकता था।[1]

उपर्युक्त करों के अतिरिक्त मुसलमानों से वस्तु के मूल्य का $2\frac{1}{2}\%$ और हिन्दुओं से 5% व्यापारिक कर लिया जाता था। घोड़ों पर 5% कर था। अलाउद्दीन खलजी ने मकान-कर और चरागाह-कर भी लगाये थे और फीरोज तुगलक ने राज्य के सिंचाई साधनों से लाभ प्राप्त करने वाली भूमि से उसकी पैदावार का 10% सिंचाई-कर के रूप में लिया था। इसके अतिरिक्त, मुद्रा की ढलाई, लावारिस सम्पत्ति तथा अमीरों और प्रान्तीय सूबेदारों द्वारा दी गयी वार्षिक भेंटें भी सुल्तान की आय का साधन थे।

सुल्तान का मुख्य व्यय सेना, अपने महल के व्यक्तिगत खर्चे तथा विभिन्न पदाधिकारियों के वेतनों पर होता था।

**लगान-व्यवस्था**

राज्य की भूमि चार भागों में विभक्त थी। प्रथम वह भूमि जो व्यक्तियों को दान के रूप में दी गयी थी। इससे राज्य कोई लगान नहीं लेता था। द्वितीय, वह भूमि जो मुक्तियों अथवा प्रान्तीय वलियों के अधिकार में थी। इससे मुक्ती अथवा वली लगान वसूल करते थे और अपने शासन के व्यय को पूरा करने के उपरान्त बाकी धन को सरकारी खजाने में जमा करते थे। तृतीय, वह भूमि जो अधीन हिन्दू राजाओं के आधिपत्य में थी जो प्रतिवर्ष राज्य को एक निश्चित धन-राशि देते थे। चतुर्थ, खालसा भूमि जो केन्द्रीय सरकार या सुल्तान की भूमि मानी जाती थी और जिससे सुल्तान के कर्मचारी लगान वसूल करते थे। इस चौथी प्रकार की भूमि की लगान-व्यवस्था का उत्तरदायित्व सुल्तान और उसके कर्मचारियों पर था। इसके लिए राज्य ने प्रत्येक शिक में 'आमिल' नाम के एक अधिकारी की नियुक्ति की थी। वह पटवारी, चौधरी, मुकद्दम, कानूनगो, खूत आदि पैतृक अधिकारियों की सहायता से लगान वसूल करता था। इस प्रकार, राज्य के कर्मचारियों का किसानों से प्रत्यक्ष सम्पर्क न था बल्कि वे वंशानुगत और परम्परा से चले आ रहे गाँव अथवा जिले के अधिकारियों से सम्पर्क रखते थे और वही किसानों से लगान वसूल करके उन्हें देते थे। मुक्ती और वली के कार्यों की देखभाल के लिए सुल्तान 'ख्वाजा' नामक एक अधिकारी की नियुक्ति करते

---

1 *The Delhi Sultanate* : Ed. Mohammud Habib and K. A. Nizami, p. 578.

थे और केन्द्रीय गुप्तचर भी सुल्तान को उनके सम्बन्ध में सूचनाएँ देते थे। इसके अतिरिक्त, वली और मुक्तिया को प्रति वर्ष अपनी आय और व्यय का ब्यौरा केन्द्रीय सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करना पड़ता था।

साधारणतया सम्पूर्ण सल्तनत युग में किसानों को पैदावार का $\frac{1}{3}$ से लेकर $\frac{1}{2}$ भाग तक राज्य को देना पड़ता था। आरम्भ में यह $\frac{1}{3}$ ही रहा परन्तु अलाउद्दीन के समय में इसे $\frac{1}{2}$ कर दिया गया। परन्तु अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी शासक इस $\frac{1}{2}$ भाग को वसूल नहीं कर सके और बाद के समय में लगान पैदावार का $\frac{1}{3}$ भाग ही रहा। मुहम्मद तुगलक ने दोआब में कर-वृद्धि करने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल रहा। साधारणतया राज्य लगान को सिक्कों के रूप में वसूल करता था परन्तु अलाउद्दीन ने अपनी बाजार-व्यवस्था के कारण दिल्ली के निकटवर्ती क्षेत्रों और दोआब में लगान गल्ले के रूप में वसूल किया। अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक के अतिरिक्त किसी सुल्तान ने भूमि की पैमाइश करके लगान लेने की पद्धति नहीं रखी थी बल्कि पैदावार का अनुमान करके ही लगान निश्चित कर दिया जाता था। अलाउद्दीन ने अपने समय में दान के रूप में दी गयी अधिकांश भूमि को जब्त कर लिया था अथवा उसका पुनः वितरण किया था। उसने चौधरी, मुकद्दम, खूत और हिन्दू जमींदारों के विशेषाधिकारों को भी समाप्त कर दिया था। गियासुद्दीन तुगलक ने किसानों की भलाई के लिए यह निश्चित किया था कि किसी भी इक्ता के लगान में एक वर्ष के अन्तर्गत 1/11 से 1/10 भाग से अधिक वृद्धि न की जाय। मुहम्मद तुगलक ने सम्पूर्ण राज्य की आय और व्यय का लेखा तैयार कराया था। उसका आशय सम्पूर्ण राज्य में समान लगान-व्यवस्था करने का था। वह यह भी चाहता था कि कोई भी गाँव लगान से मुक्त न रह सके। उसने एक पृथक् कृषि-विभाग खोला, एक पृथक् अधिकारी 'दीवान-ए-कोही' की नियुक्ति की और तीन वर्ष के लिए एक अन्वेषण कृषि-फार्म भी खोला। परन्तु उसके इन प्रयत्नों से कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि वे शीघ्र त्याग दिये गये। फीरोज तुगलक ने सम्पूर्ण राज्य के लगान का अनुमान लगाकर उसे अपने सम्पूर्ण काल के लिए निश्चित कर दिया, किसानों को तकावी कर्ज से मुक्त कर दिया, राजस्व-विभाग के अधिकारियों के वेतन में वृद्धि की, प्रायः 24 करों से प्रजा को मुक्त कर दिया, फलों के बाग लगवाये, सिंचाई की व्यवस्था की, सिंचाई-कर लगाया और सरकारी अधिकारियों अथवा सूबेदारों को यातना देकर अधिक से अधिक धन वसूल करने की उस नीति को त्याग दिया जिसका भार अन्ततोगत्वा किसानों पर ही पड़ता था। फीरोज ने निस्सन्देह किसानों की भलाई करने में सफलता प्राप्त की। लोदी सुल्तानों ने अफगान सरदारों को बड़ी-बड़ी जागीरें दी थीं जिससे खालसा भूमि का क्षेत्र कम हो गया था और सिकन्दर लोदी के द्वारा भूमि की पैमाइश करके लगान को निश्चित करने के प्रयत्न असफल हुए थे।

दिल्ली सल्तनत के युग की लगान-व्यवस्था में सिद्धान्ततः कुछ दोष रहे। भूमि की पैमाइश न करना बल्कि अनुमान के आधार पर पैदावार का अन्दाज करके लगान निश्चित करना किसानों के लिए लाभदायक नहीं हो सकता था। इससे लगान-अधिकारियों को मनमानी करने का अवसर मिलता था। इसके अतिरिक्त साधारणतया भूमि ठेके पर दे दी जाती थी। इससे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने वाले भूमि के ठेकेदार वर्ग का जन्म हुआ था जो किसानों से अधिक से अधिक लगान वसूली

करते थे। लगान के अतिरिक्त किसानों को अन्य कर भी देने पड़ते थे। इस कारण किसानों पर कर का भार अधिक था।

[ 4 ]

## सैनिक-संगठन

सुल्तानों की शक्ति उनके सैनिक-बल पर निर्भर करती थी। यह सम्पूर्ण समय ऐसा था जबकि मुसलमान सुल्तान भारत में इस्लाम सत्ता को स्थापित और विस्तृत करने के लिए प्रयत्नशील रहे। इसी कारण, हिन्दू राजाओं से संघर्ष और आन्तरिक विद्रोहों का दमन सम्पूर्ण सल्तनत-युग में चलता रहा। इसके अतिरिक्त एक लम्बे समय तक मंगोल-आक्रमणों का भय भी रहा। ऐसी परिस्थितियों में प्रत्येक सुल्तान को एक बड़ी सेना रखना आवश्यक था। मुसलमानों ने भारत में युद्ध-शैली और सैनिक-संगठन में परिवर्तन किये यद्यपि बाद में वे भी समय के साथ प्रगति करने में असफल रहे।

इस समय **सेना में चार प्रकार के सैनिक होते थे।** प्रथम, वे सैनिक जो **सुल्तान के सैनिकों** के रूप में भर्ती किये जाते थे। इनमें शाही अंगरक्षक, शाही गुलाम और कुछ अन्य सैनिक सम्मिलित होते थे। इस सेना को 'खास-खेल' पुकारते थे। अलाउद्दीन खलजी ने केन्द्र पर एक विशाल स्थायी सेना रखी थी जिसमें पैदलों के अतिरिक्त 4,75,000 घुड़सवार थे। गियासुद्दीन तुगलक और मुहम्मद तुगलक के समय में भी केन्द्र पर एक बड़ी सेना स्थायी रूप से रखी गयी परन्तु उनसे पहले और बाद के सुल्तान कभी भी केन्द्र पर बहुत बड़ी सेना न रख सके। यह सेना 'दीवान-ए-अरीज' की देखभाल में रहती थी जो उसकी भर्ती, संगठन, वेतन-वितरण आदि के लिए उत्तरदायी होता था। इस सेना के प्रशिक्षण के लिए कोई निश्चित व्यवस्था न थी। बलबन जैसे शासक इस सेना को शिकार के लिए ले जाकर शिक्षण प्रदान करते थे अन्यथा प्रत्येक सैनिक की कुशलता स्वयं अपने परिश्रम और कौशल पर निर्भर करती थी। द्वितीय, **वे सैनिक होते थे जो दरबार के सरदारों और प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों) आदि के द्वारा भर्ती किये जाते थे।** उनके सैनिकों की भर्ती, प्रशिक्षण, वेतन आदि के लिए वे ही जिम्मेदार होते थे। इसके लिए उन्हें अपने इक्ता से आय होती थी अथवा उन्हें जागीरें दी जाती थीं। प्रान्तों में 'प्रान्तीय-अरीज' होते थे जो इस सेना के संगठन के लिए उत्तरदायी थे परन्तु मुख्य उत्तरदायित्व इक्तादार (सूबेदार) का ही होता था। वर्ष में एक बार उनकी सेनाएँ सुल्तान के निरीक्षण के लिए उपस्थित की जाती थीं। परन्तु साधारणतया इस नियम का विधिवत् पालन नहीं किया जाता था। आवश्यकता होने पर यह दरबारी सरदार और सूबेदार अपनी सेनाओं को लेकर सुल्तान की सेना में उपस्थित होते थे। तृतीय, **वे सैनिक थे जो केवल अस्थायी रूप से युद्ध के अवसर पर ही भर्ती किये जाते थे** और उसी समय में उनको वेतन व रसद प्राप्त होती थी। चतुर्थ, **वे मुसलमान स्वयं सेवक थे** जो हिन्दुओं के विरुद्ध युद्ध करने के लिए युद्ध में सम्मिलित होते थे। वे उसे जिहाद (धर्म की रक्षा के लिए युद्ध) मानते थे। उन्हें केवल युद्ध में लूटी हुई सम्पत्ति में से हिस्सा मिलता था।

**सेना के मुख्य भाग तीन थे।** प्रथम, **घुड़सवार सेना** थी जिसे सेना का मुख्य भाग समझा जाता था। घुड़सवार दो प्रकार के होते थे—सवार, जिनके पास एक घोड़ा होता था और दो-अस्पा जिनके पास दो घोड़े होते थे। घोड़ों को अरब, तुर्किस्तान और

अन्य दूरस्थ प्रदेशों से मँगाया जाता था। अलाउद्दीन खलजी ने घोड़ों को दागने की प्रथा और सैनिकों का हुलिया रखे जाने की प्रथाएँ आरम्भ की थीं जिससे घोड़ों और सैनिकों की अदला-बदली न हो सके। सिकन्दर लोदी जैसे शासकों ने इन प्रथाओं को लागू करने का प्रयत्न किया था। परन्तु अन्य सुल्तान इस व्यवस्था को लागू नहीं कर सके थे। फीरोज तुगलक जैसे शासकों ने तो अपनी उदारता के कारण इस व्यवस्था में भ्रष्टाचार को जन्म दिया था। प्रत्येक घुड़सवार के पास दो तलवारें, एक भाला और धनुष-वाण होते थे। रक्षा के लिए वे कवच, ढाल और शिरस्त्राण का प्रयोग करते थे। घोड़ों की सुरक्षा के लिए उन्हें भी लोहे के वख्तर पहनाये जाते थे। सेना की सफलता काफी बड़ी मात्रा में घुड़सवार-सेना की शक्ति और गतिशीलता पर निर्भर करती थी। द्वितीय, गज-सेना थी। भारत में आने के पश्चात् दिल्ली सुल्तानों ने भी युद्ध में हाथियों का प्रयोग करना आवश्यक मान लिया था। हाथियों का रखना सुल्तानों का विशेष अधिकार था। लोदी सुल्तानों के समय के अतिरिक्त अन्य किसी सुल्तान ने अमीरों और सूबेदारों को हाथियों की सेना रखने की आज्ञा नहीं दी थी यद्यपि कभी-कभी किसी बड़े सरदार को सम्मान-स्वरूप हाथी रखने की आज्ञा दे दी जाती थी। हाथियों की देखभाल के लिए एक पृथक् विभाग होता था और हाथियों को युद्ध करने की शिक्षा दी जाती थी। हाथियों को बख्तर से सुरक्षित किया जाता था और उनकी सूँड़ों में तलवार तथा हँसिये दिये जाते थे। हाथी की पीठ पर हौदा रखा जाता था जिसमें सैनिक बैठते थे। तृतीय पैदल-सेना थी। पैदल-सैनिक पायक कहलाते थे। वे तलवार, बरछा, कटार, धनुष-वाण, ढाल आदि का प्रयोग करते थे। दिल्ली सुल्तानों में से किसी ने भी बारूद गोले के तोपखाने का निर्माण नहीं किया। उनके पास तोपें थीं, परन्तु वे तोपें पत्थर, जलने वाले पदार्थ, जहरीले साँप, लोहे के गोले आदि फेंकने के लिए प्रयोग में आती थीं। उसके फेंकने के लिए बारूद का प्रयोग भी होता था परन्तु बारूद के गोले उस समय में तैयार नहीं किये गये थे। सुल्तान नावों का बेड़ा भी रखते थे परन्तु उनका प्रयोग युद्ध की अपेक्षा सामान ढोने के लिए अधिक किया जाता था।

दिल्ली सुल्तानों की **सेना में सभी धर्म और नस्लों के व्यक्ति थे**। तुर्क, ईरानी, मंगोल, अफगान, हब्शी, भारतीय मुसलमान, हिन्दू आदि सभी सेना में भर्ती किये गये थे यद्यपि उच्च पदों पर विदेशी मुसलमानों की ही नियुक्ति की जाती थी। विभिन्न तत्वों से मिलकर बनी हुई ऐसी सेना की शक्ति मूलतया उसके सेनापति अथवा सुल्तान के सेनापतित्व और योग्यता पर निर्भर करती थी। परन्तु क्योंकि सेना में अधिकांशतः मुसलमान होते थे, अतएव इस्लाम धर्म उनको एकता और भावनात्मक जोश प्रदान करने में समर्थ था।

**सेना का संगठन और पदों का विभाजन मुख्यतया दशमलव प्रणाली के आधार** पर किया गया था। घुड़सवार सेना में दस घुड़सवारों की एक टुकड़ी मानी जाती थी जिसका प्रधान 'सरेखेंल' कहलाता था। दस सरेखेलों के ऊपर एक सिपहसालार, दस सिपहसालारों के ऊपर एक अमीर, दस अमीरों के ऊपर एक मलिक और दस मलिकों के ऊपर एक खान होता था। सम्भवतया, पैदल-सेना का विभक्तीकरण भी इसी प्रकार किया गया होगा। परन्तु किसी भी सुल्तान ने इस पद्धति का प्रयोग विधिवत् नहीं किया। प्रत्येक अधिकारी की नियुक्ति और पदोन्नति सुल्तान की व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर करती थी। बहुत-से पद वंशानुगत भी बन गये थे और

दुर्बल सुल्तानों के समय में तो योग्यता पद प्राप्त करने का आधार रह ही नहीं जाती थी।

दिल्ली सुल्तानों की युद्ध-पद्धति प्रायः समान रही। शत्रुओं की गतिविधि का पता लगाने के लिए गुप्तचर नियुक्त किये जाते थे और सेना का एक अग्रगामी भाग आगे भेजा जाता था। युद्ध के अवसर पर सेना को मुख्यतया चार भागों में बाँटा जाता था—केन्द्र, वाम-पक्ष, दक्षिण-पक्ष और सुरक्षित दल। हाथियों को केन्द्र में सबसे आगे रखा जाता था और उनके बीच में पैदल सैनिक होते थे। घुड़सवारों के आक्रमण करने के लिए भी मार्ग छोड़ दिया जाता था।

राज्य के सभी महत्वपूर्ण भागों और किलों में स्थायी रूप से सेना रखी जाती थी। किलों को सुरक्षा-पंक्ति का एक मुख्य भाग समझा जाता था और उनकी सुरक्षा के लिए सभी आवश्यक प्रबन्ध किये जाते थे।

सुल्तान सेना का मुख्य सेनापति होता था। समय-समय पर वह विभिन्न आक्रमणों के लिए विभिन्न सेनापति स्वयं नियुक्त करता था। सेना की शक्ति और संगठन बहुत कुछ सुल्तान की व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर करता था। इल्तुतमिश, अलाउद्दीन खलजी, गियासुद्दीन तुगलक तथा मुहम्मद तुगलक जैसे योग्य सुल्तानों के समय में सेना की शक्ति बहुत दृढ़ रही और दुर्बल शासकों के नेतृत्व में वही सेना दुर्बल हो गयी।

दिल्ली सुल्तानों की सेना बहुत श्रेष्ठ नहीं मानी जा सकती थी। उसमें एकता, सैनिक-शिक्षण और अनुशासन की समानता का अभाव था। सरदारों द्वारा संगठित की गयी सेना अपने सरदार के प्रति अधिक वफादार होती थी। तोपखाने का निर्माण न करना उनकी एक बड़ी दुर्बलता रही मुख्यतया उस समय जबकि विदेशों में इसका प्रयोग आरम्भ हो चुका था। परन्तु तब भी राजपूत शासकों के विरुद्ध इस सेना ने सफलता प्राप्त की।

## [ 5 ]
## न्याय तथा दण्ड-व्यवस्था

राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश स्वयं सुल्तान होता था। सुल्तान का निर्णय अन्तिम निर्णय होता था। प्रत्येक सुल्तान सप्ताह में प्रायः दो दिन अपने न्यायालय में उपस्थित होता था और स्वयं सभी प्रकार के मुकद्दमों का निर्णय करता था। धार्मिक मामलों में मुख्य सद्र अथवा मुफ्ती उसकी सहायता करता था और अन्य मुकदमों में काजी। परन्तु क्योंकि सद्र और काजी अधिकांशतया एक ही व्यक्ति होता था अतः वह एक व्यक्ति ही न्याय में सुल्तान का मुख्य सलाहकार था। सद्र, मुख्य काजी, प्रान्तीय काजी अथवा नगरों के काजियों की नियुक्ति सुल्तान ही करता था। अधिकांश सुल्तान न्यायप्रिय हुए परन्तु क्योंकि वे इस्लाम धर्म के कानूनों के अनुसार न्याय करते थे और काजी से जो एक धार्मिक व्यक्ति होता था, सलाह लेते थे, इस कारण गैर-मुसलमानों को निष्पक्ष न्याय प्राप्त होता था, इसमें सन्देह किया जा सकता है। सुल्तान के पश्चात् सद्र और मुख्य काजी तथा उसके पश्चात् प्रान्तीय काजी और मुख्य नगरों के काजी हुआ करते थे। गाँवों में ग्राम पंचायतें न्याय करती थीं।

सुल्तानों का दण्ड-विधान कठोर था। सामान्यतया अंग-विच्छेद, मृत्यु और

सम्पत्ति अपहरण दण्ड के रूप में प्रदान किये जाते थे। सम्पत्ति-सम्बन्धी और असैनिक मुकदमों में भी इस्लाम धर्म के कानूनों को मान्यता दी जाती थी।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निर्णय किया जाता है कि सुल्तानों की न्याय और दण्ड-व्यवस्था मध्य-युग की परिस्थितियों के अनुसार सामान्य थी और उसमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन किसी भी सुल्तान ने नहीं किया था। न्याय का रूप सुल्तान के व्यक्तित्व और उसके धार्मिक विचारों पर निर्भर करता था। न्यायप्रिय शासकों के समय में न्याय की व्यवस्था ठीक रही अन्यथा अन्य सुल्तान इसे एक सामान्य परन्तु आवश्यक कार्य मानकर किया करते थे। इसका मुख्य दोष यह था कि किसी भी सुल्तान ने धर्म निर्पेक्ष न्याय, कानून अथवा दण्ड-व्यवस्था को लागू करने का प्रयत्न नहीं किया जबकि उनकी बहुसंख्यक प्रजा उनसे भिन्न धर्म को मानने वाली थी। ऐसी स्थिति में सुल्तानों की बहुसंख्यक प्रजा निष्पक्ष न्याय की आशा नहीं कर सकती थी।

पुलिस-व्यवस्था के लिए सुल्तानों ने कोई पृथक् कार्य नहीं किया था। सैनिक अधिकारी ही अपने-अपने क्षेत्रों में पुलिस कार्यों की पूर्ति करते थे। बड़े नगरों में एक अधिकारी कोतवाल अवश्य होता था परन्तु वह भी मुख्यतया एक सैनिक-अधिकारी था।

## [ 6 ]
## धार्मिक नीति

सम्पूर्ण सल्तनत-युग में इस्लाम धर्म राज्य-धर्म रहा। इस कारण, प्रत्येक सुल्तान का एक कर्तव्य दारुल-हर्ष (काफिरों का देश) को दारुल-इस्लाम (इस्लाम का देश) में परिवर्तित करना रहा। अपने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के साथ-साथ प्रत्येक सुल्तान ने इस धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति करने का भी प्रयत्न किया। एक सुल्तान किस मात्रा में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न कर सका, यह उसकी सैनिक-क्षमता और परिस्थितियों पर निर्भर रहा और एक सुल्तान किस सीमा तक इस उद्देश्य की पूर्ति करने में लगनशील रहा, यह उसके व्यक्तिगत धार्मिक विचारों की कट्टरता पर निर्भर रहा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक सुल्तान ने अपनी-अपनी क्षमता और विचारों की सीमा के अनुसार इस कार्य की पूर्ति करने का प्रयत्न किया। अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे शासकों के लिए राजनीतिक उद्देश्य प्रधान रहा जबकि फीरोज तुगलक और सिकन्दर लोदी जैसे शासकों ने राज्य की शक्ति को इस्लाम धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित करने का साधन बनाने में कोई संकोच नहीं किया।

सभी सुल्तानों के समय में मुसलमानों और बहुसंख्यक हिन्दुओं में अन्तर किया जाता था। हिन्दू-किसानों को मुसलमान-किसानों (यद्यपि उनकी संख्या नगण्य थी) की तुलना में अधिक लगान देना पड़ता था तथा हिन्दू व्यापारियों को मुसलमान व्यापारियों की तुलना में दुगुना व्यापारिक कर देना पड़ता था। हिन्दुओं को तो क्या हिन्दू धर्म से परिवर्तित मुसलमानों को भी राज्य में अच्छे पद नहीं दिये जाते थे। हिन्दुओं को मुसलमान बन जाने हेतु विभिन्न प्रलोभन दिये जाते थे। न्याय में मुसलमानों के साथ पक्षपात होता था। हिन्दुओं को उनके तीर्थ स्थानों पर जाने से रोका जाता था और उन्हें जजिया देना पड़ता था। सुल्तानों की दान-व्यवस्था और अस्पतालों के निर्माण से हिन्दुओं का कोई लाभ न था जबकि मुसलमान मदरसों, मकतबों और मौलवियों को धन और जागीरें दी जाती थीं, हिन्दू पाठशालाओं और विद्यालयों

को नष्ट किया जाता था तथा हिन्दू मन्दिरों और देवी-देवताओं की मूर्तियों को नष्ट करना और उन्हें अपमानित करने के लिए उनके खण्डों को मस्जिदों की सीढ़ियों पर लगाना और मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण करना प्रायः सभी सुल्तानों के समय में रहा। निस्सन्देह, हिन्दुओं को शब्द और व्यवहार दोनों ही प्रकार से 'जिम्मी' तथा काफिर समझा जाता था।

अधिकांश दिल्ली सुल्तान सुन्नी थे, इस कारण शियाओं और अन्य मुसलमान धर्मावलम्बियों के प्रति भी उनका व्यवहार कटुतापूर्ण रहा।

आधुनिक समय में विभिन्न इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सुल्तानों की नीति धार्मिक संकीर्णता और पक्षपात पर आधारित नहीं थी। अपने इस मत के समर्थन में वे विभिन्न तर्क भी देते हैं; जैसे—मन्दिरों को नष्ट किये जाने का कारण धन था, मूर्तियों को नष्ट करने का उद्देश्य हिन्दुओं को एक ईश्वर में विश्वास करना सिखाना था, तत्कालीन इतिहासकारों ने केवल प्रतिष्ठा और प्रचार के कारण सुल्तानों के धार्मिक कार्यों को बढ़ा-चढ़ाकर लिखा था, आदि। सम्भवतया ऐसे विद्वानों का इस मत को प्रकट करने का उद्देश्य सदभावनापूर्ण है। आधुनिक युग की परिस्थितियों में जबकि धार्मिक सहनशीलता, हिन्दू-मुसलमानों के अच्छे सम्बन्ध और धर्म-निरपेक्ष राज्य के निर्माण की आवश्यकता है, तब धार्मिक कट्टरता पर, चाहे वह आधुनिक युग की हो अथवा मध्य-युग की, बल देने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इतिहास तथ्यों पर आधारित सत्य है, न कि किसी युग की विशेष प्रवृत्ति के प्रचार के साधन। इसके अतिरिक्त, सत्य के द्वारा ही भविष्य का निर्माण करना तर्कसंगत है और उसी के आधार पर किसी भी परिस्थिति या प्रवृत्ति का ठोस आधार बनाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह कहना अधिक उपयुक्त है कि तथ्य यह प्रमाणित करते हैं कि प्रायः सभी दिल्ली सुल्तानों की धार्मिक नीति संकीर्णता और साम्प्रदायिकता पर आधारित थी। तत्कालीन सभी इतिहासकारों ने इस्लाम धर्म की रक्षा और प्रचार के हेतु सुल्तानों द्वारा किये गये कार्यों की प्रशंसा की थी और ये सभी इतिहासकार मुसलमान थे। भविष्य में अनभिज्ञ जो भी उन्होंने लिखा उसमें अतिशयोक्ति तो हो सकती है परन्तु उनके कथन का आधार सत्य है। मध्य-युग में धर्म की मान्यता थी और यदि सुल्तानों ने उस मान्यधा के अनुकूल कार्य किये तो उन पर न तो सन्देह करने की आवश्यकता है, न आश्चर्य करने की और न उन सुल्तानों पर लांछन लगाने की। उन सुल्तानों ने अपने युग की प्रवृत्ति के अनुसार कार्य किया। वह स्वाभाविक भी था। इसके अतिरिक्त, उनके पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि केवल धर्म-प्रचार ही उनका लक्ष्य न था। भारत में उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया था। उस राज्य की रक्षा करना भी उसका प्रमुख हित और स्वार्थ था। इस कारण धर्म से राजनीति अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई थी। इस कारण सम्पूर्ण दिल्ली सल्तनत एक संघर्ष का युग था जिसमें हिन्दू और मुसलमान धर्म और राजनीति दोनों ही स्थलों में एक दूसरे के शत्रु थे। उस संघर्ष में मुसलमान विजेता और आक्रमणकारी बन चुके थे तथा हिन्दू पराजित और रक्षार्थी। इस परिस्थिति से विजेता को अपने धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित रखने का प्रयत्न और बहु-संख्यक हिन्दुओं और मुसलमान धर्म में परिवर्तित करके अपनी संख्या को बहुमत में बदलने का प्रयत्न परिस्थितियों के अनुकूल, राजनीति के लिए लाभप्रद और धर्म के प्रति धर्मपरायणता का था। इस प्रकार, सभी प्रकार से लाभदायक इस कार्य की

पूर्ति करने वाले सुल्तानों के कार्य की निन्दा नहीं की जा सकती तथा उनके कार्य के उद्देश्य को कोई अन्य रूप प्रदान करना उसके साथ अन्याय करना होगा। इस कारण दिल्ली सुल्तानों की नीति धार्मिक असहिष्णुता की थी और इसमें कोई अनुचित अथवा आश्चर्य की बात न थी। परन्तु एक बात अवश्य कही जा सकती है कि दिल्ली सुल्तानों में से कोई भी सुल्तान महान् न हो सका और इसका एक मुख्य कारण यह भी रहा कि उनमें से कोई भी अपने समय से आगे को न सोच सका और न उसके अनुकूल कार्य कर सका अन्यथा अलाउद्दीन जैसे योग्य शासक और महान् योद्धा को भी आधुनिक इतिहासकार महान् मानने में क्यों संकोच कर गये हैं? दिल्ली सुल्तानों में भी कोई भी सुल्तान यह न समझ सका कि सम्पूर्ण हिन्दू प्रजा को मुसलमान बनाना असम्भव है और न हिन्दू धर्म को शक्ति के आधार पर नष्ट ही किया जा सकता है। यदि वे यह समझ सके होते तो वे धार्मिक कट्टरता के अपवाद से बच जाते और हिन्दू-मुसलमानों में यह पारस्परिक सद्भावना अधिक तीव्र गति से स्थापित होती जो जनता में स्वाभाविक दृष्टि से उत्पन्न हो रही थी। मुगल शासक इस बात को समझ सके और अकबर इसे समझकर महान् कहलाने का अधिकारी बन सका। इसी कारण मुगल-वंश भारत में अधिक स्थिर, अधिक लाभप्रद और अधिक उन्नतिशील बन सका। दिल्ली सुल्तानों की धार्मिक कट्टरता उनकी एक भूल रही।

दिल्ली सुल्तानों का शासन पूर्णतया दोषरहित न था परन्तु तब भी वह समय की आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ रहा। उनके मूल दोष उनकी धार्मिक कट्टरता की नीति और अपने सैनिक-संगठन को समय के अनुकूल न बनाने के रहे। एक ने उनको बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के सहयोग से वंचित रखा और दूसरे ने उनके हाथों से भारत की सत्ता छीन ली।

## अभ्यासार्थ प्रश्न

1. क्या दिल्ली-सल्तनत राज्य को एक धर्म-राज्य स्वीकार किया जा सकता है?
2. दिल्ली-सल्तनत की केन्द्रीय-शासन व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
3. दिल्ली-सल्तनत की इक्तादारी शासन-व्यवस्था को स्पष्ट कीजिए।
4. दिल्ली सुल्तानों की लगान-व्यवस्था और उसमें हुए विभिन्न परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।
5. दिल्ली सुल्तानों की सैनिक-व्यवस्था और उसमें किये गये विभिन्न परिवर्तनों का वर्णन कीजिए।

षष्ठ खण्ड

# सल्तनत-युग की सभ्यता तथा संस्कृति

# 20

# सभ्यता तथा संस्कृति

## [ 1 ]

## समाज

### 1. विभिन्न वर्ग

मुसलमानों के भारत में आने से पहले भी भारतीय समाज विभिन्न वर्गों में बँटा हुआ था। मुसलमानों के आने से उसका और विभक्तीकरण हो गया। समाज का सबसे अधिक सम्मानित वर्ग विदेशी मुसलमानों का था। यह भारत का शासक-वर्ग था। इस कारण यह वर्ग सबसे अधिक प्रभावशाली और विशेष अधिकारों से युक्त था। राज्य के सभी बड़े-बड़े पद इस. वर्ग के व्यक्तियों के लिए सुरक्षित रखे जाते थे, बड़ी-बड़ी जागीरें उन्हें प्राप्त होती थीं तथा शासन और समाज में उनका स्थान श्रेष्ठ था। परन्तु विदेशी मुसलमान भी विभिन्न वर्गों में बँटे हुए थे। तुर्क, ईरानी, अरब, अफगान, अबीसीनियन आदि ऐसे ही वर्ग थे। 13वीं सदी में तुर्कों ने अपनी श्रेष्ठता को कायम रखा और उन्होंने अन्य विदेशी मुसलमानों को भी समानता का दावा नहीं करने दिया। परन्तु 14वीं सदी के आरम्भ से इस स्थिति में परिवर्तन हो गया। खलजियों द्वारा शासन-सत्ता प्राप्त करते ही तुर्कों की श्रेष्ठता समाप्त हो गयी तथा परस्पर विवाह-सम्बन्धों और बदलती हुई परिस्थितियों ने सभी विदेशी मुसलमानों को समान स्तर पर कर दिया।

समाज का दूसरा वर्ग भारतीय मुसलमानों का था। यह वे मुसलमान थे जो हिन्दू से मुसलमान बने थे अथवा ऐसे परिवर्तित मुसलमानों की सन्तान थे। विदेशी मुसलमानों ने भारतीय मुसलमानों को कभी भी समान नहीं समझा। इसका कारण यह था कि उन्हें न तो भारत का विजेता माना गया और न श्रेष्ठ नस्ल का बल्कि क्योंकि अधिकांश भारतीय मुसलमान निम्न हिन्दू जातियों में से मुसलमा बने थे इस कारण विदेशी मुसलमान उन्हें हेय दृष्टि से देखते थे। भारतीय मुसलमानों को शासन और समाज में बराबर का स्थान नहीं दिया गया। सम्पूर्ण सल्तनत युग में कतिपय भारतीय मुसलमान ही ऐसे हुए जिन्हें राज्य में विशिष्ट पद प्राप्त हुए। 14वीं सदी में खलजी शासन के आरम्भ होने से इस स्थिति में कुछ सुधार हुआ परन्तु तब भी सामाजिक दृष्टि से भारतीय मुसलमान निम्न स्तर पर ही रहे। हिन्दू जाति-व्यवस्था का प्रभाव भी मुसलमानों पर आया, मुख्यतया धर्म परिवर्तित मुसलमान अपनी हिन्दू जाति के प्रभाव से मुक्त न रहे। मुसलमान बनने के पश्चात् भी उन्होंने अपने जाति-विभेद को कायम रखा जिसके कारण वे विभिन्न वर्गों में बँट गये। इस कारण विदेशी और भारतीय मुसलमान नस्ल और उत्पत्ति के आधार पर विभिन्न वर्गों में बँटे हुए थे। धर्म,

शिक्षा और जीविका के आधार पर भी मुसलमानों के विभिन्न वर्ग थे। शिया और सुन्नियों में अन्तर था, सैनिक और विद्वानों में अन्तर था तथा धार्मिक कृत्यों को करने वाला उलेमा-वर्ग इन सब से पृथक् था। सैनिकों को अपने पदों के आधार पर सम्मान मिलता था, विद्वानों को अपनी योग्यता के आधार पर और उलेमा-वर्ग धार्मिक पदाधिकारी होने के नाते सभी से श्रेष्ठता का दावा करते थे तथा शासन में प्रभावपूर्ण थे। अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक के कुछ समय को छोड़कर उलेमा-वर्ग का प्रभाव राज्य के शासन पर भी रहा क्योंकि इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों को जानने और उसकी व्याख्या करने में उसका एकाधिकार था। मुस्लिम समाज का निम्नतर स्तर शिल्पी, दूकानदार, क्लर्क तथा छोटे व्यापारियों से मिलकर बना था।

भारतीय समाज का बहुसंख्यक वर्ग हिन्दुओं का था। हिन्दू समाज जाति-व्यवस्था के कारण पहले से ही विभिन्न वर्गों में बँटा हुआ था। मुसलमानों के आने से अपने समाज की सुरक्षा के लिए हिन्दुओं ने जाति बन्धन और भी अधिक कठोर कर दिये जिसके कारण विभिन्न नवीन उप-जातियों का निर्माण हुआ। ऊँच-नीच की भावना और व्यवसाय व निवास-स्थान के आधार को लेकर विभिन्न उपजातियाँ बन गयीं जिनमें परस्पर खान-पान और विवाह-सम्बन्ध सम्भव न थे। अन्तर्जातीय विवाहों को अपवाद माना जाता था। आरम्भिक काल में कोई हिन्दू यदि एक बार अपने धर्म को छोड़ देता था अथवा बाध्य होकर मुसलमानों के साथ बन्दी रूप में भी रह लेताथा तो उसे पुनः हिन्दू धर्म में स्थान प्राप्त नहीं हो सकता था यद्यपि बाद के समय में यह बन्धन कुछ शिथिल हो गया। फीरोज तुगलक और सिकन्दर लोदी ने कुछ ब्राह्मणों को इसलिए दण्ड दिया था कि वे मुसलमानों को हिन्दू बनने के लिए प्रोत्साहन देते थे। विजयनगर-राज्य के संस्थापक हरीहर और बुक्का को पुनः हिन्दू बना लिया गया था। परन्तु हिन्दुओं में अस्पृश्यता, बलि-प्रथा, धर्म के लिए आत्मघात करना, आदि कुरीतियाँ थीं। साधारणतया हिन्दू धर्म-परायण, सच्चरित्र और सात्विक विचार-धाराओं के थे। परन्तु सम्पूर्ण दिल्ली सल्तनत के युग में हिन्दुओं के साथ जिम्मियों जैसा व्यवहार किया गया। उन्हें कोई उच्च पद प्राप्त नहीं होता था, उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता था, मुसलमान उनकी स्त्रियों को प्राप्त करने का अवसर तलाश करते रहते थे, उन पर कर का भार अधिक था और उन्हें सर्वदा अपने सम्मान की सुरक्षा के लिए जागरूक रहना पड़ता था। परन्तु कुछ पदों से मुख्यतया लगान विभाग से — हिन्दुओं को हटाना सम्भव न था। उसी प्रकार, हिन्दू व्यापारी, कारीगर, कृषक, आदि भी राज्य के लिए महत्वपूर्ण बने रहे। आवश्यकता के अनुसार, हिन्दुओं को सैनिक रूप में भी भर्ती किया गया। परन्तु हिन्दू समाज की स्थिति अपनी स्वयं की दुर्बलताओं और मुसलमानों के व्यवहार के कारण सन्तोषजनक न थी और जो कुछ भी हिन्दू सुरक्षित रख सके वह अपने कौशल और शक्ति के आधार पर ही रख सके।

**2. दास-प्रथा**

उस समय समाज में हिन्दू और मुसलमान दोनों में ही दास-प्रथा प्रचलित थी तथा गुलाम बाजार में बेचे और खरीदे जाते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपने गुलामों के साथ बहुत अच्छा व्यवहार करते थे, यद्यपि उनके जीवन और सम्पत्ति पर उनके मालिकों का पूर्ण अधिकार होता था। मुसलमान दासों की स्थिति हिन्दू दासों की अपेक्षा अधिक अच्छी थी। सुल्तान स्वयं योग्य दासों को बड़ी संख्या में रखते थे और उनमें से अनेक ने राज्य के बड़े से बड़े पद को प्राप्त किया था।

### 3. स्त्रियों की स्थिति

हिन्दुओं में स्त्रियों की स्थिति पहले की तुलना में गिर गयी थी। यद्यपि हिन्दू स्त्रियों का परिवार में सम्मान था, वे शिक्षा प्राप्त करती थीं, धार्मिक कार्यों में भाग लेती थीं और उनमें से अनेक स्त्रियाँ शस्त्र-विद्या और विद्वत्ता में भी कुशल हुईं, परन्तु उनकी व्यावहारिक स्थिति निम्न हो गयी और वे कई नवीन कुप्रथाओं से पीड़ित हो गयीं। यद्यपि जन-साधारण में एक स्त्री और एक पुरुष के विवाह की प्रथा थी परन्तु धनवान और सम्मानित व्यक्तियों में बहु-विवाह प्रचलित था। विधवाओं को पुनः विवाह का अधिकार न था। उन्हें या तो अपने पति की लाश के साथ जल जाना पड़ता था अथवा मृत्युपर्यन्त संन्यासियों का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। ऐसी स्थिति में सती-प्रथा का प्रचलन स्वाभाविक था। मुसलमान हिन्दू स्त्रियों को प्राप्त करने के लिए लालायित रहते थे और वे उनका अपहरण करने के लिए सर्वदा तत्पर रहते थे। इस कारण हिन्दुओं में अल्पायु विवाह और पर्दा-प्रथा भी आरम्भ हुई। स्त्रियों की शिक्षा पर भी इसका प्रभाव पड़ा क्योंकि वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपने घरों से बाहर नहीं जा सकतीं थीं। इस कारण उनकी शिक्षा का प्रबन्ध घर पर ही किया जाता था और यह सुविधा केवल धनवान व्यक्तियों की पुत्रियों को ही प्राप्त हो सकती थी। उस समय में लड़की का जन्म होना शोक का कारण माना जाता था और परिणामस्वरूप बाल-हत्याएँ भी की जाती थीं। परन्तु निम्न-वर्ग इन कुप्रथाओं से काफी मात्रा से बचा रहा। उनमें पर्दा-प्रथा न थी तथा बहुत-सी निम्न जातियों में तलाक और विधवा-विवाह सम्भव थे। हिन्दुओं में एक कुप्रथा देवदासी प्रथा भी थी, जिसके कारण मन्दिरों में सुन्दर अविवाहित लड़कियों को देवदासी के रूप में रखा जाता था। परन्तु हिन्दू समाज में मुसलमानों के कारण कुछ अन्य परिवर्तन भी हुए। एक मुख्य परिवर्तन हिन्दू धर्म को छोड़े हुए व्यक्तियों को पुनः हिन्दू धर्म में ले लेने का था। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं ने अपने एकाकीपन को छोड़कर परिस्थितियों के अनुसार अपने वस्त्रों, खानपान, व्यवहार और रीति-रिवाजों में भी परिवर्तन किया। स्त्रियों की स्थिति में एक लाभदायक सुधार भी हुआ। स्त्री-धन के अतिरिक्त उनका अधिकार कुछ विशेष प्रकार की सम्पत्ति पर भी स्वीकार कर लिया गया।

मुस्लिम समाज में भी स्त्रियों की स्थिति अच्छी न थी। मुसलमानों में बहु-विवाह का प्रचलन जन-साधारण में भी था और एक मुसलमान कम से कम चार स्त्रियों से विवाह कर सकता था। धनवान और राजपुरुष तो सैकड़ों और हजारों की संख्या में स्त्रियाँ और दासियाँ रखते थे। मुसलमानों में पर्दा-प्रथा अत्यधिक कठोर थी और उनमें शिक्षा का प्रसार भी कम था। परन्तु मुसलमान स्त्रियाँ कुछ अन्य प्रकार से अच्छी स्थिति में थीं। वे विधवा होने पर पुनर्विवाह कर सकती थीं, तलाक दे सकती थीं; उनमें सती की प्रथा न थी और उन्हें अपने माँ-बाप की सम्पत्ति में से हिस्सा लेने का अधिकार था।

परन्तु सभी कुछ मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इस युग में स्त्रियों की स्थिति खराब थी और स्त्रियों का स्थान 'भोग्या' की भाँति होता जा रहा था।

### 4. जनजीवन

भोजन की दृष्टि से हिन्दू प्रायः माँस का प्रयोग नहीं करते थे जबकि मुसलमान माँसाहारी थे। अधिकांश हिन्दू दूध और दूध से बनी हुई अन्य वस्तुओं को

प्रधानता देते थे परन्तु युद्ध-प्रिय जातियों और शूद्रों में माँसाहार प्रचलित था। मुसलमानों में सूफी और उनसे प्रभावित व्यक्ति माँस नहीं खाते थे अन्यथा सभी मुसलमान माँसाहारी थे। कुरान के अनुसार शराब पीना वर्जित है परन्तु हिन्दू और मुसलमान दोनों में शराब और अफीम दोनों का प्रयोग स्वच्छन्दता से किया जाता था। अलाउद्दीन जैसा शासक भी शराब पीना बन्द नहीं करा सका था।

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार हिन्दू-समाज में थोड़ी उदारता भी आयी। ब्राह्मणों ने शूद्रों को पुराण सुनने और कुछ वस्तुओं का व्यापार करने की अनुमति दे दी। सम्भवतया, यह उदाहरण शूद्रों के इस्लाम धर्म में परिवर्तित होने से रोकने के लिए थी।

हिन्दू और मुसलमान दोनों ही नगरों में अच्छे भवनों का निर्माण करते थे और उनके यहाँ जीवन की सभी सुविधाएँ उपलब्ध थीं। ग्राम-जीवन में कोई विशेष अन्तर नहीं आया था और जन-साधारण कच्चे मकानों अथवा झोंपड़ियों में रहते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही आतिथ्य-सत्कार में विश्वास करते थे।

वस्त्र, वेश-भूषा और गहने पहनने में प्रगति हुई थी। इस क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमानों ने एक-दूसरे से बहुत कुछ सीखा। धोती, अंगिया, पेटीकोट, चुनरी, आदि के प्रयोग के साथ-साथ कुर्ता, चोली, पजामा, अंगरखा आदि का प्रयोग भी होता था। व्यक्ति विभिन्न रंगों के कपड़ों का प्रयोग करते थे और सूती, रेशमी तथा ऊनी सभी प्रकार के वस्त्र प्रयोग में आते थे। वस्त्र और वेश-भूषा की दृष्टि से पहले की अपेक्षा अच्छी स्थिति थी। आभूषण पहनने का शौक हिन्दू और मुसलमान दोनों में था। सिर से लेकर पैरों की उँगलियों तक के लिए विभिन्न प्रकार के जेवर बनने लगे थे तथा स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषणों का प्रयोग करते थे। सोना, चाँदी, जवाहरात आदि सभी का प्रयोग आभूषण बनाने के लिए किया जाता था।

मनोरंजन के लिए खेल-कूद, द्वन्द्व-युद्ध, शिकार, चौपड़, पशु-पक्षियों के युद्ध, चौगान (पोलो) आदि थे। इसके अतिरिक्त हिन्दू और मुसलमानों के विभिन्न त्यौहार और उत्सव भी मनोरंजन का साधन थे। हिन्दू होली, दीवाली, बसन्त आदि त्यौहारों को मनाते थे और मुसलमान ईद, शब्बेरात, नौरोज आदि मनाते थे।

साधारणतया हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न कर रहे थे और परस्पर निकट आकर एक-दूसरे से कुछ न कुछ सीख रहे थे। अधिकांश सुल्तानों तथा उलेमाओं की धार्मिक असहिष्णुता के होते हुए भी हिन्दू और मुसलमान परिस्थितियों और व्यवहारिकता के कारण एक-दूसरे के सम्पर्क में आ रहे थे। इससे समाज में कुछ परिवर्तन हो रहे थे और मुख्यतया खान-पान, वेश-भूषा तथा जन-प्रचलित रीतियों में कुछ सुधार हो रहा था। परन्तु समाज का नैतिक स्तर गिर गया था। हिन्दू राजनीतिक पराजय और समाज में असम्मानित होने के कारण आत्म-गौरव, उदारता और प्रगति की चेष्टा से विमुख हो गये। हिन्दू समाज अपनी स्वरक्षा मात्र में लगे रहने के कारण जो कुछ भी अपने में अच्छा अथवा बुरा था, उसी से चिपक गया जिससे उसकी प्रगति रुक गयी और मुसलमान समाज विशेष अधिकारों का उपभोग करने के कारण अहंकारी और अकर्मण्य बन गया। ऐसी स्थिति में आचार-विचार और नैतिकता में गिरावट स्वाभाविक थी। हिन्दू अथवा मुसलमान कोई भी इस गिरावट से मुक्त न रहा। सामाजिक परिवर्तन और हिन्दू-मुसलमानों का

आदान-प्रदान तो स्वाभाविक था परन्तु केवल यही प्रगति के मापदण्ड न थे। इस कारण दिल्ली सल्तनत का युग सामाजिक परिवर्तनों का तो था परन्तु प्रगति का न होकर गिरावट का था।

### 5. हिन्दू और मुसलमानों के परस्पर सम्बन्ध

दिल्ली सल्तनत के युग में हिन्दू और मुसलमानों के परस्पर क्या सम्बन्ध थे इस विषय पर विभिन्न विद्वान इतिहासकारों में मतभेद है। एक वर्ग ऐसे इतिहासकारों का है जो इस युग को धार्मिक असहिष्णुता का युग नहीं मानता। वे दिल्ली सुल्तानों के राजनीतिक उद्देश्यों पर अधिक बल देते हैं तथा जिस प्रकार हिन्दू और मुसलमानों ने एक-दूसरे के विचारों, रीति-रिवाजों, रहन-सहन आदि को प्रभावित करना आरम्भ किया था उसके आधार पर यह निर्णय करते हैं कि इस युग में हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध खराब नहीं रहे थे। सम्भवतया उनका यह विचार आधुनिक समय में हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्धों को ठीक रखने के विचार से तथा आधुनिक युग की धार्मिक उदारता की प्रवृत्ति और उसकी आवश्यकता के कारण भी है। डॉ. ए. रशीद ने इस आवश्यकता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। वह लिखते हैं कि "इस प्रकार, धार्मिक और सामाजिक मिश्रण तथा भाषा सम्बन्धी आदान-प्रदान की ऐसी प्रवृत्तियाँ थीं जो एक सूत्र में बँधे हुए एक राष्ट्र के निर्माण का मार्ग तैयार कर रही थीं। राष्ट्रीय एकीकरण के इस समय में एक व्यक्ति को विवादपूर्ण प्रश्नों में नहीं जाना चाहिए। हमें झगड़े और संघर्ष तथा पारस्परिक ईर्ष्या और विरोधों के विवरणों से भी बचना चाहिए।"[1] डॉ. ए. रशीद का विचार पूर्ण व्यावहारिक और, सम्भवतया, समय के अनुकूल है। परन्तु अन्य इतिहासकार ऐसे भी हैं जो इस युग को धार्मिक असहिष्णुता का युग मानते हैं। उनके अनुसार इस युग में हिन्दू-वर्ग प्रत्येक प्रकार से पीड़ित-वर्ग था। ऐसी स्थिति में हिन्दू-मुसलमानों के अच्छे सम्बन्धों का प्रश्न ही नहीं उठता। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "समकालीन अकाट्य प्रमाणों के अतिरिक्त सैकड़ों वर्ष से ऐसी अविच्छिन्न परम्पराएँ चली आयी हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि तुर्की शासन अत्याचारपूर्ण था।"[2] डॉ. आर. सी. मजूमदार लिखते हैं कि "यह सत्य है कि हिन्दुओं को शासन में बहुत बड़ी संख्या में छोटे पद प्राप्त थे और इस युग के अन्तिम समय में कुछ बड़े असैनिक पद और बहुत ही कम सैनिक पद भी प्राप्त हुए लेकिन उनका कोई राजनीतिक स्तर न था

---

1 "Thus there were tendencies towards religious and social synthesis and linguistic assimilation which could not but have the way for the evolution of a homogenous nation. In these days of national integration one need not enter into the controversial questions. We should also avoid playing too much upon the records of clash and conflicts, mutual jealousy and antogonism."
—Dr. A. Rashid, *Society and Culture in Medieval India.*

2 "Besides unimpeachable contemporary evidence, we have unbroken tradition coming down from hundreds of years that the Turkish rule was oppressive." —Dr. A. L. Srivastava.

और वे अपनी जन्मभूमि में, जिसे एक मुस्लिम राज्य और देश समझा गया तथा सार्वजनिक दृष्टि से घोषित भी किया गया, पीड़ितों की भांति रहते थे।"[1]

उपर्युक्त दोनों ही विचारों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वान इतिहासकारों ने अपने-अपने तर्क और प्रमाणित तथ्य प्रस्तुत किये हैं। इसी सम्वन्ध में डॉ. के. एस. लाल ने इस समस्या के तीन कारण बताये हैं।[2] प्रथम, मुसलमानों द्वारा भारत-विजय की विशेष-प्रकृति; द्वितीय, विजेता और पराजित की स्वाभाविक कटुता; तथा तृतीय, गैर-मुसलमानी देश में लागू किये जाने वाले मुस्लिम कानून की प्रकृ त। डॉ. के. एस. लाल के बताये हुए कारण इस समस्या के सम्बन्ध में निर्णय लेने में कुछ सहायता प्रदान करते हैं। यह निश्चय रूप से माना जा सकता है कि मुसलमान शासकों ने भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना और उसके विस्तार में धर्म का सहारा लिया। इस कारण उनके राजनीतिक उद्देश्य के साथ धार्मिक उद्देश्य सर्वदा सम्मिलित रहा। इसी प्रकार विजेता और पराजितों के सम्बन्धों में कटुता होना आवश्यक था, मुख्यतया ऐसी स्थिति में जबकि धर्म, विचार और संस्कृति के आधार पर उन दोनों में पर्याप्त अन्तर थे। यह भी निश्चय है कि मुसलमान शासकों ने हिन्दू प्रजा पर मुस्लिम कानूनों के आधार पर ही शासन किया था और किसी धर्म-निरपेक्ष शासन-व्यवस्था अथवा न्याय-व्यवस्था को आरम्भ करने का प्रयत्न नहीं किया था। ऐसी स्थिति में हिन्दुओं के लिए न्याय और समानता प्राप्त होने का कोई प्रश्न ही न था। इसके अतिरिक्त, यह भी निश्चित है कि अलाउद्दीन खलजी के अतिरिक्त सभी सुल्तानों ने उलेमा-वर्ग की शक्ति और प्रभाव को स्वीकार करके उन्हें शासन में सलाह देने तथा हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया था। इन परिस्थितियों में सुल्तान और शासक-वर्ग से हिन्दुओं के प्रति सद्व्यवहार करने की आशा करना व्यर्थ था। इस प्रकार हिन्दू जनता न तो शासन से उदारता की आशा कर सकती थी और न ही किसी प्रकार शासन में भाग ले सकती थी। इसके फलस्वरूप वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में न्याय और सुविधाएँ प्राप्त नहीं कर सकती थी। इस कारण विशेष अधिकार प्राप्त मुसलमानों और अधिकार रहित हिन्दुओं में शत्रुता के अतिरिक्त कोई अन्य सम्बन्ध नहीं हो सकता—चाहे शत्रुता खुली हुई हो अथवा छिपी हुई।

परन्तु यह माना जा सकता है कि जन-साधारण—चाहे वह हिन्दू हों अथवा मुसलमान—साधारणतया शान्ति से रहना पसन्द करता है और उसकी राजनीतिक तथा धार्मिक महत्वाकांक्षाएँ या तो होती ही नहीं और यदि होती भी हैं तो वे अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करने में असमर्थ होती हैं। इस कारण, वह अपने पड़ोसियों के साथ मिलकर रहना पसन्द करता है—चाहे वे पड़ोसी हिन्दू हों अथवा मुसलमान। इसी आधार पर हिन्दू और मुसलमानों का जन-साधारण-वर्ग एक-दूसरे के साथ रह सका, एक-दूसरे से कुछ सीख सका अथवा एक-दूसरे को कुछ सिखा

---

1 "It is true that the Hindus occupied a large number of junior posts and towards the close of the period, occasionally a few high offices, in civil administration, and more rarely, in the army. But they had no political status and lived on sufferance in the land of their birth, which was regarded as, and publicly declared to be, a Muslim state and country." — Dr. R. C. Mazumdar,

2 Dr. K. S. Lal. *Studies in Medieval Indian History*.

सका। सूफी सन्त और भक्ति आन्दोलनों के प्रचारक जो धार्मिक सहिष्णुता में विश्वास कर सके और दूसरों को समझा सके, जन-साधारण-वर्ग से थे। शासक-वर्ग की ओर से कभी ऐसा प्रयत्न नहीं किया गया। इस कारण यह माना जा सकता है कि साधारणतया तो हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध आपस में कटुता के थे जिनका मूल उत्तरदायित्व शासक और मुस्लिम उलेमा-वर्ग पर था परन्तु जन-साधारण, सन्तों, दार्शनिकों और कतिपय विद्वानों ने हिन्दू मुसलमानों को एक दूसरे के साथ रहने की आवश्यकता को बताया और परिस्थितियों ने उन्हें इसके लिए बाध्य किया। उच्च वर्ग में भी राजनीतिक आवश्यकता के कारण हिन्दू और मुसलमानों का सम्पर्क हुआ ही। इन सभी ने मिलकर उन परिवर्तनों को जन्म दिया जो हमें सल्तनत-युग में वेश-भूषा, रहन-सहन रीति-रिवाज, खान-पान, साहित्य और धार्मिक प्रवृत्तियों में दिखायी देते हैं। परन्तु ये परिवर्तन बहुत गम्भीर न थे। शासक और विशेष अधिकार प्राप्त मुस्लिम-वर्ग की धार्मिक असहिष्णुता ने इस सम्पूर्ण काल में हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्धों को ठीक नहीं होने दिया। इसके अतिरिक्त, जबकि हिन्दू धार्मिक दृष्टि से उदार परन्तु सामाजिक दृष्टि से पूर्ण अनुदार थे, मुसलमान सामाजिक दृष्टि से उदार परन्तु धार्मिक दृष्टि से पूर्ण धर्मान्ध थे। धर्म और समाज के प्रति हिन्दू और मुसलमानों की ये विरोधी धारणाएँ भी दोनों को एक-दूसरे के निकट लाने के विरुद्ध थीं। इन सभी कारणों से हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध इस युग में कटुता के रहे। इस सत्य को छिपाने की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि व्यावहारिकता का लाभ सत्य को छिपाने से नहीं बल्कि उसे जानकर अपने पूर्वजों की भूलों में सुधार करते हुए भविष्य का निर्माण करने में है।

### 6. हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्धों का प्रभाव

**(i) मुसलमानों का हिन्दू-समाज पर प्रभाव**—मुसलमानों के सम्पर्क में आने से हिन्दू-समाज में स्त्रियों से सम्बन्धित कुछ सामाजिक कुरीतियों की वृद्धि हुई। इस काल में हिन्दू स्त्रियों का सम्मान खतरे में रहता था। इस कारण शिशु-वध मुख्यतया लड़कियों का, अल्पायु-विवाह और पर्दा-प्रथा जैसी कुरीतियाँ हिन्दुओं में बढ़ गयीं। साधारणतया, हिन्दुओं में लड़की का जन्म अशुभ माना जाने लगा और हिन्दुओं के उच्च वर्ग में पर्दा-प्रथा फैशन के रूप में फैल गयी। मुसलमानों से प्रभावित होकर हिन्दू-सामन्तों ने बहु-विवाह की परिपाटी को अपना लिया। इसी प्रकार, धनवान हिन्दुओं ने बड़ी संख्या में स्त्री और पुरुष दास रखने आरम्भ कर दिये। हिन्दू-सामन्त-वर्ग ने मुसलमानों के वेश-भूषा, आभूषण और सामाजिक रीति-रिवाज अपना लिये। नाच देखना, गाना सुनना, शराब पीना, जुआ खेलना, आदि उनके मनोरंजन के प्रमुख साधन बन गये। अचकन और सलवार को उच्च वर्ग के हिन्दुओं ने अपनी मुख्य वेश-भूषा बना लिया। इस्लाम के आक्रमणों के कारण अपनी सुरक्षा के लिए हिन्दू-समाज और अधिक संकीर्ण और कठोर हो गया। हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था और नैतिक आचरण पहले की अपेक्षा और अधिक कठोर हो गये। निसन्देह, हिन्दुओं में एक ऐसा वर्ग भी रहा जैसे कि भक्ति-मार्ग के विभिन्न सन्त और स्मृतियों पर टीकाएँ लिखने वाले विद्वान जैसे कि चन्देश्वर, माधव, विश्वेश्वर, आदि जिन्होंने हिन्दू-समाज के सुधार का प्रयत्न किया परन्तु अधिकांशतया हिन्दू-समाज प्रतिक्रियावादी बना। हिन्दुओं के उच्च वर्ग का नैतिक पतन हो गया। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने यह विचार व्यक्त किया है कि दिल्ली सुल्तानों के शासनकाल में हिन्दुओं के चरित्र,

व्यवहार और सम्मान में गिरावट आ गयी थी। जब उच्च वर्ग के हिन्दू मुसलमानों के सम्पर्क में आये तब वे अपने रीति-रिवाज, संस्कृति और धर्म के सम्बन्ध में अपने सत्य भावों को छिपाने के लिए बाध्य हुए जिससे उनके चरित्र में दबकर रहना स्थायी रूप से घर कर गया। इस कारण ईमानदारी, वफादारी, स्पष्टवादिता, आदि जैसे गुण उनके चरित्र में नहीं रहे अपितु, इनके विपरीत, स्वार्थ, चालाकी, धोखा देना, सत्य को छिपाना, आदि जैसे दुर्गुण उनके चरित्र का भाग बन गये।

**(ii) हिन्दुओं का मुस्लिम-समाज पर प्रभाव**—हिन्दुओं के सम्पर्क से मुस्लिम-समाज भी प्रभावित हुआ। कुछ विद्वानों का कथन है कि 'धीरे-धीरे मुसलमान एक-पत्नी-प्रथा को मानने लगे जिससे तलाक दिया जाना प्रायः असम्भव हो गया।' हिन्दू जाति-प्रथा ने भी मुसलमानों को प्रभावित किया। दिल्ली-सल्तनत के समय में एक तुर्क, पठान, सैयद या शेख अपने से निम्न सामाजिक स्तर के परिवार में विवाह-सम्बन्ध करने के बारे में सोच भी नहीं सकता था। इसके अतिरिक्त, विदेशी मुसलमानों ने हिन्दुओं की निम्न जातियों में से इस्लाम धर्म को स्वीकार करने वाले व्यक्तियों को कभी भी बराबर का स्थान नहीं दिया। वे व्यक्ति मुस्लिम-समाज का एक पृथक् वर्ग बन गये। उनमें से अधिकांश निम्न व्यवसायों को करते थे। उन्हें कभी भी शासन और उच्च सामाजिक स्तर में सम्मिलित नहीं किया गया। धीरे-धीरे उनमें भी हिन्दू-जाति-प्रथा की तरह सामाजिक अन्तर और वर्गीकरण व्याप्त हो गया। उन्होंने कई हिन्दू रीति-रिवाजों को अपना कर रखा। वे न तो गौ-माँस खाते थे और न ही विधवा-विवाह को स्वीकार करते थे। यह विचार भी व्यक्त किया गया है कि दिल्ली-सुल्तानों के दरबार के कई रीति-रिवाज हिन्दुओं से ग्रहण किये गये। **न्यौछावर** का रिवाज जिसके अनुसार दान में दिये जाने वाले धन को शासक के सिर पर घुमाकर दान किया जाता था, मुसलमानों ने हिन्दू-शासकों से ग्रहण किया। मुसलमानों में **अकीका** और **बिसमिल्लाह** के रिवाज प्रायः उसी तरह मनाये जाने लगे जैसे कि हिन्दुओं में **मुण्डन** और **उपनयन** के रिवाज मनाये जाते थे। दुल्हन को सजाने की प्रथा **हफ्त-ओ-नूह** उसी प्रकार बन गयी जैसे कि हिन्दुओं में **सोलह श्रृंगार** की प्रथा। मुसलमानों ने हिन्दुओं की **आरती** की प्रथा को भी अपना लिया जिसे उन्होंने **निसार** पुकारा। **पीरों** की पूजा और सन्तों के **मजारों** पर जाने की प्रथा भी मुसलमानों ने हिन्दुओं की पूजा-पद्धति और तीर्थयात्राओं को करने की प्रथाओं से सीखा। मुसलमानों ने अपने त्यौहार भी हिन्दुओं की भाँति मनाने आरम्भ कर दिये जैसे कि मुसलमानों में **शब-ए-बरात** का त्यौहार हिन्दुओं के **शिव-रात्रि** के त्यौहार की भाँति ही मनाया जाता है। इसी कारण टीटस ने लिखा है: "जितना इस्लाम ने हिन्दू धर्म को प्रभावित किया है उससे कहीं अधिक हिन्दू धर्म ने इस्लाम को प्रभावित किया है।"[1]

**(iii) हिन्दू और मुसलमान संस्कृति का समन्वय**—इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों ने एक दूसरे के समाज को प्रभावित किया यद्यपि दोनों का अस्तित्व स्वतन्त्र रहा। विदेशी आक्रमणकारियों में से एकमात्र मुसलमान ही थे जिन्हें हिन्दू-समाज अपने में सम्मिलित नहीं कर सका। हिन्दू-समाज की कठोरता और मुसलमानों

---

1 "Hinduism has wrought a far greater change in Islam than Islam has wrought in Hinduism." —Titus.

की धार्मिक कट्टरता के कारण यह सम्भव नहीं हो पाया। इसमें भी सन्देह नहीं कि अधिकांशतया हिन्दू और मुसलमान दोनों ने एक दूसरे पर कुप्रभाव ही डाला था जो दोनों के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ।

तब भी हिन्दू और मुसलमान संस्कृतियों के समन्वय से एक ऐसी संस्कृति का निर्माण हुआ जिसे भारतीय-मुस्लिम संस्कृति के नाम से पुकारा गया। यद्यपि इस संस्कृति का क्षेत्र सीमित रहा तब भी उसका जन्म हुआ और उसने भारतीय संस्कृति को एक नया मोड़ दिया। धीरे-धीरे हिन्दू और मुसलमानों ने समझा कि उन्हें एक दूसरे के साथ ही रहना है और इस कारण, पारस्परिक सहयोग, सहनशीलता और शान्ति को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनाया जाना आवश्यक है। यह आवश्यकता और उसकी समझ सबसे अधिक धर्म के क्षेत्र में दिखायी दी। मुसलमानों में सूफी-सम्प्रदाय निश्चित रूप से कुछ मात्रा में हिन्दू धार्मिक विचारों से प्रभावित हुआ था। भक्ति-मार्ग के कई सन्तों ने हिन्दू और इस्लाम धर्म की कुछ अच्छाइयों को अपनाया और उन्हें अपने उपदेशों द्वारा जन-समुदाय में फैलाया। हिन्दू और मुसलमान दोनों ने एक दूसरे के सन्तों का सम्मान करना आरम्भ किया, यहाँ तक कि कुछ सन्त तो दोनों समुदायों द्वारा समान रूप से सम्मानित स्वीकार कर लिये गये। हिन्दू और मुसलमान दोनों में ही सत्य-पीर की पूजा एक ऐसा उदाहरण है। इसी प्रकार, अजमेर में शेख मुइनुद्दीन की दरगाह हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए पूजनीय बन गयी। इसी प्रकार बंगाल में मुसलमानों ने हिन्दू देवी-देवताओं जैसे सीता, काली, धर्मराज, आदि की पूजा आरम्भ कर दी। आधुनिक समय में भी दोनों सम्प्रदायों में समन्वय होने के प्रमाण जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्राप्त होते हैं। सौराष्ट्र के मेमोन-मुसलमान हिन्दुओं की भाँति रहते हैं और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की पूजा करते हैं। भारत के बहुत से क्षेत्रों में पुरुष बच्चे के जन्म पर गीत गाना, शादी में जुलूस निकालना, आदि मुसलमानों द्वारा ऐसे ही किये जाते हैं जैसे हिन्दुओं में। डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने अपनी पुस्तक विभाजित भारत में अनेक ऐसे उदाहरण दिये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि मुसलमानों ने हिन्दुओं के अनेक रीति-रिवाजों को अपना लिया है। हिन्दू और मुसलमानों में पारस्परिक समन्वय हुआ था, यह तत्कालीन साहित्य में भी परिलक्षित होता है। अनेक संस्कृत के ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया और मुसलमान एक बड़ी संख्या में हिन्दू-धार्मिक-दर्शन, चिकित्सा-शास्त्र और नक्षत्र-विज्ञान, आदि से प्रभावित हुए। अनेक मुसलमान विद्वानों जैसे अमीर खुसरो और मलिक मुहम्मद जायसी ने हिन्दू समाज, संस्कृति और धर्म के बारे में हिन्दी में लिखा। इसी प्रकार, अनेक हिन्दू विद्वानों ने फारसी में अपने ग्रन्थ लिखे। कई प्रादेशिक भाषाओं पर, जिनका विकास इस काल में हुआ, फारसी और अरबी भाषाओं का प्रभाव स्पष्ट है। उर्दू, निस्सन्देह, उनमें से एक है। हिन्दू और मुसलमान संस्कृतियों का समन्वय ललित-कलाओं में और भी अधिक स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। इस युग में विकसित स्थापत्य-कला हिन्दू और मुस्लिम स्थापत्य-कला के समन्वय का परिणाम थी और यह तथ्य न केवल ऐतिहासिक इमारतों से ही प्रमाणित होता है अपितु नदी-किनारों पर बने घाटों और नगरों की सड़कों तथा मकानों से भी प्रमाणित होता है। गायन कला में सितार फारस के तम्बूरा और हिन्दुओं की वीणा के मिश्रण का परिणाम है। इसी प्रकार, तबला हिन्दुओं के मृदंग का मुसलमानों द्वारा बदला हुआ एक स्वरूप है। इस कारण, हम यह कह सकते हैं कि इस काल में एक ऐसी संस्कृति का विकास हुआ जिसे हम

भारतीय मुस्लिम संस्कृति पुकार सकते हैं जो हिन्दू और मुसलमान संस्कृति के समन्वय का परिणाम थी, यद्यपि यह संस्कृति मुख्यतया दरबार, तथा उच्च-वर्गों और उसके परिणामस्वरूप नगरों तक ही सीमित रही।

## [ 2 ]

## आर्थिक दशा

आर्थिक दृष्टि से भारत एक समृद्धशाली देश था। महमूद गजनवी ने भारत की सम्पत्ति के लालच में भारत पर आक्रमण किया और यहाँ से अतुल सम्पत्ति लूटकर ले गया। 13वीं सदी के अन्त में भी भारत के एक भाग से ही तिमूर को अतुल सम्पत्ति प्राप्त हुई। अलाउद्दीन और मलिक काफूर ने दक्षिणी भारत से इतनी अधिक सम्पत्ति लूटी थी कि उत्तरी भारत में मुद्रा का मूल्य कम हो गया। इसके अतिरिक्त, भारत के विभिन्न भागों में अनेक बड़े-बड़े नगरों और बन्दरगाहों का होना, सभी स्थानों पर सूबेदारों और दिल्ली सल्तनत के पश्चात् प्रान्तीय सुल्तानों अथवा हिन्दू राजाओं के पास अतुल सम्पत्ति का होना, समाज के उच्च-वर्ग का शान शौकत और विलासिता से जीवन व्यतीत कर पाना, सभी स्थानों पर कलात्मक दृष्टि से प्रगति होना और मुख्यतया शानदार मकबरों, मन्दिरों, महलों और किलों का निर्माण होना तथा विभिन्न विदेशी यात्रियों द्वारा सोना, चाँदी, हीरे, जवाहरात और मोतियों, आदि का प्रयोग भारत में प्रचुर मात्रा में बताया जाना, आदि इस बात के प्रमाण हैं कि इस युग में भारत आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न था।

भारत की इस सम्पत्ति का एक मुख्य कारण भारत की उर्वरा भूमि, पर्याप्त प्राकृतिक और मनुष्यकृत सिंचाई के साधन, भारतीय किसानों का परिश्रम और इन सुविधाओं के होने से कृषि की अच्छी स्थिति थी। परन्तु कृषि मात्र ही इस अतुल सम्पत्ति का कारण नहीं हो सकती थी। भारत एक कृषि-प्रधान देश रहा है परन्तु आधुनिक मशीनों के युग के आरम्भ होने से पहले भारत एक उद्योग-प्रधान और व्यावसायिक देश भी रहा था। भारत की बनी हुई वस्तुएँ प्राचीन काल से दक्षिण-पूर्व, पश्चिम, मध्य-एशिया और यूरोप तक विख्यात थीं। इस कारण, भारत के उद्योग और उसका व्यापार सर्वदा से भारत के पक्ष में रहा और वही उसकी अतुल समृद्धि का कारण था। इस युग में भी यही स्थिति थी। कृषि उत्पादन के साथ-साथ भारत के उद्योग और उसका व्यापार भी बहुत अच्छी स्थिति में थे।

भारत में प्रायः सभी स्थानों पर विभिन्न प्रकार का अन्न, दालें, फल आदि उत्पन्न किये जाते थे। अधिकांश फसलें वर्ष में दो बार उत्पन्न की जाती थीं परन्तु कहीं-कहीं फसलें वर्ष में तीन बार भी उत्पन्न की जाती थीं। गेहूँ, चावल, कपास, गन्ना, तिलहन, नील, जौ, मक्का, बाजरा, पान, अदरक, गर्म-मसाला और विभिन्न प्रकार के फल बहुत बड़ी मात्रा में उत्पन्न किये जाते थे। सरसुती का चावल, कन्नौज की शक्कर, मालवा का गेहूँ और पान, ग्वालियर का गेहूँ, मलाबार के गर्म-मसाले और अदरक, दौलताबाद के अंगूर और नासपाती, विभिन्न प्रकार के सन्तरे, दक्षिणी भारत की सुपाड़ी, आदि प्रख्यात थीं। बारबोसा ने लिखा है कि बहमनी राज्य में कृषि, पशु-पालन और फलों के बाग बहुत अच्छी स्थिति में थे और शहर ही नहीं बल्कि गाँव भी समृद्ध थे। तुलूनाद (तमिलनाडु) में चावल बहुत अच्छा उत्पन्न होता था और गुजरात में सभी वस्तुओं के मूल्य बहुत सस्ते थे। विजयनगर की समृद्धि के

बारे में तो सभी यात्रियों ने विशद वर्णन किया है। उड़ीसा में बाग और पशु-पालन इतना अधिक था कि पशुओं के लिए खरीददार नहीं मिलते थे और वस्तुएँ इतनी सस्ती थीं कि कोई भी व्यक्ति एक बार वहाँ जाकर वापस आना नहीं चाहता था। बारबोसा के अनुसार बंगाल में कपास, गन्ना, चावल, अदरक, आदि अत्यधिक मात्रा में उत्पन्न किया जाता था। दोआब का सम्पूर्ण क्षेत्र अपनी उर्वरा शक्ति के लिए प्रसिद्ध था। इस प्रकार भारत के सभी क्षेत्रों में कृषि की स्थिति बहुत अच्छी थी। कृषि के साथ-साथ दूध देने वाले पशुओं का पालन भी किसानों का एक मुख्य पेशा था। उससे भी अनेक खाद्य वस्तुएँ बनती थीं। इस समय में जंगल और चरागाह भी प्रचुर मात्रा में थे। यह सभी कुछ मिलाकर इतना अधिक था कि भारत अपने खाने और उद्योगों की आवश्यकता की पूर्ति के पश्चात् भी अनेक वस्तुओं का निर्यात कर पाता था।

उद्योगों की दृष्टि से भी भारत अच्छी स्थिति में था। कपड़े का उद्योग भारत का एक प्रमुख उद्योग था। सूती, रेशमी और ऊनी सभी प्रकार और सभी रंगों के वस्त्र भारत में बनाये जाते थे। मलमल, आरकण्डी, छींट, रेशमी रूमाल, अदि प्रचुर मात्रा में तैयार किये जाते थे। कपड़ों को सोना-चाँदी और हीरे-जवाहरातों से भी जड़ा जाता था। इसके अतिरिक्त शक्कर, कागज, विभिन्न पत्थरों की कटाई, बर्तन बनाना, चन्दन की लकड़ी और हाथी-दाँत की वस्तुओं का निर्माण, समुद्री मोतियों को निकालना, आदि विभिन्न प्रकार के उद्योग थे। व्यक्तिगत प्रयत्नों के अतिरिक्त सुल्तानों ने भी शाही कारखानों का निर्माण किया था जहाँ सुल्तान और अमीरों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु श्रेष्ठतम वस्तुएँ तैयार की जाती थीं। नगरों और गाँवों में श्रम-संघ बने हुए थे जो उद्योगों की उन्नति में सहायक थे।

भारत में आन्तरिक और विदेशी व्यापार भी प्रचुर मात्रा में होता था। भारत में दूरस्थ प्रदेशों को जोड़ने वाली सड़कें पर्याप्त मात्रा में थीं और विभिन्न नगर भिन्न-भिन्न वस्तुओं की व्यापारिक मण्डियाँ बने हुए थे। इब्नबतूता ने दिल्ली को संसार की सबसे बड़ी व्यापारिक मण्डी बताया था। दौलताबाद मोतियों के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। दभोल के बन्दरगाह पर ताँबा आता था और वहाँ से सम्पूर्ण भारत में भेजा जाता था। गुजरात में रन्देर के बन्दरगाह पर चीन और मलाया से विभिन्न वस्तुएँ आती थीं और सम्पूर्ण भारत में भेजी जाती थीं। विजयनगर-साम्राज्य व्यापार का एक बड़ा केन्द्र था। ड्यू, गोवा, चोल, कालीकट, कोचीन, क्यूलोन पश्चिमी तट के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। पूर्वी तट तथा बंगाल और उड़ीसा तट पर भी अनेक प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। विदेशी व्यापार ईरान, अरब, यूरोप, अफ्रीका, चीन, मलाया, अफगानिस्तान, मध्य-एशिया, आदि देशों से होता था। अन्न, सूती और रेशमी वस्त्र, अफीम, नील, जस्ता, समुद्री-मोती, चन्दन, गोंद, केसर, अदरक आदि प्रचुर मात्रा में विदेश भेजे जाते थे। विदेशों से मुख्यतया घोड़े, नमक, गन्धक, सोना, गुलाब-जल आदि का आयात होता था। विदेशी व्यापार की एक प्रमुख विशेषता यह भी थी कि पुर्तगालियों के आने से पहले तक भारत का विदेशी व्यापार—मुख्यतया सामान को ले जाने और लाने का अधिकार—अरब अथवा ईरानी व्यापारियों के हाथों में था। मलाबार तट के अतिरिक्त अन्य सभी स्थानों पर इन विदेशी व्यापारियों का एकाधिपत्य था। भारतीय व्यापारी उस समय ही इस व्यापार में साझा करते थे जब वे वस्तुएँ समुद्र-तट तक पहुँचा दी जाती थीं। इस प्रकार भारत का विदेशी व्यापार

बहुत अधिक था और भारत ही इससे अधिक लाभ प्राप्त करता था। विदेशी व्यापार भारत की समृद्धि का एक बड़ा आधार था।

दिल्ली-सल्तनत के काल में भारत में कुछ तकनीकी उन्नति भी हुई जिससे भारत के आर्थिक विकास में सहायता मिली। अधिकांशतया अब यह विश्वास किया जाता है कि गहरे कुओं से सिंचाई हेतु पानी निकालने के लिए रहट का प्रयोग इसी काल में आरम्भ हुआ। इससे कृषि-उत्पादन में वृद्धि हुई। इस काल का एक अन्य अन्वेषण चर्खा था। प्रो. इरफान हबीब के अनुसार इसका प्रयोग भारत में 12वीं से 14वीं सदी के मध्य किसी समय आरम्भ हुआ। इससे कपड़े के उत्पादन में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त, कालीनें बनाने के तरीके में परिवर्तन किये गये तथा रेशम के कीड़ों की खेती इसी काल में आरम्भ की गयी। अनेक विद्वानों का अब यह भी कहना है कि इसी काल में भारत में कागज का उत्पादन भी आरम्भ हुआ जिससे अर्थ-व्यवस्था को ही नहीं अपितु शिक्षा को भी लाभ हुआ। नगरों का विकास, बड़े स्तर पर मुद्रा का प्रयोग जो बढ़ते हुए व्यापार का प्रमाण था और प्रचुर मात्रा में प्रत्येक प्रकार के कारीगरों की उपलब्धि, जिसकी चर्चा बाबर ने भी अपनी आत्मकथा में की, दिल्ली-सल्तनत युग में हुए आर्थिक विकास के प्रमाण थे जिसमें, निसन्देह, उस काल में हुई तकनीकी प्रगति ने भी सहयोग प्रदान किया था।

इस कारण कृषि-उत्पादन, उद्योगों की उपस्थिति और आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार ने भारत को एक समृद्धिशाली देश बनाया था। दिल्ली के सुल्तानों तथा प्रान्तीय सूबेदारों और हिन्दू राजाओं के पारस्परिक युद्धों के होते हुए भी भारत अपने को सम्पन्न रख सका था। सुल्तानों और अधिकांश शासकों की उदासीनता के बावजूद भी भारत की यह सम्पन्नता आश्चर्यजनक थी। परन्तु भारत की इस आर्थिक सम्पन्नता का मुख्य लाभ शासक और व्यापारी-वर्ग ने प्राप्त किया था। उन्होने वैभव और विलासिता के समस्त साधनों को अपने शौक को पूरा करने के लिए एकत्रित कर लिया था। जन-साधारण की स्थिति शोचनीय तो नहीं परन्तु बहुत अच्छी भी न थी। इसी कारण सूखा और अकाल पड़ने के अवसर पर लाखों व्यक्ति मर जाते थे और राज्य को दान-दक्षिणा अथवा तकावी-कर्जों को देने की आवश्यकता पड़ जाती थी। परन्तु मध्य-युग की परिस्थितियों में इसके अलावा कोई चारा भी न था। संसार के सभी राज्यों में जन-साधारण की यही स्थिति थी।

## [ 3 ]
## धार्मिक दशा

भारतीय संस्कृति की एक मुख्य विशेषता यह रही है कि इसने अपने प्राचीन तत्वों अथवा विशेषताओं को नष्ट किये बिना नवीन तत्वों और विशेषताओं को अपने में सम्मिलित किया है। धार्मिक दृष्टि से यदि एक विचारधारा या एक सम्प्रदाय यहाँ विकसित हो गया तो चाहे उसका स्वरूप कितना ही बदल गया हो परन्तु उसे नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया गया। इस कारण इस समय भी भारत में प्राचीनतम धार्मिक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में विद्यमान थे। वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, हिन्दू वैष्णव, शैव, शाक्त और तान्त्रिक सम्प्रदाय, आदि सभी किसी न किसी रूप में भारत के विभिन्न भागों में फैले हुए थे। बौद्ध मतावलम्बी मुसलमानी आक्रमणों के अवसर पर काफी संख्या में थे परन्तु धीरे-धीरे उनकी संख्या भारत में नगण्य हो

गयी। जैन धर्म पश्चिमी भारत में और वह भी मुख्यतया राजस्थान और गुजरात तक सीमित रह गया। हिन्दू धर्म में वैष्णव सम्प्रदाय प्रभावशाली हो गया और शैव सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या में भी काफी वृद्धि हुई। मुसलमानों में मुख्यतया सुन्नी और शिया तथा कुछ अन्य छोटे सम्प्रदाय थे। परन्तु इस समय की मुख्य विशेषता मुसलमानों में सूफी सम्प्रदाय की प्रगति और हिन्दुओं में भक्ति-मार्ग पर बल अथवा भक्ति-आन्दोलन की प्रगति थी।

## 1. सूफी सम्प्रदाय

सूफी सम्प्रदाय बहुत प्राचीन है। सर्वप्रथम कूफा के अबू हशीम को सूफी पुकारा गया जिसकी मृत्यु 778 ई. में हुई। इस प्रकार सूफी धर्म की उत्पत्ति विदेशी है। 9वीं सदी में सूफी-दर्शन विकसित हुआ। 10वीं सदी में हुसैन-बिन-मन्सूर-अल-हल्लाज के धार्मिक सिद्धान्तों और आध्यामिक विचारों ने सूफी-दर्शन को व्यवस्थित किया और 12वीं सदी में सूफी-सम्प्रदाय मुसलमानों में लोकप्रिय होना आरम्भ हो गया। धीरे-धीरे उसका पृथक् दर्शन बन गया। मूलतया उसका आधार इस्लाम ही था परन्तु उसने इस्लाम के कर्मकाण्ड के स्थान पर उसके आध्यात्मिक पहलू पर बल दिया। वह महमूद गजनी और मुहम्मद गौरी के आक्रमणों से पहले ही भारत में प्रवेश कर चुका था परन्तु उनके पश्चात् भारत में उसका प्रभाव-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया क्योंकि उत्तरी भारत पर तुर्कों की विजय के पश्चात् एक बड़ी संख्या में सूफी सन्त भारत में आकर बस गये। भारत में बसने के पश्चात् सूफी-सम्प्रदाय भारतीय परिस्थितियों से प्रभावित हुआ और उसने विभिन्न भारतीय परम्पराओं को स्वीकार कर लिया यद्यपि उसने भी भारतीय धार्मिक विचारों को कुछ मात्रा में प्रभावित किया। ईश्वर के प्रति प्रेम, अहिंसा, तप, सांसारिक वस्तुओं का त्याग, आदि हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्म की विशेषताएँ थीं। उनका प्रभाव भारतीय सूफी सन्तों पर आया। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं को भी सूफी सम्प्रदाय में सम्मिलित करने की इच्छा से उन्होंने यहाँ के जन-जीवन को प्रभावित करने वाले कई रीति-रिवाजों को स्वीकार कर लिया। ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित प्रेम और आत्मा तथा परमात्मा का सम्बन्ध एक प्रेमी और प्रेमिका की भाँति है, भक्ति-मार्ग के समर्थक हिन्दू-सन्त प्रचार कर रहे थे। सूफी-सन्तों ने भी यही प्रचार किया। सूफियों ने अहिंसा और तप के विचार भी भारतीयों से ही प्राप्त किये। सामूहिक रूप से गाते-नाचते हुए ईश्वर को याद करना जो सूफियों के चिश्ती-सम्प्रदाय की विशेषता रही, चैतन्य और उसके अनुयायियों के कीर्तन की भाँति ही था। प्रेम और उदारता हिन्दू सन्तों और सूफियों दोनों में समान रूप से थी। आध्यात्मिक मनन और चिन्तन दोनों के लिए व्यक्ति और समाज की नैतिक उन्नति के साधन थे जिससे वे दोनों जाति, रंग, सम्प्रदाय, धन, सम्मान, शक्ति, आदि के भेदभाव से ऊपर उठ सकें। हिन्दू धर्म की भाँति सूफियों ने भी बुद्धि और भावना दोनों से ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण तथा मानव-मात्र की सेवा करना अपना लक्ष्य बताया।

सूफियों ने भी अपनी तरफ से हिन्दू समाज और धर्म को प्रभावित किया। भक्ति-सम्प्रदाय के सन्त जैसे कबीर, नानक, दादू, दयाल, आदि सूफी-विचारों से प्रभावित हुए थे। उनमें से अधिकांश ने इस्लाम के 'एक ईश्वर' के विचार को स्वीकार कर लिया था। उनमें से अनेक ने जाति-प्रथा का विरोध किया था। सम्भवतया भक्ति-

मार्ग के सन्तों द्वारा गुरु की मान्यता सूफी धर्म के अन्तर्गत पीर की मान्यता के कारण उत्पन्न हुई थी।

सूफी दर्शन केवल एक ईश्वर में विश्वास करता है तथा सभी पदार्थों और व्यक्तियों को उस ईश्वर में मानता है। उनके अनुसार 'ईश्वर एक है', 'सभी कुछ ईश्वर में है', 'उनके बाहर कुछ नहीं' और 'सभी कुछ त्याग कर प्रेम के द्वारा ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है।' सूफी सन्त कुरान के बाह्य स्वरूप पर नहीं वल्कि उसके मूल आधार में विश्वास करते थे। उनका जीवन वहुत ही सादा होता था। वे सभी सांसारिक वस्तुओं का त्याग आवश्यक मानते थे। किसी भी प्रकार की मूर्ति-पूजा में उनका विश्वास न था। वे ईश्वर को दयावान और उदार मानते थे। ईश्वर से डरने के स्थान पर वे उससे प्रेम करके उसे पाना चाहते थे। इस कारण वे सभी जीवों से प्रेम करने पर बल देते थे और माँसाहार को वर्जित मानते थे। लालसा को मनुष्य का मुख्य शत्रु मानकर वे तप, साधना और निरन्तर ईश्वर का नाम लेने में विश्वास करते थे। संगीत और गान को वे ईश्वर का नाम लेने में सहायक मानते थे और भावना से प्रेरित होकर वे नाचते-गाते भी थे। उनका विश्वास गुरु (जिसे वे पीर पुकारते थे) में था। उनके अनुसार बिना गुरु की सहायता के ईश्वर-प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती थी। ईश्वर-प्राप्ति अथवा 'वस्ल' प्राप्त करने के लिए उन्हें तोबा (बुरे कर्मों के प्रति क्षोभ), वारा (अपरिग्रह, अर्थात् धन संचय न करना), जुहद (करुणा), फक्र (निर्धनता), सब्र (बर्दाश्त), शुकर (अहसानमन्द होना), खौफ (भय), राज (आशा), तवाखुल (सन्तोष) और रिजा (ईश्वर को आत्मसमर्पण) का पालन करना आवश्यक था। उनका विश्वास नमाज, रोजा, हज-यात्रा, आदि में न था।

इस प्रकार सूफी सन्त प्रायः हिन्दू योगियों की भाँति जीवन व्यतीत करते थे यद्यपि वे नगरों में या उनके निकट रहते थे। वे हिन्दू धर्म के भक्ति-मतावलम्बियों की भाँति ईश्वर-प्रेम पर बल देते थे। भारत में उनकी विभिन्न शाखाएँ थीं परन्तु उनमें से सुरावर्दी और चिश्ती-सम्प्रदाय प्रमुख थे। सुरावर्दी सम्प्रदाय सिन्ध, पंजाब और मुल्तान तक ही सीमित रहा परन्तु चिश्ती सम्प्रदाय पंजाब, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा और दक्षिणी भारत तक फैला हुआ था। 17वीं और 18वीं सदी में उनका प्रभाव सबसे अधिक हुआ। हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक सहयोग और उर्दू भाषा की उत्पत्ति एवं विकास में भी उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया। दिल्ली सल्तनत के समय में सूफी सन्तों में शेख मुईनुद्दीन चिश्ती, बाबा फरीदुद्दीन, नासिरुद्दीन महमूद, चिराग-ए-देलवी, ख्वाजा शेख ताकिउद्दीन, मुहम्मद गौस ग्वालियरी और मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख हुए।

**विभिन्न सूफी-सम्प्रदाय**—सूफी-मत विभिन्न शाखाओं में विभक्त हुआ था। अबुल फजल ने उसे 14 शाखाओं अथवा सिलसिलों में बँटा हुआ बताया। उनमें से भारत में लोकप्रिय कुछ सम्प्रदाय निम्नवत् थे :

**1. चिश्ती-सम्प्रदाय**—सूफी-मत में, भारत में, सबसे अधिक लोकप्रिय सम्प्रदाय चिश्ती-सम्प्रदाय था। उसकी उत्पत्ति भारत से बाहर हुई और उसकी स्थापना करने वाले सन्त ख्वाजा अब्दुल चिश्ती थे। भारत में इस सम्प्रदाय को ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने आरम्भ किया। मुईनुद्दीन चिश्ती का जन्म ईरान में हुआ था। उसने मध्य-एशिया के इस्लाम के प्रसिद्ध स्थानों को देखा और, अन्त में, 1200 ई. में भारत पहुँचा। वह अजमेर में बस गया और सम्पूर्ण उत्तरी-भारत में लोकप्रिय हुआ। हिन्दू

और मुसलमान दोनों ही उसका सम्मान करते थे। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसे अजमेर में ही दफना दिया गया। बादशाह अकबर उसकी दरगाह पर उसे सम्मान देने गया था और आधुनिक समय में भी लाखों हिन्दू और मुसलमान उसकी दरगाह पर उसे सम्मान प्रदर्शित करने जाते हैं। एक अन्य विख्यात चिश्ती सन्त शेख फरीद या फरीद बाबा हुआ। इसके प्रयत्नों से चिश्ती-सम्प्रदाय सम्पूर्ण भारत में लोकप्रिय हो गया। परन्तु चिश्ती सन्तों में सबसे अधिक विख्यात सन्त शेख निजामुद्दीन औलिया हुआ जो फरीद बाबा का शिष्य था। वह दिल्ली के निकट बसा और उसने कई दिल्ली-सुल्तानों के शासन को देखा। कुछ इतिहासकारों ने उसे सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक की हत्या के षड्यन्त्र में सम्मिलित बताया यद्यपि बहुसंख्य इतिहासकार इसे स्वीकार नहीं करते। परन्तु सुल्तान मुहम्मद तुगलक, निसन्देह, उसका बहुत सम्मान करता था। परन्तु निजामुद्दीन ने राज-दरबार से अपना कोई सम्पर्क नहीं रखा। उसका एक शिष्य, शेख बुरहानुद्दीन गरीब दक्षिणी भारत में दौलताबाद में बस गया और वहाँ बड़ी संख्या में उसने अपने अनुयायी बनाये। शेख निजामुद्दीन का एक विख्यात शिष्य शेख नासिरुद्दीन चिराग-ए-धेलवी था जो दिल्ली में बस गया। वह भी सम्पूर्ण भारत में लोकप्रिय हुआ। चिराग-ए-धेलवी का एक शिष्य ख्वाजा मुहम्मद गेसूदराज था जो 1398 ई. में गुलबर्गा में बस गया और जिसने सुल्तान अहमदशाह बहमनी से सम्मान प्राप्त किया। एक अन्य विख्यात चिश्ती सन्त शेख सलीम चिश्ती था जिसे बादशाह अकबर ने सम्मान दिया। उसकी मृत्यु अकबर के काल में ही हुई और उसे फतेहपुर-सीकरी में दफनाया गया जहाँ उसकी कब्र पर एक सुन्दर मकबरा बनाया गया।

चिश्ती-सन्त बहुत साधारण ही नहीं अपितु निर्धनता का जीवन व्यतीत करते थे। उसका सादा और नैतिक जीवन सूफी-सम्प्रदाय की लोकप्रियता का प्रमुख कारण था। चिश्ती-सम्प्रदाय उत्तरी और दक्षिणी भारत दोनों स्थानों पर लोकप्रिय हुआ।

**2. सुरावर्दी सम्प्रदाय**—सुरावर्दी-सम्प्रदाय को शेख शहाबुद्दीन सुरावर्दी ने बगदाद में स्थापित किया था। उसके कई शिष्य भारत आये और उन्होंने सूफी-दर्शन का प्रचार यहाँ किया। सुरावर्दी-सम्प्रदाय भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में लोकप्रिय हुआ। भारत में सुरावर्दी-सम्प्रदाय का सबसे पहला लोकप्रिय सन्त शेख बहाउद्दीन जकारिया था जो मुल्तान में बसा। उसके विचार अन्य सूफी सन्तों से पृथक् थे। वह साधारण जीवन व्यतीत करने में विश्वास नहीं करता था अपितु आराम का जीवन व्यतीत करने में विश्वास करता था और, इस कारण, अपने धनवान शिष्यों से धन और भूमि ग्रहण करता था। वह इस्लाम के वाह्य स्वरूप पर बल देता था और उसने चिश्ती-सम्प्रदाय के ऐसे बहुत से रीति-रिवाजों को मानने से इन्कार कर दिया जिन्हें उसने (सम्प्रदाय) भारत में रहकर अपनाया था। वह शेखों के सम्मुख झुककर नमस्कार करने में, व्रत रखने में और आत्मा की उन्नति के लिए शारीरिक कष्ट बर्दाश्त करने में विश्वास नहीं करता था। सुरावर्दी-सम्प्रदाय के एक अन्य सन्त, शेख सर्फउद्दीन याहिया मनायरी ने सूफी-मत का प्रचार बिहार में किया। वह एक विद्वान था और उसने कई पुस्तकें लिखीं। वह मानवता की सेवा पर अत्यधिक बल देता था।

**3. कादिरी-सम्प्रदाय**—सूफी मत के कादिरी-सम्प्रदाय को भारत में शाह नियामतउल्ला और मुखदम मुहम्मद जिलानी ने लोकप्रिय बनाया। वे 15वीं सदी के मध्य-काल में हुए। कादिरी-सम्प्रदाय के अन्य लोकप्रिय सन्त शेख मूसा और शेख

अब्दुल कादिर थे जो आगरा में रहते थे। लाहौर में निवास करने वाले शेख दाऊद किरमानी और शेख अब्दुल माली कादिरी भी इस सम्प्रदाय के लोकप्रिय सन्त हुए।

**4. नक्शबन्दी-सम्प्रदाय**—सूफी-मत के नक्शबन्दी-सम्प्रदाय को 16वीं सदी में ख्वाजा वकी बिल्लाह ने भारत में लोकप्रिय बनाया। इस सम्प्रदाय ने शरीयत के कानूनों पर बल दिया और उन सभी सिद्धान्तों और रीति-रिवाजों को छोड़ने के लिए कहा जिन्हें इस्लाम के सिद्धान्तों में बाद में सम्मिलित किया गया था। इस सम्प्रदाय ने अन्य सूफी-सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को मानने से इन्कार कर दिया। इसका कहना था कि मनुष्य का सम्बन्ध ईश्वर से प्रेमी और प्रेमिका का नहीं, जैसा कि अन्य सूफी मतावलम्बी मानते थे, अपितु गुलाम और मालिक की भाँति था। इस सम्प्रदाय के अन्य लोकप्रिय सन्त शेख अब्दुल लतीफ, शेख बुरहन, शेख वलीउल्ला, आदि थे। इस सम्प्रदाय का एक अन्य विख्यात सन्त ख्वाजा मीर दर्द था। परन्तु उसके विचार बहुत उदार थे। वह स्वयं को ईश्वर का प्रेमी और गुलाम दोनों ही मानता था।

इस प्रकार, सम्पूर्ण मध्य-युग में सूफी मत के विभिन्न सम्प्रदाय भारत के विभिन्न भागों में लोकप्रिय रहे।

## 2. भक्ति-आन्दोलन

हिन्दू धर्म के अन्तर्गत उत्पन्न भक्ति-आन्दोलन मध्य-युग के धार्मिक जीवन की एक महान् विशेषता रही। कई सदियों तक यह धार्मिक आन्दोलन बहुत प्रभावपूर्ण रहा और आधुनिक हिन्दू धर्म पर उनकी गम्भीर छाप है। **मध्य-युग के इस धार्मिक आन्दोलन को कहाँ से प्रेरणा प्राप्त हुई,** इस प्रश्न पर विभिन्न विचार प्रकट किये गये हैं। सर्वप्रथम, वेवर (Weber) और ग्रीयर्सन (Grierson) सदृश यूरोपियन विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि निर्वाण-प्राप्ति के लिए भक्ति और ईश्वर की एकता का विचार हिन्दुओं ने ईसाई धर्म से प्राप्त किया। परन्तु आधुनिक समय में यूरोपियन विद्वानों के इस विचार को मानने के लिए कोई भी तैयार नहीं है। परन्तु इससे भी अधिक शक्तिशाली विचार यह प्रस्तुत किया गया है कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष तरीके से इस्लाम धर्म ने हिन्दू धर्म को प्रभावित किया जिसका परिणाम मध्य-युग का भक्ति-आन्दोलन था। इसके पक्ष में यह कहा गया है कि रामानन्द जिन्होंने इस आन्दोलन के आधार का निर्माण किया, किसी न किसी प्रकार इस्लाम के विचार से परिचित हो गये थे। वे विचार उनके लिए प्रेरणादायक बने। यही नहीं बल्कि कुछ व्यक्तियों ने यहाँ तक कहा है कि शंकराचार्य का अद्वैत-सिद्धान्त (एक ईश्वर में विश्वास) भी इस्लाम के एक ईश्वर के विचार से प्रभावित हुआ था। परन्तु शंकराचार्य और रामानुज पर नवीन स्थापित इस्लाम धर्म का प्रभाव स्वीकार किया जाना तर्कसंगत नहीं है। शंकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद का समर्थन भारतीय वेदान्त दर्शन के आधार पर किया और रामानन्द व रामानुज वैष्णव धर्म के अनुयायी थे जो हिन्दू धर्म के भक्ति-मार्ग पर बल देते थे और जिन्होंने अपने विचारों का समर्थन उन प्राचीन हिन्दू धर्म-ग्रन्थों के आधार पर ही किया था जिसमें मूर्ति-पूजा का स्थान नहीं है और जो एकेश्वरवाद में विश्वास करते हैं। कुछ अन्य विद्वानों का यह कहना है कि इस्लाम की भ्रातृ-भाव और मानव-समानता की भावना ने हिन्दुओं और भक्ति-मार्ग के प्रचारकों को प्रभावित किया। परन्तु इस्लाम की यह भावना हिन्दुओं को उन परिस्थितियों में किस प्रकार प्रभावित कर सकती थी जबकि इस्लाम अपने व्यावहारिक स्वरूप में

हिन्दू और मुसलमानों में गम्भीर अन्तर मानता था ? यह भी कहना तर्कसंगत नहीं है कि सूफी सम्प्रदाय ने भक्ति-आन्दोलन की प्रेरणा प्रदान की थी। दोनों आन्दोलनों में कुछ समता का होना इस निर्णय के लिए पर्याप्त नहीं है।

वास्तव में, भक्ति-आन्दोलन हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ही एक आन्दोलन था। हिन्दू धर्म में निर्वाण (मोक्ष) प्राप्ति के तीन कारण बताये गये हैं—ज्ञान, कर्म तथा भक्ति। समय-समय पर धर्म-प्रचारकों ने इन्हीं में से किसी न किसी एक मार्ग पर बल दिया। इस युग में हिन्दू धर्म-प्रचारकों ने भक्ति-मार्ग पर बल दिया और उसी के परिणामस्वरूप भक्ति-आन्दोलन का जन्म हुआ। इस कारण विचारों और दर्शन की दृष्टि से हिन्दुओं को ईसाई अथवा इस्लाम धर्म से कुछ ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। यह आन्दोलन पूर्णतया नवीन भी नहीं माना जा सकता। ईसा-पूर्व छठी सदी (6th Century B.C.) में बौद्ध और जैन धर्म के साथ-साथ भागवद्-आन्दोलन का भी प्रादुर्भाव हुआ था जो भक्ति-मार्ग पर बल देता था परन्तु उस अवसर पर यह प्रबल न बन सका। उस समय बौद्ध धर्म एक प्रभावशाली आन्दोलन के रूप में सामने आया। गुप्त काल में हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान होने पर भी बौद्ध धर्म का प्रभाव भारत में काफी प्रबल रहा तथा उसके पश्चात् हिन्दू धर्म एक लम्बे समय तक बौद्धिक अथवा भावात्मक नवचेतना से वंचित रहा। 8वीं सदी में शंकराचार्य ने तर्क और बुद्धि के आधार पर हिन्दू अद्वैतवाद की श्रेष्ठता स्थापित करने में सफलता प्राप्त की जिसके कारण सम्पूर्ण राजपूत-युग में हिन्दू धर्म प्रथम रहा। राजपूतों की शौर्य और युद्ध की प्रवृत्ति भी बौद्ध धर्म के विरुद्ध और हिन्दू धर्म के अनुकूल थी। परन्तु राजपूतों की शौर्य और प्रेम-प्रसंगों की भावना और जागीरदारी-प्रथा (Feudalism) पर आधारित उनकी राजनीतिक व्यवस्था धर्म में बौद्धिक क्रान्ति के अनुकूल न थी। इस कारण शंकराचार्य का ज्ञान-मार्ग जन-साधारण के लिए न तो आकर्षक रहा और न समझने के लिए सरल। इन्हीं परिस्थितियों में भारत मुसलमानी आक्रमणों से पदाक्रान्त हो गया और इस्लाम ने हिन्दू जन-जीवन, समाज और मुख्यतया धर्म को चुनौती दी। उस स्थिति में राजनीतिक सत्ता और आर्थिक व सामाजिक सुविधाओं से वंचित हिन्दुओं ने धर्म का सहारा लिया और उसमें सबसे आकर्षक मार्ग 'भक्ति-मार्ग' को चुना। ईसाई धर्म के आक्रमण से आक्रान्त भारत में 19वीं सदी में हुए 'भारतीय पुनरुत्थान आन्दोलन' से तो इसकी समता नहीं की जा सकती क्योंकि राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द जैसे धर्म-प्रचारकों का आधार ज्ञान और तर्क था जो, सम्भवतया, पश्चिमी सभ्यता की जनतन्त्र, समानता और स्वतन्त्रता की विचारधारा में पनप सका था। परन्तु मध्य-युग की निरंकुश प्रवृत्तियों में इस्लाम धर्म से आक्रान्त हिन्दुओं ने धर्म की रक्षा के लिए प्रायः उसी प्रकार की सुरक्षा की भावना से प्रेरित होकर भक्ति-मार्ग को चुन लिया और उसी का परिणाम भक्ति-आन्दोलन हुआ। सम्भवतया, इसी कारण इस आन्दोलन के प्रवर्तकों ने जाति-प्रथा का विरोध किया और मूर्ति-पूजा को आवश्यक नहीं बताया तथा बाद के कुछ उग्रवादी प्रवर्तकों ने इस्लाम और हिन्दू धर्म को एक ही ईश्वर को प्राप्त करने के दो मार्ग बताये।

**भक्ति-आन्दोलन और उसके प्रवर्तक सन्तों ने उन विशेष बातों पर बल दिया जो इस आन्दोलन का आधार थे।** इन सभी सन्तों ने किसी विशेष सामाजिक अथवा धार्मिक सम्प्रदाय से अपने को नहीं बाँधा और इनमें से कोई भी किसी नवीन धर्म को आरम्भ नहीं करना चाहता था। इनमें से अधिकांश को किसी भी धार्मिक ग्रन्थ में

अन्धविश्वास न था। वे किसी भी धार्मिक कर्मकाण्ड में विश्वास नहीं करते थे, वे बहुदेववाद का विरोध करते थे, और एक ही ईश्वर के विभिन्न नाम हैं (जैसे राम, कृष्ण, शिव, अल्लाह आदि) यह उनका विश्वास था। वे मूर्ति-पूजा और जाति-प्रथा का विरोध करते थे तथा केवल भक्ति के द्वारा ही व्यक्तियों को मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बताते थे। उनका कहना था कि जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने किसी निकट के सम्बन्धी से प्रेम करता है उसी प्रकार धीरे-धीरे एक विस्तृत दृष्टि से प्रेरित होकर वह एकमात्र 'ब्रह्म' अथवा ईश्वर से प्रेम कर सकता है जिसे राम, कृष्ण, शिव, आदि किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। अपनी अन्तिम अवस्था में एक भक्त का ईश्वर के प्रति प्रेम एक प्रेमिका का अपने प्रेमी के प्रति अथवा एक प्रेमी का अपनी प्रेमिका के प्रति तीव्र प्रेम की भाँति होता है जिसमें किसी भी अन्य व्यक्ति अथवा पदार्थ के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। उनके अनुसार ईश्वर मन्दिर में नहीं बल्कि व्यक्ति के हृदय में निवास करता है और सभी सत्य मनुष्य-शरीर में निवास करते हैं। ईश्वर से केवल भक्ति द्वारा सम्पर्क स्थापित करना भक्ति-सन्तों का मुख्य आधार था। परन्तु भक्ति-मार्ग पर चलने के लिए व्यक्ति को अपने शरीर और मस्तिष्क को सभी विचारों से मुक्त करना आवश्यक था तथा इसके लिए एक गुरु भी आवश्यक था। उनका कहना था कि गुरु शिष्य को इस कार्य में सहायता प्रदान करता है परन्तु मोक्ष-प्राप्ति केवल ईश्वर की कृपा के द्वारा सम्भव है और ईश्वर की कृपा प्राप्त करना व्यक्ति का स्वयं का कर्तव्य और कार्य है। विभिन्न सन्तों ने इन सभी विचारों को भजन, दोहा, कविता और सरल उपदेशों के द्वारा जन-साधारण को समझाया। परन्तु सबसे प्रमुख माध्यम उनका स्वयं का भक्तिपूर्ण जीवन था। इन सन्तों ने अपने विचारों को संस्कृत में नहीं बल्कि विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में बताया। मन्दिर, सार्वजनिक स्थान और गाँवों की चौपालें उनके प्रचार के स्थान थे तथा भजन और कीर्तन उनके मुख्य साधन। इन सभी ने मिलकर भक्ति-आन्दोलन को मध्य-युग में अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया।

सम्पूर्ण मध्य-युग में भारत के विभिन्न भागों में भक्ति-मार्ग के विभिन्न प्रवर्तक हुए। उनमें से एक रामानुज थे जो 12वीं सदी के आरम्भ में हुए। आन्ध्र-प्रदेश में त्रिपुती नामक स्थान पर उनका जन्म हुआ था। वह सगुण ईश्वर में विश्वास करते थे और भक्ति-मार्ग को ईश्वर-प्राप्ति का श्रेष्ठ मार्ग बताते थे। उनके अनुसार कर्म-मार्ग व्यक्ति को 'माया' में बाँधता है जिससे मोक्ष सम्भव नहीं है और ज्ञान-मार्ग व्यक्ति को केवल 'माया' (सांसारिक सुख और लालसाएँ) से मुक्ति दिला सकता है, इस कारण अपूर्ण है। इस प्रकार केवल भक्ति-मार्ग द्वारा ही व्यक्ति वैकुण्ठ को प्राप्त कर सकता है और सच्चिदानन्द (ईश्वर) में लीन हो सकता है। उन्होंने शूद्रों को वर्ष के कुछ दिनों में मन्दिरों में जाने की आज्ञा प्रदान की और उन्हें बताया कि गुरु-भक्ति और ईश्वर को पूर्णतया आत्म-समर्पित करने के पश्चात् वे भी मोक्ष की प्राप्ति कर सकते थे। एक अन्य सन्त निम्बकार थे जो 12वीं सदी में ही हुए। वे राधा-कृष्ण के उपासक थे। वे उन्हें ईश्वर का अवतार मानते थे। 13वीं सदी में माधवाचार्य हुए। माधवाचार्य का विश्वास द्वैतवाद में था और वे आत्मा व परमात्मा को पृथक्-पृथक् मानते थे। वे लक्ष्मी-नारायण के उपासक थे। उनका कहना था कि एक व्यक्ति को केवल ईश्वर से प्रेम करना चाहिए और फिर गुरु की सहायता से एकमात्र ईश्वर-भक्ति से वह निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है।

उपर्युक्त सभी सन्त वैष्णव-सम्प्रदाय के थे और उन्होंने भक्ति-मार्ग को प्रेरणा प्रदान की थी। परन्तु उस समय तक यह मार्ग बहुत लोकप्रिय न बन सका। इस कार्य की पूर्ति 14वीं सदी में हुए रामानन्द ने की। वह ब्राह्मण थे और इलाहाबाद में उनका जन्म हुआ था। उन्होंने राघवानन्द नामक गुरु से धर्म की शिक्षा प्राप्त की परन्तु अन्त में स्वयं गुरु के पद को प्राप्त कर सके। उन्होंने अपने विचार रामानुज-सम्प्रदाय से प्राप्त किये जिनको उन्होंने लोकप्रिय बना दिया। रामानन्द ने वैष्णव-सम्प्रदाय और भक्ति-आन्दोलन को तीन प्रकार से प्रभावित किया। प्रथम, उन्होंने राम-सीता की भक्ति पर बल दिया। द्वितीय, उन्होंने अपने उपदेश संस्कृत के स्थान पर हिन्दी में दिये जिससे यह आन्दोलन लोकप्रिय हुआ और हिन्दी साहित्य का निर्माण आरम्भ हुआ। तृतीय, उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से सभी जातियों और स्त्री-पुरुषों को समान स्थान दिया। वे ब्राह्मण थे परन्तु उनके समुदाय में सभी जाति के व्यक्ति सम्मिलित हो सकते थे और वे सभी जाति के व्यक्तियों के साथ बैठकर भोजन कर लेते थे। उसी प्रकार उन्होंने स्त्रियों को भी अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित होने का समान अधिकार दिया। यद्यपि रामानन्द ने सिद्धान्त के आधार पर जाति-प्रथा का कोई विरोध नहीं किया परन्तु उनका व्यावहारिक जीवन जाति-समानता में विश्वास करने का था। उनके 12 शिष्यों में से धन्ना जाट था, सेनादास नाई था, रवीदास (रैदास) चमार था और कबीर जुलाहा था। उनके प्रयत्नों से भक्ति-आन्दोलन और वैष्णव-सम्प्रदाय लोकप्रिय बना, निम्न जातियों का स्तर बढ़ा और स्त्रियों के सम्मान में वृद्धि हुई। वास्तव में मध्य-युग का धार्मिक आन्दोलन रामानन्द से आरम्भ हुआ।

रामानन्द के एक मुख्य शिष्य कबीर हुए। वे सिकन्दर लोदी के समकालीन थे और किंवदन्तियों के अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि सिकन्दर लोदी ने उन्हें मारने के लिए कई प्रयत्न किये परन्तु असफल रहा। किंवदन्तियों के अनुसार एक विधवा ब्राह्मणी ने इनको जन्म दिया और उन्हें वह एक तालाब के किनारे छोड़ गयी थी जहाँ नीरू नामक एक मुसलमान जुलाहे की पत्नी उन्हें उठा लायी तथा उसने उनका पुत्रवत् पालन किया। कबीर रामानन्द के शिष्य बने। वे अधिकांशतया बनारस में रहते थे। उनकी पत्नी, एक पुत्र तथा एक पुत्री थी। वे जीवन-पर्यन्त जुलाहे का कार्य करते रहे। इस प्रकार वह एक पारिवारिक सन्त थे और गृह-त्याग में उनका विश्वास न था। कबीर का विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आजीविका के लिए धन अवश्य कमाना चाहिए। परन्तु उनका कहना था कि एक व्यक्ति के पास धन सीमित मात्रा में ही होना चाहिए और उसे धन का लालच कभी नहीं करना चाहिए। इस प्रकार, उन्होंने यह सन्देश दिया कि समाज के लिए आर्थिक प्रयत्न आवश्यक हैं और इस कारण, उन्होंने किसी को भी घूमते-फिरते साधू बनने का उपदेश नहीं दिया। उनके विचारों से प्रकट होता है कि उन्हें हिन्दू-दर्शन का ज्ञान था और वे राम-भक्ति में विश्वास करते थे। परन्तु कबीर का विश्वास बाह्य आडम्बर, कर्मकाण्ड, जाति-प्रथा, आश्रम-व्यवस्था और धर्म के अन्तरों में न था। उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने का प्रयत्न किया। उनका कहना था कि "कबीर अल्लाह और राम का पुत्र है।"[1] उन्होंने यह भी कहा था कि "आरम्भ में

---

1 "Kabir is the child of Allah and Ram." —Kabir.

न कोई तुर्क था, न कोई हिन्दू, न कोई नस्ल और न कोई जाति।"[1] कबीर ने भक्ति को ही मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बताया। उन्होंने अपने उपदेश दोहे अथवा छोटी-छोटी कविताओं के रूप में दिये। बाद में एक पुस्तक 'बीजक' में उनका संकलन किया गया। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उनके अनुयायी थे जो कबीरपन्थी कहलाये। कबीर के मुख्य उपदेश निम्न प्रकार थे :

1. संस्कृत एक कुएँ के जल की भाँति है जबकि जन-भाषा एक बहते हुए झरने के समान है।

2. यदि पत्थर की पूजा करने से ईश्वर प्राप्त हो सकता है तो मैं एक पहाड़ को पूजूँगा।

3. यदि जल में स्नान करने से निर्वाण-प्राप्ति सम्भव होती तो सबसे पहले वह मेढकों को प्राप्त होती।

4. यदि नग्न घूमने से 'हरी' (ईश्वर) प्राप्त हो जाता तो सबसे पहले उसे हरिण प्राप्त करते।

5. ओ काजी ! पुस्तकों को पढ़ने वाले मार दिये जाते हैं, पुस्तकों को छोड़ो, राम की भक्ति करो।

6. अनेक पुस्तकें पढ़कर भी एक व्यक्ति पण्डित नहीं हो सकता। पण्डित वह है जो 2½ अक्षर के शब्द 'प्रेम' को समझता है।

7. सत्य रहो, स्वाभाविक रहो। स्वाभाविक रहना सत्य है। सत्य हृदय में है और प्रेम से पहचाना जाता है।

8. विभिन्न धर्मों और ईश्वर में केवल नाम का अन्तर है। सोना एक-समान होता है। उसके जेवर बन जाने के पश्चात् नाम अलग-अलग हो जाते हैं।

9. धर्म के कारण झगड़ा करने वाले अज्ञानी होते हैं।

10. नामों के विवाद को छोड़कर भक्ति और प्रेम से ईश्वर को याद करो। वही सत्य है और वही निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग है।

कबीर ने कोई नवीन धर्म नहीं चलाया और उनके पुत्र ने भी इस कार्य को करने से इन्कार कर दिया। परन्तु उनके अनुयायियों ने कबीरपन्थी सम्प्रदाय को जन्म दिया जिसके समर्थक हिन्दू और मुसलमान दोनों ही रहे। यह कहा जाता है कि उनकी मृत्यु हो जाने पर हिन्दू और मुसलमानों में झगड़ा हुआ। हिन्दू उनके शरीर को जलाना चाहते थे और मुसलमान उसको गाढ़ना चाहते थे। परन्तु जब उनके शरीर से कपड़ा हटाया गया तो वहाँ केवल फूल मिले जिसे हिन्दू और मुसलमानों ने आपस में बाँट लिया।

कबीर की भाँति हिन्दू और मुसलमानों की एकता में विश्वास करने वाले एवं पारिवारिक जीवन बिताने वाले एक अन्य सन्त नानक (1469-1538) थे। लाहौर से 35 मील दूर दक्षिण-पश्चिम में तालवण्डी (आधुनिक ननकाना) नामक स्थान पर नानक का जन्म एक खत्री परिवार में हुआ। अल्पायु में ही उनका विवाह कर दिया

---

1 "In the beginning, there was no Turk nor Hindu—no race, no caste."
—Kabir.

गया और उनके दो पुत्र हुए। परन्तु नानक किसी व्यवसाय या खेती आदि में रुचि न रख सके और एक लम्बे समय तक भ्रमण करते रहे। कहा जाता है कि वे श्रीलंका और मक्का व मदीना तक गये थे। नानक ने भी अपने उपदेश छोटी-छोटी कविताओं के रूप में दिये जिनको 'आदि-ग्रन्थ' में संकलित किया गया। नानक ने कर्मकाण्ड, अवतारवाद, धार्मिक ग्रन्थ, बाह्य आडम्बर, क्रिया-कर्म, जाति-प्रथा और धर्म-विभेदों का विरोध किया। वह भी ईश्वर की एकता में विश्वास करते थे तथा हिन्दू और मुसलमानों को धार्मिक मतभेदों को भुलाना सिखाना चाहते थे। वह ईश्वर की एकता, भक्ति और सत्कर्मों में विश्वास करते थे। गुरु-आस्था में उनका विश्वास था। नानक स्वयं किसी सम्प्रदाय को आरम्भ करना नहीं चाहते थे। उन्होंने तो केवल शिष्य बनाये थे जो बाद में 'सिख' कहलाने लगे। उन्हें बाद में राजनीतिक कारणों ने एक पृथक् सम्प्रदाय का रूप दे दिया। नानक मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। उनका विश्वास 'जीव के आवागमन' और 'कर्म' के सिद्धान्तों में था। उनका विश्वास नैतिक जीवन, सज्जनता, करुणा, दान, सत्यता, उदारता, आदि में था। निरन्तर ईश्वर का नाम जपना और गुरु की आज्ञा का पालन करना वे मोक्ष-प्राप्ति के लिए आवश्यक मानते थे।

कृष्ण की भक्ति में विश्वास करने वाले एक महान् सन्त **वल्लभाचार्य** (1479-1531) हुए। उनके पिता लक्ष्मणभट्ट तैलंगाना के ब्राह्मण थे और जब वे काशी की यात्रा पर गये हुए थे तभी वल्लभाचार्य का जन्म हुआ। 11 वर्ष की आयु में उनके पिता की और 12 वर्ष की अवस्था में उनकी माता की मृत्यु हो गयी। परन्तु वे इतने योग्य थे कि उन्होंने बाल्यावस्था में ही चारों वेद, छः शास्त्र और 18 पुराणों का अध्ययन कर लिया था। काशी (बनारस) में अपनी शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात् वे अपने गृह-राज्य विजयनगर चले गये और कृष्णदेवराय के समय में उन्होंने वहाँ वैष्णव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा स्थापित की। वे भी एक पारिवारिक सन्त थे। उनकी पत्नी का नाम महालक्ष्मी था और उनके अनेक पुत्र हुए। वे द्वैतवाद में विश्वास करते थे और श्रीनाथजी के रूप में उन्होंने कृष्ण-भक्ति पर बल दिया। उन्होंने अनेक धार्मिक ग्रन्थ लिखे जिसमें से 'सुबोधिनी' और 'सिद्धान्त-रहस्य' बहुत विख्यात हुए। उनका बाद का समय अधिकांशतया वृन्दावन और काशी में व्यतीत हुआ। वे कृष्ण को ब्रह्म, पुरुषोत्तम और परमानन्द का स्वरूप मानते थे। वे उनके प्रति पूर्ण प्रेम और भक्ति को ही निर्वाण प्राप्ति का एकमात्र मार्ग बताते थे। भक्ति और प्रेम के प्रति वल्लभाचार्य का दृष्टिकोण अत्यन्त भावुक था जिसके कारण उन्होंने कविता, गान, नृत्य, चित्रकला, आदि को प्रोत्साहन दिया। कृष्ण की गोप-गोपियों के बीच रास-लीलाओं में भी उनका विश्वास था और उन्होंने उन्हें बहुत लोकप्रिय बनाया। **वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ** ने कृष्ण-भक्ति को और भी अधिक लोकप्रिय बनाया। अकबर ने उन्हें गोकुल और जैतपुरा की जागीरें प्रदान कीं। औरंगजेब के समय में श्रीनाथजी की मूर्ति को उदयपुर पहुँचा दिया गया जहाँ वह नाथद्वारा के नाम से विख्यात हुई। 18वीं और 19वीं सदी में उनके कुछ समर्थकों ने राधा-कृष्ण की रास-लीलाओं को विकृत स्वरूप प्रदान किया जिसके कारण इस सम्प्रदाय में कुछ दोष आ गये अन्यथा यह सम्प्रदाय कृष्ण-भक्ति को लोकप्रिय बनाने में पर्याप्त सफल रहा।

भक्ति-मार्ग के एक अन्य महान् सन्त **चैतन्य** हुए। बंगाल के नदिया नामक

स्थान पर एक ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म हुआ। उनकी पहली पत्नी की मृत्यु हो जाने के कारण उन्होंने दूसरा विवाह किया। 22 वर्ष की आयु में गया में ईश्वरपुरी नामक एक साधु ने उन्हें कृष्ण-मन्त्र दिया और 24 वर्ष की आयु में वे साधु हो गये। उन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया परन्तु उनका अधिकांश समय पुरी (उड़ीसा) में व्यतीत हुआ। चैतन्य का ईश्वर-प्रेम अद्भुत था। वे कृष्ण का नाम लेते हुए हँसते थे, रोते थे, नाचते थे, गाते थे और अक्सर मूर्छित हो जाते थे। उन्होंने भक्ति में कीर्तन करने को मुख्य स्थान दिया जिसमें व्यक्ति सामूहिक रूप से मिलकर गाते-बजाते हुए कृष्ण का नाम लेते और भजन गाते थे। वृन्दावन का एक तीर्थ-स्थान के रूप में पुनः स्थापना करना उनके शिष्यों का कार्य रहा। वे और उनके शिष्य सड़कों पर भजन कीर्तन करते हुए नाचते-गाते थे और इतने मस्त हो जाते थे कि उनमें से अनेक मूर्छित अथवा अर्ध-पागल की स्थिति में पहुँच जाते थे। सम्भवतया, चैतन्य चण्डीदास और जयदेव की राधा-कृष्ण के प्रेम की कविताओं से बहुत प्रभावित हुए थे। चैतन्य ने ज्ञान के स्थान पर प्रेम और भक्ति को मुख्य बताया। प्रेम उनके लिए एक आध्यात्मिक भावना थी। परन्तु राधा-कृष्ण के प्रेम का दुरुपयोग न हो सके, इसके लिए उन्होंने स्त्रियों को पुरुषों से पृथक् रहने का आदेश दिया था। वे मूर्ति-पूजा और धर्म-ग्रन्थों का विरोध नहीं करते थे परन्तु कर्मकाण्ड और आडम्बरों से उन्हें घृणा थी। जाति-प्रथा के प्रति उनका दृष्टिकोण मध्यमार्गी था। वे सभी को कृष्ण-भक्ति के योग्य मानते थे परन्तु मन्दिरों में मुसलमानों और निम्न जातियों के प्रवेश को उचित नहीं मानते थे। परन्तु यह उनके लिए अधिक महत्वपूर्ण न था। सभी के प्रति प्रेम और उदारता उनके लिए प्रमुख थी और सभी वर्गों एवं सम्प्रदायों के व्यक्ति उनके साथ भजन-कीर्तन में सम्मिलित हो सकते थे। चैतन्य समाज-सुधारक न थे, इस कारण उन्होंने उसकी कुप्रथाओं की ओर ध्यान नहीं दिया। परन्तु धर्म और ईश्वर की दृष्टि में वे सभी व्यक्तियों को समान मानते थे। चैतन्य ने भक्ति-मार्ग को प्रेम और आध्यात्मिक प्रगति दोनों ही दृष्टियों से लोकप्रिय बनाया। चैतन्य ने न अपने उपदेशों का किसी पुस्तक में संकलन किया और न किसी नवीन धार्मिक सम्प्रदाय को चलाया। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों ने उनके उपदेशों का संकलन किया। चैतन्य के जीवन और उनके उपदेशों के बारे में जानने का मुख्य साधन 'चैतन्य-चरितम्' नाम पुस्तक है जिसे कविराज कृष्णदास ने 16वीं सदी के बाद के भाग में लिखा।

15वीं सदी में महाराष्ट्र में नामदेव ने भक्ति-मार्ग को बहुत लोकप्रिय बनाया। वह जाति-भेद में विश्वास नहीं करते थे और मुसलमान भी उनके शिष्य थे। वे मूर्ति-पूजा और कर्मकाण्ड के विरोधी थे। उपर्युक्त सन्तों के अतिरिक्त अन्य अनेक सन्त इस समय में हुए जिन्होंने भक्ति-मार्ग पर बल दिया। भक्ति-मार्ग की यह विचारधारा मुगल-काल में भी लोकप्रिय हुई और उस समय में भी अनेक महान् सन्त हुए। जनेश्वर, तुकाराम, जनतीर्थ, विद्याधिराज, रविदास, मलूकदास, चण्डीदास, विद्यापति. मीराबाई; सूरदास, तुलसीदास, आदि विभिन्न महान् सन्त समय-समय पर हुए जिसके कारण भक्ति-मार्ग की धारा सम्पूर्ण मध्य-युग में अविरल गति से बहती रही। भक्ति-मार्ग कई सदियों तक प्रभावपूर्ण रहा। साथ ही साथ सम्पूर्ण भारत इस भावना से प्रभावित हुआ। पंजाब से लेकर बंगाल तक और हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक भारत का कोई भी भाग ऐसा न था जहाँ यह आन्दोलन लोकप्रिय न हुआ हो। इतना अधिक

लोकप्रिय और विस्तृत धार्मिक आन्दोलन भारत में बौद्ध धर्म के प्रसार के पश्चात् से नहीं हुआ था और उसके बाद तो कोई भी नहीं हुआ। 19वीं सदी के धार्मिक पुनरुद्धार-आन्दोलन का क्षेत्र और समय भी उसकी तुलना में बहुत सीमित रहा। इसी से इस आन्दोलन का प्रभाव स्पष्ट है। भक्ति-आन्दोलन के दो प्रमुख कारण थे—इस्लाम के आक्रमणों से सुरक्षा तथा हिन्दू समाज और धर्म में सुधार की आवश्यकता अथवा एक ही कारण ने दूसरी आवश्यकता को जन्म दिया था। परन्तु सम्भवतया एक अन्य महत्वपूर्ण कारण तत्कालीन परिस्थितियों में सार्वजनिक पीड़ा से उत्पन्न ईश्वर प्राप्ति के लिए एक सरल मार्ग तलाश करने की आवश्यकता भी रहा होगा। आरम्भ में हिन्दुओं में मूर्ति-पूजा न थी। वह उसमें बाद में सम्मिलित हुई। जब मुसलमानी आक्रमणों ने इसे दुष्कर बना दिया तब मध्य-युग के धर्म-प्रचारकों ने मूर्ति-पूजा को अनावश्यक बताया। इस्लाम हिन्दुओं की जाति-प्रथा से लाभ प्राप्त कर रहा था, इस कारण धर्म-प्रचारकों ने जाति-प्रथा के बन्धनों को समाप्त करने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त संस्कृत विद्या के अध्ययन की सुविधा न होने और हिन्दू शिक्षालयों के अभाव में हिन्दुओं के बौद्धिक स्तर का ज्ञान-मार्ग को समझने के योग्य न होने से भक्ति-मार्ग उनके सम्मुख सबसे अधिक सरल और जन-साधारण के समझने योग्य मार्ग रह गया। इस कारण उन्होंने उसी का प्रचार किया। यह सभी कुछ अनुमान पर आधारित है परन्तु असम्भव नहीं है। इस अनुमान का आधार भक्ति-आन्दोलन में छिपी हुई ईश्वर के प्रति आश्रित होने की भावना है। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से पदाक्रान्त हिन्दुओं के पास सम्भवतया ईश्वर पर आश्रित रहने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह गया था। भक्ति-मार्ग और भक्ति-आदोलन में संघर्ष की भावना का अभाव इस अनुमान का आधार है। 19वीं सदी का भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन तर्क और बुद्धि पर आधारित होकर संघर्ष की भावना से प्रेरित था क्योंकि 19वीं सदी में हिन्दू राजनीतिक दासता के बावजूद भी राजनीति, शासन और बौद्धिक दृष्टि से असहाय न थे बल्कि प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हो रहे थे, अतएव 19वीं सदी के धार्मिक आन्दोलनों ने आत्मसमर्पण के स्थान पर बुद्धि, तर्क और संगठन के द्वारा संघर्ष करके धर्म और समाज की प्रगति करने का प्रयत्न किया। इस कारण यह अनुमान किया जा सकता है कि मध्य-युग में हिन्दुओं के आत्मपीड़न और असहायता के कारण भी भक्ति-मार्ग पर बल दिया गया था।

व्यावहारिक दृष्टि से इस आन्दोलन के मुख्य उद्देश्य दो थे। प्रथम, इसने हिन्दू धर्म में सुधार का प्रयत्न किया। मूर्ति-पूजा और जाति-प्रथा का विरोध इस प्रयत्न के मुख्य आधार थे। तत्कालीन युग में इस आन्दोलन ने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में कुछ सफलता प्राप्त की। परन्तु वह सफलता न स्थायी थी और न सर्वव्यापी। हिन्दू धर्म की सुदृढ़ प्राचीरों को (चाहे वह लाभ के लिए हैं अथवा हानि के लिए) यह आन्दोलन न तोड़ सका। विभिन्न धर्म-प्रचारकों के न चाहते हुए भी उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों ने छोटे-छोटे धार्मिक सम्प्रदायों का निर्माण करके अपने लक्ष्य और कार्यक्षमता को सीमित कर लिया जिसके कारण न तो वे हिन्दू धर्म में कोई स्थायी सुधार कर सके और न हिन्दुओं के जन-जीवन में सम्मिलित ही रह सके तथा हिन्दू धर्म जिस अवस्था में था, उसी प्रकार रहा। इन नवीन सम्प्रदायों में सर्वाधिक शक्तिशाली सम्प्रदाय गुरु नानक के समर्थकों (सिखों) का बना परन्तु उनकी शक्ति का मुख्य आधार वास्तविकता में गुरु नानक की धार्मिक प्रवृत्ति और अध्यात्मवाद की

भावना नहीं है। उसके कुछ अन्य कारण हैं जिनमें एक मुख्य कारण राजनीति रहा है। इसके अतिरिक्त हिन्दू धर्म में सुधार करने वाला और उसकी रक्षा के लिए हथियार उठाने वाला सिख-सम्प्रदाय एक पृथक् धर्म और सम्प्रदाय की भावना को भी जन्म दे सकता है, यह आश्चर्यजनक है। इस कारण हिन्दू धर्म के सुधार करने में इस आन्दोलन की क्षमता सीमित और अस्थायी सिद्ध हुई। परन्तु तब भी यह आन्दोलन बहुत महत्वपूर्ण था। मध्य-युग में हिन्दू-आत्मा को जीवित रखने और शक्ति प्रदान करने में उसका योगदान अमूल्य रहा। इस आन्दोलन का द्वितीय लक्ष्य हिन्दू मुस्लिम एकता था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में यह आन्दोलन पूर्णतया असफल रहा। तत्कालीन समय में भी उसका प्रभाव बहुत सीमित रहा और स्थायी प्रभाव तो उसका हुआ ही नहीं। परन्तु एक अन्य दृष्टि से यह आन्दोलन बहुत महत्वपूर्ण रहा। विभिन्न सन्तों ने अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषाओं में अपने उपदेश दिये तथा कविताओं, दोहों आदि की रचना की। इससे प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य के निर्माण में सहायता प्राप्त हुई। हिन्दी, बंगाली, मराठी, मैथिल, आदि सभी भाषाओं के साहित्य का निर्माण उसके द्वारा सम्भव हुआ था। इस प्रकार, मध्य-युग का यह भक्ति-आन्दोलन काफी महत्वपूर्ण तथा अपने युग की एक महान् विशेषता माना गया है।

## [ 4 ]
## साहित्य

कुछ विद्वानों ने दिल्ली सल्तनत को साहित्यिक प्रगति से शून्य बताया है और कुछ अन्य विद्वानों ने उस समय की साहित्यिक प्रगति की बहुत प्रशंसा की है। परन्तु अधिकांशतया यह स्वीकार किया जाता है कि यह समय साहित्यिक दृष्टि से मध्यम था। इस समय में फारसी और संस्कृत भाषा के अतिरिक्त हिन्दी, उर्दू और प्रायः सभी प्रान्तीय भाषाओं में ग्रन्थ लिखे गये। विभिन्न दिल्ली के सुल्तानों और स्वतन्त्र प्रान्तीय राजाओं ने विद्वानों को आश्रय दिया जिसके फलस्वरूप धार्मिक और ऐतिहासिक ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी ग्रन्थों की रचना हुई। काव्य, गद्य, पद्य, नाटक आदि सभी प्रकार की पुस्तकों की रचना हुई। अतएव यह नहीं माना जा सकता कि इस समय में साहित्यिक प्रगति नहीं हुई। परन्तु फारसी साहित्य का मुख्य दोष यह था कि उस पर धार्मिक कट्टरता का प्रभाव आया था और संस्कृत साहित्य में यह दोष रहा कि उसमें मूल ग्रन्थ नहीं लिखे गये बल्कि अधिकांश पुस्तकें प्राचीन ग्रन्थों की पुनरावृत्ति, टीकाएँ अथवा प्राचीन गाथाओं का आधार लेकर लिखी गयीं। इस कारण इस युग की मुख्य विशेषता विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के निर्माण का आधार तैयार करने में थी। हिन्दी, उर्दू, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, आदि सभी प्रादेशिक भाषाओं को साहित्यिक भाषा का स्थान ग्रहण करने में समय तो बहुत लगा परन्तु इस समय में वे किसी न किसी रूप से आरम्भ हो गयीं। इसमें मुख्य योगदान भक्ति-मार्ग के समर्थक सन्तों का रहा।

### फारसी साहित्य

तुर्की सुल्तान फारसी साहित्य में रुचि रखते थे। महमूद गजनवी के समय में अल-बरूनी भारत आया था। वह एक महान् विद्वान था जिसने संस्कृत का भी अध्ययन किया। हमें 11वीं सदी के भारत के बारे में जानने की मूल्यवान सामग्री

उसके विवरण से प्राप्त होती है। दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों ने भी विभिन्न विद्वानों को राज्याश्रय प्रदान करके फारसी साहित्य की प्रगति में योग दिया। इल्तुतमिश के समय में नासिरीं, अबू-बक्र-बिन मुहम्मद रुहानी, ताजुद्दीन दबीर और नूरुद्दीन मुहम्मद मुख्य विद्वान थे। नूरुद्दीन ने लुबाब-उल-अल्बाब' को लिखा था। सुल्तान बलबन और अलाउद्दीन खलजी के समय में मंगोलों के आक्रमण से भयभीत अनेक विदेशी मुसलमान विद्वान भारत भागकर आये जिसके कारण दिल्ली फारसी साहित्य का एक मुख्य केन्द्र बन गया। बलबन का पुत्र मुहम्मद विद्वानों का संरक्षक था और उसने अपने समय के महान् विद्वान अमीर खुसरव तथा मीरहसन देहलवी को संरक्षण प्रदान किया था। अमीर खुसरव ने अपनी कविताओं में हिन्दी शब्दों का प्रयोग आरम्भ किया और फारसी कवियों में उसे श्रेष्ठतम स्थान प्रदान किया गया है। उसके मुख्य ग्रन्थ 'खजायेनुल-फुतूह', 'तुगलकनामा' और 'तारीखे अलाई' माने गये। मुहम्मद तुगलक के समय में बदरुद्दीन मुहम्मद फारसी का श्रेष्ठ कवि था। इतिहासकार इसामी भी उसका समकालीन विद्वान था। फीरोज तुगलक ने स्वयं की आत्मकथा लिखी थी तथा इतिहासकार बरनी और अफीफ उसके संरक्षण में थे। लोदी शासकों ने भी विद्वानों को संरक्षण दिया और सिकन्दर लोदी स्वयं कविता लिखता था। रफीउद्दीन शिराजी, शेख अब्दुल्ला, शेख अजीजउल्ला और शेख जमालुद्दीन उस समय के मुख्य विद्वान थे। विभिन्न प्रान्तीय राज्यों में भी विभिन्न विद्वान हुए, जैसे सिन्ध में सैय्यद मुईन-उल-हक, बिहार में इब्राहीम फारुखी, गुजरात के फजलुल्लाजैनुल अब्दीन, आदि। बहमनी शासकों में से ताजुद्दीन फीरोजशाह और वहाँ के मन्त्रियों में मुहम्मद गवाँ का नाम भी विद्वानों में माना गया है।

इतिहासकारों में अल-बरुनी, 'ताजुल मासिर' का लेखक हसन निजामी, 'तबकाते नासिरी' का लेखक मिनहाजुद्दीन सिराज, 'तारीखे-फिरोजशाही' और 'फतवा-ए-जहाँदारी' का लेखक जियाउद्दीन बरनी, 'तारीख-ए-फीरोजशाही' का लेखक शम्स-ए-सिराज अफीफ, 'तारीख-ए-मुबारकशाही' का लेखक याहिया बिन अहमद सरहिन्दी और 'फुतूह-उस-सलातीन' का लेखक ख्वाजा अबूमलिक इसामी मुख्य माने गये हैं।

इस युग में कुछ संस्कृत के ग्रन्थों का भी फारसी में अनुवाद किया गया था।

## संस्कृत साहित्य

संस्कृत साहित्य को हिन्दू शासकों से संरक्षण प्राप्त हुआ, मुख्यतया विजयनगर, वारंगल और गुजरात के शासकों से। संस्कृत में काव्य, नाटक, दर्शन, टीकाएँ आदि सभी कुछ लिखा गया। रचनाओं की दृष्टि से संस्कृत साहित्य में अभाव न रहा परन्तु इस युग के ग्रन्थों में मौलिकता का अभाव रहा। हम्मीरदेव, कुम्भकर्ण, प्रतापरुद्रदेव, बसन्तराज, वेमभूभाल, कात्यमेव, विरुपाक्ष, नरसिंह, कृष्णदेवराय, भूपाल, आदि ऐसे अनेक शासक हुए जिन्होंने संस्कृत साहित्य का पोषण किया। प्रतापरुद्रदेव के दरबार के विद्वान अगस्त्य ने 'प्रतापरुद्रदेव यशोभूषन', 'कृष्ण चरित्र', आदि ग्रन्थों की रचना की। विद्याचक्रवर्तिन तृतीय ने वीर बल्लाल तृतीय के संरक्षण में 'रुक्मिणी-कल्याण' लिखा और माधव ने विजयनगर के शासक विरुपाक्ष के संरक्षण में 'नर्कासुर-विजय' की रचना की। वामनभट्ट बान ने काव्य, नाटक, चरित, सन्देश, आदि विभिन्न प्रकार की रचनाएँ कीं और वह एक महान् विद्वान माना गया। एक अन्य विद्वान विद्यापति ने 'दुर्गाभक्ति-तरंगिनी' और अन्य ग्रन्थों की रचना की। विद्यारण्य ने 'शंकर-

विजय' को लिखा, कृष्णदेवराय के दरबारी कवि दिवाकर ने अनेक ग्रन्थ लिखे और कीर्तिराज अथवा श्रीवर जैसे विद्वानों ने भी अपनी रचनाएँ लिखीं। जैन विद्वान नयचन्द ने संस्कृत में 'हम्मीर-काव्य' लिखा। विजयनगर के सम्राट विरुपाक्ष ने स्वयं 'नारायण-विलास' और कृष्णदेवराय ने 'जाम्बवती कल्याण' तथा अन्य कई पुस्तकें लिखी थीं। रामानुज ने ब्रह्मसूत्रों पर टीकाएँ लिखीं, पार्थसारथी ने कर्म-मीमांसा पर ग्रन्थ लिखे तथा जयदेव ने 'गीत-गोविन्द', जयसिंह सूरी ने 'हम्मीर मद-मर्दन' और गंगाधर ने 'गंगादास प्रताप विलास' लिखा। कल्हण द्वारा 'राजतरंगिणी' में काश्मीर का इतिहास चित्रित किया गया और जोनराजा तथा श्रीवर ने उस इतिहास को अपनी रचनाओं (द्वितीय और तृतीय राजतरंगिणी) द्वारा पूर्ण किया। हिन्दुओं के प्रसिद्ध कानूनी ग्रन्थ 'मिताक्षरा' की रचना ज्ञानेश्वर ने की और ज्योतिष के महान् विद्वान 'भास्कराचार्य' भी इसी युग में हुए। इनके अतिरिक्त अनेक अन्य ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे गये जो यह सिद्ध करते हैं कि सुल्तानों का संरक्षण न मिलने पर भी हिन्दू विद्वान अपने साहित्य को धनवान बनाने के प्रयत्न में लगे रहे थे।

**हिन्दी-उर्दू तथा अन्य प्रादेशिक भाषाएँ**

हिन्दी, उर्दू और अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य के निर्माण का आधार इस युग में बना। पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में खड़ी बोली और ब्रज भाषा हिन्दी के निर्माण का आधार बनीं। कवि चन्दबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो', सारंगधर का 'हम्मीर-काव्य', जगनक का 'आल्हखण्ड', आदि ग्रन्थ इस भाषा में लिखे गये महान् ग्रन्थ थे। उर्दू जो पहले 'हिन्दवी' के नाम पुकारी गयी, इसी समय में उत्पन्न हुई यद्यपि उनका विकास इस युग में नहीं हुआ। अमीर खुसरव एक ऐसे विद्वान हुए जिन्हें हिन्दी और उर्दू दोनों का ही महान् कवि माना गया। मैथिल साहित्य के विकास में विद्यापति ठाकुर ने बड़ा सहयोग दिया जो हिन्दी, मैथिल और संस्कृत के बड़े विद्वान थे। इसके अतिरिक्त भक्ति-मार्ग के सन्तों और प्रचारकों ने विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के निर्माण में सहयोग दिया। अवधी, राजस्थानी, सिन्धी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगाली, उड़िसा, तमिल, कन्नड़, तेलुगु, मलयालम, आदि प्रायः सभी भाषाओं का किसी न किसी मात्रा में विकास हुआ।

इस काल में मराठी-साहित्य की प्रगति हुई। प्रारम्भिक मराठी कवियों में चक्रधर, भास्कर, भट्ट और मुकन्दराय प्रमुख हुए। उसके पश्चात् भक्ति-मार्ग के समर्थक विभिन्न सन्तों ने मराठी-साहित्य की प्रगति में भाग लिया। सन्त जनेश्वर ने गीता पर प्राकृत-मराठी में टीकाएँ लिखीं जिन्हें जनेश्वरी पुकारा गया। वह साधारण जनता में बहुत लोकप्रिय हुई। जनेश्वर के प्रायः 250 वर्ष पश्चात् सन्त एकनाथ ने भागवत का मराठी में अनुवाद किया और रुक्मणी स्वयंवर तथा भावार्थ-रामायण को लिखा। वे भी बहुत लोकप्रिय हुए। परन्तु इस काल के मराठी-साहित्य में सबसे श्रेष्ठ स्थान सन्त तुकाराम के अभंगों का है।

इस काल में गुजराती-साहित्य की भी प्रगति हुई। कई जैन सन्तों ने इसके निर्माण में भाग लिया। गुजराती काव्य-ग्रन्थों में गुणरत्न सूरी का भारतबाहुबली, विजयभद्र का शीलरस, उदयवन्त का गौतम-स्वामी-रस और सुन्दर सूरी का शान्त-रस बहुत विख्यात हुए। सन्त नरसिंह मेहता ने कृष्ण-भक्ति पर प्रायः एक लाख दोहों की रचना की। इस काल में कई संस्कृत-ग्रन्थों का गुजराती में अनुवाद किया गया।

गद्य में पंचतन्त्र, रामायण, गीता और योगवशिष्ठ का अनुवाद गुजराती में किया गया। काव्य में वत्स ने सुभद्रा-हरण, वच्छराज ने रासमंजरी और तुलसी ने ध्रुव को लिखा। इस प्रकार गद्य और पद्य दोनों दृष्टि से गुजराती-साहित्य की प्रगति हुई।

बंगाली-साहित्य के निर्माण में विद्यापति और चण्डीदास की रचनाओं ने एक बड़ा भाग लिया। बंगाल के कई शासकों ने भी बंगाली-साहित्य के निर्माण में भाग लिया। सुल्तान नुसरतशाह ने महाभारत का बंगाली में अनुवाद कराया। सुल्तान हुसैनशाह ने गीता का अनुवाद बंगाली में मलधर वसु से कराया। उसके एक सरदार ने महाभारत का बंगाली-अनुवाद कवीन्द्र परमेश्वर से कराया। उसके पश्चात् चैतन्य और उनके अनुयायियों ने अपने भजनों और गीतों से बंगाली-साहित्य को धनवान बनाया।

दक्षिणी भारत में 13वीं और 14वीं शताब्दी में शैव-आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप तमिल-साहित्य की प्रगति हुई और विजयनगर के सम्राटों ने संस्कृत, तेलुगु और कन्नड़ भाषाओं के साहित्य के निर्माण में सहयोग दिया।

इस प्रकार साहित्यिक प्रगति की दृष्टि से यह युग अभावग्रस्त न था बल्कि दो प्रकार से महत्वपूर्ण था। प्रथम मुसलमानों के आने से ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना आरम्भ हुई जिसकी ओर हिन्दुओं ने ध्यान नहीं दिया था और द्वितीय विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के आधार का निर्माण हुआ।

[ 5 ]

## स्थापत्य अथवा भवन-निर्माण कला

दिल्ली सल्तनत-युग में विभिन्न ललित-कलाओं में से मुख्यतया स्थापत्य-कला का विकास हुआ। इस्लाम चित्र-कला का निषेध करता है। इस कारण उसका विकास सम्भव न हुआ। गान-विद्या और नृत्य-कला भी इस्लाम में वर्जित है परन्तु तब भी सुल्तानों, अमीरों और प्रान्तीय शासकों के व्यक्तिगत शौक के कारण ये प्रचलित रहे। परन्तु इस समय में मुख्य कला स्थापत्य अथवा भवन-निर्माण रही।

सुविधा की दृष्टि से इस समय की स्थापत्य-कला को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। प्रथम, दिल्ली अथवा शाही स्थापत्य-कला जिसका विकास दिल्ली के सुल्तानों के संरक्षण में हुआ और जिसमें वे सभी इमारतें सम्मिलित की जाती हैं जिनका निर्माण सुल्तानों ने विभिन्न स्थानों पर कराया। द्वितीय, प्रान्तीय स्थापत्य-कला जिसका विकास प्रान्तीय सुल्तानों अथवा शासकों के संरक्षण में हुआ। अधिकांशतया ये शासक मुसलमान थे। शाही स्थापत्य-कला ने प्रान्तीय स्थापत्य-कलाओं को प्रभावित किया था परन्तु उनकी कुछ अपनी पृथक् विशेषताएँ भी रहीं। तृतीय, हिन्दू स्थापत्य-कला जिसका विकास मुख्यतया राजस्थान और विजयनगर राज्यों में हुआ। शाही स्थापत्य-कला की निर्माण-पद्धति ने इनको भी प्रभावित किया, परन्तु मुसलमानों के आगमन से पहले जिस स्थापत्य-कला का हिन्दू विकास कर चुके थे वह स्वयं अद्वितीय थी और उस कला की विशेषताएँ इस युग की स्थापत्य-कला में भी मुख्य रहीं।

परन्तु कला का यह वर्गीकरण केवल सुविधा की दृष्टि से ही किया जा सकता है अन्यथा भारत में इस युग में एक ऐसी स्थापत्य-कला का विकास हुआ जिसे 'भारतीय-इस्लामी' कला अथवा इस्लाम से प्रभावित भारतीय स्थापत्य-कला के नाम

से पुकारा जा सकता है। यह कला न पूर्णतया इस्लामी कला थी और न हिन्दू कला परन्तु मिलकर भारतीय कला ही कहला सकती है। सर्वप्रथम, भारत और ईरान के सम्बन्ध बहुत पहले से माने जा सकते हैं और भारतीय कला का ज्ञान ईरानियों को था। ईरान ने भारतीय कला के विचारों को काफी ग्रहण किया था परन्तु उन्होंने उन विचारों को ईरानी स्वरूप दिया और एक श्रेष्ठ ईरानी कला का निर्माण किया। मुस्लिम कला जब भारत में आयी तब इस ईरानी कला के प्रभाव को लेकर आयी जिस पर स्वयं भारत का प्रभाव रहा था। पोप ने लिखा है कि "भारत ने जिस विचार को जन्म दिया ईरान ने उसे व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया परन्तु भारत ने जो कुछ दिया उसने उसे एक नवीन स्वरूप में प्राप्त किया, जिसने उसे स्थापत्य-कला में नवीन सफलताएँ प्रदान कीं।"[1] शक्ति और सौन्दर्य का जो सामंजस्य भारतीयों ने अपनी स्थापत्य-कला में किया था वह अद्वितीय था। ईरानियों ने उसे ग्रहण किया था और तुर्क-अफगानों ने भारत में उसका पुनः प्रयोग किया। ईरानी कला के अतिरिक्त मध्य-एशिया, मैसोपोटामिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, दक्षिणी-पश्चिमी यूरोप, अफगानिस्तान आदि में स्थापत्य-कला की विशिष्ट शैलियों का निर्माण हुआ था और मुस्लिम कला का व्यावहारिक स्वरूप इन सभी से मिल-जुलकर बना था। इस स्वरूप को लेकर तुर्क-अफगानों ने भारत में उस स्थापत्य-कला का निर्माण किया जिसे भारतीय-इस्लामी कला का नाम दिया गया।

इस भारतीय-इस्लामी स्थापत्य-कला के निर्माण के कुछ अन्य कारण भी थे। तुर्क-अफगान शासक अपनी इमारतों को मध्य-एशिया अथवा ईरान की इमारतों का स्वरूप प्रदान करना चाहते थे। परन्तु भारत में आकर उन्होंने यहीं के कलाकारों से अपनी इमारतें बनवायीं, विभिन्न हिन्दू इमारतों को नष्ट करके उनके अवशेषों का प्रयोग अपनी इमारतों में किया और खुले आँगनों वाले अनेक मन्दिरों को मस्जिदों के लिए उपयुक्त समझकर उनमें साधारण परिवर्तन के पश्चात् उन्हें मस्जिदों में बदल दिया। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार सजावट हिन्दुओं के लिए प्रमुख थी, उसी प्रकार मुसलमानों के लिए भी आवश्यक थी यद्यपि उसका तरीका भिन्न था। हिन्दुओं ने अपनी इमारतों को विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियों से अलंकृत करने का प्रयत्न किया जबकि मुसलमानों ने रेखाओं को समान्तर, वर्ग, त्रिकोण, विपक्ष आदि में काट-कर अथवा कुरान की आयतों को लिखकर या चमकदार और विभिन्न रंगों के पत्थरों का प्रयोग करके अलंकृत करने का प्रयत्न किया। परन्तु दोनों ही वर्गों की भावना सजावट की थी। उपर्युक्त विभिन्न कारणों से हिन्दू कला ने इस युग की कला को बड़ी मात्रा में प्रभावित किया और मिश्रित कला का जन्म हुआ जिसे भारतीय-इस्लामी स्थापत्य-कला पुकारा गया।

भारतीय-इस्लामी स्थापत्य-कला के सम्बन्ध में इतिहासकारों में इस प्रश्न को लेकर मतभेद है कि इस कला ने किस मात्रा में हिन्दू स्थापत्य-कला से और किस मात्रा में इस्लामी स्थापत्य-कला से ग्रहण किया है। हैवेल ने विचार प्रस्तुत किया कि मध्य-युगीन स्थापत्य-कला पर हिन्दू स्थापत्य-कला का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता

---

1 "India has proposed and Persia disposed, but what India gave she received back in a new form that enabled her to fresh architectural triumphs."
— Pope.

है जबकि फर्गूसन, वी. ए. स्मिथ और एलफिन्स्टन ने विचार व्यक्त किया कि इस्लामी स्थापत्य-कला पर हिन्दू स्थापत्य-कला का प्रभाव नगण्य है। परन्तु इन विरोधी विचारों की तुलना में जॉन मार्शल का मत सत्यता के अधिक निकट प्रतीत होता है। उसने विचार व्यक्त किया "भारतीय-इस्लामी स्थापत्य-कला का व्यक्तित्व दोनों स्रोतों से लिये जाने के पश्चात् बना है यद्यपि ऐसा नहीं है कि प्रत्येक स्थान पर दोनों का प्रभाव उस पर समान रूप से, पड़ा हो।"[1] इस कारण यह कहना अधिक उपयुक्त है कि मुस्लिम स्थापत्य-कला ने जो भारतीय स्थापत्य-कला के अतिरिक्त अन्य विभिन्न कलाओं से भी प्रभावित थी, भारत में हिन्दू स्थापत्य-कला से भी बहुत कुछ ग्रहण किया यद्यपि उसके ग्रहण करने की मात्रा स्थान-स्थान पर पृथक्-पृथक् रही। दिल्ली और उसके निकट के क्षेत्रों में हिन्दू स्थापत्य-कला ने इस्लामी स्थापत्य-कला को कुछ मात्रा में ही प्रभावित किया जबकि प्रान्तों में उसने इस्लामी स्थापत्य-कला को अधिक मात्रा में प्रभावित किया। निस्सन्देह जौनपुर, बंगाल, गुजरात, कश्मीर और दक्षिणी भारत में हिन्दू स्थापत्य-कला ने इस्लामी स्थापत्य-कला को एक बड़ी मात्रा में प्रभावित किया। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि दोनों स्थापत्य-कलाओं के मिश्रण से ही उस स्थापत्य-कला का विकास हुआ जिसे हम भारतीय-इस्लामी स्थापत्य-कला के नाम से पुकारते हैं।

मुसलमानों ने हिन्दू स्थापत्य-कला के विस्तार, ठोसपन और चौड़ा आकार प्रदान किया। उन्होंने भारतीय स्थापत्य-कला में मेहराबों और मीनारों को भी सम्मिलित किया जबकि मुस्लिम-कला ने हिन्दू-मन्दिरों के कलशों को अपनी इमारतों में गुम्बदों की शक्ल में ग्रहण कर लिया। इसके अतिरिक्त मुसलमानों ने हिन्दुओं द्वारा इमारत को अलंकृत करने की कला को अपनी मेहरावों और मीनारों को सुन्दर बनाने के लिए ग्रहण किया। इमारतों पर सुलेख के रूप में कुरान की आयतों अथवा ऐतिहासिक घटनाओं का लिखना मुसलमानों ने, सम्भवतया, इसीलिए अपनाया। मुसलमानों ने हिन्दू स्थापत्य-कला से इमारतों को दृढ़, सुन्दर और आनुपातिक तरीके से बनाना भी ग्रहण किया। इस प्रकार, हिन्दू और इस्लामी स्थापत्य-कलाओं के विभिन्न प्रकार के मिश्रण द्वारा उस स्थापत्य-कला का विकास हुआ जिसे हम भारतीय-इस्लामी स्थापत्य-कला के नाम से पुकारते हैं।

### 1. दिल्ली अथवा शाही स्थापत्य-कला

कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली में राय-पिथौरा के किले के निकट 'कुव्वत-उल-इस्लाम' नाम की मस्जिद तथा अजमेर में 'अढ़ाई दिन का झोंपड़ा' नामक मस्जिद को बनवाया और दिल्ली की 'कुतुब-मीनार' को बनवाना आरम्भ किया था। कुतुबुद्दीन के द्वारा बनवायी हुई मस्जिदों में से प्रथम एक मन्दिर के स्थान पर और द्वितीय एक संस्कृत विद्यालय के स्थान पर बनवायी गयी थी। इनकी रूपरेखा में परिवर्तन करके इन्हें मस्जिदों का स्वरूप दिया गया था। इस कारण इनमें हिन्दू और मुस्लिम कला का सामंजस्य है। बाद में विभिन्न सुल्तानों ने इनमें परिवर्तन किये। इल्तुतमिश और अलाउद्दीन खलजी ने 'कुवत-उल-इस्लाम' को बहुत बड़ा किया। कुतुब-मीनार की मूल योजना इस्लामी है। आरम्भ में इसका प्रयोग 'अजान' (नमाज के लिए बुलाना) के लिए किया जाता था परन्तु बाद में इसे कीर्ति-स्तम्भ के रूप में माना गया।

---

1 "Indo-Islamic architecture derives its character from both sources though not always in an equal degree." —John Marshall.

कुतुबुद्दीन के समय में इसकी केवल एक मंजिल बन सकी थी। इल्तुतमिश ने इसे 225 फीट ऊँची चार मंजिल का कर दिया। फीरोज तुगलक के समय में बिजली गिर जाने के कारण इसकी चौथी मंजिल नष्ट हो गयी जिसके कारण फीरोज ने इसमें दो छोटी मंजिलें बनवा दीं। इस कारण इसमें पाँच मंजिलें हो गयीं और इसकी ऊँचाई 235 फीट हो गयी। इसकी एक के ऊपर एक खड़ी हुई पाँच मंजिलें नीचे से ऊपर की ओर पतली होती गयी हैं और इसकी ऊँचाई भव्य है। इल्तुतमिश ने कुतुब-मीनार को पूरा कराया। इसके अतिरिक्त उसने कुतुब-मीनार से तीस मील दूर मलकपुर गाँव में अपने सबसे बड़े पुत्र नासिरुद्दीन मुहम्मद का मकबरा 'सुल्तानगढ़ी', कुतुब-मीनार के निकट एक कमरा जो सम्भवतः स्वयं का मकबरा था, हौज-ए-शम्सी, शम्सी-ईदगाह, बदायूँ की जामा मस्जिद और नागौर (आधुनिक जोधपुर) का 'अतरकीन का दरवाजा' बनवाया। उसने 'अढ़ाई दिन का झोंपड़ा' और 'कुव्वत-उल-इस्लाम' मस्जिदों का भी विस्तार किया। बलबन ने राय-पिथौरा के किले के निकट अपना स्वयं का मकबरा और 'लाल-महल' बनवाया था। उसका स्वयं का मकबरा जो अब ध्वस्त स्थिति में है, इस्लामी कला का श्रेष्ठ नमूना है। अलाउद्दीन खलजी एक महान् निर्माता था और उसके पास आर्थिक साधन भी थे। उसकी इमारतें पूर्णतया इस्लामी विचारधारा के अनुकूल बनायी गयी थीं और कला की दृष्टि से श्रेष्ठतम मानी गयी हैं। यद्यपि उसका विचार कुतुब के निकट ही एक बड़ी मीनार और एक बड़ी मस्जिद बनवाने का था परन्तु वह उस कार्य को न कर सका। उसने सीरी का नगर बसाया, उसमें हजारों स्तम्भों वाला महल बनवाया, निजामुद्दीन औलिया के दरगाह के अन्तर्गत जमैयतखाना मस्जिद और कुतुब-मीनार के निकट 'अलाई-दरवाजा' बनवाया। उसका महल और शहर तो बरबाद हो गया परन्तु जमैयतखाँ मस्जिद और अलाई-दरवाजा अब भी हैं जो इस्लामी कला के सुन्दरतम नमूने माने गये हैं। मार्शल ने लिखा है कि "अलाई दरवाजा इस्लामी स्थापत्य-कला के खजाने का सबसे सुन्दर हीरा है।"[1] सीरी के शहर (दिल्ली का नवीन नगर) के निकट अलाउद्दीन ने प्रायः 70 एकड़ के क्षेत्रफल का एक तालाब 'हौज-ए-अलाई' अथवा 'हौज-ए-खास' भी बनवाया था। तुगलक शासकों की इमारतें इतनी भव्य और सुन्दर न बन सकीं। सम्भवतया, इसका कारण उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ रहीं। गियासुद्दीन तुगलक ने कुतुब के पूर्व में एक नवीन नगर तुगलकाबाद, उसमें अपना स्वयं का मकबरा और अपना महल बनवाया था। उसका नगर और महल नष्ट हो गया है परन्तु उसके महल के बारे में कहा जाता था कि वह सूर्य की रोशनी में इतना चमकता था कि कोई भी व्यक्ति उसे टकटकी लगाकर नहीं देख सकता था। परन्तु उसका महल और नगर बहुत दुर्बल बनाये गये थे और वे शीघ्र नष्ट हो गये। उसका मकबरा एक लाल पत्थर के बने छोटे गढ़ का आभास देता है जो दृढ़ तो है परन्तु शानदार नहीं। मुहम्मद तुगलक ने 'जहाँनपनाह' नाम का नवीन नगर दिल्ली के निकट बनवाया; तुगलकाबाद के निकट आदिलाबाद का किला बनवाया और दौलताबाद में कुछ इमारतें अवश्य बनायी होंगी। परन्तु वे सभी नष्ट हो गयी हैं। उनमें से केवल 'सथपलाह-बांध' और 'बिजाई-मण्डल' नामक दो इमारतों के अवशेष प्राप्त होते हैं। फीरोज तुगलक ने बहुत इमारतें

---

1 "Alai Darwaza is one of the most treasured gems of Islamic architecture."
—Marshall.

बनवायीं परन्तु वे अत्यन्त साधारण व दुर्बल थीं। उसने विभिन्न इमारतों के अतिरिक्त दिल्ली के निकट फीरोजाबाद, उसमें फीरोजशाह कोटला नगर और किला, हौज खास के निकट एक विद्यालय और अपना स्वयं का मकबरा बनवाया। उसके पुत्र खाने-जहाँन जूनाशाह ने 'खाने-जहाँन-तिलंगानी' का मकबरा, उसके निकट 'काली-मस्जिद', जहाँपनाह में 'खिरकी-मस्जिद' और 'कलन-मस्जिद' बनवायी थीं। नासिरुद्दीन मुहम्मद तुगलकशाह के समय में बनी हुई एक भव्य इमारत कबीरुद्दीन औलिया की कब्र पर बना हुआ मकबरा 'लाल-गुम्बद' भी है। सैय्यद और लोदी शासकों के समय में बनी हुई मुख्य इमारतों में से मुबारकशाह सैय्यद, मुहम्मदशाह सैय्यद और सुल्तान सिकन्दर लोदी के मकबरे तथा सिकन्दर लोदी के प्रधान मन्त्री द्वारा बनवायी गयी दिल्ली की 'मोठ मस्जिद' हैं।

उपर्युक्त इमारतों में से अधिकांश इमारतें मुख्यतया नगर, किले और महल नष्ट हो गये हैं परन्तु मकबरे, मस्जिदें तथा मीनारें अब भी हैं। ये कला के अद्वितीय तो नहीं परन्तु काफी अच्छे नमूने माने जा सकते हैं। कला की दृष्टि से इनमें कुतुब-मीनार और अलाई दरवाजा का प्रमुख स्थान है।

**2. प्रान्तीय स्थापत्य-कला**

विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न मुसलमान शासकों ने भी महल, किलों, मस्जिदों और मकबरों का निर्माण कराया। मूल आधार पर उनकी इमारतें भी दिल्ली अथवा शाही स्थापत्य-कला की भाँति थीं। परन्तु क्योंकि उनके साधन सीमित थे अतएव वे दिल्ली सुल्तानों की समता में इमारतें न बनवा सके। इसके अतिरिक्त उनकी स्थानीय परिस्थितियों ने भी उनकी इमारतों को दिल्ली के सुल्तानों द्वारा बनवायी गयी इमारतों से कुछ भिन्न स्वरूप प्रदान किया।

**मुल्तान**—मुल्तान में बनवायी गयी इमारतों में शाह यूसुफ-उल-गर्दिजी, बहौल-हक, शमसुद्दीन और रुक्ने-आलम के मकबरे हैं। इनमें रुक्ने-आलम के मकबरे को सबसे शानदार माना गया है।

**बंगाल**—बंगाल में बनी हुई इमारतें बहुत श्रेष्ठ नहीं बन सकीं और उनमें अधिकांशतया ईंटों का प्रयोग किया गया। इनमें सुल्तान सिकन्दरशाह द्वारा बनवायी गयी 'अदीना मस्जिद', 'गौड़ का दरसवारी का मकबरा', पांडुआ का 'एकलाखी-मकबरा', गौड़ की 'लोटन मस्जिद', देवीकोट का 'रुक्नखाँ का मकबरा', गौड़ की 'सोना मस्जिद', खुलना जिले की 'साठ गुम्बद मस्जिद', नसरतशाह का बनवाया गया गौड़ का 'कदम-रसूल का मकबरा', गौड़ का 'दाखिल दरवाजा' और पांडुआ में बना जलालुद्दीन मुहम्मद का मकबरा मुख्य हैं। खम्भों पर नुकीली महराबों का प्रयोग, हिन्दू प्रतीकों का प्रयोग और हिन्दू वक्र-रेखाओं को इस्लामी स्वरूप प्रदान करना बंगाल की स्थापत्य-कला की मुख्य विशेषताएँ रहीं।

**जौनपुर**—शर्की शासकों ने स्थापत्य-कला को बहुत प्रोत्साहन दिया। उनकी कला में हिन्दू तथा इस्लामी शैलियों का अच्छा समन्वय है। चौकोर स्तम्भ, छोटी दहलीजें होना और मीनारों का अभाव इस कला की मुख्य विशेषताएँ रहीं। जब जौनपुर दिल्ली सल्तनत के अधीन था तब की बनी हुई इमारतों में 'इब्राहीम नाइब बारबक' का महल और किला मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त बाद में इब्राहीमशाह शर्की ने 'अटाला मस्जिद' को पूरा किया, उसी ने झाझींरी मस्जिद को बनवाया, हुसैनशाह

ने 'जामी मस्जिद' को बनवाया, और एक अन्य इमारत 'लाल दरवाजा मस्जिद' बनवायी गयी।

मालवा—वहाँ बनी हुई आरम्भ की इमारतों में 'कमाल मौला मस्जिद', 'लाट मस्जिद', 'दिलवारखाँ मस्जिद' और मांडू का 'मलिक मुगीस का मकबरा' हैं। परन्तु यहाँ की श्रेष्ठतम इमारतों में मांडू का किला और उसके अन्दर बनी हुई विभिन्न इमारतें हैं। जामी मस्जिद, हिण्डोला महल, अशर्फी महल, सात मंजिल का महमूद खलजी द्वारा बनवाया गया विजय-स्तम्भ, महमूद खलजी द्वारा बनवाया गया सुल्तान हूसंगशाह का मकबरा, जहाज महल और बाजबहादुर तथा रानी रूपमती के महल मालवा की श्रेष्ठतम इमारतें हैं। कला की दृष्टि से ये दिल्ली के सुल्तानों द्वारा बनवायी गयी इमारतों के काफी निकट हैं तथा अत्यन्त सुन्दर और मजबूत बनी हुई हैं। इसी कारण मांडू के किले को सुरक्षित नगरों में सबसे सुन्दर नगर माना गया है।

गुजरात—गुजरात में हिन्दू तथा मुस्लिम कला का सबसे अधिक अच्छा समन्वय हुआ और यहाँ बहुत सुन्दर इमारतों का निर्माण हुआ। डॉ सरस्वती ने लिखा है कि "उसकी (स्थापत्य-कला की) मुख्य विशेषता का कारण यह था कि वह अत्यन्त श्रेष्ठ स्थानीय कला और उससे भिन्न इस्लाम के संरक्षण का परिणाम थी।"[1] काम्बे की जामा मस्जिद, ढोलका का हिलालखाँ काजी का मकबरा, अहमदाबाद की जामा मस्जिद और उसी में बना हुआ अहमदशाह का मकबरा, हैबतखाँ और सैय्यद आलम के मकबरे, अहमदाबाद की जामा मस्जिद, वहीं का तीन दरवाजा, रानी का हुजरा, दरियाखाँ और अलिफखाँ के मकबरे, ढोलका मस्जिद और अहमदाबाद से छः मील दूर शेख अहमद खत्री का मकबरा प्रमुख हैं। अहमदाबाद की जामा मस्जिद को फर्गूसन ने "पूर्व में बनी हुई सुन्दरतम मस्जिदों में से एक"[2] माना है। इसके अतिरिक्त महमूद बेगड़ा ने अपने समय में तीन नवीन नगर बसाये और चम्पानेर के नगर में अनेक सुन्दर इमारतें बनवायीं। चम्पानेर में उसके द्वारा बनवायी गयी जामा मस्जिद को फर्गूसन ने "स्थापत्य-कला की दृष्टि से गुजरात में सर्वश्रेष्ठ"[3] बताया। महमूद बेगड़ा के समय में स्थापत्य-कला में कुछ नवीन तत्व सम्मिलित हुए। उसके और उसके पश्चात् की बनी हुई इमारतों में कुतुब-उल-आलम, मुबारक सैय्यद और सैय्यद उस्मान के मकबरे प्रमुख हैं।

कश्मीर—कश्मीर में भी हिन्दू और मुसलमान स्थापत्य-कला का समन्वय हुआ। मन्दनी का मकबरा, श्रीनगर की जामी मस्जिद और शाह हमदान की मस्जिद इस समय की मुख्य इमारतें हैं।

बहमनी राज्य—बहमनी अथवा उसके खण्डों से बने हुए मुसलमानी राज्यों के शासकों ने दक्षिणी भारत में विभिन्न इमारतें बनवायीं जिनमें हिन्दू और मुस्लिम स्थापत्य-कला का अच्छा मिश्रण है। इनमें से गुलबर्गा और बीदर की मस्जिदें, मुहम्मद

---

1 "Its unique character may best be explained as the product as much of a highly specialised local style as of a different kind of Islamic patronage." —Dr. Saraswati.

2 "One of the most beautiful mosques in the East." —Fergusson.

3 "Architecturally the finest in Gujrat." —Fergusson.

आदिलशाह का मकबरा, गोल-गुम्बद, दौलताबाद की चार मीनार और बीदर का महमूद गवाँ का विद्यालय प्रमुख माने गये हैं।

3. हिन्दू स्थापत्य-कला

हिन्दू स्थापत्य-कला के नमूने की इमारतें हमें मुख्यतया राजस्थान में प्राप्त होती हैं जहाँ हिन्दू अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा करने में समर्थ रहे थे। इसके अतिरिक्त विजयनगर में भी विभिन्न इमारतों और महलों का निर्माण हुआ था परन्तु तालीकोटा के युद्ध के पश्चात् मुसलमान आक्रमणकारियों ने उस नगर को पूर्णतया नष्ट कर दिया। इस कारण वहाँ की इमारतों में से कोई भी इमारत सुरक्षित नहीं रही। हिन्दुओं ने निर्माण-शैली में तो मुसलमानों से कुछ सीखा परन्तु कला की दृष्टि से उन्होंने अपनी कला को मुस्लिम कला के प्रभाव से मुक्त रखा जिसके कारण उनकी इमारतें मुस्लिम शासकों की इमारतों से भिन्न रहीं। मेवाड़ के राणा कुम्भा ने अनेक किले, महल और मन्दिर बनवाये थे। इनमें से प्रमुख कुम्भलगढ़ का किला और चित्तौड़ की कीर्ति अथवा जय-स्तम्भ हैं। जय-स्तम्भ का कुछ भाग लाल पत्थर से और कुछ भाग सफेद संगमरमर से बना हुआ है। यह बहुत सुन्दर स्तम्भ माना गया है। चित्तौड़ में ही एक अन्य स्तम्भ जैन-स्तम्भ भी है जिसमें नक्काशी का बहुत सुन्दर कार्य है। राजस्थान के अन्य भागों में भी किले और महल बनवाये गये थे परन्तु उनमें से महल नष्ट हो गये हैं। दक्षिण में 'गोपुरम' बनाने की प्राचीन कला को विजयनगर सम्राटों ने और अधिक विस्तृत किया तथा मन्दिरों के 'गोपुरम' (मन्दिर के प्रवेश-द्वार के ऊपर बनाया गया गुम्बद) पहले की तुलना से अधिक बड़े बनाये गये। सम्राट कृष्णदेवराय द्वारा बनवाया गया विट्ठलस्वामी का मन्दिर दक्षिणी भारत की इमारतों में श्रेष्ठ माना गया है। अन्य स्थानों पर भी अच्छे मन्दिरों का निर्माण किया गया था। विभिन्न मन्दिरों पर विभिन्न सम्राटों ने नवीन 'मण्डप' (छत्र) भी बनवाये, जैसे बैलोर के किले के पार्वती मन्दिर पर, कांचीपुरम के बरदराजस्वामी और एकाम्बरनाथ के मन्दिर पर और त्रिचिनापली के जम्बुकेश्वर के मन्दिर पर।

इस युग में मुसलमान शासकों द्वारा बनवायी गयी इमारतों की विशेषता गुम्बद, मीनारें, मेहराब और तहखाने रहे। अधिकांश इमारतें मकबरा, मस्जिद, महल अथवा किला थीं। हिन्दू इमारतों की विशेषता स्तम्भ, नुकीली मेहराबें और उनकी अलंकारिता थी। हिन्दुओं ने अधिकांशतया मन्दिर, किले, गोपुरम और मण्डप बनवाये। भारत में प्रवेश करके मुस्लिम कला बहुत कुछ परिवर्तित हो गयी और बिना प्रयत्न किये हुए ही एक ऐसी स्थापत्य-कला का निर्माण हुआ जो भारतीय-इस्लामी कला कहलायी और जिसने भविष्य की स्थापत्य-कला के निर्माण में सहयोग दिया।

## [ 6 ]
## संगीत-कला

इस्लाम धर्म द्वारा संगीत-कला वर्जित है। इस कारण दिल्ली सल्तनत के कुछ प्रारम्भिक सुल्तानों ने इस कला की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। परन्तु बाद में बलबन, जलालुद्दीन खलजी, अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे सुल्तानों ने इसे संरक्षण प्रदान किया। बलबन के सम्बन्ध में एम. डब्लू. मिर्जा लिखते हैं, "बलबन संगीत-कला का एक बड़ा संरक्षक था। उसने भारतीय संगीत-कला की बहुत प्रशंसा की और उसे अन्य देशों की संगीत-कला से श्रेष्ठ स्वीकार किया।" बलबन का पुत्र
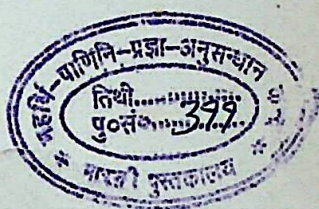
# OUR PUBLICATIONS

| | |
|---|---|
| THE CRESCENT IN INDIA | S. R. Sharma |
| MUGHAL EMPIRE IN INDIA | S. R. Sharma |
| EVOLUTION OF INDIAN CULTURE | B. N. Luniya |
| LIFE AND CULTURE IN ANCIENT INDIA | B. N. Luniya |
| ANCIENT INDIA | K. L. Khurana |
| POLITICAL & CULTURAL HISTORY OF INDIA | K. L. Khurana |
| MEDIEVAL INDIA | K. L. Khurana |
| THE SULTANATE OF DELHI | K. L. Khurana |
| THE MUGHAL EMPIRE | K. L. Khurana |
| MODERN INDIA | K. L. Khurana |
| WORLD HISTORY | K. L. Khurana |
| MODERN EUROPE | K. L. Khurana |
| HISTORY OF INDIA [From the Earliest Times to 1526 A.D.] | K. L. Khurana |
| HISTORY OF INDIA [1526-1967 A.D.] | K. L. Khurana |
| INDIAN NATIONAL MOVEMENT | L. P. Sharma |
| INDIAN NATIONAL MOVEMENT AND CONSTITUTIONAL DEVELOPMENT | L. P. Sharma |
| भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास | बी.एन. लूनिया |
| अकबर महान | बी.एन. लूनिया |
| मराठा प्रभुत्व, भाग 1 [प्रारम्भ से 1707] | बी.एन. लूनिया |
| मराठा प्रभुत्व, भाग 2 [1707-1761] | बी.एन. लूनिया |
| मराठा प्रभुत्व, भाग 3 [1761-1818] | बी.एन. लूनिया |
| प्राचीन भारतीय संस्कृति | बी.एन. लूनिया |
| मध्यकालीन भारतीय संस्कृति | के.एल. खुराना |
| आधुनिक भारतीय संस्कृति | एल.पी शर्मा |
| प्राचीन भारत | एल.पी. शर्मा |
| मध्यकालीन भारत | एल.पी शर्मा |
| आधुनिक भारत | एल.पी. शर्मा |
| भारत का इतिहास [1000-1761 A.D.] | एल.पी. शर्मा |
| भारत का इतिहास [प्रारम्भ से 1526 A.D.] | एल.पी. शर्मा |
| भारत का इतिहास [1526-1967 A.D.] | एल.पी. शर्मा |
| इंग्लैण्ड का इतिहास | एल.पी शर्मा |
| दिल्ली सल्तनत | एल.पी. शर्मा |
| मुगलकालीन भारत | एल.पी. शर्मा |
| विश्व का इतिहास | खुराना एवं शर्मा |
| एशिया का आधुनिक इतिहास | के.एल. खुराना |
| भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास | एस.आर. शर्मा |
| आधुनिक यूरोप | मेहता एवं पाल |